वैयक्तिक क्रांति



अपनी प्रार
सुकुमार कवि
मित्रानन्दन पन्त
कवि थे। क
काव्य-चेतना' नि
नका चिन्तन प्र
ला गया। इसी
क गम्भीर चि
देखायी देता है
डॉ. किर
क विशद जीवन
उनके 'वैचारिक
न प्रस्तुत करवं
शोध-ग्रंथ में
गम्भीरता के अ
शोध-दृष्टि के
विश्लेषण बड़े
पड़े हैं। यही
मौलिक चिन्त
सहज एवं सर
की भाषा-शै
व्यक्तित्व के
उच्चस्तरीय
डॉ. ि
इस दुरूह ए
शोधपरक वि
लब्धप्रतिष्
शोध-प्रतिभा
एवं अध्यक्ष
मुरादाबाद
सम्पूर्ण किय
और एक ट्
है जिसने
दिया है। ि

चन्द्रा प्रकाशन

मुरादाबाद (उ. प्र.)

फोन : 0591-324841

सुमित्रानन्दन पन्त : वैचारिक व्यक्तित्व

रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच. डी.
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध का
परिशोधित रूप

लेखिका
डॉ. किरण गर्ग

परामर्श एवं सहयोग
प्रोफ़ेसर महेन्द्र प्रताप

प्रकाशक
चन्द्रा प्रकाशन
मुरादाबाद

प्रकाशन : चन्द्रा प्रकाशन
मुरादाबाद (उ. प्र.)

आवरण पृष्ठ : कु. ऋजु पंवार
मुरादाबाद (उ. प्र.)

सर्वाधिकार : डॉ (श्रीमती) किरण गर्ग
बुद्धसेन बिल्डिंग, लाइनपार
मुरादाबाद (उ. प्र.)—244001
दूरभाष : 0591—480035

मूल्य : 400/- सजिल्द

प्रथम संस्करण : पन्त जी का जन्मशती वर्ष—2000

वितरक : अ. भा. साहित्य कला मंच,
मुरादाबाद (उ. प्र.)
अ. भा. साहित्य कला मंच,
चाँदपुर (बिजनौर) (उ. प्र.)

लेज़र टाइपसेटिंग : एस. के. कम्प्यूटर
उल्धनपुर, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

मुद्रक : आर. के. ऑफ़सेट
1617 A/A-1, उल्धनपुर, नवीन श
दिल्ली—110032

SUMITRANANDAN PANT : VAICHARIK VYAKTITV
By Dr K ran Garg Pric

सुमित्रानन्दन पंत : वैचारिक व्यक्तित्व

समर्पण

के जी. के. (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, मुरादाबाद के पूर्व प्राचार्य
एवम्
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के वर्तमान सचिव तथा कोषाध्यक्ष
'दादाश्री' प्रोफ़ेसर महेन्द्र प्रताप
के कर कमलों में
जिनसे मुझे अध्ययन, मनन और लेखन
के साथ-साथ जीवन का भी
दिशा-बोध मिला

—किरण गर्ग

अपनी
तुकुमार क
ज्ञानन्दन प
कवि थे।
व्य-चेतना'
का चिन्तन
ा गया।
गम्भीर
ग्रायी देता
डॉ. ि
विशद जी
के 'वैचा'
प्रस्तुत
ध-ग्रंथ
म्भीरता वे
ध-दृष्टि
श्लेषण
ई हैं। य
लिक चि
हज एवं
ा भाषा
यक्तित्व
च्चस्तरी
डे
इस दुरूह
शोधपरव
नष्ठापूर्व
शोध-प्रवि
एवं अ
मुरादाब
सम्पूर्ण ि
और ए
है जिस
दिया है

विषयानुक्रम

दर्शन-खण्ड

समाज-खण्ड

कला-खण्ड

निष्कर्ष खण्ड

अनुशंसा

सुमित्रानन्दन पन्त का आधुनिक हिन्दी साहित्य में अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। ब्रज-भाषा और अवधी की समृद्ध काव्य-परम्परा के बाद हिन्दी की खड़ी बोली में कविता को सुदृढ़ आधार प्रदान करने में पंत का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। काव्यात्मकता के विकास के साथ-साथ एक अद्भुत भाषिक संस्कार भी उन्होंने हिन्दी कविता को प्रदान किया। बीसवीं सदी के प्रारंभ में जब इतिहास की बहती धारा के साथ-साथ हिन्दी कविता अपना रास्ता तय कर रही थी, उस समय पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी ने उसे एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया और एक सार्थक दिशा दी।

हिन्दी साहित्य में पंत को प्रकृति के अनुपम चितेरे, कोमल भावनाओं और विशिष्ट भाषा-सौन्दर्य के कवि के रूप में याद किया जाता है। लेकिन उनकी सृजनात्मकता का उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक और पक्ष भी है। ऊर्ध्वसंचरणशील संस्कृति की अवधारणा, जो कहीं गहरे में लोकमंगलकारी मानव-मूल्यों की परम्परा से जुड़ी है, पंत के काव्य की व्यापक भावभूमि का निर्माण करती है। बचपन से ही परिवेशगत प्रकृति उदात्त मानवीय चेतना के रूप में पंत को प्रभावित और प्रेरित करती रही। साथ-ही-साथ पंत अपने समय की परिवर्तनकारी शक्तियों को भी देखते और उनसे प्रभाव ग्रहण करते रहे। उन्होंने आज़ादी के बाद के विकासशील भारतीय समाज के बाह्य स्वरूप को समझने के साथ-साथ उसके अंतर्निहित स्वरूप और चेतना से भी संकेत ग्रहण किये और एक भविष्य-द्रष्टा के रूप में स्वतंत्र भारत में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में नये समाज का, नये समाज में नये मानव का स्वप्न देखा, एक आदर्श के रूप में उसकी कल्पना की और उसे शब्दों द्वारा अपने काव्य-संसार में प्रतिष्ठित किया। [illegible] एक ऐसे ऊर्ध्वगामी, नये समाज के स्वप्न-द्रष्टा थे, जहाँ सबके बीच समानता-सा[illegible] हो, जहाँ नर-नारी बराबर हों और सब कुछ सर्वांगतः सुन्दर हो।

कवि की इस लोक-मंगलकारी उदात्त कल्पना को कोई 'यूटोपिया' कह सकता है। कह सकता है कि कवि अपनी ही कल्पना में, अपने ही स्वप्न-संसार में जी रहा है, वह बदल रही परिस्थितियों को, परिवर्तनकारी शक्तियों को स्पष्ट तो देख रहा है, लेकिन सामाजिक परिवर्तनों की गहरी और जटिल तहों के बीच पनपने वाले अशिव और असुन्दर को लक्ष्य नहीं कर पा रहा है। परन्तु, कवि पन्त की यही कामना, कल्पना और भविष्यदृष्टि उनके काव्य की वैचारिक आधारभूमि है। उनकी [illegible] [illegible]चारिकता ही उन्हें इस और अगली सदी के एक महान् कवि के रूप में स्थापित [illegible]

[illegible]न [illegible]

करती है। पंत की वैचारिकता स्थान और काल-सीमा में न बँधने वाली वैश्विक प्रकृति की है। पंत के इसी वैचारिक पक्ष को डॉ. किरण गर्ग ने अपने शोध का विषय बनाया ह। कवि के सार्वभौम मानव-मूल्यों और उदात्त चेतना के साथ लोक-जीवन को जोड़ने की कामना का ही परिणाम था कि पंत ने 'लोकायन' नामक संस्था का गठन किया। 'लोकायन-संस्कृतिपीठ' के गठन की घोषणा यद्यपि इलाहाबाद में हुई थी, लेकिन उसकी कार्यस्थली हमेशा लखनऊ ही रही, जहाँ शाखा-सचिव के रूप में मेरे पिता श्री गिरीश चन्द्र पंत ने उसका पूर्णरूपेण उत्तरदायित्व सँभाला था। 'लोकायन' का उद्घाटन-समारोह भी लखनऊ में हुआ था और कई वर्षों तक उसके आयोजन लखनऊ के साहित्यिक-सांस्कृतिक समाज में छाये रहे। उस अवसर के लिये पंत द्वारा लिखा गया गीत-नाट्य और उसको अभिनीत करने के लिये आवश्यक संकेत और निर्देश, जो वह समय-समय पर लिख कर भेजते रहते थे, वे उनके नये बन रहे समाज के भविष्य की कामना की ओर संकेत दे रहे थे। यही वैचारिक भावभूमि बाद में उनके 'लोकायतन' महाकाव्य की पृष्ठभूमि बनी।

मुझे बहुत प्रसन्नता है कि डॉ. किरण गर्ग ने सुमित्रानन्दन पंत की उस वैचारिक चेतना को खोजने और विश्लेषित करने का प्रयास किया है, जिस पर हिन्दी के सुधी आलोचकों ने कम ध्यान दिया है। आज के भारतीय समाज की उथल-पुथल, उठा-पटक, अराजकता और मूल्यहीनता के दौर को देखते हुये कभी-कभी लगता है कि हिन्दी साहित्य का एक भिन्न प्रकार का 'भक्तिकाल' धीरे-धीरे आगे आ रहा है। इस अराजक और लगातार अमानवीय हो रहे मानव-समाज में लोगों ने 'भक्ति', 'भक्त' और 'संत' जैसे शब्दों के अर्थ उलट दिये हैं। आज 'भक्ति' और 'धर्म नफरत, हिंसा और विखंडन का पर्याय बन रहे हैं। ऐसे में ऊर्जा और चेतना का प्रतीक बनी प्रकृति और मनुष्य के भीतर छिपी उदात्त लोक-मंगलकारी भावना एक नये प्रकार की आध्यात्मिकता के प्रवाहन का माध्यम बनेगी, तो आगे आने वाले समय में पंत और उनका काव्य अपनी प्रकृत ऊँचाइयों पर व्यापक रूप में प्रतिष्ठित होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। डॉ. किरण गर्ग का भी यही विश्लेषण और निष्कर्ष है। उनको इस शोधकार्य के लिये बधाई और शुभकामनाएँ और उनके सार्थक परिश्रम के लिये साधुवाद!

10 6.99
श्री टीकाराम कन्या महाविद्यालय,
अलीगढ़

नमिता सिंह
प्राचार्या

प्राक्कथन

केवल भारतवर्ष के ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के साहित्यकारों में विशिष्ट स्थान के अधिकारी पंडित सुमित्रानन्दन पंत के व्यक्तित्व एवं उनकी साहित्यिक रचनाशीलता के प्रति अपने आकर्षण के मूल की खोज में प्रवृत्त होने पर अन्ततः मुझे यही मानना पड़ता है कि मेरे इस आकर्षण का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में मेरे स्वाभाविक संस्कारों से है। पठन-पाठन के क्षेत्र में अपनी प्रवृत्ति के आरम्भिक काल से ही मैंने इस आकर्षण का अनुभव किया है। पन्त जी की जीवन-कथा से जब मेरा परिचय भी नहीं था, और उनकी साहित्यिक कृतियों को समझ कर उनके गुणों के विवेचन की क्षमता अपने अल्पतम रूप में भी मेरे भीतर प्रकट नहीं हुई थी, तभी से मेरा मन उनकी ओर निरन्तर उन्मुख रहा है। विद्याध्ययन के विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रमों में निर्धारित विषयों में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन में मेरी सहज रुचि रही है, और आगे चलकर मैंने अनुभव किया है कि मेरी उस रुचि का विशेष झुकाव पन्त जी के साहित्य की ओर रहा है।

अपनी शिक्षा के अन्तिम चरण के निकट पहुँचकर मैंने एम. ए. के लिए भी हिन्दी विषय को ही चुना और उसके उत्तरार्द्ध की परीक्षा के निमित्त एक प्रश्नपत्र के रूप में जब एक लघु शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अपेक्षा मेरे सामने आयी तो मेरी सहज रुचि ने प्रबन्ध के रूप में 'पन्त-काव्य में मानवतावाद' के चयन की प्रेरणा दी। जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय के तत्कालीन विभागाध्यक्ष आदरणीय पंडित जगन्नाथ तिवारी जी को भी मेरी इस सहज अभिरुचि का परिचय मिल गया था और निश्चय ही उसी के आधार पर उन्होंने उक्त शीर्षक से लघु-प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए मुझे प्रोत्साहन एवं प्रेरणा दी। उन्हीं के समर्थ एवं स्नेहपूर्ण मार्ग-दर्शन में मुझे साहित्यिक शोध-कार्य के स्वरूप का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्हीं से इस दिशा में आगे अनुसंधान करते रहने का प्रेरक आदेश भी प्राप्त हुआ। आर्थिक विषमताओं एवं व्यस्तताओं के इस युग में विवाहोपरान्त एक परिवार के सम्पूर्ण रखरखाव के कर्त्तव्य और उसके साथ ही

परिवार के जीविकोपार्जन के प्रयास में भी यत्किंचित् योगदान करने के अपने दायित्व का कठिन भार वहन करते हुए भी पन्त जी के व्यक्तित्व और साहित्य के प्रति मेरी जिज्ञासा जीवित और सजग बनी रही, इसका श्रेय जहाँ मैं अपनी स्वाभाविक रुचि को दे सकती हूँ वहीं पूज्य तिवारी जी के प्रेरक प्रभाव के महत्त्व का भी मुझे स्वीकार करना ही होगा।

इस दिशा में मेरी सहज अभिरुचि को अभिसिंचित करने का श्रेय बहुत बड़ी मात्रा में लखीमपुर खीरी के युवराज दत्त महाविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पूज्य डॉ. प्रताप सिंह चौहान को भी है, जो पन्त जी के साहित्य के एक विशिष्ट अध्येता हैं और उनसे सम्बन्धित कई मूल्यवान समीक्षा-ग्रन्थ भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। मेरे पूज्य पिताजी से उनकी गहरी मित्रता थी और उनकी सामान्य बातचीत में भी श्री पन्त जी के व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक कृतियों की चर्चा आती रहती थी। अब मैं सोचती हूँ कि किसी-न-किसी रूप में पन्त जी के प्रति मेरी कैशोर-रुचि का ज्ञान उन्हें भी हो गया था और मेरी उपस्थिति में पन्त जी की चर्चा के बार-बार उठाने के पीछे संभवतः मुझे प्रेरित और प्रोत्साहित करने का भी उनका उद्देश्य रहा करता था।

अपने माता-पिता की इच्छा की पूर्ति तथा अपने पूज्य गुरु तिवारी जी के आदेश के पालन के निमित्त जब मैंने पन्त जी के सम्बन्ध में कुछ उच्चस्तरीय शोध-कार्य का निर्णय लिया तो मुझे इस बात पर आह्लादपूर्ण विस्मय हुआ कि मेरे ससुराल वालों ने भी मेरे उस निर्णय के साथ अपनी पूरी सहमति प्रकट की तथा उसके लिये अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अधिक-से-अधिक सुविधाएँ एवं सहयोग प्रदान करने का आश्वासन दिया। शोध-उपाधि के निमित्त किये जाने वाले शोध-कार्य के लिए एक निर्देशक की अपेक्षा विश्वविद्यालय के नियमों के अन्तर्गत तो थी ही, अपनी योग्यता की अल्पसीमा को देखते हुए भी मुझे उसकी आवश्यकता थी। मेरे दाम्पत्य-जीवन के केन्द्र मेरे स्नेहशील पति ने ही उस अपेक्षा की भी पूर्ति की और मुझे अपने शोध-कार्य के निर्देशक परम श्रद्धेय एवं प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् प्रोफ़ेसर श्री महेन्द्र प्रताप के श्री चरणों से जोड़ दिया। पूज्य प्रोफ़ेसर साहब की कीर्ति से मेरा दूर-दूर का थोड़ा परिचय पहले ही हो चुका था। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने पर उनके कृपालु स्वभाव और विद्या-सामर्थ्य का परिचय पाकर मेरी जिज्ञासा-वृत्ति को और भी गहरी प्रेरणा मिली और उनकी ओर से सहायता का आश्वासन पाकर मेरे भीतर कुछ सार्थक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए अपेक्षित विश्वास भी जाग्रत् हो गया।

रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय के अन्तर्गत शोध-कार्य सम्पन्न करने की योजना जब पक्की हो गयी तो विषय के रूप में पन्त जी के व्यक्तित्व और साहित्य के ही किसी पक्ष को चुनने में मेरी रुचि को जानकर प्रस्तावित शोध-प्रबन्ध के शीर्षक के रूप में "सुमित्रानन्दन पन्त : वैचारिक व्यक्तित्व" का निर्धारण मेरे पूज्य निर्देशक ने किया। ऐसा करने के पीछे उनका दृष्टिकोण यह था कि पन्त जी के साहित्यिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित अनेक समीक्षा एवं शोध-ग्रन्थों की रचना के बावजूद उनके वैचारिक पक्ष को प्रकाश में लाने का ऐसा विशद प्रयास तब तक नहीं हुआ था, जो उसे उसके महत्त्व के अनुरूप, सांगोपांग ढंग से प्रस्तुत करता हो। पन्त जी से सम्बन्धित शताधिक शोध-प्रबन्ध तब तक विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रस्तुत किये जा चुके थे जिनके आधार पर उनके कर्ताओं को शोध-उपाधियाँ भी प्राप्त हो चुकी थीं। किन्तु उनमें से अधिकांश उनके काव्य के भाव-सौन्दर्य और अभिव्यंजनाशिल्प से ही सम्बन्धित थे। पन्त जी का साहित्य कलात्मक दृष्टि से जितना आकर्षक है उतना ही वैचारिक गरिमा की दृष्टि से भी महनीय है। अन्य लोगों के समान पहले मेरी भी यही धारणा थी कि आधुनिक साहित्यकारों में विचार-वैभव की दृष्टि से श्री जयशंकर प्रसाद का साहित्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु पन्त जी की परवर्ती रचनाओं से, जो पन्त जी के अपने ही संकेत के अनुसार उनके "नवचेतना-काव्य" के अन्तर्गत आती हैं, परिचित होने के बाद मेरी धारणा में भी यह सत्य उद्‌भासित हुआ कि पन्त जी का साहित्यिक कृतित्व अपनी वैचारिकता के आयामों में भी अनुपम है। वर्तमान विश्व-जीवन की अपेक्षाओं के अनुरूप एक परिपूर्ण एवं समन्वित जीवन-दृष्टि की जिस गहराई एवं उदात्तता के दर्शन हमें पन्त जी के साहित्य में होते हैं, वे अपने आप में न केवल विशिष्ट हैं बल्कि आज के जीवन-संचरण को सही दिशा देने की दृष्टि से उपयोगी भी हैं।

ऐसा नहीं है कि पन्त जी के समीक्षकों तथा उन पर अनुसंधान-कार्य करने वाले विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व के वैचारिक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा की हो। किन्तु जैसा इस ग्रन्थ के "विषय-प्रवेश" के अन्तिम भाग में कुछ अधिक विस्तार के साथ निदर्शित किया गया है, पन्त जी के दर्शन अथवा विचारों के विषय में अपेक्षा से कम ही साहित्य अभी तक प्रस्तुत हुआ है, और जो हुआ भी है, वह उनके वैचारिक व्यक्तित्व के कुछ सीमित आयामों के परिचय तथा विश्लेषण तक ही सीमित है। पहले से ही इस धारणा से अन्वित होने के कारण, जब मुझे अपने प्रबन्ध के शीर्षक का संकेत अपने शोध-निर्देशक से प्राप्त हुआ तो उसे स्वीकार करने में मुझे रंचमात्र

भी द्विविधा नहीं हुई। मुझे लगा कि मुझे मेरा मनचाहा कार्य मिल गया है।

मेरे शोध-कार्य सम्बन्धी निर्देश देने के साथ ही मेरे निर्देशक ने यह भी निर्धारित कर दिया था कि पन्त जी के विचारों को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने का उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब उसकी आधार-सामग्री का संकलन सीधे पन्त जी की रचनाओं से ही किया जाय और उनसे निर्गत धारणाओं की पुष्टि स्वयं पन्त जी की उक्तियों के उद्धरणों के आधार पर ही की जाय। उनके द्वारा संकेतित शोध-प्रविधि का उल्लेख इस ग्रन्थ के "विषय-प्रवेश" के अन्तर्गत अपेक्षित विस्तार के साथ किया गया है। मैंने अपनी सुविधा और सामर्थ्य के अनुसार अपने शोध-प्रबन्ध में अपने निर्देशक द्वारा बतायी गयी विधि का ही पालन करने का प्रयास किया। कार्य में प्रवृत्त होने के बाद मुझे लगा कि मेरे द्वारा चुने गये शोध-विषय का आयाम मेरी पूर्व-कल्पना की तुलना में बहुत बड़ा है और उसे अपेक्षित विस्तार के साथ प्रस्तुत करना एक शोध-प्रबन्ध की सीमा में और विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित अवधि के भीतर एक दुर्वह कार्य है। किन्तु विषय को परिसीमित करने की तब सुविधा नहीं रही थी, और इस कारण पर्याप्त काट-छाँट का सहारा लेते हुए उस प्रबन्ध में पन्त जी के विचार-वैभव को अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत करने के लिए मुझे विवश होना पड़ा था। मैं यह निवेदित करना चाहती हूँ कि विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करने में मुझे कुछ अधिक श्रम और मनोयोग से काम लेना पड़ा था। विषय को समग्रता के साथ प्रस्तुत करने का लक्ष्य भी खण्डित न हो और प्रबन्ध का कलेवर भी अतिविस्तार के दोष से बचा रहे, इसके लिए संकलित-सामग्री में से किसका उल्लेख करें और किसे छोड़ दें, की दुरूह समस्या का सामना करना पड़ा। उस शोध-प्रबन्ध को पूरा कर लेने के बाद जहाँ मुझे इस बात का संतोष हुआ था कि मैंने अपने मनचाहे विषय के सम्बन्ध में पर्याप्त गवेषणा की है और उसे अपने लेखन में सजाने का प्रयास किया है, वहीं मेरे मन में इस बात की भी स्पष्ट प्रतीति थी कि अभी इस सम्बन्ध में और अध्ययन करने और लिखने की अपेक्षा शेष रह गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी प्रतीति का परिणाम है। इस ग्रन्थ को देखने के बाद यदि दूसरे शोधकर्ता और विद्वान् इस कार्य की ओर आकृष्ट होंगे तो वह मेरे शोध-प्रयास की सार्थकता का ही प्रमाण होगा। यदि जीवन ने अवकाश और सुविधा दी तो मैं भी इस दिशा में कुछ और करने की आकांक्षा रखती हूँ।

इस ग्रन्थ की व्यवस्था और इसमें निहित दृष्टि के सम्बन्ध में अपेक्षित निवेदन को मैंने ग्रन्थ के "विषय-प्रवेश" के अन्तर्गत स्थान देना ही अधिक

उचित समझा है। अतः यहाँ उस सम्बन्ध में और अधिक निवेदन न करके मैं इस प्राक्कथन के अन्त में अपने कृतज्ञता-बोध को अभिव्यक्त करना चाहती हूँ। मैं इस तथ्य से परिचित हूँ कि किसी छोटे-से-छोटे अध्ययन अथवा शोध-कार्य में जितने लोगों का योगदान होता है, उनका उल्लेख करना तो दूर उनकी मानसिक चेतना को सँजोना भी पूर्णतया संभव नहीं है। अल्प-से-अल्प ज्ञान-प्रयास में भी अनंतकाल से चली आती हुई ज्ञान-धारा का समावेश स्वतः ही हो जाया करता है। मैं इस अवसर पर ज्ञान के सभी पुराने और नये मीमांसकों को अपनी प्रणति निवेदित करती हूँ। इस प्रसंग में उल्लेख मैं उन्हीं लोगों का कर रही हूँ जिनका इस कार्य की पूर्ति में निरन्तर और प्रत्यक्ष योगदान मुझे प्राप्त हुआ है।

अपने माता-पिता तथा ससुराल से सम्बन्धित परिवारी जनों के प्रति मेरे आभार तथा श्रद्धा का भाव उनमें से प्रत्येक को प्रत्यक्षतया ज्ञात है, इसलिए यहाँ उसके उल्लेख की कोई अपेक्षा नहीं है। अपने शोध-प्रबन्ध और इस ग्रन्थ की पूर्ति में सहायता की दृष्टि से मेरी कृतज्ञता का भाव सर्वाधिक मात्रा में अपने शोध-निर्देशक, के. जी. के. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुरादाबाद के अवकाश-प्राप्त प्राचार्य एवं उत्तर प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी के वर्तमान सचिव, प्रो. महेन्द्र प्रताप के प्रति है जिनके प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन के बिना मेरे शोध-प्रबन्ध और इस ग्रन्थ का अस्तित्व में आना कदापि संभव न हो पाता। उनके स्नेह और कृपा की प्राप्ति को मैं अपने जीवन की विशिष्ट उपलब्धि मानती हूँ और उनसे उऋण होना न मैं चाहती हूँ, न हो सकती हूँ। आभार-ज्ञापन के निमित्त उनके लिए कुछ शब्दों का प्रयोग करने के स्थान पर मैं इस अवसर पर उन्हें अपनी आन्तरिक श्रद्धा के साथ स्मरण करके गहरी तृप्ति का अनुभव कर रही हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन की आरंभिक आकांक्षा जगाने और उसको सम्पुष्ट करने में मूल्यवान एवं प्रेरक योगदान देने के निमित्त मैं इस अवसर पर अपने श्रद्धेय गुरु पंडित जगन्नाथ तिवारी एवं डॉ. प्रताप सिंह चौहान को भी अपनी आन्तरिक प्रणति अर्पित कर रही हूँ। पूज्य चौहान साहब ने न केवल मेरी साहित्यिक अभिरुचि की आरम्भिक जागृति में अपने प्रोत्साहन का सहारा दिया था बल्कि मेरे शोध-कार्य की पूर्ति में विभिन्न अवसरों पर प्रत्यक्ष परामर्श देकर भी उन्होंने मुझे उपकृत किया है। उनके पास पन्त जी की साहित्यिक रचनाओं एवं पन्त जी से सम्बन्धित समीक्षा-साहित्य का एक अच्छा ग्रन्थागार है, जिसके उपयोग की मुक्त सुविधा देकर भी उन्होंने मेरी निरन्तर सहायता की है।

पुस्तकीय सहायता की दृष्टि से मैं मुरादाबाद के के.जी.के. महाविद्यालय

तथा गोकुलदास गर्ल्स महाविद्यालय के समस्त अधिकारियों तथा विशेष रूप से, उनके पुस्तकालयाध्यक्षों का आभार मानती हूँ, जिन्होंने अत्यन्त उदारता के साथ मेरी सहायता की। इस दृष्टि से जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय तथा युवराजदत्त कॉलेज, लखीमपुर के पुस्तकालयों के अधिकारियों से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है।

मैं 'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच', मुरादाबाद (उ. प्र.) के संस्थापक-अध्यक्ष डॉ. महेश 'दिवाकर', डी. लिट्. (हिन्दी), रीडर व शोध निर्देशक, हिन्दी विभाग, गुलाब सिंह हिन्दू महाविद्यालय, चाँदपुर (बिजनौर) उ. प्र. के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ; जिन्होंने इस ग्रंथ को सहृदयतापूर्वक चन्द्रा प्रकाशन से प्रकाशित कराकर पंत जी के प्रति अपनी सच्ची भावांजलि देने के साथ ही अपने साहित्यिक दायित्व का भी निर्वहन किया है।

विनयावनत
किरण गर्ग

2 मई, 1999
बुद्धसेन बिल्डिंग
(समीप के. जी. के. महाविद्यालय)
लाइन पार, मुरादाबाद

प्रस्तावना-खण्ड

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

मानव-व्यक्तित्व का वैचारिक पहलू

मानव-व्यक्तित्व अपने तात्त्विक रूप में एक अविभाज्य इकाई है, किन्तु उसके दो पहलू हमें स्पष्टतः दिखाई देते हैं—एक को हम मानस-पक्ष तथा दूसरे को व्यवहार-पक्ष कह सकते हैं। इन दोनों पक्षों को मानवीय व्यक्तित्व का विचार-पक्ष और आचार-पक्ष भी कहा जा सकता है। इन दोनों पक्षों को मूल्यांकन की तुला पर तौलने से मनुष्यों के व्यक्तित्व का मानस अथवा विचार-पक्ष ही प्रमुख और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। मानस-पक्ष से असम्पृक्त व्यवहार अथवा विचारहीन आचार मानवीय नहीं कहा जा सकता। विचारहीन व्यवहार मानवकृत होकर भी मानवीय नहीं होता। उसका सम्बन्ध मानव-सत्ता के पाशविक पक्ष से होता है। संस्कृत के "आचार" शब्द में उसके विचारयुक्त होने का गुण सहज रूप से निहित है। सही अर्थ में विचारहीन व्यवहार आचार की कोटि में स्थान पाने के योग्य नहीं होता। मानवता का गुण जिस व्यक्ति में जितना अधिक होता है, उतना ही उसके व्यक्तित्व का मानस-पक्ष सबल होता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का मानस-पक्ष है—चिन्तन तथा अनुभूति; और क्रियात्मक पक्ष है—व्यवहार अथवा आचार। चिन्तन और अनुभूति की किसी विशिष्ट पृष्ठभूमि के बिना भी अनेक क्रियायें मनुष्यों द्वारा होती हुई दिखाई देती हैं, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, ऐसी क्रियाओं का सम्बन्ध मनुष्य की पशु-प्रकृति से होता है। मनुष्य की साँस लेने जैसी सहज क्रिया भी मानसपक्ष से प्रभावित होती है। जहाँ वातावरण में दुर्गन्ध अथवा कोई विषैला तत्त्व हो, यहाँ मानव या तो अपनी साँस को रोक लेता है या कोई ऐसी व्यवस्था करता है जिससे साँस, जहाँ तक हो सके, अल्प मात्रा में तथा छनकर भीतर पहुँचे और जहाँ वातावरण सुगन्धित एवम् पौष्टिक तत्त्वों से युक्त हो वहाँ मनुष्य खुलकर साँस लेने का प्रयत्न करता है। योग की प्राणायाम जैसी क्रिया तो व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक

कहा है जिसमें पदा
एक अन्य म
रूप में परिभाषित
प्रकार के ज्ञान पर
एवं सावधानीपूर्वक

मानव-व्यवहार और

मनोवैज्ञानिकों
स्पष्ट संकेत देती है
कथन में हम चिन्तन
के फलस्वरूप प्राप्त
संज्ञा देते हैं। दूसरे
चिन्तन के फलस्व
अथवा अनुभूति साम
संवेदना, जिसे विचार
का रूप धारण करती
अथवा व्यवहार की
अथवा मानसिक भी
मानव के मानसिक
किसी-न-किसी तरह
व्यापार के मौलिक सत्व
होती है। निरीक्षण-परी
प्रतीतियाँ प्राप्त करते हैं
संवेग हमारे मन में जाग्र

संवेगों से प्रेरित मा
संवेग-प्रेरित क्रिया अपने
शारीरिक क्रिया के रूप
को ही व्यवहार अथवा
करने पर अभिव्यंजना भी
तो उसकी अभिव्यंजना अ
यदि संवेग विशिष्ट एवं
उससे सम्बन्धित अभिव्यंज

ई होती है। सांस लेने के समान ही खाने, पीने, सो
क्रियाएँ भी मानस-पक्ष से सर्वथा विहीन नहीं होतीं
है। इसलिए उसके हर व्यवहार के पीछे विचार की
भी मानवीय व्यवहार के पीछे की विचार-परम्पर
कभी-कभी उसका स्वरूप इतना गूढ़ और अन्तर्निहित
इ में नहीं आ पाता। किन्तु इस आधार पर यह
हार विचार से सर्वथा असम्पृक्त भी हो सकता है,

न को तीन पहलुओं में बाँटा है और उन्हें ज्ञानात्मक
क्टव) तथा क्रियात्मक (कोनेटिव) की संज्ञाएँ प्रदान
कि बाह्य उत्तेजन के फलस्वरूप मानव-मन का
है। मानव-मन की ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया जब उसके
करती है तभी मनुष्य क्रिया में प्रवृत्त होता है।
का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मन के भावात्मक पक्ष से है
त्त्व की उपस्थिति से प्राणी में सुख अथवा दुःख
-मन की भावात्मक अवस्था का यदि विश्लेषण
है कि संवेदना से ही हमारे मन के भाव उत्पन्न
हो जाते हैं तब संवेग का रूप धारण कर लेते
न जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी
संवेदना होना आवश्यक है और संवेगों के लिए
भावात्मक अवस्था। भाव सामान्यतया हमें इतनी
या के रूप में घटित होते दिखाई देते हैं कि हम
पृथक् प्रतीति ही नहीं होती। प्राचीन मनोवैज्ञानिक
का रूप मानते थे, परन्तु अब इस मत की
मनोवैज्ञानिक यही मानते हैं कि पहले संवेदना
होता है। इस क्रम का टूटना या विपरीत होना
से पूर्व संवेदना का, वह चाहे बाह्य हो अथवा
क है और संवेदना के बाद ही जीव किसी
अनुभव करता है। भाव के लिए संवेदन का
से जुड़े किसी भाव का उदय होना आवश्यक
हैं जिनके फलस्वरूप मानव-मन में भावात्मक

अवस्था उत्पन्न नहीं होती। इस तरह की संवेदनाएँ जो मानव-मन के भावात्मक पक्ष को प्रभावित नहीं करतीं, संवेग की स्थिति तक भी नहीं पहुँचतीं और फलस्वरूप उनसे सम्बद्ध कोई क्रिया भी घटित नहीं होती।

जिस तरह यह आवश्यक नहीं है कि हर संवेदन भाव की स्थिति तक पहुँचे, उसी तरह यह भी आवश्यक नहीं है कि हर भाव से कोई क्रिया संपादित हो। बहुत बार मानव-मन भीतर-ही-भीतर भावों का अनुभव करके रह जाता है। केवल इतना ही नहीं कि मनुष्य अपने हर भाव से सम्बन्धित क्रिया नहीं करता, वह हर भाव की अभिव्यंजना भी नहीं करता। वस्तुतः अभिव्यंजना भी एक प्रकार की क्रिया ही है। क्रियात्मक होने के लिए भाव का संवेग बनना आवश्यक होता है। जब भाव अथवा अनुभूति की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि उसके कारण शरीर में उद्दीप्त स्थिति उत्पन्न हो जाय तभी वह भाव अथवा अनुभूति संवेग का रूप धारण करती है। भाव के प्रभाव से शरीर का उद्दीप्त होना ही मानवीय संवेग की स्थिति को ज्ञापित करता है। अब तो अधिकांश मनोवैज्ञानिक शारीरिक क्रियाओं को ही संवेग मानने लगे हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ का कहना है कि—"प्रत्येक संवेग एक अनुभूति है और उसी समय एक क्रियात्मक रूप भी है।"[1]

जिस प्रकार मात्रा बढ़ जाने पर भाव संवेग का रूप ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार संवेदन परिपुष्ट होने पर विचार का रूप ग्रहण कर लेता है। संवेदन की परिपुष्टि चिन्तन से होती है। चिन्तन ज्ञानात्मक व्यवहार का एक जटिल स्वरूप है जो मानव-जगत् में सदैव देखने को मिलता है। सामान्य संवेदन अनुभूति और संवेग मानवेतर प्राणियों में भी उत्पन्न होते हैं किन्तु चिन्तन की प्रक्रिया मानव-मन में ही घटित होती है। मनोवैज्ञानिकों के एक वर्ग ने पशु-जगत् के चिन्तन को भी मान्यता दी है किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि पशुओं का चिन्तन निम्न कोटि का होता है और मानव-चिन्तन के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती। मानव की चिन्तन-प्रक्रिया एक उच्च मानसिक प्रक्रिया है। मनोवैज्ञानिक वारेन ने चिन्तन को परिभाषित करते हुए कहा है कि—"चिन्तन एक विचारात्मक प्रक्रिया है जिसका स्वरूप प्रतीकात्मक है। उसका आरम्भ व्यक्ति के समक्ष उपस्थित किसी ऐसी समस्या अथवा कार्य से होता है जो प्रयास की अपेक्षा रखता है और जो मनुष्य को उपस्थित समस्या के सुलझाने अथवा उसके निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रेरणा देता है।"[2]

दूसरे मनोवैज्ञानिक गैरेट ने चिन्तन को "मानव का आन्तरिक व्यवहार

कहा है जिसमें पदार्थों तथा विचारों के लिए प्रतीक शामिल रहते हैं।''[1]

एक अन्य मनोवैज्ञानिक जॉन डीवे ने चिन्तन को और भी अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित करते हुए कहा है—''चिन्तन किसी विश्वास या अनुमानित प्रकार के ज्ञान पर, उसके आधारों तथा निष्कर्षों के प्रकाश में, सक्रिय, निरन्तर एवं सावधानीपूर्वक विचार करना है।''[1]

मानव-व्यवहार और विचार :

मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी चिन्तन की उपर्युक्त परिभाषाएँ इस बात का स्पष्ट संकेत देती हैं कि चिन्तन मानवीय सक्रियता का ही एक रूप है। सामान्य कथन में हम चिन्तन को विचार करना भी कहते हैं और चिन्तन अथवा विचार के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली धारणाओं और निष्कर्षों के लिए भी विचार की संज्ञा देते हैं। दूसरे शब्दों में, विचार करने की क्रिया का नाम चिन्तन है और चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त परिणामों का नाम विचार है। सामान्य संवेदन अथवा अनुभूति सामान्य संवेग को जन्म देती है और विशिष्ट तथा परिपुष्ट संवेदना, जिसे विचार कहकर भी निर्देशित किया जा सकता है, विशिष्ट संवेगों का रूप धारण करती है। जैसा पहले संकेतित किया जा चुका है, संवेग ही क्रिया अथवा व्यवहार की प्रेरणा देते हैं। संवेग-प्रेरित मानवीय व्यवहार आन्तरिक अथवा मानसिक भी होता है और प्रत्यक्ष क्रिया के रूप में शारीरिक भी। चिन्तन मानव के मानसिक व्यवहार के अन्तर्गत आता है और इसीलिए उसके पीछे किसी-न-किसी तरह के संवेग का हाथ रहता है। किसी वस्तु, स्थिति अथवा व्यापार के मौलिक सत्य तक पहुँचने की आकांक्षा भी एक प्रकार का संवेग ही होती है। निरीक्षण-परीक्षण और चिन्तन के सहारे ही हम मौलिक सत्य-सम्बन्धी प्रतीतियाँ प्राप्त करते हैं और फिर उन प्रतीतियों से प्रेरित गहन अनुभूति अथवा संवेग हमारे मन में जाग्रत् होते हैं।

संवेगों से प्रेरित मानवीय क्रियाओं के दो रूप हमें प्रमुखतः दिखाई देते हैं। संवेग-प्रेरित क्रिया अपने एक रूप में अभिव्यंजना के और अपने दूसरे रूप में शारीरिक क्रिया के रूप में प्रकट होती है। सामान्यतः हम लोग शारीरिक क्रिया को ही व्यवहार अथवा आचार की संज्ञा देते हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अभिव्यंजना भी व्यवहार का ही अंग सिद्ध होती है। संवेग सामान्य हो तो उसकी अभिव्यंजना अथवा उससे सम्बन्धित क्रिया भी सामान्य होती है; पर, यदि संवेग विशिष्ट एवं परिपुष्ट संवेदना अर्थात् गहन विचार से प्रेरित हो तो उससे सम्बन्धित अभिव्यंजना अथवा शारीरिक क्रिया दोनों ही विशिष्ट होती है।

कला और साहित्य में विचार-तत्त्व

कला और साहित्य मानवीय व्यवहार के अभिव्यंजना-क्षेत्र की वस्तुएँ हे। कला और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर भारतीय समीक्षकों के मतो मे अभी कुछ समय पूर्व तक एक द्विविधा की स्थिति रही है। कुछ समीक्षक साहित्य को कला का ही एक प्रकार मानते थे और कुछ की धारणा थी कि साहित्य कला की अपेक्षा एक श्रेष्ठतर और स्वतंत्र अभिव्यंजना-विधा है। पाश्चात्य कला-चिन्तन की यह मान्यता, जो अब प्रायः सार्वभौम बन गयी है और भारतवर्ष मे भी प्रायः सर्वतः स्वीकृत हो चली है, साहित्य को कला के अन्तर्गत, उसकी एक विधा के रूप में ही स्वीकार करती है। आधुनिक यातायात ओर सम्पर्क-सुविधाओं के कारण दुनिया के विभिन्न देश अब बहुत निकट आ गये ह और देश-भेद के कारण चिन्तन के क्षेत्र में पाये जाने वाले मतान्तरों को एक सगत-समन्वय में पिरो लेना हमारे लिए आवश्यक हो गया है। भारतवर्ष मे कला सम्बन्धी प्राचीन धारणा उतनी उदात्त नहीं थी जितनी वह पश्चिम में है, ओर इस कारण भारतीयों ने साहित्य को कला-जाति की एक उपजाति मानना स्वीकार नहीं किया था। भारत में कला को केवल क्रिया-दक्षता के रूप मे मान्यता प्रदान की गयी है। कला की नयी उदात्त धारणा के अन्तर्गत साहित्य को स्थान देने में आधुनिक भारतीय समीक्षकों को अब किसी तरह की आपत्ति नहीं रही है। रमणीय अभिव्यक्ति के रूप में कला और साहित्य की तात्त्विक प्रकृति एक ही है।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध विचारक संत विनोबा भावे ने "विदग्ध वाणी" को साहित्य कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "भावों के वाङ्मय" को साहित्य बताया है। विनोबा की "विदग्ध वाणी" और आचार्य शुक्ल के "भावों क वाङ्मय" में अन्तर तात्त्विक न होकर केवल शाब्दिक ही है। "रसात्मक वाक्य" ओर "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द" जैसी साहित्य के स्वरूप की निदेशक उक्तियाँ भी उसी अभिप्राय को व्यक्त करती हैं। कला और साहित्य की अभिव्यंजना के प्रेरक संवेग मानवीय चेतना के एक व्यापक एवं उदात्त धरातल पर संघटित होते हैं। संवेग का क्षेत्र यदि व्यक्तिगत और संकुचित हो तो उससे प्रेरित अभिव्यंजना और क्रिया भी सीमित एवम् अस्थायी प्रभाव वाली होगी और यदि सवेग का रूप व्यापक और विशिष्ट हो तो उससे प्रेरित अभिव्यंजना और क्रिया भी व्यापक, विशिष्ट तथा चिरस्थायी प्रभाव वाली होती है। संवेग विशिष्ट तथा व्यापक तभी हो सकता हे जब ज्ञान और चिन्तन से उसे शक्ति प्राप्त हुई

हो। परम्परा से प्राप्त प्रतीतियाँ ज्ञान कहलाती हैं, और परम्परा से प्राप्त प्रतीतियों का विश्लेषण, विवेचन एवं मूल्यांकन चिन्तन की परिधि में आता है।

यह सिद्ध करने के लिए कि कला के विभिन्न माध्यमों में शब्द का माध्यम वैचारिक और भावात्मक दोनों प्रकार की अभिव्यंजना की दृष्टि से अन्य कला-माध्यमों की अपेक्षा अधिक समर्थ, प्रेषणीय और व्यापक प्रभाव वाला है, सम्भवतः कोई तर्क अपेक्षित नहीं है। दर्शन, शास्त्र और विज्ञान को लोग शुद्ध वैचारिक अभिव्यंजना मानते हैं और उसके साथ भावात्मकता का संयोग एक दोष के रूप में देखा जाता है, किन्तु मानवीय अभिव्यंजना मानवीय व्यवहार होने के कारण संवेग-प्रेरित ही हो सकती है और संवेग में मानव-मन के ज्ञानात्मक पक्ष के साथ-साथ भावात्मक पक्ष की भूमिका भी अवश्य ही जुड़ी रहती है। यह अवश्य है कि दार्शनिक, शास्त्रीय और वैज्ञानिक चिन्तन में मानव-मन का भावात्मक पक्ष परदे के पीछे नेपथ्य में रहता है, स्पष्ट रूप में सामने नहीं आता, जबकि कलात्मक अभिव्यंजना में मानव-मन का भावात्मक पक्ष ही अधिक प्रमुख और प्रकट रूप में सामने आता है। कलात्मक अभिव्यक्ति में मानव-मन का भावात्मक पक्ष एक व्यापक और उदात्त चेतना से अन्वित होकर ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनता है। भाव विचार से रहित नहीं हो सकता और जितना उत्कृष्ट उदात्त और प्रभावशाली भावाभिव्यंजन कला में होगा उतनी ही उत्कृष्ट और उदात्त चिंतन की पृष्ठभूमि भी उसके पीछे होगी।

संसार के सभी कलाशास्त्री यह मानते हैं कि अभिव्यंजना-सामर्थ्य की दृष्टि से कलाओं में साहित्य का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। कलाओं में भी मूल प्रतिपाद्य सत्य ही होता है जिसकी प्राप्ति विचारणा के माध्यम से होती है। कला में सत्य की अभिव्यंजना भावात्मक बिम्बों की सहायता से की जाती है जिसके कारण वह अभिव्यंजना शास्त्रीय और वैज्ञानिक अभिव्यंजना से भिन्न प्रतीत होने लगती है। हिन्दी की अन्यतम कवयित्री स्वर्गीया महादेवी वर्मा ने कहा है कि—"सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है।"[5] हमारे ग्रन्थनायक पन्त जी ने भी मानव-जीवन के सत्य की अभिव्यंजना को ही कलात्मक अभिव्यंजना का आदर्श माना है। उन्होंने कहा है—"मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्य-स्रष्टा तथा कला-प्रेमी विद्वान् वस्तुवाद तथा आदर्शवाद को एक ही मानव-जीवन के सत्य की दो बाँहों की तरह मानकर वर्तमान युग के विचारों की (इस) विशृंखलता को सामंजस्य के व्यापक प्रीति-पाश में बाँध सकेंगे।"[6] ध्यान देने की बात है कि पन्त जी मानव-जीवन के सत्य को विचारों का सामंजस्य कहकर ही व्याख्यायित करते हैं।

साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी के रूप में केवल अभिव्यंजना-शिल्प की श्रेष्ठता को ही स्वीकृति कभी प्राप्त नहीं हुई। आजकल साहित्य की विवेचना प्रायः उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष के आधार पर की जाती है। साहित्य का "कला-पक्ष" और "भाव-पक्ष" जैसे शब्द समीक्षा के क्षेत्र में प्रयोग में आ गये ह किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ये प्रयोग अधिक समीचीन नहीं हैं। "भाव-पक्ष" जैसा शब्द-प्रयोग तो किसी सीमा तक ठीक भी है किन्तु "कला-पक्ष" शब्द का प्रयोग उस प्राचीन दृष्टि से प्रेरित है जो साहित्य को कला से भिन्न और श्रेष्टतर मानती है। नवीन, एवं सर्वमान्य नहीं तो बहुमान्य, दृष्टि जब साहित्य को एक कला-विधा के रूप में ही स्वीकार करने लगी है तो "साहित्य के कला-पक्ष" का विवेचन "कला के कला-पक्ष" के विवेचन जैसा असंगत शब्द-प्रयोग मालूम पड़ता है। साहित्य के अभिव्यंजना-सौन्दर्य को शिल्प-पक्ष कहना अधिक विचारसगत प्रतीत होता है।

साहित्य के भावपक्ष और शिल्पपक्ष में भावपक्ष का स्थान प्रधान है, यह सत्य भी प्रायः स्वतः सिद्ध है। "क्या कहा जा रहा है" की तुलना में "कैसे कहा जा रहा है" का महत्त्व कभी भी अधिक नहीं माना जा सकता। कला के गुणा के रूप में सत्य, सुन्दर और शिव नामक जिन तीन तत्त्वों की चर्चा प्राचीन यूनानी-चिन्तन के काल से लेकर आज तक प्रचलित है, उनमें भी पहला स्थान सत्य को ही दिया गया है। जो सत्य नहीं होगा, उसके शिव और सुंदर होने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? सत्य तो विचार की वस्तु है ही, शिवत्व आर सौन्दर्य की परिकल्पना भी विचार-निर्गत परिणाम ही है।

साहित्यकार और वैचारिकता

वैचारिक पृष्ठभूमि की समृद्धि और प्रामाणिकता ही किसी साहित्यिक कृति को स्थायी महत्त्व की वस्तु बनाती है और व्यापक तथा संगत वैचारिकता ही किसी साहित्यकार की श्रेष्ठता की कसौटी है। साम्प्रतिक समीक्षा-पद्धति म भावपक्ष के विवेचन के अन्तर्गत समीक्षकों द्वारा कवि की दार्शनिक मान्यताओं का उल्लेख सबसे पहले किया जाता है और ऐसा किया जाना उचित भी ह। दार्शनिक मान्यताओं का सम्बन्ध साहित्यकार के व्यक्तित्व के विचार-पक्ष स होता है। साहित्यकार के व्यक्तित्व का विचार-पक्ष उसके ज्ञान और चिन्तन म निहित होता है। अन्य मनीषियों द्वारा किये गये निरीक्षण-परीक्षण और चिन्तन की उपलब्धियों से परिचित होना व्यक्ति के ज्ञान-कोष का निर्माण करता है और उन ज्ञानात्मक उपलब्धियों एवं अपने निजी निरीक्षण-परीक्षण को आधार बनाकर

समृद्धि और विस्तार श्रेष्ठ कला
हल नहीं होतीं, चाहे वे किसी
मानव-संवेदनापूर्ण कलात्मक चेत
अपनी दृष्टि को कलात्मक रूप

साहित्य की प्रकृति-सम्बन्धी
द्वारा कही गयी हैं जो स्वयं सर्ज
आवश्यकता और महत्ता को रेखा
का ही विचार-पक्ष होता है। अ
साहित्यिक कृति का परिचय भी
संकेत दिये बिना कभी सम्पूर्ण न

सुमित्रानन्दन पन्त के वैचारिक

सुमित्रानन्दन पन्त की आ
हम विचार करते हैं तो उनका व्य
साहित्यकार का व्यक्तित्व प्रतीत
सांस्कृतिक चेतना से अन्वित और
छवि एक सर्जक कलाकार के रूप
सांस्कृतिक चेतना का तत्त्व उनके
होता है। किन्तु पन्त जी के जीवन
और गंभीर अध्ययन के बाद स्पष्ट
चेतन्य उनकी कलात्मक सृजनशी
नियामक भी प्रतीत होता है। पन्त
उनके सांस्कृतिक चैतन्य को अधिक
को किसी अर्थ में हीन बताना यहां
सतत जागरूक और सक्रिय सांस्
एक असामान्य गरिमा और श्रेष्
परिवेश में संस्कृत भाषा का शब्द
उस अर्थ को अभिव्यक्त करने के
करना पड़ता है। इसका कारण धर
अपने पुराने उदार स्वरूप के स्थान
अंग्रेज़ी के "रेलिजन" तथा अरबी

चिन्तन-सामर्थ्य को द्योतित करत
विशेष व्यक्ति के मानस-पक्ष क
सामान्य व्यक्तियों से कुछ विशिष्ट
र के व्यक्तित्व का आकलन आग
आकलन और मूल्यांकन होने पर

ीवन-दृष्टि परिवेश के साथ उसकी
ग्रहण करती है। बाह्य जगत् स
किया गया भाव-जगत् उसक
व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं।
साहित्यकार के जीवन के अग
चय अभी तक नहीं दिया गा
चर्चा करके इस रहस्य-प्रक्रिया
का यह प्रयास इस सम्बन्ध की
। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने
र द्वारा ज्ञान-परम्परा के अर्जन
मनीषा पूर्वजन्मों में विश्वास
को पिछले विभिन्न जन्मों मे
भी हो, विशिष्ट साहित्यकार
में अवश्य होती है।
अध्ययन और अनुसंधान की
। किन्तु, साहित्य के इतिहास
ाई देती है जिनके जीवन में
प्रयास हमें देखने को नही
—"मसि कागद छूयो नही,
दृष्टान्त उद्धृत किये जा
यास के न दिखाई पड़ने पर
नहीं निकाला जा सकता।
की व्यवस्था और प्रयास का
फलस्वरूप प्रबोध-परिणामों
देखाई देती है। अंग्रेज़ी क

प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षक अबर क्राम्बे ने "गुड लिट्रेचर" और "ग्रेट लिट्रेचर" मे ज्ञान-वैभव की मात्रा के आधार पर ही अन्तर किया है। "गुड लिट्रेचर" को हम प्रेय-साहित्य और "ग्रेट लिट्रेचर" को श्रेय-साहित्य कह सकते हैं।" मात्र प्रियता के गुण से सम्पन्न होना श्रेष्ठ साहित्य का लक्षण न माना जा सकता है और न कभी माना गया है। प्रियता अधिक-से-अधिक कला अथवा साहित्य के तीन स्वीकृत गुणों में से एक, सौन्दर्य की उपस्थिति का एक सीमा तक प्रमाण मानी जा सकती है, पर उसे कला के शेष दोनों गुणों—सत्य तथा शिवत्व—की उपस्थिति का प्रमाण नहीं माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि सत्य, शिव और सुन्दर कला के ये तीनों गुण कहने के लिए ही एक दूसरे से भिन्न हैं, वस्तुतः ये एक दूसरे में अविच्छेद्य रूप से अनुस्यूत रहा करते हैं। सत्य अपनी मूल प्रकृति में शिव और सुन्दर होता है; शिव सत्य और सुन्दर होता है तथा उसी तरह सुन्दर भी सत्य और शिव होता है। जहाँ भी तीनों सहज रूप से परस्पर अनुस्यूत न दिखाई दें, वहाँ इनमें से किसी एक की पृथक् उपस्थिति संभव नहीं हो सकती। इन तीनों गुणों मे मौलिक महत्त्व सत्य का ही है और सत्य के आधार के बिना सच्चे साहित्य की सर्जना नहीं की जा सकती। किसी साहित्यकार के सत्य सम्बन्धी सम्बोध का परिचय दिये बिना उसके व्यक्तित्व का परिचय न केवल अधूरा बल्कि निरर्थक ही सिद्ध होगा।

कला के क्षेत्र में विचार बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। कवि और समीक्षक केदारनाथ सिंह ने साहित्य में विचार की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का परिचय इन शब्दों में दिया है—"जो वस्तु दार्शनिक के लिए अमूर्त तथा स्वतः पूर्ण होती है वह कवि के कार्यक्षेत्र में पहुँचकर सहसा रूपान्तरित हो जाती है और एक नये बिम्बात्मक साँचे में ढलकर सामने आती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काव्यगत विचार एक ऐसी जीवित ठोस वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाय कि वह न केवल बुद्धि अथवा मन का विचार रहे, बल्कि ऐन्द्रिय बोध के स्तर पर भी अनुभव किया जा सके।............संवेदना एवं विचार के चिरन्तन द्वन्द्व को केवल बिम्ब के द्वारा हल किया जा सकता है। वस्तुतः बि[illegible] का जन्म ही स्थूल यथार्थ तथा सूक्ष्म विचारों के तनाव के मध्य होता है।..... विचार ही वह सूत्र है जो अलग-अलग ऐन्द्रिय चित्रों को व्यापक एकता के [illegible] में संग्रथित करता है।"[7]

प्रख्यात आधुनिक कवि एवं समीक्षक गजानन माधव 'मुक्तिबोध' [illegible] साक्ष्य भी हमें इस सम्बन्ध में उपलब्ध है। उनका कहना है कि [illegible]

समृद्धि और विस्तार श्रेष्ठ कला का एक लक्षण है, और जब तक मानव-समस्याएँ हल नहीं होतीं, चाहे वे किसी भी क्षेत्र या स्तर की क्यों न हों, तब तक मानव-संवेदनापूर्ण कलात्मक चेतना का यह धर्म है कि उन पर सोचे, विचारे और अपनी दृष्टि को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करे।"[3]

साहित्य की प्रकृति-सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों उक्तियाँ, जो ऐसे समीक्षकों के द्वारा कही गयी हैं जो स्वयं सर्जक साहित्यकार भी हैं, साहित्य में विचार-पक्ष की आवश्यकता और महत्ता को रेखांकित करती हैं। साहित्य का विचार-पक्ष साहित्यकार का ही विचार-पक्ष होता है। अतएव साहित्यकार का परिचय तो क्या, किसी साहित्यिक कृति का परिचय भी उसके कर्ता के व्यक्तित्व के वैचारिक पक्ष का संकेत दिये बिना कभी सम्पूर्ण नहीं माना जा सकता।

सुमित्रानन्दन पन्त के वैचारिक व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य

सुमित्रानन्दन पन्त की आन्तरिक प्रकृति और उनके जीवन-कर्म पर जब हम विचार करते हैं तो उनका व्यक्तित्व हमें एक अतिशय जागरूक सांस्कृतिक साहित्यकार का व्यक्तित्व प्रतीत होता है। सभी महान् साहित्यकार विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना से अन्वित और प्रेरित होते हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश की छवि एक सर्जक कलाकार के रूप में ही विशेष रूप से प्रतिभासित होती है। सांस्कृतिक चेतना का तत्त्व उनके व्यक्तित्व में कलात्मकता की तुलना में गौण होता है। किन्तु पन्त जी के जीवन और उनकी साहित्यिक रचनाओं के व्यापक और गंभीर अध्ययन के बाद स्पष्ट प्रतीत होता है कि पन्त जी का सांस्कृतिक चैतन्य उनकी कलात्मक सृजनशीलता का अवयव ही नहीं, उसका प्रेरक और नियामक भी प्रतीत होता है। पन्त जी की कलात्मक सृजनशीलता की तुलना में उनके सांस्कृतिक चैतन्य को अधिक महत्त्वपूर्ण बताकर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को किसी अर्थ में हीन बताना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इसके ठीक विपरीत उनका सतत जागरूक और सक्रिय सांस्कृतिक चैतन्य उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को एक असामान्य गरिमा और श्रेष्ठता प्रदान करता है। अपने प्रयोग के पुराने परिवेश में संस्कृत भाषा का शब्द "धर्म" जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करता था उस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अब हमें "संस्कृति" शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि सामान्य जन-मानस में "धर्म" शब्द अपने पुराने उदार स्वरूप के स्थान पर बहुत सीमा तक संकीर्ण हो गया है और अंग्रेज़ी के "रेलिजन" तथा अरबी के "मज़हब" शब्द का समानार्थी हो गया है।

"धर्म" शब्द के मौलिक उदार रूप का यदि आज भी प्रचलन होता तो पन्त जी को धार्मिक साहित्यकार भी कहा जा सकता था, किन्तु आज ऐसा करने से पन्त जी के व्यक्तित्व की व्यापकता और उदारता के खण्डित होने की संभावना है।

पन्त जी के पूरे साहित्य और उसके सम्बन्ध में उनकी निज की विवेचनाओं के अध्ययन के बाद प्रस्तुत लेखिका के मन में उनकी छवि एक संस्कृति-नायक के रूप में ही प्रधानता से उभरी है। यह अवश्य है कि पन्त जी ने सांस्कृतिक नेतृत्व के लिए किसी प्रचार-संस्था अथवा प्रत्यक्ष जन-आन्दोलन का सहारा नही लिया। अपने मनोनीत सांस्कृतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने साहित्य-सर्जना को ही माध्यम बनाया और अपने लेखन-धर्म में उनकी निष्ठा निरन्तर बनी रही। अपने साहित्यिक कृतित्व और उसकी जीवन-विकास-संबंधी सार्थकता और उपयोगिता में पन्त जी की यदि गहन निष्ठा न होती तो वे सुख-समृद्धि की ओर से प्रायः विरक्त रहते हुए इतनी दीर्घ, निरन्तर और जीवन-व्यापी साहित्य-साधना कभी न कर पाते। अभी कुछ पहले जो बात मैंने संकेत में कही है, उसे और अधिक स्पष्टता के साथ मैं एक बार फिर कहना चाहती हूँ कि कवि-कर्म अथवा साहित्य-सर्जना यदि जन-मानस में सांस्कृतिक चैतन्य का प्रकाश विकीर्ण करने की शक्ति से सम्पन्न न हो तो उसमें रंजकता और तात्कालिक लोकप्रियता के गुणों की उपस्थिति तो मानी जा सकती है किन्तु उसे महान् साहित्यिक कृतित्व होने का गौरव कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

आजकल के प्रयोग-निष्ठ मनोवैज्ञानिकों के मतों का उल्लेख करते हुए पहले यह निदर्शित किया जा चुका है कि संवेग ही मनुष्य के हर प्रकार के व्यवहार के प्रेरक अथवा उत्स हुआ करते हैं और उनके पीछे मानव-मन की ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का हाथ अनिवार्यतः उपस्थित रहता है। ज्ञानात्मक प्रवृत्ति से विरहित कोई सामान्य मानवीय व्यवहार भी संभव नहीं हो सकता। जहाँ तक साहित्य-सर्जना जैसे विशिष्ट मानवीय व्यवहार का संबंध है उसका सुदृढ़ ज्ञानात्मक भूमि पर अधिष्ठित होना तो परम आवश्यक है।

पन्त जी का व्यक्तित्व मूलतः एक सांस्कृतिक साहित्यकार का व्यक्तित्व था, इस कारण गहन विचारशीलता को उनकी साहित्यिक कृतियों में प्रधानता मिली। पन्त जी स्वयं यह जानते थे कि उच्च-से-उच्च विचार अपने शुद्ध रूप में साहित्य नहीं हुआ करता और न उतना प्रभावशाली ही हुआ करता है। साहित्य बनने के लिए विचार को साहित्य के साँचे में ढालना होता है। उन्होंने अपने एक अभिभाषण में कहा था—"साहित्य केवल विचार-तत्त्व से ही प्रणीत

नहीं होता। विचार तो मुख्यतः शास्त्रों के क्षेत्रों में उगते हैं। साहित्य तो उनसे प्रकाश एवं प्रेरणा भर ग्रहण करता है। साहित्य मेरी दृष्टि में प्रधानतः मानव-हृदय का दर्पण है, हृदय मनुष्यत्व के सांस्कृतिक स्वास्थ्य का सूचक है, जिस के द्वारा जीवन में नवीन प्राणों के सौन्दर्य तथा रक्त का संचार होता है।....इस महान् युग में मैं मान्यताओं सम्बन्धी किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने की कम आशा रखता हूँ। महान् युग की मान्यताएँ भी महान् होती हैं। उनका रूप कई पीढ़ियों के विचार-संघर्ष, आदान-प्रदान, निरीक्षण-परीक्षण के बाद ही निखर कर स्पष्ट हो सकता है, अभी तो वे विकसित होकर रूप ग्रहण कर रही हैं। मान्यताओं सम्बन्धी मतभेद का होना अभी अनिवार्य ही दीखता है और वह अच्छा भी है। उससे जीवन का विकास एकांगी न होकर बहुमुखी होता है। हमें विभिन्न मतों तथा विचारधाराओं का आदर करना सीखना चाहिये। ये विचारधाराएँ एक-दूसरे को प्रभावित कर विकसित हो सकें, ऐसे सम्मेलनों का यही उद्देश्य होना चाहिये। मान्यताओं के अतिरिक्त आज साहित्यकारों के सम्मुख नवीन रूप-विधान, कला-शिल्प, विधाओं तथा शैलियों आदि के भी आवश्यक प्रश्न हैं, जिन पर एकाग्रचित्त से गंभीरतापूर्वक विवेचन किया जा सकता है और विभिन्न रुचि के साहित्य-स्रष्टा शिल्प के नये सौन्दर्य का ग्रहण कर कला के धनी भी बन सकते हैं।"[9]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य चाहे केवल विचार-तत्त्वों से प्रणीत न हो पर उसमें विचार-तत्त्व का होना आवश्यक है। साहित्य विचार-तत्त्व से ही प्रकाश व प्रेरणा ग्रहण करता है। पन्त जी जहाँ साहित्य को मानव-हृदय का दर्पण बताते हैं वहीं हृदय को मनुष्यत्व के सांस्कृतिक स्वास्थ्य का सूचक भी बताते हैं जिसकी सार्थकता जीवन में नवीन प्राणों के सौन्दर्य तथा रक्त को संचारित करने में है। पन्त जी साहित्य की सार्थकता जीवन-संस्कृति के विकास में ही मानते हैं और साहित्य के प्रयोजन-सम्बन्धी अपने विचारों में साहित्य की सार्थकता के मानदण्ड के रूप में उन्होंने, उसमें स्वस्थ एवं सांस्कृतिक जीवन-विकास के अभिप्रेरक होने की शक्ति को ही मान्यता प्रदान की है।

पन्त जी ने वर्तमान युग को महान् तो कहा है पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि इस युग में मान्यताओं सम्बन्धी किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने की आशा वे कम रखते हैं। कई पीढ़ियों के मनोमंथन और विचार-संघर्ष के फलस्वरूप महान् युग की मान्यताएँ उदित होती हैं। उनके इस किंचित् विरोधाभासपूर्ण

कथन का अभिप्राय यही है कि वर्तमान युग मे महान् विचारो के उदित होने की आवश्यकता भी है और संभावना भी। जिस युग में युग की महान् विचारणा सम्बन्धी माँग पूरी हो चुकी होती है अथवा कुंठित हो गयी होती है, उस युग का साहित्य 'कला कला के लिए' की प्रेरणा से जुड़ जाता है। वर्तमान महान् युग के अनुरूप महान् विचारों की अपेक्षा को पूरा करने का सांस्कृतिक दायित्व भी पन्त जी अपने युग के साहित्यकारों और अन्य क्षेत्रों के विचारकों का मानते थे, और अपनी साहित्य-सर्जना में उन्होंने अपने महान् युग के इस दायित्व को पूरी सजगता एवं सावधानी के साथ पूरा करने का सफल प्रयास किया है। इसीलिए वे यह भी कहते हैं कि हमें विभिन्न मतों तथा विचारधाराओं का आदर करना सीखना चाहिये। मान्यताओं और मतों के महत्त्व का बार-बार उल्लेख करके पंत जी साहित्य के और साहित्यकार के वैचारिक पक्ष के महत्त्व का ही व्याख्यान करते रहे हैं। विचार को साहित्य बनने के लिए रूप-विधान एवं कला–शिल्प की भी आवश्यकता होती है, पन्त जी इस तथ्य की ओर से भी असावधान नहीं हे।

प्रश्नोत्तर के एक प्रसंग में पन्त जी ने कहा है–"लेखक जनसाधारण से अधिक प्रबुद्ध होता है, वह विसंगतियों के कारण छाये हुए धुंध और कुहासे को अपनी बोध-दृष्टि से चीरकर उनके पार देखने की क्षमता रखता है।..........
अतः विसंगतियाँ यदि लेखक से रचना के स्तर पर उत्तरदायित्वरहित होने का आग्रह करती हैं तो उस विकृत आग्रह को लेखक को अपने मनोबल से दूर हटाकर अपने दायित्व के प्रति सतर्क रहना चाहिये, अन्यथा वह लेखक की चरित्रहीनता होगी।"[10] उसी प्रश्नोत्तर के क्रम में उन्होंने कहा था कि–"हमारे देश में आज सदियों बाद निर्माण के युग ने पदार्पण किया है। आधुनिकतम विश्व-बोध को आत्मसात् कर आज हमें अपने पराधीनता के राहु से मुक्त देश के जीवन का नवीन युग की पीठिका पर पुनर्निर्माण करना है और भारतीय जीवन के उन्नत अन्तर्मुखी आदर्शों को विश्व-जीवन की प्राणशिला पर युग-अनुरूप नवीन रूप में प्रतिष्ठित कर आज के बहिर्भ्रान्त ध्वंसोन्मुख विश्व-जीवन को नवीन चैतन्य के प्रकाश का संजीवन प्रदान करना है।.........एक ओर आज भारत का अन्तर्बोध है तथा दूसरी ओर विश्व का बहिर्मुखी वैज्ञानिक बोध। दोनों का सर्वांगीण संयोजन करना विश्व-जीवन की वर्तमान संकट-स्थिति मे अनिवार्य हो उठा है।"[11]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि के महत्त्व को आग्रह के साथ प्रतिष्ठित करते हैं। लेखक के जनसाधारण से अधिक प्रबुद्ध होने

की स्थिति को वह मान्यता देते हैं और उससे अपेक्षा रखते हैं कि वह विसंगतियो के कारण छाये हुए अपने युग के धुंध और कुहासे को अपनी बोध-दृष्टि स चीरकर उसके पार देखने की क्षमता से सम्पन्न हो। अपने युग की विसंगतिया से प्रभावित होकर दिशाहीन हो जाने को पन्त जी लेखक-धर्म के उपयुक्त नरी मानते। वह साहित्यकार से आशा करते हैं कि वह आज के बहिर्भ्रान्त ध्वंसोन्मुख विश्व-जीवन को नवीन चैतन्य के प्रकाश का संजीवन प्रदान करे। उन्होंने अपनी साहित्य-साधना में साहित्यकार के इस युगीन दायित्व के निर्वाह का सतत प्रयत्न किया और अपने साहित्य-चिन्तन में अपने युग के साहित्य के इस दायित्व पर निरन्तर ज़ोर दिया।

युग की माँग के अनुरूप साहित्य-साधना की दिशा में परिवर्तन की अपक्षा को रेखांकित करते हुए पन्त जी ने लिखा है—''ऐतिहासिक विचारधाराओं से म अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य आकाश में अति-काल्पनिक उडान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।.... मध्य-युग के अन्तर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धान्तों की जनसमूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया और सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय से सामन्त-युग की क्षुद्र चेतना का बोध डूब जाये।......संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामन्तयुग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी क्षुधा (सम्पत्ति) और काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नही हुआ है और यन्त्र-युग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे सका है जिन पर अवलम्बित सामाजिक सम्बन्धों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव-जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।

''मेरी कल्पना भविष्य की इस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने में सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास-विज्ञान के ही अर्थ में कर रहा हूँ जो

दृश्य और दृष्टा के सामूहिक विकास के नियमों का निरूपण करता है। बाह्य परिस्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अन्तश्चेतना तदनुकूल पहले ही विकसित हो जाती है; यथा--

जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।

'किन्तु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन के आश्रित विगत सांस्कृतिक गुणों की प्रक्रियाएँ होती रहती हैं जिसका परिणाम बाह्य संवर्ष होता है। साथ ही वह नवविकसित अवचेतन की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।''[12]

वर्तमान युग को महान् युग कहने का आधार पन्त जी को इस प्रतीति से मिला है कि सामन्त युग की परिस्थितियाँ और मान्यताएँ अब खण्डित होने लगी हे और उनके स्थान पर वैज्ञानिक तथा यांत्रिक विकास का सहारा लेकर एक अधिक व्यापक तथा नव-चेतन्ययुक्त सांस्कृतिक अभ्युदय की प्रेरक परिस्थितिया हमारे सम्मुख आ गयी हैं। उस व्यापक एवं नवचैतन्यपूर्ण संस्कृति से सम्बन्धित विचारों को लघु एवं विशद साहित्यिक बिम्बों में बाँधकर पन्त जी अपने जागरूक एव परिपक्व साहित्य-सृजन में दीर्घ काल तक लगे रहे। पन्त जी की चेतना का यह नवीन संस्करण उनकी विगत चेतना से सर्वथा भिन्न कोई नया विकास नही था। उदात्त जीवन के जो स्वप्न उनकी तरुण मानसिक कल्पना में सौन्दर्य-चित्रा के रूप में प्रकट हुआ करते थे और उनकी छायावादी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाते थे, वही भू-जीवन में निहित दिव्यता में विश्वास के आधार पर सम्पूण विश्व-जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों आयामों से जुड़े नवीन सांस्कृतिक स्वरूप-आकृतियों में प्रकट होने लगे। पन्त जी ने अपने परवर्ती काव्य-सृजन को 'नवचेतना-काव्य'' की संज्ञा प्रदान की है। उनके इस ''नवचेतना-काव्य'' को आलोचकों ने विचारों से आक्रांत बताते हुए साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं माना और उन्हें उसमें कलात्मकता का अभाव दिखाई दिया। समीक्षकों की इस मान्यता की चर्चा पन्त जी ने स्वयं ही की है और कहा है--''मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों को ही प्राधान्य मिलना चाहिये। जिस युग मे विचार का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है, उस युग में कला का अधिक प्रयाग किया जा सकता है।..........इस विश्लेषण-युग के अशान्त, सन्दिग्ध,

पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासंभव प्रयोग करना चाहिये।"[1]

पन्त जी की साहित्यिक कृतियों का सिंहावलोकन करने पर यह स्पष्टतया दिखाई देता है कि उनकी "ज्योत्स्ना"–पूर्व रचनाओं में जो विचारतत्त्व उनके सूक्ष्म मानव-संस्कारों से उद्भूत होकर सौन्दर्य-बिम्बों के रूप में काव्य में प्रकट हुआ करते थे, वे विश्व-जीवन की परिस्थितियों की पहचान एवं व्यापक अध्ययन-मनन के फलस्वरूप नवीन सांस्कृतिक बिम्बों का आकार ग्रहण करने लगे। अपने व्यक्तित्व और काव्य-चेतना के इस नवीन संचरण की श्रेयस्करता में पन्त जी की निष्ठा आजीवन बनी रही। इस प्रकार पन्त जी के व्यक्तित्व और उनके साहित्यिक कृतित्व में एक परम विशिष्ट वैचारिकता का तत्त्व हमें एक विलक्षण कला-चेतना के रूप में पूरी प्रखरता के साथ विद्यमान दिखाई देता है। उस परम विशिष्ट एवं व्यापक वैचारिकता के स्वरूप का आकलन एवं विवेचन पन्त जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को यथावत् समझने की दृष्टि से तो परम आवश्यक है ही, व्यापक दृष्टि से नवीन जीवन-विकास की आवश्यकता और सभावनाओं को समझने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

पन्त जी की वैचारिकता के विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा

पन्त जी के व्यक्तित्व और उनके साहित्य में निहित विशिष्ट वैचारिकता के मात्रात्मक आधिक्य की ओर तो साहित्य-समीक्षकों एवं अनुसंधित्सुओं का ध्यान गया और उन्होंने विचाराधिक्य के कारण पन्त जी के साहित्य की कलात्मकता को क्षति पहुँचने की बात भी उठाई, किन्तु पन्त जी की वैचारिकता की व्यापकता, गहराई, रचनात्मकता और उदात्तता को पहचानने, व्याख्यायित करने तथा उसके महत्त्व को निरूपित करने की ओर अभी तक अपेक्षा के अनुरूप ध्यान नहीं दिया गया है। मेरी विनम्र सम्मति में पन्त जी के छायावादी काव्य-सृजन को ही केन्द्र में रखकर उनसे सम्बन्धित अधिकांश समीक्षाएँ एवं व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी हैं। यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि उनकी परवर्ती साहित्य-साधना की ओर, जो उनके कृतित्व का पूर्णविकसित एवं परिपक्व रूप है, समीक्षकों और साहित्य-विवेचकों का ध्यान बिल्कुल ही नहीं गया है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि पन्त जी के परवर्ती "नवचेतनाकाव्य" की विशदता तथा महत्ता के अनुरूप उसे अध्ययन, विवेचन एवम् अनुसंधान का विषय नहीं बनाया गया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में पन्त जी के साहित्य पर

जा शोध-कार्य हुआ है, उनमें से अधिकांश छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य के अनुशीलन, उनके काव्य-शिल्प के अध्ययन, उनकी सौन्दर्य-चेतना के विवरण, उनके भाषा-प्रयोग के वैशिष्ट्य के निरूपण, उनके द्वारा प्रयुक्त काव्य-बिम्बों एवं प्रतीकों आदि के स्वरूप-निर्धारण की ओर अधिक उन्मुख है। पन्त जी से सम्बन्धित बहुसंख्यक शोध-प्रबन्धों में से कुछ ही ऐसे हैं जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के वैचारिक पहलू के किसी पक्ष को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत किये गये हैं। इस तरह के शोध-प्रबन्धों में निम्नलिखित शोध-प्रबन्धों से मेरा परिचय है—

1. परमानन्द चौबे—कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का मानवतावाद
2. पुष्पलता जैन—पन्त-काव्य की दार्शनिक पीठिका
3. सुरेशचन्द्र गुप्त—पन्त की दार्शनिक चेतना
4. रामप्रसाद बहुगुणा—लोकायतन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
5. रमेशकुमार सिन्हा—सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में दार्शनिक प्रेरणा
6. सी.एल. गुप्त—सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में युगबोध

उपर्युक्त शोध-प्रबन्धों के अतिरिक्त, संभव है कुछ और भी ऐसे शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हों जिनमें पन्त जी के वैचारिक पक्ष के उद्घाटन की ओर ध्यान दिया गया हो। पर जैसा कि उपर्युक्त शोध-प्रबन्धों के शीर्षकों से प्रकट होता है, इनमें से कोई भी पन्त जी के व्यक्तित्व के वैचारिक पक्ष को उसकी समग्रता में निरूपित करने की दृष्टि से प्रस्तुत नहीं किया गया है। पन्त-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि के निरूपण वाले शोध-प्रबन्धों में भी उनके समाज तथा कला-सम्बन्धी चिन्तन को परिग्रहीत नहीं किया गया है।

पन्त जी से सम्बन्धित स्वतन्त्र समीक्षा-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उनमें से भी कोई उनके वैचारिक व्यक्तित्व को उसकी महत्ता के अनुरूप विवरण और विश्लेषण का विषय नहीं बनाता। पन्त जी से सम्बन्धित अनेक समीक्षा-कृतियाँ ऐसी हैं जो उस समय प्रस्तुत की गयी थीं जब पंत जी का परवर्ती साहित्य पूर्णतया प्रकाश में भी नहीं आ पाया था। इस दृष्टि से पन्त जी के सम्बन्ध में होने वाले अनुसंधान-कार्य और समीक्षात्मक प्रयास प्रस्तुत लेखिका की दृष्टि में उनके सम्पूर्ण वैचारिक व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति से प्रेरित नहीं रहे हैं।

इस स्थल पर यह स्पष्ट कर देना मैं आवश्यक समझती हूँ कि पन्त जी के सम्बन्ध में हुए समीक्षा तथा अनुसंधान-कार्य के प्रति मेरे मन में गहरे

सम्मान का भाव है और उन शोध-कार्यों तथा समीक्षाओं के आदरणीय कर्ताओं को मैं अपने मार्गदर्शक अग्रजों के रूप में देखती हूँ। मेरे यह कहने से कि पन्त जी से सम्बन्धित जो शोध और समीक्षा-कार्य मेरे परिचय में आया है, वह उनके वैचारिक व्यक्तित्व को अपेक्षित विशदता के साथ प्रस्तुत नहीं करता, यह अभिप्राय निकालना मेरी भावना के प्रतिकूल और मेरे साथ अन्याय होगा कि मैं उपर्युक्त प्रयासों की हीनता का संकेत कर रही हूँ। उन्हीं के अध्ययन से मुझे पन्त जी के व्यक्तित्व और उनके साहित्यिक कृतित्व के महत्त्व का यत्किंचित बोध हुआ और उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके मेरे भीतर पन्त जी के सम्बन्ध में अपनी ओर से भी कुछ पढ़ने-लिखने के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। पन्त जी के व्यक्तित्व तथा साहित्य के सभी पूर्व-विवेचकों को मैं श्रद्धावनत भाव से अपनी प्रणति निवेदित करती हूँ। उनके द्वारा प्रस्तुत पन्त-समीक्षाओं के उपवन में अपनी ओर से भी एक छोटी-सी क्यारी सजाने की वृत्ति जब मेरे मन में उत्पन्न हुई तो सहज ही मुझे इस बात की खोज करनी पड़ी कि मैं अपनी ओर से ऐसा क्या करूँ जो पूर्व-प्रस्तुत कृतियों का ही पिष्ट-पेषण न हो और उस समीक्षा-उपवन में कुछ ऐसा जोड़ सके जिसमें अपना कुछ निजीपन हो। उस खोज से ही मुझे पन्त जी के सम्पूर्ण वैचारिक व्यक्तित्व के अध्ययन का लक्ष्य और मार्ग प्राप्त हुआ। मेरी जानकारी में पन्त जी के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण वैचारिक पक्ष को अवधान के केन्द्र में रखकर उसे उसकी समग्र छवि में प्रस्तुत करने का यह पहला ही विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत अध्ययन की प्रविधि

यह ग्रन्थ पाँच खण्डों में बँटा हुआ है जिनमें से पहला खण्ड "प्रस्तावना-खण्ड" है। 'विषय-प्रवेश' शीर्षक यह अध्याय भी प्रस्तावना खण्ड का ही आरम्भिक अंश है और इसमें मैंने उस पृष्ठभूमि का परिचय देने का प्रयास किया है जिससे मुझे इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने की प्रेरणा और दिशा प्राप्त हुई है।

प्रस्तावना-खण्ड के दूसरे अध्याय में इस प्रबन्ध की अपेक्षा के अनुरूप पन्त जी के जीवन-वृत्त का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। पन्त जी के जीवन-वृत्त के प्रस्तुत करने में मैंने तथ्यों की खोज का कोई मौलिक प्रयास नहीं किया है। इस अध्याय की समस्त सामग्री पन्त जी के परिचायक दूसरे ग्रन्थों से ही संकलित की गयी है। पन्त जी की परम आत्मीया एवं स्नेहपात्री सुश्री शान्ति जोशी द्वारा प्रस्तुत दो खण्डों में विभक्त "सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य" शीर्षक

ग्रन्थ से मुझे बहुत सहायता मिली है। पन्त जी के जीवन और कृतित्व का पर्याप्त विस्तृत परिचय देने वाली यह एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक कृति है, जिसमें प्रस्तुत तथ्यों पर पन्त जी की सहमति की मुहर भी लगी हुई है। मैंने बार-बार इस ग्रन्थ के अंशों को उद्धृत किया है।

"प्रस्तावना-खण्ड" के तीसरे अध्याय में पन्त जी की साहित्यिक कृतियों का काल-क्रम से संक्षिप्त और सांकेतिक परिचय दिया गया है। इस परिचय के प्रस्तुत करने में उनकी कृतियों को काव्य, कहानी, नाटक, निबंध आदि विभागो मे विभाजित करके प्रस्तुत करने के स्थान पर काल-क्रम से उनका उल्लेख करने की संगति इस बात में देखी गयी है कि इस क्रम से उनका अनुशीलन करने से पन्त जी की चेतना के विकास-क्रम का परिचय सहज रूप में प्राप्त किया जा सकता है। जिन कृतियों के सम्बन्ध में लेखन-काल का संकेत कहीं उपलब्ध नही हो सका, उन्हें उनके प्रकाशन-काल के आधार पर ही इस विवरण में स्थान दिया गया है। पन्त जी के लेखन और प्रकाशन वर्षों का निर्णय मेरे शोध-प्रयासों का लक्ष्य नहीं रहा है और इस कारण इस सम्बन्ध में दिये गये संकेतों के मौलिक तथा सर्वथा प्रामाणिक होने का दावा मैं नहीं करती। रचनाओं के परिचय-विवरण को अतिशय संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने में भी प्रबन्ध-लेखिका विवश रही है। प्रबन्ध को उसके केन्द्रीय उद्देश्य की दृष्टि से अनावश्यक विस्तार से बचाने का ध्यान रखते हुए पन्त जी की रचनाओं के इस विवरण में विशेष रूप से उन्ही तथ्यों को संक्षेप में उल्लिखित किया गया है जो पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व के स्वरूप और विकास का संकेत देने की दृष्टि से आवश्यक प्रतीत हुए। उनके साहित्यिक महत्त्व की चर्चा यत्र-तत्र नाम लेने भर को ही की जा सकी है। इस अध्याय के निमित्त तथ्यों का संकलन भी प्रमुख रूप से सुश्री शान्ति जोशी की पूर्वोक्त कृति के आधार पर किया गया है। राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित "पन्त-ग्रन्थावली" से भी इस सम्बन्ध में सहायता ली गयी है।

इस प्रबन्ध का दूसरा खण्ड "दर्शन-खण्ड" है जिसके अन्तर्गत पन्त जी के तत्त्वदर्शन, धर्म, साधना, उपासना एवं नीति सम्बन्धी विचारों का परिचय देने का प्रयास किया गया है। इस खण्ड में अधिगृहीत पन्त जी के विचारों का सम्बन्ध मुख्यतः उन तत्त्वों से है जो दर्शनशास्त्र के अध्ययन की परिधि में आते हैं। ये सभी विचारणीय तत्त्व अपने आप में अत्यन्त गूढ़ एवं जटिल हैं और संसार के सभी देशों में इनसे सम्बन्धित विचारों की सुदीर्घ परम्पराएँ मिलती हैं। उनके सम्बन्ध में भारतीय चिन्तन की परम्परा ही इतनी सुदीर्घ और समृद्ध है कि उनमे

से किसी एक के भी पूर्ण परिज्ञान का दावा करना किसी विशिष्ट विद्वान् के लिए भी कठिन है। इस क्षेत्र में अपनी अल्पज्ञता से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ और इसी कारण मैंने इस प्रकरण में पन्त जी के विचारों का आकलन उनके कथनों के आधार पर ही मुख्यतः प्रस्तुत किया है। उनके विश्लेषण में जो कुछ कहा गया है, वह मेरी अपनी दृष्टि में भी अपर्याप्त है। किन्तु ऐसा करने में मेरी क्षमता की सीमा तो एक कारण थी ही, प्रबन्ध के अभिवांछित कलेवर में और अधिक विस्तार का न समा पाना भी दूसरा प्रमुख कारण था।

प्रबन्ध का तीसरा खण्ड "समाज-खण्ड" शीर्षक से अभिहित किया गया है और उसके अन्तर्गत पन्त जी के व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उनके कुटुम्ब तथा दाम्पत्य-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया गया है। इस खण्ड के अंतिम अध्याय में पन्त जी की राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि को भी सम्मिलित किया गया है। पन्त जी जीवन की अखण्ड दिव्यता में विश्वास करते थे और जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल आयामों के समन्वित विकास की अपेक्षा का अनुभव करते थे। अपने इसी दृष्टिकोण की प्रेरणा से उन्होंने अपने युग की विश्वव्यापी परिस्थितियों को समझने का निरन्तर प्रयास किया था और उनकी अपेक्षा के अनुरूप जीवन के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास के स्वप्न उनकी चेतना के आकाश पर छाये रहते थे तथा उन स्वप्नों की पूर्ति में बाधक परिस्थितियों को देखकर वे विक्षुब्ध भी होते थे। इसी कारण जीवन के सामाजिक पक्ष का उनका चिन्तन भी उनके व्यक्तित्व की निजी छाप तथा कलात्मक सजीवता से अन्वित है।

प्रबन्ध का चौथा खण्ड 'कला-खण्ड' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है। पन्त जी नवीन कला-चिन्तन के अनुरूप साहित्य को कला का ही एक रूप मानते थे। मूलतः साहित्यकार होने के कारण कला-चिन्तन के क्षेत्र में उनका मानस साहित्य-चिन्तन की ओर ही अधिक उन्मुख रहा करता था। विभिन्न प्रसंगों में उन्होंने साहित्येतर कलाओं की उपयोगिता और महत्ता की चर्चा अवश्य की है और उनके प्रति वे निष्ठावान भी रहे हैं, किन्तु साहित्येतर कलाएँ उनके कला-चिन्तन के केन्द्र में नहीं रही हैं। फिर भी कला की अन्तर्प्रकृति और उसकी अपेक्षाओं का उल्लेख उन्होंने अपने साहित्य-चिन्तन की पृष्ठभूमि के रूप में पर्याप्त विस्तार से किया है। इस दृष्टि से इस खण्ड को दो अध्यायों में बाँटकर प्रस्तुत किया गया है। पहले अध्याय में पन्त जी के कला-सम्बन्धी सामान्य विचारों का उल्लेख किया गया है और दूसरे में उनके साहित्य सम्बन्धी चिन्तन के विशिष्ट

पक्ष का परिचय दिया गया है। साहित्य की महत्ता और मानव के सांस्कृतिक विकास को दिशा देने के सम्बन्ध में साहित्य की क्षमता में अपनी घनी निष्ठा के कारण पन्त जी ने अपनी विचारणा में साहित्य को बहुत महत्त्व दिया है। वह सारी विचारणा इस अध्याय में किसी तरह भी नहीं समेटी जा सकती थी और इस कारण उनकी साहित्यिक दृष्टि के उन्हीं आयामों को इस अध्याय में निरूपित किया गया है जो उनके वैचारिक व्यक्तित्व के प्रकाशन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए।

प्रबन्ध का अन्तिम खण्ड "निष्कर्ष-खण्ड" है, जिसमें प्रबन्ध में प्रस्तुत स्थापनाओं का सार संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है और पन्त जी के समकालीन तथा परवर्ती साहित्यकारों के साहित्यिक कृतित्व पर उनके विचारों क प्रभाव का भी सांकेतिक परिचय दिया गया है।

शोध की विशिष्ट दृष्टि और प्रविधि

मेरे इस शोध-कार्य की योजना और रूपरेखा प्रस्तुत करते समय ही मेरे आदरणीय शोध-निर्देशक ने इस बात का संकेत दे दिया था कि पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व की खोज मुझे सीधे पन्त जी के जीवन और उनके कथनों के आधार पर आगमनात्मक पद्धति (इण्डक्टिव मेथड) से ही करनी है, वे कथन चाहे उन्होंने अपनी किसी साहित्यिक कलाकृति में प्रस्तुत किये हों अथवा किसी परिचर्चा, साक्षात्कार, अभिभाषण अथवा व्यक्तिगत बातचीत में कहे हों। मेरे शोध-निर्देशक का यह आग्रह इस विचार से प्रेरित था कि शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत तथ्य पूर्णतः प्रामाणिक रहें। पन्त जी के सम्बन्ध में मेरे इस प्रयास से पूर्व, ग्रन्थ रूप में, शोध-प्रबन्ध के रूप में तथा आधुनिक हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक विवरणों और विवेचनों के रूप में अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है और उन लेखों में पन्त जी के व्यक्तित्व सम्बन्धी अनेक प्रकार के अभिमत व्यक्त किये गये हैं। अतः पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व की पहचान के लिए एक प्रविधि यह भी हो सकती थी कि उनके सम्बन्ध में अब तक जितना समीक्षा-साहित्य प्रस्तुत हुआ है, उसका अध्ययन करके विभिन्न विद्वानों और समीक्षकों के द्वारा दिये जाने वाले उनके व्यक्तित्व की परिचायक उक्तियों को आकलित किया जाता और उन्हें एक प्रबन्ध-व्यवस्था में प्रस्तुत कर दिया जाता।

किन्तु, मेरे शोध-निर्देशक का मत यह था कि समीक्षकों के अपने आग्रह और दृष्टिकोण हुआ करते हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी किसी साहित्यकार

की समीक्षा उनके निजी आग्रह और दृष्टिकोण से प्रभावित होती है। ऐसी समीक्षा कभी-कभी मूल सत्य से दूर भी चली जाती है। मेरा शोध-कार्य विभिन्न समीक्षकों के दृष्टिकोणों की उलझन में न पड़ जाये और स्वयं मेरी वैचारिक रुझानों से भी प्रभावित न हो, इस दृष्टि से शोध-कार्य की यह पद्धति निर्धारित की गयी कि पन्त जी के साहित्य में सीधे उनके द्वारा अभिव्यक्त विभिन्न विचारों से सम्बन्धित उक्तियों का पहले आकलन किया जाय और फिर विभिन्न वैचारिक विभागों में उन्हें बाँट कर उन्हीं के आधार पर पन्त जी के विविध विषयक विचारों का प्रमाण-पुष्ट विवरण दिया जाय। उन विचारों की प्रेरणा और पृष्ठभूमि के परिचय के लिए भी यह सीमा निर्धारित की गयी कि उसी प्रेरणा और पृष्ठभूमि को मान्यता दी जाय जिसका संकेत पन्त जी की अपनी उक्तियों में मिलता हो। पन्त जी के सीधे कथनों के अलावा उनकी कृतियों के उन पात्रों की उक्तियों को भी आधार बनाना समुचित माना गया जिनके विचारों में पन्त जी के विचारों का प्रतिनिधित्व दिखाई पड़े। पन्त जी की सीधी उक्तियों और उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों की उक्तियों के अतिरिक्त उनके जीवन-व्यवहारों से संकेतित वैचारिक प्रवृत्ति को भी आधाररूप में स्वीकार करने का निर्णय किया गया।

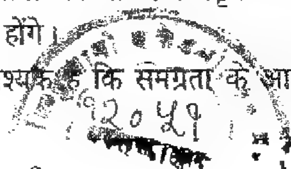
उपर्युक्त पद्धति के अनुरूप प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री के संकलन के निमित्त पन्त जी द्वारा रचित समस्त वाङ्मय का सावधानी के साथ अध्ययन करके उसमें से पंत जी के विचारों की द्योतक सीधी उक्तियों तथा संकेतों का आकलन किया गया। ऐसा करने पर पन्त जी के विचारों के संकेतक उद्धरणों का एक विपुल-संभार प्रस्तुत हो गया, जिसका विस्तार सहस्रों पृष्ठों तक फैल गया। पन्त जी की रचनाओं से संकलित उनके विचार-सूचक विशिष्ट उद्धरणों को फिर पूर्व-संकेतित प्रकरण-विभागों में सजाने का प्रयास किया गया। इस प्राकरणिक विभाजन में भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा कि संकलित उद्धरणों में से अनेक क्या, अधिकांश ऐसे थे जो किसी एक विचार-विभाग से सम्बद्ध न होकर अपनी व्यंजना में अनेक विचार-क्षेत्रों को समेटे हुए थे। ऐसे उद्धरणों को पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व के किस पहलू का निदेशक मानें और प्रबन्ध के किस प्रसंग में उन्हें स्थान दें, इसका निर्णय करने के लिए भी बडी ऊहापोह करनी पड़ी है। कुछ उद्धरणों को एक से अधिक वैचारिक प्रसंगों की पुष्टि में भी प्रयोग करना आवश्यक प्रतीत हुआ है। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि पन्त जी के किसी विचार-बिन्दु की

सकेतक और प्रतिपादक सभी उक्तियों का शोध-प्रबंध में प्रयोग संभव नहीं हो पाया है। वैसा करने से प्रबन्ध का कलेवर-विस्तार औचित्य की हर सीमा को पार कर जाता और प्रबन्ध में पुनरुक्ति और पिष्ट-पेषण की भरमार हो जाती। उससे बचने के लिए संकलित उद्धरणों में से आधे-से अधिक की उपेक्षा करनी पड़ी है।

पन्त जी के विचारों का संकेत देने वाली सामग्री का संकलन कर लेने के बाद मेरी समझ में यह आया कि पन्त जी का विचार-वैभव मेरी प्रारंभिक कल्पना की अपेक्षा मात्रा में बहुत अधिक है। उस समय ऐसा विचार भी उठा कि शोध-प्रबन्ध के लिए यदि उनके दार्शनिक, सामाजिक तथा कला-सम्बन्धी विचारों में से किसी एक को ही शोध-विषय के रूप में चुना गया होता तो उस क्षत्र के पन्त जी के विचारों को अधिक सम्पूर्णता तथा संगति के साथ प्रस्तुत किया जा सकता। किन्तु, इस प्रतीति के प्रकट होने तक वह अवधि बीत चुकी थी जिसके भीतर प्रबन्ध के शीर्षक के परिसीमन के लिए प्रार्थना की जा सकती थी। दूसरी ओर मेरे मन में यह विचार भी आया कि पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व का एक ही स्थान पर समग्र परिचय दिये जाने की भी एक विशिष्ट अपेक्षा एवं उपयोगिता है।

विशिष्ट विभागों में बाँटकर देखने से पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व को सम्पूर्णता में आँकना संभव नहीं हो पाता। ऐसा करने से उनके वैचारिक व्यक्तित्व का खण्ड-रूप ही प्रकट होता। किसी भी वस्तु, स्थिति अथवा व्यक्ति की आकृति एव प्रकृति की एक सम्पूर्ण झलक प्राप्त कर लेने के बाद ही उसके विभागों एव अवयवों का संगत निर्धारण किया जा सकता है, और तभी उनमें से किसी एक विभाग अथवा अवयव का विस्तृत निरीक्षण-परीक्षण एवं आकलन—विवेचन किया जा सकता है। यह प्रबंध पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व की प्रायः समग्र छवि प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है। उनकी वैचारिकता को, समग्रता के साथ, एक ही प्रबन्ध की सीमा में समेटने के प्रयास में उनके विचार के विविध विभागो का सानुपातिक संक्षेप देने के लिए मुझे विवश होना पड़ा है। मैं अपने इस शोध-प्रयास को सफल और सार्थक मानूँगी यदि इसके आधार पर पन्त जी की वैचारिक महानता और समृद्धि का परिचय पाकर भावी अनुसंधानकर्ता पन्त जी के विचारों के अलग-अलग विभागों को लेकर विस्तृत और सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने की ओर अभिप्रेरित होंगे।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि समग्रता के आग्रह के बावजूद इस



प्रबन्ध में पन्त जी के विविध विचारों के प्रमुख पहलू ही प्रस्तुत किये जा सके हैं। अध्ययन के प्रयास में पन्त जी के विचारों के ऐसे अनेक आनुषंगिक पक्ष भी मेरे सम्मुख आये जिनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ और उनके उल्लेख की अपेक्षा भी मुझे प्रतीत हुई। ऐसे आनुषंगिक विचारों की अभिव्यंजना पन्त जी ने प्रायः स्फुट रूप से की है। हाँ, इतना कहने का साहस मैं अवश्य कर रही हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपनी ओर से पूरी तरह सावधान रही हूँ कि पन्त जी की विचारणा के किसी कोण की सर्वथा उपेक्षा न हो जाय। जहाँ किसी बहुप्रचलित धारणा को पन्त जी ने प्रसंगतः केवल असंग भाव से दोहरा भर दिया है, उसे उनके विचार के रूप में महत्त्व नहीं दिया गया है। उन्हें प्रबन्ध की व्यवस्था में नियोजित करना संभव प्रतीत नहीं हुआ। पन्त जी के ऐसे स्फुट विचार उनके वैचारिक व्यक्तित्व के किसी ऐसे नये आयाम का परिचय नहीं देते जिनका समावेश प्रबन्ध के निमित्त अपनाये गये विचार-विभागों में न हो। प्रस्तुत प्रबन्ध का दावा निश्चय ही यह नहीं है कि उसमें पन्त जी के हर विचार-बिन्दु को पूरी तरह समाविष्ट कर लिया गया है। वैसा किया जाना इस प्रबन्ध की सीमा में सभव ही नहीं था।

पन्त जी के विचारों की समृद्धि का एक प्रभाव मेरे शोध-कार्य पर यह भी पड़ा है कि विचारों के उनके द्वारा किये गये संकेतों को उनकी उक्तियों में प्रस्तुत करने में ही प्रबन्ध के अधिकांश पृष्ठ घिर गये हैं, जिसके फलस्वरूप उन विचारों की पृष्ठभूमि, संगति तथा उपयोगिता के विवेचन को बहुत सीमित ढंग से ही प्रस्तुत करना पड़ा है। बहुत सोच-विचार करने के बाद मुझे यही उचित लगा कि प्रामाणिक-विवरण को विवेचन और विश्लेषण की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाय। यदि सुधी पाठकों को प्रबन्ध में विवेचन और विश्लेषण की उतनी मात्रा न दिखाई पड़े जितने की उन्हें अपेक्षा प्रतीत हो, तो इसे मेरी असावधानी न मानकर मेरी विवशता ही माना जाय।

सन्दर्भ-संकेत



1. Each emotion is a feeling and each is at the same time a motor set. Woodworth
2. Thinking is an ideational activity, symbolic in character initiated by a problem or a task the individual is facing, involv

ing some amount of trial, but under direct influence of his problem-set, and leading ultimately to a conclusion or solution of the problem–Warren : Dictionary of Psychology.

3 Thinking is implicit or inner behaviour involving symbols for ideas and objects–Garret, H.E., General Psychology, Indi. Ed. (1961)

4 Thinking is active, persistent and careful consideration of any belief or supposed form of knowledge in the light of the grounds that support it and the further conclusion in which it tends–John Dewey.

5 यामा, महादेवी वर्मा, भूमिका भाग

6. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन, पृ. 417, प्रथम संस्करण 1977.

7. आधुनिक हिन्दी-कविता में बिम्ब-विधान का विकास—केदारनाथ सिंह, पृष्ठ 71, प्रथम संस्करण

8 नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र—गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. 52, प्रथम संस्करण

9 सु. पन्त ग्रंथावली खंड 6—एक अभिभाषण, पृ. 593, प्रथम संस्करण 1979

10. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, प्रश्नोत्तर, पृ. 598

11. वही, पृ. 600

12. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कविः भाग 2, पर्यालोचन (भूमिका), पृष्ठ 282-283, प्रथम संस्करण 1979

13. वही, पृ. 283-284, प्रथम संस्करण 1979

द्वितीय अध्याय

सुमित्रानन्दन पन्त : जीवनवृत्त

बाहर से अतिशय आत्मनिष्ठ एवम् अन्तर्मुख किन्तु अपनी मूल प्रकृति से परम समाजनिष्ठ तथा भू-जीवन के समग्र एवं संतुलित विकास की आकांक्षा से निरन्तर अनुप्रेरित कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी का जीवन तथ्यात्मक अनुसंधान की दृष्टि से सम्भवतः किसी नये प्रयास की अपेक्षा नहीं रखता। सौभाग्य से उनके जीवन-काल में ही उनके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका था जिसमें से बहुत कुछ ऐसे लोगों के द्वारा लिखा गया है जो उनके आत्मीय थे, उनके दीर्घकालीन निकट सम्पर्क में रहे थे और जिन्हें उनके बारे में बहुत कुछ सीधे उन्हीं से जानने का अवसर प्राप्त हुआ था। पन्त जी ने स्वयं भी अपनी अनेक गद्य-पद्य रचनाओं में अपने व्यक्तिगत जीवन के सांकेतिक विवरण सँजोये हैं। वास्तविकता तो यह है कि पन्त जी के जीवन में प्रत्यक्ष घटनात्मक संकुलता उतनी नहीं थी जितनी चेतना की भावाकुल सक्रियता, जिसने उन्हें आजीवन साहित्य-सृष्टि में संलग्न रखा।

पन्त जी का विस्तृत जीवन-विवरण प्रस्तुत करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। उनके आन्तर-व्यक्तित्व का आकलन तथा निरूपण ही इस विनीत प्रबन्ध-प्रयास की मुख्य दिशा है। चेतना तथा भावना का जैसा विलक्षण एकाकार पन्त जी के जीवन और व्यक्तित्व में दिखाई देता है वैसा विरल रूप में ही कहीं देखने को मिलता है। उस एकाकार के स्वरूप तथा उसके संघटन की पृष्ठभूमि के निदर्शन के आनुषंगिक निमित्त से ही पन्त जी के स्वभाव तथा जीवन की एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

पन्त जी का जन्म अल्मोड़ा ज़िले के कौसानी नामक एक रमणीक पर्वतीय ग्राम में 20 मई सन् 1900 ईसवी (संवत् 1957) में हुआ था।[1] जन्म के कुछ घंटे बाद ही माँ से सर्वदा के लिए वियुक्त हो जाने के कारण ये माँ की सुखद गोद का स्पर्श न पा सके—

नियति न ही निज कुटिल कर से सुखद
गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली,
बाल्य में ही खो गयी थी लुप्त हो,
मातृ अंचल की अभय छाया मुझे।"[2]

इनकी माता का नाम सरस्वती देवी था जिसे इन्होंने सरस्वती का वरद पुत्र बनकर सार्थक कर दिया।[3] इनके पिता पंडित गंगादत्त उस गाँव के चाय-बागों के प्रबन्धक तथा लकड़ी के बड़े व्यापारी थे। वह निर्भीक, स्वतंत्र विचार के तथा धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। साधु-सन्तों की सेवा, अभ्यागतों का सत्कार, अपने काम में एकाग्रता तथा मातृविहीन गोसाईंदत्त (पन्त जी) का दुलार--यही उनकी दिनचर्या थी। प्रशान्त, उदार, कर्मठ तथा धर्मप्राण पिता के व्यक्तित्व का पन्त जी पर बचपन में ही गहरा प्रभाव पड़ा जो आजीवन अक्षुण्ण रहा। वे सदैव ही पन्त जी के आदर्श रहे। पन्त जी सदा पिता के समान ही आत्मस्थ, स्वाभिमानी, निर्भीक, निश्छल तथा सहृदय बनने के आकांक्षी रहे। पिता के स्वभाव तथा व्यक्तित्व का वर्णन वह सगर्व करते थे--"बाबू में किसी प्रकार का छोटापन नही था। उनका गम्भीर, संयत और उदार व्यक्तित्व था। अपने निष्कलुष चरित्र के कारण वे जीवित हिमशिखर लगते थे। अपनी उदारता और सहज मानवीय सोजन्य के कारण वे कुमाऊं भर में लोकप्रिय थे और सभी उनके नाम तथा यश मे परिचित थे।"[4]

सुश्री शान्ति जोशी के शब्दों में--"पन्त जी का स्वभाव अपने पिता के स्वभाव की, कई अंशों में, प्रतिच्छाया मात्र है। पिता की ही भाँति उन्होंने भी अपने सामाजिक व्यक्तित्व एवं काव्य में अपने आन्तरिक संघर्षों एवं वैयक्तिक कठिनाइयों की छाया नहीं पड़ने दी, जिसके कारण आज कई आलोचकों को शिकायत है कि पन्त जी का काव्य जीवन-अनुभव से रीता है। सांसारिक दृष्टि से पन्त जी का जीवन संघर्ष, अभाव, रिक्तता और अस्वस्थता का जीवन रहा हे, किन्तु उनका मन सदैव आन्तरिक सन्तोष, निवेदन तथा शरणागति से स्पन्दित रहता था। जीवन के शुभत्व में एकांतिक विश्वास एवं भगवान् के विधान मे शिवत्व देखने की प्रवृत्ति उन्हें चिर उल्लासमय रखती थी। इसी ने उनके काव्य को आशावादी मांगल्य की धारणा से युक्त किया है, जो उनके संकीर्ण यथार्थवादी आलोचकों का सिरदर्द है। साधु-सन्तों की सेवा, अभ्यागतों का सत्कार, संयोजित व्यक्तित्व, काम में एकाग्रता तथा निष्ठा--पिता के ये गुण पन्त में पर्याप्त रूप मे विद्यमान हैं। अपने रोगग्रस्त शरीर, जीवन की कठिनाइयों, एकाकी जीवन तथा

"कविकर्म" के कारण वे इन्हें पूर्णरूपेण चरितार्थ नहीं कर पाते हैं। इसके कारण उनका मन अत्यन्त ग्लानि और संकोचयुक्त रहता है।"[5]

कौसानी के वातावरण की चर्चा करते हुए पन्त जी ने लिखा है– "वहाँ का वातावरण इतना सद्यःस्नात, जीवन्त और मनमोहक रहता है कि कभी सूनेपन या अकेलेपन का भान ही नहीं होता था। हृदय के भीतर जैसे कौसानी की प्राकृतिक छटा छायी रहती थी। प्रायः अकेले ही घर के आस-पास के एकांत स्थलों पर बैठकर आसमान को, हिमालय को, जंगल के फूलों आदि को देखकर न जाने मन-ही-मन क्या अनुभव करता था, जिसे तब मन शब्दों, भावों, विचारों में वाणी नही दे पाता था। मैं छुटपन से ही जैसे अपने में पूर्ण था और निरंतर अपने साथ अकेला रह सकता था, बल्कि उसी में मुझे अच्छा लगता था और उसी अकेलेपन के भीतर मैं अपने को विकसित होता भी पाता था। एक परिहास-प्रियता भी छुटपन से मेरे भीतर थी जो केवल अपने आत्मीय व्यक्तियों, घनिष्ठ सखाओं के सामने प्रकट होती थी।"[6]

पन्त जी के कवि-व्यक्तित्व के प्रस्फुटन तथा चरित्र-निर्माण में सबसे बड़ी सहायक, सबसे बड़ी शिक्षक तथा संरक्षक कौसानी की प्रकृति ही रही है, जिसका रंग-बिरंगे फूलों से भरा वक्षस्थल दुग्धोज्ज्वल प्यार की अनवरत वृष्टि किया करता था।[7] पन्त जी का अपना कथन है कि–"बचपन में मुझे पुस्तकों से कहीं अधिक कौसानी की हँसमुख चंचल हरियाली ने और नीले स्वच्छ आसमान ने सिखाया है। धरती की हरियाली, आसमान की नीलिमा, धूप का उजलापन और हवा की निर्मल चंचलता अनजाने में चुपचाप जो पाठ सिखाती है, वह बचपन में पुस्तकों को रटने से नहीं मिल सकती।"[8]

कौसानी के जीवन में साहित्यानुराग प्रचुर था। उनके परिवार के लोग काव्यानन्द में लीन रहते थे। इसका प्रमुख श्रेय पन्त जी के बड़े भाई हरदत्त पन्त की साहित्यिक अभिरुचियों को है। वे अपनी प्रबुद्ध बुद्धि, तीक्ष्ण स्मृति, सूक्ष्म-संस्कृत-परिहास, ज्योतिष और होम्योपैथी के ज्ञान के लिए आजीवन प्रसिद्ध रहे। संस्कृत, अंग्रेज़ी और हिन्दी साहित्य का उनका गम्भीर अध्ययन था। हिन्दी अंग्रेज़ी की अनेक कवितायें तथा श्लोक उन्हें कंठस्थ थे। हरदत्त जी का अपना पुस्तकालय भी था, जिसमें हिन्दी, अंग्रेज़ी, संस्कृत तथा ब्रजभाषा के अनेक ग्रंथ थे। गंगादत्त जी (पिता जी) को भी संस्कृत तथा अंग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान था। अन्य दो भाइयों–रघुवरदत्त और देवीदत्त तथा बहिन गौरी का भी साहित्य के प्रति झुकाव था। सब खूब पढ़ते थे। आपस में विवाद तथा चर्चा चलती रहती

था। वातावरण साहित्य और संगीत से स्पन्दित रहता था। आसावरी, भैरवी, काफी, भूपाली, खमाज आदि मुख्य रागों की पहचान सभी को थी। काव्य-प्रेमी बड़े भाई हरदत्त पन्त अपनी सुन्दर पत्नी श्रीमती देवकी देवी पर मुग्ध थे। नित्य कविताओं का पाठ अपनी मुग्धा पत्नी के मनोरंजन हेतु किया करते थे। जब वह राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा अनुवादित "मेघदूत" तथा "शकुन्तला" के छन्द मुग्ध-मधुर कण्ठस्वर से सुनाते, तो उनका निवेदन भावपूर्ण हो उठता। उसने सहज ही गोसाईंदत्त के बाल-हृदय की काव्य-वीणा को झंकृत कर दिया। उनमें छिपा कवि एकाएक प्रस्फुटित हो गया। वह तल्लीन तथा आत्मविस्मृत होकर किवाड़ों की ओट में खड़े होकर उस प्रणय-निवेदन से भरी मधुर छंद-ध्वनि का पान किया करते थे। धीरे-धीरे वह भी जैसे उन्हीं छंद-ध्वनियों की आत्माओं से प्रेरित होकर शब्दों की मालायें पिरोने लगे।

अपने लेखन के समारम्भ के विषय में पन्त जी का कहना है कि उन्होंने छ-सात की आयु से लिखना आरम्भ किया। "किन्तु तब कविता का अर्थ मात्र संगीत था और इस संगीत के लालच से ही अपनी तुष्टि के लिए मैं कविताएँ अथवा तुकबन्दियाँ करने लगा था।.......ठीक से लिखने का प्रयत्न मैंने अल्मोड़ा आने पर तेरहवाँ वर्ष पूरा होने अथवा चौदहवाँ प्रारम्भ होने पर किया होगा। वैसे पन्द्रह-सोलह साल की आयु से मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारम्भ कर दिया था।"

पन्त जी के जीवन का यह सरस काल था। काव्य-अंकुर प्रस्फुटित होने लगा था। काव्य-रस के अकूत प्रेम में वे भीगे रहते थे। भीतर और बाहर, सर्वत्र संगीतबद्ध छंदों की लय गूंजती रहती थी। जीवन तब एक तरंगित भावोन्मेष-सा प्रतीत होता था।

सन् 1916 ई. में इनकी प्रथम कविता "सिगरेट का धुआँ" अल्मोड़ा अखबार में छपी थी। सन् 1916 ई. की ही एक कविता "कागज़ के फूल" है जो पन्त जी की आरम्भिक रचनाओं में महत्त्वपूर्ण है। उनकी स्वच्छन्द प्रतिभा का आभास इसमें मिलता है। अपनी साहित्यिक सुरुचि एवं स्वाध्याय के परिणामस्वरूप पन्त जी की शब्द-शक्ति में अतिशय वृद्धि हो गयी थी। इनके मित्रगण इन्हें "शब्दों की मशीन" कहा करते थे। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने "हार" नामक उपन्यास भी लिखा था जो सन् 1960 ईसवी में प्रकाशित हुआ।

पन्त जी की प्रारम्भिक शिक्षा अल्मोड़ा नगर में सम्पन्न हुई। उनके व्यक्तित्व

तथा समस्त काव्य-जीवन को उसकी स्पष्ट रूपरेखा देने वाला उनका आठ मास का अल्मोड़ा-निवास उनके जीवन के सुन्दर, सुखद और संस्कृत विकास का उद्‌गम-केन्द्र है।

अल्मोड़ा में उन्हें स्पष्ट आभास होने लगा था कि नियति ने उन्हें किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए, कुछ बनने के लिए ही भेजा है। पन्त जी दृढ़व्रत हो गये, किन्तु लक्ष्य अस्पष्ट तथा धूमिल था। उनका रुझान संगीत की ओर भी था। सोचा था कि संगीत में योग्यता प्राप्त करेंगे, किन्तु इसी बीच अल्मोड़ा में देश-प्रेम की और भाषा-प्रेम की वह प्रबल लहर आयी जिसने पन्त जी को साहित्य-सृजन की ओर मोड़ दिया। स्वामी सत्यदेव के भाषणों ने, जो देश-प्रेम तथा भाषा-प्रेम से ओत-प्रोत रहते थे तथा अल्मोड़ा के गहन साहित्यिक वातावरण ने पन्त जी को उस जगत् का वासी बना दिया, जो संगीत तथा साहित्य का सगम एवं काव्यलोक था।

साहित्यिक अभिरुचि के साथ पन्त जी की धार्मिक अभिरुचि भी विकसित होने लगी। सन् 1916 ई. के आसपास स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानन्द की भारतीय जागरण-काल की दार्शनिक चेतना से वे गम्भीर रूप से प्रभावित हुए।[10] साधु-सन्तों के प्रेम तथा रहस्यमय सत्य के प्रति जिज्ञासा की उनकी किशोर-प्रवृत्ति धीरे-धीरे दर्शन-शास्त्र के अध्ययन तथा अध्यात्म प्रेम की ओर क्रियाशील हुई। यह आध्यात्मिक जिज्ञासा तब से सदैव एक सजीव शक्ति की तरह उनके भीतर वर्तमान रही, जिसने उनके बहिर्मुखी जीवन को और भी सीमित तथा संतुलित कर दिया। उनकी इस प्रवृत्ति ने उनके सृजन-प्रेम की आकांक्षा का पोषण ही किया और उनका एकांत साहित्यिक जीवन अध्ययन-मनन तथा सृजन के प्रयोगों से उर्वर हो उठा।[11]

उस समय पन्त जी "सरस्वती" पत्रिका तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं के अत्यधिक प्रशंसक थे। पन्त जी के अपने ही कथनानुसार "उन्होंने अपनी कतिपय रचनाओं में चपलतावश गुप्त जी का अनुकरण भी किया था।'

अल्मोड़ा के सरकारी हाई स्कूल से नवीं कक्षा पास करके सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था में वह अपने भाई देवीदत्त पन्त के साथ बनारस गये तथा वहां के जयनारायण हाईस्कूल से सन् 1919 ईसवी में उन्होंने स्कूल-लीविंग-सर्टिफ़िकट परीक्षा उत्तीर्ण की। यहीं पर पहले-पहल एक बंगाली मित्र के द्वारा उनका परिचय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से हुआ और उन्होंने बंगला भी सीखी।[12]

साहित्यकार बनने की चाह, प्रयाग की उर्वर साहित्यिक भूमि में रहने की

ालसा, उस कॉलेज में पढ़ने के उत्साह—जहाँ उनके मँझले भाई (रघुवरदत्त) शिक्षा प्राप्त कर चुके थे—के साथ, जुलाई 1919 ईसवी में पन्त जी ने प्रयाग की शांत, संस्कृत साहित्यिक भूमि में प्रवेश किया, जहाँ वह म्योर सेन्ट्रल कालेज में एफ. ए. कक्षा में भर्ती हुए। प्रयाग पन्त जी को सब भाँति अच्छा लगा—(इतना अच्छा लगा कि बाद में भी अपने जीवन का अधिकांश समय उन्होंने प्रयाग में ही बिताया) हिन्दू छात्रावास, कॉलेज, अध्यापक वर्ग, साहित्यिक वातावरण के साथ ही इक्के या ताँगे में घूमना, नौका-विहार करना तथा चलचित्र देखना आदि। हिन्दू छात्रावास उस समय का वह प्रतिष्ठित स्थान था जिसमें रहने के कारण पन्त जी बहुतों के संपर्क में आये—रामचन्द्र टंडन, परशुराम चतुर्वेदी, इकबाल कृष्ण कपूर, जस्टिस कैलाशनाथ वांचू, डा. पुरुषोत्तम पाण्डे, बाबूराम सक्सेना, धीरेन्द्र वर्मा, अवधेश प्रताप सिंह तथा रघुपति सहाय फिराक आदि। कौसानी के बाद उन्हें अपनेपन तथा खुलेपन का अनुभव इलाहाबाद में ही हुआ।[15]

सन् 1919 ईसवी में विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर पर छात्रावास में प्रोफेसर शिवाधार पाण्डेय द्वारा संयोजित एक कवि-गोष्ठी में जब पन्त जी ने पहली बार मंच पर अपनी कविता का मधुर पाठ किया तो मानो उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही तरंगित हो उठा, जिसने उपस्थित समुदाय को मंत्र-मुग्ध कर दिया। प्रो. शिवाधार पाण्डेय तो पन्त जी से इतने प्रसन्न हो गये कि उन्होंने दूसरे ही दिन पन्त जी को शेक्सपियर के सम्पूर्ण नाटकों का एक सुन्दर सचित्र मूल्यवान संस्करण अपनी ओर से उपहार स्वरूप दिया और उसके पहले पृष्ठ पर अंग्रेजी साहित्य के प्रति अनुराग रखने का आदेश दिया। यह उपहार आशीर्वाद था।

कुछ ही समय में पन्त जी कवि रूप में प्रतिष्ठित हो गये। इसी समय "वीणा" की अनेक रचनाओं के रूप में उनकी काव्य-प्रतिभा का आलोक फैला। पन्त जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के प्रति प्रयाग के लोगों, विशेषकर नवयुवकों का, सहज आकर्षण था। सन् 1920 ईसवी में श्री हरिऔध जी के सभापतित्व में जैन छात्रावास द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलन में पन्त जी ने अपनी "छाया" शीर्षक एक लम्बी रचना पढ़ी। हरिऔध जी तो सुनकर इतने मुग्ध तथा स्नेहार्द्र हो उठे कि अपने गले की फूलों की लम्बी माला उन्होंने पन्त जी के गले में डाल दी। ऐसी अनेक सफलताएँ इस बीच पन्त जी को मिलीं। प्रयाग के साहित्यिक- सांस्कृतिक वातावरण तथा काव्यपाठ की सफलताओं ने पन्त जी में

एक स्वस्थ प्रेरणा और कला तथा भाव-बोध को जन्म दिया। वह मनोयोग के साथ साहित्य की ओर झुके तथा अपने साहित्य-सृजन के दायित्व को गम्भीरता तथा पूर्णता के साथ निभाने के लिए कटिबद्ध हो गये। उन्होंने सदैव ही कवि-जीवन को साधना का जीवन माना। उनके लिए साहित्य का मार्ग यश या अर्थ का मार्ग नहीं था, न वह अहं की परितृप्ति का ही साधन था। वह वांछनीय तथा महान् होने के साथ ही उनके भावानुकूल था, उसको अपनाना अपनी ही आत्मा को अपनाना था।

उन दिनों प्रयाग का वातावरण राजनीति से आन्दोलित रहता था। पन्त जी की राजनीति में अभिरुचि नहीं थी किन्तु महान् व्यक्तित्व और उसकी गरिमा के प्रति उनका मन सदैव ही श्रद्धानत रहा है। आनन्द-भवन में महात्मा गांधी जी के पधारने का समाचार सुनकर पन्त जी भी उत्सुकतावश अन्य छात्रों के साथ वहाँ पहुँचे। संयत शब्दों में गांधी जी ने देश की दासता तथा दुर्व्यवस्था का चित्र अंकित कर छात्रों को विशेष रूप से सम्बोधित करते हुए, असहयोग आन्दोलन का अर्थ तथा उसका गम्भीर दायित्व समझाते हुए, देश-सेवा में सहयोग देने तथा सरकारी शिक्षा-संस्थानों को छोड़ने का उपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर पन्त जी ने कॉलेज छोड़ दिया। अन्य कोई काम न रहने तथा राजनीति के प्रति सक्रिय आकर्षण न होने के कारण उनका सभी प्रकार से मुक्त मन अध्ययन-मनन तथा सृजनरत रहने लगा तथा जीवन की समस्याओं तथा देश की सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जागृति को आत्मसात् करने का प्रयास करने लगा। उनकी बुद्धि कुशाग्र थी। अपने अध्ययनकाल में पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित न रहकर उन्होंने बंगला, हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन विशेष अभिरुचि से किया था। अब इनका अध्ययन और भी विस्तृत होने लगा। हरिऔध जी का "प्रियप्रवास" तथा प्रसाद जी का "झरना" उन्हें बहुत रुचिकर लगा। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवियों—वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली, टेनिसन, बायरन तथा कोलरिज के काव्य का भी उन्होंने अनुशीलन किया। प्रो. शिवाधार पाण्डे, कविवर श्रीधर पाठक तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की मित्रता पन्त जी के काव्य-जीवन के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुई।[14]

सन् 1922 ईसवी में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता "उच्छ्वास" लिखी तथा इसके पश्चात् ही "बादल" आदि कविताएँ लिखीं।

पन्त जी ने अब तक कोमल जीवन ही व्यतीत किया था, किन्तु सन् 1926-27 ई. के मध्य पन्त जी की चेतना में दुःख की धारा का समावेश हुआ।

र। इ म उनक बड भा का देहावसा हो गया जो अपन पाछे क का
ाफी बोझ छोड़ गये थे। सन् 1927 ई. में उनके पिता जी की भी मृत्यु हो गयी
था मानसिक एवं शारीरिक दोनों ही व्याधियों से पन्त जी ग्रस्त हो गये।"[15]

मन में अशांति तथा व्याकुलता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में पड़कर न्त जी अपने ही विचारों, सन्देहों तथा अनिर्णीत प्रश्नों से उलझते रहे। सगे सम्बन्धियों के साथ बाँध रखने वाला कोई संपर्क-सूत्र न रहा। वे सभी अपने-अपने कार्यों तथा चिन्ताओं में व्यस्त थे। सदैव उलझन भरे स्वप्नों तथा गम्भीर विचारों में मग्न तरुण कवि की ओर ध्यान देने के लिए किसी के पास समय ही कहाँ था? पन्त जी के जीवन के सम्बन्ध में यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि वे आजीवन अविवाहित रहे। अपने अविवाहित रहने की पृष्ठभूमि का परिचय देते हुए पन्त जी ने अपने एक मित्र से कहा था—"मैं यह नहीं कहता कि अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर भी मैं अविवाहित रहता। हो सकता है अपनी युवावस्था में मुझे अनुकूल परिस्थितियाँ मिलतीं तो मैं गृहस्थ-जीवन व्यतीत करता दीखता। पहले तो इक्कीस, विशेषकर 26 साल की आयु से मेरा जीवन संघर्षरत हो गया।...... आर्थिक विषमता तथा मेरी संवेदनशील प्रकृति और राष्ट्रीय चेतना ने मुझे इतना अधिक घेर रखा था कि कभी इस ओर ध्यान सम्पूर्णता से केन्द्रित नहीं हुआ। जब तक सुख-समृद्धि से घिरा था, प्रकृति की गोद में छिपा हुआ था। बाह्य परिस्थितियों, समाज, स्त्री-पुरुष का प्रश्न ही नहीं उठा। सन् 26 में जब भिखारी हो गया तो स्वप्न में भी विवाहित जीवन की कल्पना नहीं कर पाया। मैं बौद्धिक रूप से सदैव जागरूक रहा हूँ। जीवन की घटनाओं को यथावत् बौद्धिक दृढ़ता से सहा भी है। बुद्धि ने परिस्थिति के बारे में इतना सचेत और संत्रस्त कर दिया था कि परिवार का विचार मन में उठा ही नहीं।[16]

परिस्थितियों का ऐसा संघर्ष और पारिवारिक एकाकीपन किसी भी व्यक्ति को भीतर से तोड़ देने में समर्थ हो सकते थे। किन्तु उन परिस्थितियों में भी आन्तरिक रूप से समृद्ध पन्त जी का व्यक्तित्व टूटकर बिखरा नहीं। हाँ, उसने उन्हें आत्मलीन और अन्तर्मुख अवश्य बना दिया। काव्य-क्षेत्र में रखे हुए प्रथम चरणों की जो कड़ी आलोचना हुई, उसने पन्त जी की अन्तर्मुखता को और अधिक बढ़ा दिया। वह खूब पढ़ते रहे। पन्त जी के ही शब्दों में "जिज्ञासा एवं अन्वेषण, आशा तथा सन्देह तथा अक्षुण्ण एवं प्रखर अंतःसंघर्ष के इस काल में मैं सर्वथा काव्यात्मकता की प्रेरणा के ही हाथों में रहा।" "पल्लव" में संग्रहीत प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कविताओं की रचना इसी कालखण्ड में हुई।[17] उनकी

द्ध कविता "परिवर्तन" उनकी प्रथम नैराश्यपूर्ण मनःस्थिति की परिचायिका इसी मध्य उन्होंने "मधुज्वाल" के रूप में उमर खैयाम की रूबाइयों का दी मे अनुवाद भी किया।

पन्त जी ने कॉलेज जाना छोड़ दिया था किन्तु उसके प्राध्यापकों, प्रतिभाशाली ो, शोधकर्ताओं एवं वहाँ के बौद्धिक परिवेश से उनका सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा। भ मे वह अपने भाई देवीदत्त से मिलने हॉलैण्ड हॉल जाते थे, फिर परिचिता मित्रों से मिलने वहाँ जाने लगे। बच्चन जी, भगवती बाबू, रामकुमार वर्मा, चन्द्र जोशी से परिचय का सभारम्भ हॉलैण्ड हॉल में ही हुआ। उन दिनों न्दी प्रकाश श्रीवास्तव, बेनीप्रसाद जी, गिरीश जी आदि भी पन्त जी के मे थे। प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा का स्नेह भी उन्हें प्राप्त था।

पन्त जी की मानसिक स्थिति साल-दो साल तक उद्विग्न रही। सन् 1926 सन् 30 तक, और उसके बाद भी, पन्त जी को इतने सूक्ष्म रहस्यात्मक व हुए कि अन्दर से आस्था और आशा का संचार होता रहा। दिव्य प्रकाश स्पर्श एवं रहस्यात्मक सूक्ष्म अनुभवों के आधिक्य के कारण एक प्रकार से त्मक लेखन उन्हें बिल्कुल ही बंद करना पड़ा। यह आत्म-संघर्ष तथा शिक्षण का काल था। सत्य को उसकी संपूर्णता में समझना था। संपूर्णता ष्टि से सभी प्रकार की विचारधाराएँ और जीवन-दर्शन अपर्याप्त, अपूर्ण असंतोषप्रद प्रतीत होने लगे थे "और हृदय, भीतर-ही-भीतर एक अधिक ण दर्शन अथवा चैतन्य की उपलब्धि की आशा से आनन्दित, जागरूक तः सक्रिय रहने लगा।"[18]

त्य की अनुभूति ने उस व्यापक दर्शन का ज्ञान पन्त जी को करा दिया गतः "ज्योत्स्ना" में रूपायित हुआ है। उस भावातिरेक-पूर्ण मनःस्थिति धि में ही उनकी मित्रता प्रसिद्ध साम्यवादी पूरन चंद्र जोशी से हो गयी। के कथनानुसार उनके भावाक्रांत मन को श्री पूरन चन्द्र जोशी जी के ष्टिकोण से बाह्य विस्तार मिला। उनके मन में मानव-सभ्यता के 5, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विकास की धारणाएँ प्रस्फुटित होने धारणाओं को अधिक व्यापक और संतुलित रूप में ग्रहण करने के समाजशास्त्रीय विषयों पर भी चिंतन-मनन और अध्ययन करना देया। पन्त जी ने मानव-कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति तथा समाज की वास्तविकता को जानना चाहा और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि के आधार बाह्य परिस्थितियों पर भी उतने ही अवलम्बित हैं जितने

कि वे मानव-बुद्धि और अहं की उपज हैं।

दिसम्बर, सन् 1930 ई. में श्री रामनरेश त्रिपाठी के यहाँ प्रथम बार पन्त जी का परिचय कालाकाँकर के साहित्यप्रेमी राजकुंवर सुरेश सिंह से हुआ। उनके सहृदय निमंत्रण पर पन्त जी सन् 1931 ई. में कालाकाँकर गये। कालाकाँकर का पन्त जी का जीवन आत्मीयता, स्नेह और सौहार्द का था। इसी के वशीभूत होकर वे वहाँ सन् 1940 ई. तक रहे। पिता की मृत्यु ने जिस पारिवारिक स्नेह-सूत्र को तोड़ दिया था, उसी के अभाव की पूर्ति उन्हें सुरेश-दम्पति एव उनके परिवार में मिली। वहाँ पन्त जी का निवास-स्थान "नक्षत्र" बहुत ही ऊँचे टीले पर, गंगा के तट पर बना हुआ था। नरेन्द्र शर्मा, सोहन लाल द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, निर्मल जी, श्री भुवनेश्वर आदि दूसरे-तीसरे महीने कालाकाँकर अवश्य आ जाया करते थे। इनके अतिरिक्त निराला जी, रामनरेश त्रिपाठी, भगवती चरण वर्मा, हितैषी जी, रामचन्द्र टण्डन, सियाराम शरण गुप्त, महादेवी वमा, जैनेन्द्र कुमार, मैथिलीशरण गुप्त जी तथा डा. नगेन्द्र[19], मुल्कराज आनन्द तथा मि. ऐरनसन[20] आदि भी पन्त जी के पास "नक्षत्र" में आकर रहे थे। इन लोगों के कारण कालाकाँकर का वातावरण गहन साहित्यिक हो उठता तथा इनकी उपस्थिति में प्रायः कवि-सम्मेलन, साहित्यिक गोष्ठियाँ एवं सांस्कृतिक आयोजन होते रहते।

सुश्री शान्ति जोशी के शब्दों में कालाकाँकर के शांत वातावरण ने नियमित "ध्यान" की प्रेरणा पन्त जी को दी। बचपन के परिवेश ने ध्यान-उपासना की आर उनकी रुचि उत्पन्न कर दी थी। सन् 1924 ई. में वह देहरादून में माधवानन्द जी, एक हठयोगी, के सम्पर्क में आये थे और "ध्यान" की ओर विशिष्ट रूप स आकर्षित हो गये थे। तब से उन्होंने "ध्यान" को जीवन का एक अनिवार्य और अनन्य अंग माना, यद्यपि इसमें परिस्थितिवश यदाकदा व्यवधान उत्पन्न हुआ आर आयु की प्रौढ़ता के साथ रूपान्तर भी। कमरे के दरवाज़े और खिड़किया बन्द करके वह डेढ़-दो घंटा सवेरे और आधा घण्टा शाम नित्य ध्यान करते थे। इसके द्वारा वह जीवनी-शक्ति और आनन्द प्राप्त करते थे।[21]

कालाकाँकर में उनका दीर्घकालीन निवास न केवल जीवन की दृष्टि स बल्कि काव्य की दृष्टि से भी युगान्तरकारी और कई तरह से बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। अध्ययन, मनन और लेखन के लिए उन्हें पर्याप्त समय तथा अवसर प्राप्त हुए। "गुंजन" में संकलित अधिकांश कविताएँ इसी काल की हैं। इसी मध्य उन्होंने "ज्योत्स्ना" नाटिका का प्रणयन किया। इन दोनों रचनाओं के द्वारा

त वर्षों के प्रयाग की जीवन-साधना ने वाणी पायी है। कालाकाँकर में
क्त जीवन ने इस साधना को सृजन-मूर्त करने का अवसर दिया। इ
न की विशेष भाव-स्थिति, उल्लसित मनःस्थिति के द्योतक हैं। अपा
आनन्दानुभूति को चिरस्थायी बनाकर चरितार्थ करने के लिए पन्त जी
ओर साधना की है, उसी का समाजीकरण "ज्योत्स्ना" है। नव म
यथार्थ उनके जीवन और चिंतन का एक अनिवार्य अंग बनकर
अध्यात्मवाद एवं मानवतावाद के रूप में "ज्योत्स्ना" में पूर्ण अभिव्यक्ति
के समस्त काव्य में छा गया। पन्त जी के व्यक्तित्व के विकास की
नके काव्य-जीवन का यह नया मोड़ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

1938 ई. में पन्त जी ने "रूपाभ" नामक पहली प्रगतिशील साहित्यिक
प्रकाशन आरम्भ किया जिसमें तत्कालीन साहित्य की नयी मान्यताओं
-से-अधिक प्रकाश डालने का पूरा प्रयत्न रहता था। इसके आर्थिक
रक्षण सुरेश सिंह ही किया करते थे। "रूपाभ" का प्रकाशन प्रयाग से
अतः पन्त जी प्रत्येक मास सप्ताह भर के लिए प्रयाग आते थे और
ण्डन अथवा नरेन्द्र शर्मा के पास एलनगंज में रहते थे। "रूपाभ" के
और गरिमा ने उन दिनों साहित्यिक पत्रकारिता को एक नया अनुभव
पि वह परम्परा तुरंत तो नहीं चल सकी तथापि पिछले दिनों मननशील
साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं के जो अल्पजीवी प्रयाग
हैं, उनकी लीक "रूपाभ" ने ही डाली थी।

मार्क्सवादी दर्शन का जो प्रभाव उनकी चेतना पर पड़ा, वह "युगवाणी"
"ग्राम्या" में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यहीं से स्पष्ट होने लगा था
पन्त जी गायक के स्थान पर विचारक होते जा रहे हैं। अपने दस वर्ष के
न तथा चिंतन से वह इसी परिणाम पर पहुँचे थे कि वाणी को ऐसे विचारों
वाहक बनाना ही उनके लिए श्रेयस्कर है जिससे भारतवासियों का तथा
स्त मानवजाति का कल्याण हो।

पन्त जी केवल विचार देकर ही सन्तुष्ट नहीं थे। "ज्योत्स्ना" में उन्होंने जिस
नव-भविष्य का स्वप्न देखा था, उसके लिए वह कुछ करना भी चाहते थे। सन्
42 ई. में उन्होंने "लोकायतन" नामक एक संस्था स्थापित करने की योजना
ाई। अपनी कुछ परिसीमाओं के कारण वह उसे तत्काल कार्यान्वित नहीं कर
े, किन्तु यह बात पूर्ण रूप से सत्य है कि उस संस्था की उनकी पूर्व-कल्पना
णिक स्वप्न मात्र नहीं थी; उसकी जड़ें उनके हृदय में गहरे पैठ चुकी थीं।

पन्त जी संगीत प्रेमी भी थे। तबला, हारमोनियम, वायलिन आदि वाद्य-यन्त्रों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। काफ़ी समय तक वे प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर के "संस्कृति-केन्द्र" के अभिन्न अंग बनकर रहे तथा सन् 1943 ई. में प्रसिद्ध नृत्यचित्र "कल्पना" में उन्होंने गीत-लेखक के रूप में सहयोग दिया। "कल्पना" में "हिन्दुस्तान का बल है हल," "भारत जय जन", "दीप जलाओ", तथा "युग की साँझ आज गहराई" आदि सुन्दर गीतों की रचना पन्त जी ने की। इस बीच उन्हें एक रोग ने आक्रान्त किया, जिससे बड़ी कठिनता से उनके प्राण बचे। सन् 1942 ई. की राष्ट्रीय उथल-पुथल का भी प्रभाव उन पर पड़ा। बीमारी के इस घातक प्रहार ने उनकी क्लान्त चेतना को पुनः जगा दिया। सन 1940 ई. के मध्य वह गांधीवाद से प्रभावित हो चुके थे तथा उन्होंने "ग्राम्या" एवं "युगवाणी" में भी भूत तथा अध्यात्म के समन्वय का संकेत दिया था। इस समय अस्वस्थता के कारण वह लोक-जीवन से दूर एकांत में अधिक रहे। इसी समय उन्होंने श्री अरविन्द की "द लाइफ़ डिवाइन" (भागवत जीवन) पढ़ी तथा पांडिचेरी में श्री अरविन्द के पास निवास भी किया। आश्रम का शुभ उन्नत वातावरण, साधना-पद्धति, श्री अरविन्द एवं माँ का दिव्य व्यक्तित्व, वहाँ के स्नेही साधक एवं बंधुगण, श्री पुराणी जी, श्री सुंदरम्, डॉ. इन्द्रसेन आदि तथा आश्रम की सुव्यवस्था एवं प्रेरणा-शक्ति ने पन्त जी के श्रद्धालु हृदय को काफी आकर्षित किया। आश्रम के साधकों का सम्पर्क उनके स्वभाव के अनुकूल भी था। वैयक्तिक कुंठाओं तथा रागद्वेष से मुक्त वहाँ के कर्मयोगी मानव-आत्मा के उन्नयन के उद्देश्य से साधनारत रहते थे। "उत्तरा" की भूमिका में पन्त जी ने कहा है—"इसमें सन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन-दर्शन से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द-आश्रम के योगयुक्त (अन्तः संगठित) वातावरण के प्रभाव से ऊर्ध्व मान्यताओं-सम्बन्धी मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई हैं। "स्वर्ण-किरण" और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव मेरी सीमाओं के भीतर, किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।"[22] पन्त जी का यह कथन कि अपनी सीमाओं के भीतर ही वे अरविन्द-दर्शन को अभिव्यक्ति दे सके हैं, अर्थगर्भित है। यह उस भेद को लक्षित करता है जो पन्त जी की निजी जीवन-दृष्टि की विशेषता है।

पांडिचेरी में उन्हें वैदिक साहित्य का अध्ययन करने का भी अवसर मिला। "स्वर्णधूलि" में संग्रहीत वैदिक ऋचाओं का अनुवाद उनके इसी अध्ययन का परिणाम है। दक्षिण-प्रवास-काल में उनका सुप्त सृजन-संचरण फिर से जाग्रत् हो

उठा और तब से उनका मन निरन्तर उद्बुद्ध तथा सृजनशील बना रहा। पन्त
न्त जी गायक से विचारक बने थे, फिर वे दार्शनिक भी हो गये। जिन सत्यों के
बारे में वह लिखना चाहते थे, वे बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे हृदय से ग्रहण नहीं किये
जाते, बुद्धि से पकड़े नहीं जाते; केवल आत्मा में अनुभव किये जाते हैं।

इस प्रकार हम "उत्तरा" के पश्चात् की रचनाओं में एक ऐसे लेखक
कलाकार तथा कवि को पाते हैं जो अपनी वैचारिकता में सुदृढ़, सुस्थिर तथा
निश्चित हो चुका है।

सन् 1950 ई. में ऑल इण्डिया रेडियो ने पन्त जी को हिन्दी के चीफ
प्रड्यूसर के पद पर नियुक्त किया। अपने दर्शन को कला की सहायता से
जीवन तथा व्यवहार में लाने का आग्रह उनके मन में सन् 1942 ई. से ही था
जब उन्होंने "लोकायतन" नामक संस्था की योजना बनायी थी। अनेक विफलताओं
के बावजूद सन् 1948-49 ई. में उसे "लोकायन" नाम से चलाने के लिए वे
विशेष रूप से प्रयत्नशील हुए, पर दूसरी बार भी उन्हें सफलता नहीं मिली। इस
समय में रेडियो की नियुक्ति का उन्होंने यह सोचकर सहर्ष स्वागत किया कि
इस माध्यम से वह अपने विचार अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचा सकेंगे।

इस प्रकार पन्त जी सर्वप्रथम अपने जीवन में सरकारी वेतनभोगी बने।
रेडियो की नीति और समय के बंधन में रहकर उन्होंने काम शुरू किया। उन्होंने
अपनी सृजन-प्रक्रिया को उस माध्यम के अनुरूप बनाया तथा उससे अनुशासित
किया। उन्होंने सन् 1950 ई. से 1954 ई. के बीच रेडियो से प्रसारित होने के
लिए बारह रूपक लिखे। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम के साथ आकाशवाणी के
कार्यक्रमों का संस्कार-परिष्कार किया तथा उसे भारतीय संस्कृति का उपयुक्त
माध्यम बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया। श्री बालकृष्ण राव के शब्दों में,
"पन्त जी के व्यक्तित्व और जीवन की गतिविधि पर ही नहीं; उनके काव्य पर
भी उनके रेडियो से सम्बन्ध-स्थापन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।"[23]

इन रूपकों ने भावना, कर्म और चेतना के किसी भी पक्ष को अछूता नहीं
छोड़ा है। उनमें विविधांग-जीवन एवं दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक मूल्यों का
जीवन्त चित्रण हुआ है। इन रूपकों में प्रस्तुत सन्यासी, तत्त्वज्ञानी, समाज-सुधारक,
कलाकार, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, श्रमजीवी आदि वर्गों की, वर्तमान स्थिति
के अनुरूप, यथातथ्य व्याख्या उनके निष्पक्ष चिंतन, गहन व्यापक अध्ययन,
अनुभूति तथा जीवन-दृष्टि को प्रतिबिंबित करती है। उनके निःस्वार्थ भावना और
मानवप्रेम ने उन्हें किसी "वाद" में नहीं बँधने दिया। भारतीय दर्शन एवं

अध्यात्म की विजय-पताका फहराते हुए उन्होने उसकी मध्ययुगीन निष्क्रिय और पलायनवादी प्रवृत्ति पर कठोर प्रहार भी किया है। उसका मुख्य कारण यह है कि भारत की अतीत-गाथा के बारे में कुछ चुने हुए सूत्रों को ही उन्होंने कंठस्थ नही किया था, उन्होंने स्वयं इतिहास और दर्शन का गहन अध्ययन किया था तथा स्वतंत्र चिंतन-मनन के द्वारा तथ्यों को आत्मसात् किया था।

सुश्री शान्ति जोशी के शब्दों में "पन्त का जन्मजात कवि सतत जिज्ञासु है। अपने विद्यार्थी-जीवन में संभवतः ऐसा कोई भी उपलब्ध श्रेष्ठ ग्रन्थ न होगा, जिसका उन्होंने अध्ययन-मनन न किया हो।...............वे जो भी पुस्तक पढते है, ध्यान और तल्लीनता के साथ पढ़ते हैं। लिखते यदि वह सौ मील की रफ़्तार से हैं तो पढ़ते एक मील की रफ़्तार से हैं। पर जो पढ़ लिया, वह सदैव के लिए उनके मन में अंकित हो जाता। सामाजिक-दोषपूर्ण बातें न वे ध्यान से सुनते है और न उन्हें याद ही रहती हैं, किन्तु ज्ञान-विज्ञान की बातें, सत्संगति के अनुभव, उनके लिए अविस्मरणीय हैं। जितने विविध विषयों पर वे विस्तार और गहनता से बातें कर लेते हैं वह अन्य कम ही लोग कर पाते होंगे। जीवन के सभी विषय उन्हें रुचिकर लगते हैं। ज्ञान के समस्त पक्षों को आत्मसात् करने के वे सदैव आकांक्षी रहते हैं। मनीषियों, ज्ञानियों और साधु-सन्तों के साथ वे रात-दिन एक कर सकते हैं।[24]

आगे भी उन्होंने लिखा है—"विचित्र है पन्त का व्यक्तित्व। वैयक्तिक इच्छाओं और आकांक्षाओं के प्रति भावशून्य-सा और स्वस्थ जीवन के प्रति महत् आकर्षण। भगवान् की पृथ्वी में ठीक से जीने, उसे समझने, उसके वासियों को सुखी देखने की सम्पूर्ण आकांक्षा लिए उनका मन किसी से घृणा कर ही नही सकता और न सचमुच में ही किसी को भी बुरा समझ सकता है। पन्त जी के अनुसार, "हम नहीं जानते कि वह किन परिस्थितियों से विवश होकर ऐसा कर रहा है। बुरा तो कोई होता ही नहीं है।"[25]

जब कवि के लिए कविता लिखने की वस्तु नहीं, जीने की, बरतने की वस्तु हो जाती है, तब कवि के जीवन के समानान्तर उसका भी एक सजीव, स्वतंत्र तथा विकासवान व्यक्तित्व बन जाता है। पन्त—काव्य पन्त-व्यक्तित्व है। उसे किसी "वाद" या सिद्धान्त में नहीं ढाला जा सकता; उसे उनके व्यक्तित्व के ही सन्दर्भ में समझना होगा। पन्त जी का समस्त कृतित्व वह अविभाज्य व्यक्तित्व है जो सदैव आगे बढ़ता रहा, विकसित होता रहा। विभिन्न परिस्थितियो और काल में लिखी उनकी रचनायें वे सोपान हैं जो, भिन्न होते हुए भी, लक्ष्य

ोर व्यक्तित्व की अविच्छिन्नता में बँधी हुई है। कई रोगों ने उनके शरीर में घर कर लिया था, पर कविता उनकी उस समय भी नवयौवना ही रही। उनमें जनशक्ति जीवन के अन्तकाल तक बनी रही, काव्य की नयी दिशाएँ खोजने का उत्साह उनमें अन्त तक बना रहा।

"स्मृतिचित्र" में पन्त जी के इसी गुण की ओर संकेत करते हुए इलाचन्द्र जोशी जी ने लिखा है—"आज भी नयी भावभूमि पर लिखी गयी पन्त जी की कविताएँ नये-नये फूलों की तरह खिलती जा रही हैं। उनकी नित नई कल्पना में कहीं तनिक शिथिलता नहीं आयी है। नये युग के साथ वह नवयुवकों से भी अधिक उत्साह से होड़ लगाते हुए चले जा रहे हैं। उनकी कुतूहली प्रवृत्ति आज "गद्य-कविता" लिखने की ओर भी अग्रसर हो रही है। नये-नये प्रयोगों में उन्हें सुख मिलता है।"[26]

वस्तुतः स्वाभाविक विकास में वृद्धावस्था को भी तेजहत होने की आवश्यकता नहीं। कली का सौन्दर्य फूल का ही सौन्दर्य नहीं होता, फल का भी होता है, पके हुए फल का भी। पन्त जी की कल्पना वृद्धावस्था में भी जीर्ण-शीर्ण और दयनीय नहीं हो पायी थी। उनकी अप्रतिम प्रतिभा से निरन्तर नवीन स्वर और अभिनव चेतना के पुष्प हिन्दी-साहित्योद्यान में खिलते ही रहे। अचानक मामूली सी अस्वस्थता में ही इलाहाबाद (उनका सर्वाधिक प्रिय स्थान) में 28 दिसम्बर सन् 1977 को उनका प्राणान्त हो गया और "नये संकट" नामक रचना अधूरी ही रह गयी। किन्तु ऐसे यशःकाय व्यक्ति मरकर भी अपनी रचनाओं के माध्यम से अमर रहते हैं। आज भारतवर्ष के ही नहीं अपितु विदेशों के साहित्यकारों में भी, जिन्होंने उनकी रचनाओं को पढ़ा है तथा हृदयंगम किया है, उनकी ख्याति एक महाकवि के रूप में फैल चुकी है तथा उन्हें श्रेष्ठतम कवियों में एक अद्वितीय स्थान प्राप्त है। कवि के रूप में अनेकों प्रकार के सम्मान उन्हें प्राप्त हुए। उनकी काव्यकृति "कला और बूढ़ा चाँद" के लिए उन्हें "साहित्य-अकादमी" द्वारा पाँच हज़ार रुपये का पारितोषिक प्रदान किया गया। जनवरी 1961 ई. में भारत सरकार ने, उन्हें उनकी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सेवाओं के लिए "पद्मभूषण" की राष्ट्रीय उपाधि से विभूषित किया। 26 मार्च सन् 1965 को उत्तर प्रदेश शासन ने पन्त जी को उनके साहित्य एवं कृतित्व पर 10,000 रुपये का पुरस्कार दिया। 15 नवम्बर 1965 को पन्त जी को "लोकायतन" के लिए "सोवियतलैंड नेहरू पुरस्कार" (प्रथम साहित्यिक पुरस्कार) मिला। सन् 1968 ई. में "चिदम्बरा" के लिए भारतीय ज्ञानपीठ का एक लाख

रुपय का पुरस्कार भी उन्हें अर्पित किया गया।

पन्त जी के व्यक्तित्व, स्वभाव तथा आचरण को समझ लेने पर उनके समस्त साहित्य का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है और मन उल्लसित होकर उन्ही के शब्दों में कह उठता है—"ईश्वर से पृथक् नहीं अब जग, होता अमूर्त मूर्तित प्रतिक्षण", "सुन्दर विश्वासों ही से—बनता रे सुखमय जीवन", "मंगल, चिर मंगल हो। मंगलमय सचराचर,—मंगलमय दिशि पल हो।"

अरविन्द-दर्शन के अग्रणी विद्वान्, साधक, विचारक एवं पन्त जी को निकटता से जानने वाले श्री ए.बी. पुराणी जी के विचारानुसार श्री अरविन्द की निम्नलिखित उक्तियाँ सुमित्रानन्दन पन्त के जीवन तथा साहित्य को समझने के मुख्य सूत्र हैं।[27]

1. जिस दिन हम उल्लास और सौन्दर्य की प्राचीन उपासना की स्थिति मे पुनः पहुँच जायेंगे, वह हमारी मुक्ति का दिन होगा।[28]

2. सौन्दर्य और उल्लास कला और काव्य की आत्मा और मूल स्रोत है।[29]

3. परम सौन्दर्य की प्राप्ति परमात्मा की प्राप्ति है और परम सौन्दर्य का निरूपण, मूर्तन और सृजन अपनी आत्मा में निहित परमात्मा की जीवन्त प्रतिभा और शक्ति का ही प्रकाशन है।[30]

सन्दर्भ-संकेत



1. (अ) सुमित्रानन्दन पन्त, प्रवेशिका—डॉ. हरिवंश राय बच्चन, पृ. 11

    धरती पर जब शिशु ने पहले आँखें खोलीं।
    नव प्रभात वेला थी, नव जीवन अरुणोदय,
    विगत शती थी मुक्त प्राय, युगसंधि का समय।

   (ब) हिन्दी के अर्वाचीन रत्न—डॉ. विमल कुमार जैन, पृ. 255
2. वीणा—ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ 121
3. हिन्दी के आधुनिक कवि—डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, पृ. 80
4. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी पृष्ठ 28, प्रथम संस्करण
5. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शान्ति जोशी

पृ. 29, प्रथम संस्करण

6. भेंट वार्ता—सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग-1, शान्ति जोशी, प्रथम संस्करण, 1970, पृ. 50-51
7. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग-1, शांति जोशी, प्रथम संस्करण, 1970, पृ. 45
8. मेरा बचपन : आकाशवाणी वार्ता, प्रसारण तिथि 12-11-49
9. भेंट वार्ता—सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 59, प्रथम संस्करण 1970
10. वाणी—आत्मिका—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 114-115, प्रथम संस्करण 1958
11. भेंट वार्ता—सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 83, प्रथम संस्करण 1970
12. सुमित्रानन्दन पन्त : प्रवेशिका, डॉ. हरिवंश राय बच्चन, पृ. 15
13. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य, शान्ति जोशी, भाग 1, पृष्ठ 141, प्रथम संस्करण 1970
14. कवियों में सौम्य सन्त—डॉ. हरिवंश राय बच्चन, पृ. 61, द्वितीय संस्करण 1962
15. सुमित्रानन्दन पन्त—कला, काव्य और दर्शन—गोपाल दास नीरज, सुधा सक्सेना, पृ. 3, द्वितीय संस्करण, 1968
16. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शांति जोशी, पृ. 357, प्रथम संस्करण, 1970
17. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, रश्मिबंध-परिदर्शन, पृ. 258, प्रथम संस्करण 1979
18. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शांति जोशी, पृ. 259, प्रथम संस्करण 1970
19. डॉ. नगेन्द्र अपनी पुस्तक "सुमित्रानन्दन पन्त" (1938 ई.) में [illegible] शब्द" लिखवाने कालाकाँकर गये। यह उनकी पन्त जी से प्रथम भेंट थी।
20. ऐरनसन शांति निकेतन में अंग्रेज़ी के अध्यापक थे।
21. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शांति जोशी, पृ. 277, प्रथम संस्करण 1970

[illegible] सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 22, चतुर्थ संस्करण 1980

23. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र, श्री बालकृष्ण राव, पृ. 95, प्रथम संस्करण 1960
24. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 2, शांति जोशी, पृ. 670, प्रथम संस्करण 1977
25. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 2, शांति जोशी, पृ 671, प्रथम संस्करण 1977
26. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र—इलाचन्द्र जोशी, पृ. 144
27. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृति चित्र, श्री ए.वी. पुराणी, पृष्ठ 70
28. "दि फ्यूचर पोएट्री" श्री अरविन्द, सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृति-चित्र, पृ. 70 से उद्‌धृत।
29. "दि फ्यूचर पोएट्री" श्री अरविन्द, सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृति-चित्र, पृ. 70 से उद्‌धृत।
30. "दि फ्यूचर पोएट्री" श्री अरविन्द, सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृति-चित्र, पृ. 70 से उद्‌धृत।

तृतीय अध्याय

सुमित्रानन्दन पन्त : साहित्य-सृष्टि

जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, पन्त जी ऐसे विचारशील सम्य कवि थे जिनकी अंतश्चेतना निरन्तर विकासमान रही और विभिन्न प्रभावों म समृद्ध होती रही। उन्होंने अपने जीवन में विविध मोड़ों को स्वीकार किया किन्तु उनका जीवन-विकास, जैसा प्रायः सभी विकासवान व्यक्तियों का होता है, इतना क्रमबद्ध है कि यह कहना कठिन है कि इस स्थान से अमुक प्रवृत्ति समाप्त होती है तथा अमुक प्रारम्भ होती है। उनकी अंतिम साहित्यिक रचनाओं मे भी कोई ऐसी बात नहीं है जो बीज रूप में उनकी पहली रचना में मौजूद न रही हो और उनकी आरम्भिक रचनाओं में जो प्रवृत्तियां काम कर रही थीं, उनके चिह्न उनकी अंतिम रचनाओं में भी, चाहे कितने भी सूक्ष्म रूप में क्यों न हो, पाये जा सकते हैं।

पन्त जी की विचार-सरणि के मूल सूत्र ये हैं—संसार उन्नति तथा विकास की ओर अग्रसर हो रहा है; उस विकास का सूत्र एक परम शक्ति के हाथों म है, जो उसे भ्रमित न होने देगी; मनुष्य का विकास बाहर तथा भीतर दोनों दिशाओं में होना है, जिसे पन्त जी ने "बहिरंतर संयोजन" नाम दिया है; मनुष्य को राष्ट्र, जाति, वर्ग के ऊपर उठना है; बाह्य सामाजिक जीवन के समस्त साधनों को विकसित करने के लिए श्रम करना है तथा अन्तर्जीवन को समझने के लिए साधना करनी है क्योंकि बिना अन्तर्जीवन को समझे बहिर्जीवन न सयोजित हो सकता है और न उन्नति ही कर सकता है।

इस विचार-सरणि के अनुरूप ही पन्त जी के काव्य-विकास को भी कुछ प्रमुख कालों में विभक्त किया जा सकता है। "वीणा", "ग्रन्थि", "पल्लव" और "गुंजन" को विशुद्ध छायावादी काव्य-कृतियाँ कहा जा सकता है। सन् 1932 ई. के बाद पन्त जी सूक्ष्म कल्पना-लोक से बाहर आकर धरती के जीवन से प्रमुखता से जुड़े। इस काल में वे युगीन महापुरुषों—मार्क्स तथा

गांधी जी से प्रभावित हुए और उनके जीवन-दर्शन को उन्होंने अपनी चेतना में समाहित किया। "युगान्त", "युगवाणी" तथा "ग्राम्या" इसी काल की रचनायें हैं जिन्हें हम प्रगतिवादी काव्य-कृतियाँ कह सकते हैं। सन् 1942 ई. के आसपास उन्होंने एक नये मोड़ को स्वीकार किया। योगी अरविन्द की "द लाइफ डिवाइन" से परिचित होकर उनके मन ने अपनी अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त किया। "स्वर्णकिरण", "स्वर्णधूलि", "उत्तरा", "अतिमा", "वाणी" आदि उनकी अरविन्द-दर्शन से प्रभावित रचनायें हैं। सन् 1959 ई. में प्रकाशित "कला और बूढ़ा चाँद" उनके साहित्यिक पथ के एक अन्य मोड़ को सूचित करता है, जिसका सम्बन्ध व्यंजना-शैली की नवीनता तथा दृढ़ भू-जीवन-निष्ठा से है। सन् 1964 ई. में पन्त जी का महाकाव्य "लोकायतन" प्रकाश में आया जो व्यापक विश्वात्मक भूमिका पर प्रणीत उनका वृहत् काव्य-ग्रन्थ है। उसके बाद भी पन्त जी का काव्य-सृजन उनके जीवनान्त अर्थात् दिसम्बर 1977 ई. तक चलता रहा। अपने परवर्ती काव्य-सृजन को पन्त जी ने स्वयं ही नवचेतना-काव्य की संज्ञा दी है।

पन्त जी की कुल साहित्यिक कृतियों की संख्या 39 है, जिनमें से 8 गद्य-कृतियाँ तथा 31 पद्य-कृतियाँ हैं। गद्य-कृतियों में "हार" एक उपन्यास है, "ज्योत्स्ना" एक नाट्य कृति है और "पाँच कहानियाँ" एक कहानी-संकलन है। शेष गद्य-रचनायें या तो उनकी विभिन्न ग्रन्थों की भूमिकाएँ हैं अथवा विभिन्न अवसरों पर उनके द्वारा लिखे गये निबन्ध हैं, जो बाद में संकलित रूप में "शिल्प और दर्शन" (1961), "कला और संस्कृति" (1965) तथा "साठ वर्ष और अन्य निबन्ध" (1973) शीर्षकों से प्रकाशित हुए। "छायावाद : पुनर्मूल्यांकन" एक लम्बी समीक्षात्मक कृति है, जो स्वतंत्र रूप से सन् 1965 ई. में प्रकाशित हुई।

पद्य-कृतियों में तीन प्रबन्धात्मक काव्य-रचनायें हैं, जिनमें से "लोकायतन" तथा "सत्यकाम" महाकाव्यात्मक कलेवर वाली काव्य-कृतियाँ हैं तथा "ग्रन्थि" एक खण्ड काव्य है। उनकी शेष पद्यात्मक कृतियाँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं। उनमें से पहला और अधिक महत्त्वपूर्ण भाग स्फुट काव्य-कृतियों का है और दूसरा उनके पद्यात्मक नाट्य-रूपकों का है। उनकी स्फुट काव्य-रचनायें विभिन्न काव्य-संकलनों के रूप में समय-समय पर प्रकाशित हुईं। उनके पद्यात्मक नाट्य-रूपकों में वे ध्वनि-रूपक आते हैं जो पन्त जी ने "आकाशवाणी" के सेवाकाल में प्रस्तुत किये। पद्य-कृतियों में उनका "मधुज्वाल" भी है जो उमर

रूबाइयों का अनुवाद है और कवि के मौलिक कृतित्व से सीधा
ीं रखता।

ऐसे काव्य-संकलन भी समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं जो कवि की
-कृतियाँ नहीं हैं। वे उनकी पूर्व-प्रकाशित अनेक काव्य-कृतियों से ली
ओं के संकलन हैं जो विशिष्ट दृष्टि और अपेक्षा के आधार पर प्रस्तुत
हैं। उनका भी संक्षिप्त विवरण पन्त जी की साहित्यिक रचनाओं क
-विवरण के अन्त में दे दिया गया है यद्यपि उनसे पन्त जी क
कृतित्व का, कोई पृथक् परिचय प्राप्त नहीं होता।

जी के विचार-वैभव के अध्ययन की आधार-सामग्री के परिचय क
की साहित्यिक कृतियों से सम्बन्धित कुछ संक्षिप्त विवरण यहाँ रचना
कालक्रम से दिये जा रहे हैं। उनकी रचनाओं को गद्यात्मकता तथा
की दृष्टि से, विभिन्न साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से अथवा
षय-वस्तु की दृष्टि से वर्गों में विभाजित करके उनका विवरण प्रस्तुत
थान पर रचना के काल-क्रम से उनकी साहित्यिक कृतियों का विवरण
ना इस दृष्टि से अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ है कि इस प्रकार क
पन्त जी की मानस-यात्रा के विभिन्न मोड़ों, पड़ावों और गन्तव्यों का
र अधिक सार्थक परिचय प्रस्तुत हो सकेगा।

उपन्यास सन् 1960 ई. में प्रकाशित हुआ, यद्यपि यह पन्त जी की
है। इसका रचनाकाल सन् 1916-17 है। पन्त जी की उपन्यास-कला
थम तथा अन्तिम उपहार है, जिससे पन्त जी की साहित्य-साधना का
हुआ। यह कृति कतिपय कलात्मक न्यूनताओं से ग्रस्त होते हुए भी
के वैचारिक व्यक्तित्व के विकासात्मक अध्ययन के लिए अत्यन्त
क्योंकि उसमें उनकी अन्तश्चेतना के मौलिक स्वरूप तथा उसक
भावी सम्भावनाओं के संकेत मिलते हैं।

जी के किशोर मानस की कला-सृष्टि-स्वरूप प्रेमलड़ियों में गुँथा यह
अपने अन्तर में अत्यधिक प्रबुद्ध, विकसित और जाग्रत् चेतना का
ता है और छुआछूत, देश-प्रेम एवं नारी-जीवन सम्बन्धी अनेक सामयिक
का चित्रण करते हुए "गीता" के अनासक्ति योग तथा कर्मयोग की
तुत करता है।

"हार" का कथानक छोटा-सा है। दो मुख्य पात्रों निमेष और भविष्य तथा तीन मुख्य पात्रियों विजया, सुफला और आशा के पारस्परिक वार्तालाप, स्वगत-आलाप तथा प्रकृति के जीवंत चित्रण द्वारा कथानक भविष्य तथा आशा की बाल-क्रीड़ाओं से आगे बढ़कर उनके पारस्परिक आकर्षण और प्रेम के निकट पहुचकर एकाएक त्रिकोणीय संघर्ष में फँस जाता है। निमेष, जो विजया का पति ह, आशा पर आसक्त हो जाता है और आशा का भविष्य के प्रति अप्रस्फुटित प्रेम निमेष के प्रति आसक्ति में बदल जाता है। भविष्य का आशा के प्रति एकनिष्ठ प्रेम है। जब उसे आशा की मनोदशा मालूम होती है तो वह विरह-दग्ध हो जाता है। दुःख के अथाह सागर में डूबे हुए उन्मत्त भविष्य को पुजारी की शरण में ले जाकर, दोनों के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से आसक्ति और प्रेम, क्षणिक सुख और वास्तविक सुख एवं विश्व-प्रेम के स्वरूप पर प्रकाश डालकर किशोर-उपन्यासकार ने अपने सहज स्वभाव का दिग्दर्शन कराया है।

"हार" में शिव-सुन्दर से भीगी हुई मानव-कल्याण की जिस कथा को पन्त जी ने अपनी किशोर लेखनी से गूँथा है, वही कथा अपने सत्यान्वेषी, दृढ, सारगर्भित तथा अधिक स्पष्ट, संतुलित तथा विकसित रूप में उनकी विभिन्न रचनाओं में विस्तार पाकर भागवत-प्रेम के प्रकाश में विहँस उठती है। आशावाद, दिव्य प्रेम, विश्व-कल्याण न केवल पन्त जी की समस्त कृतियों का मूल स्वर है, यह उनके स्वभाव का मेरुदण्ड भी है।

"हार" में पन्त जी ने अनेक वैचारिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। साथ ही उन्होंने अपनी ओर से कई ऐसे सारगर्भित निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये है जो उनके जीवन-दर्शन की सूक्तियों के रूप में उद्धृत किये जा सकते है। उदाहरणार्थ—"संसार में मित्रता भी एक दुर्लभ वस्तु है"[1], "हृदय की भाषा हृदय पहचान लेता है"[2], "तृष्णाओं से ही दुःख प्रसूत होता है, अतः उन्हीं का दमन करना चाहिये"[3], "इच्छाओं को नष्ट करने से जो सुख मिलता है वही वास्तविक सुख है, वह सुख स्वर्ग-सुख से भी श्रेष्ठ है।"[4]

इस रचना में निहित रूपक के निर्वाह में पन्त जी ने बहुत सतर्कता बरती है। यही प्रवृत्ति हमें पन्त जी के प्रौढ़ कृतित्व में भी मिलती है। इस कथा के पात्र आशा, सुफला, विजया तथा भविष्य आदि स्थूल व्यक्ति रूप में होकर भी भावात्मक प्रतीक हैं। "ज्योत्स्ना" की प्रतीक-पद्धति के पूर्व-संकेत इस कृति में दिखाई देते हैं।

पन्त जी हिन्दी-साहित्य में शिल्प-तत्वों के सफल प्रयोक्ता तथा शब्दों के

सुगढ़ शिल्पी भी माने जाते हैं। इस उपन्यास में भी उनके शब्द-शिल्प के आरम्भिक चरण-चिह्न उपलब्ध हैं। वाक्य-रचना में भी वह काव्य-सुलभ शाब्दिक चमत्कार की सृष्टि करने से अपने को रोक नहीं सके हैं, जिसके कारण कहीं-कहीं कथ्य की उपेक्षा हो गयी है तथा वैचारिक अन्विति को क्षति पहुँची है।

वीणा

यद्यपि यह काव्य-संग्रह सन् 1927 ई. में प्रकाशित हुआ परन्तु इसमें प्रायः सन् 1918 से 1919 तक (पल्लव काल के पहले) की रचनायें हैं। "वीणा" के रचना-काल के बारे में पन्त जी का कहना है—"इसमें अधिकतर मेरी सन् 1918 से 1919 तक की प्रारम्भिक रचनायें संग्रहीत हैं। कुछ रचनाये 1916-17 की भी हैं जिन्हें मैंने सन् 1918 में सँवारकर "वीणा" में सम्मिलित कर दिया था। इनमें से दो-चार पद मेरे "हार" नामक उपन्यास में उद्धृत मिलते हैं। "वीणा" की और भी कुछ रचनायें सन् 1916-17 के आसपास लिखी गयी थीं—जैसे "यह दुख कैसे प्रकटाऊँ", "जब मैं कलिका ही थी केवल", "हाय, कहेगा क्या संसार", "काला तो यह बादल है" आदि। "वीणा" मे "कौन, कौन तुम परिहत वसना" शीर्षक एक छोटा-सा प्रगीत है जो पीछे सन् 1920 में "छाया" नामक लम्बी रचना में विकसित होकर "पल्लव" में सम्मिलित कर दिया गया तथा "कैसा नीरव मधुर राग यह" प्रगीत "पल्लव" में "स्वप्न" शीर्षक (1919) मेरी प्रसिद्ध रचना में पल्लवित हुआ। इसी प्रकार "मधुरिमा के मृदु हास" की कुछ पंक्तियाँ आगे चलकर "उच्छ्वास" शीर्षक मेरी एक लम्बी रचना का अंग बन गयीं जो सन् 1921 की रचना है। इस प्रकार मेरी प्रारम्भिक रचनाओं की अनेक अस्फुट भावनाओं का विकास मेरी परवर्ती रचनाओं में अपने आप ही हो गया है।..........इन छोटे-छोटे प्रगीतों के अंचल में, मेरे छुटपन की अनेक निश्छल घटनाएँ बँधी हुई हैं।"[5]

यों तो इस काव्य-कृति को पन्त जी ने स्वयं दुधमुहाँ प्रयास तथा बालकल्पना बताया है[6] तथा उनकी उन्नीस वर्ष की अवस्था तक की काव्यराशि ही इसमें सुरक्षित है। फिर भी पन्त जी की काव्य-वीणा की यह प्रथम झंकार ही उन्हे तत्कालीन (द्विवेदीयुगीन) काव्यप्रवृत्ति से सर्वथा पृथक् कर देती है। द्विवेदीयुगीन काव्य इतिवृत्तात्मक था। उसने नीरस, प्रेरणाविहीन, नैतिक, उपदेशात्मक विषयो को ही अधिकांशतः प्रश्रय दिया। "वीणा" की कवितायें विषय की दृष्टि से उस समय की कविताओं से भिन्न हैं। इनमें भाव-प्राधान्य के साथ-साथ प्रकृति-प्रेम,

रहस्यात्मकता, कौतूहल, जिज्ञासा एवं दार्शनिकता का भी सुन्दर प्रस्फुटन हुआ हे।

"वीणा" की अधिकांश रचनायें "गीतांजलि" से प्रभावित होने के कारण प्रार्थनापरक हें। माँ और बालिका के वार्तालाप अथवा आत्मप्रबुद्ध बालिका के कथनों द्वारा उन्होंने अपनी सहज भोली अनुभूति, निश्छल प्रेम तथा अनन्त से अनन्य-दाम्पत्य को अभिव्यक्ति दी है। माँ चरम आत्मीयता का प्रतीक है। वह भगवत्-शक्ति है जो कण-कण में व्याप्त है। अल्मोड़ावासी शक्ति के उपासक हे। यही शक्ति अथवा भगवती बचपन में पन्त जी की अनिंद्य सुन्दरी प्रकृति थी और अब भगवती रूप में निराकार अनन्त शक्ति है जिसके गीत अनन्त हैं—

"जीवन भर भी माँ मैं पूरे
गा न सकूँगी तेरे गीत
अपनी वाणी में स्वर भर"[7]

बालिका का स्वर जो माँ से प्रार्थना करता है—"निज अवलम्ब अचंचल दो", "सदा स्वेदमय रख यह भाल", "धीरज देना अटल अगाध", "निडर काल से कर विकराल", "माँ! काले रँग का दुकूल नव मुझको बनवा दो सुन्दर", "आनन्दित होती थी उसको पा उस प्रतिमा-पूजन में", "माँ! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरी छवि देखूँगी, जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है जग के निर्मल दर्पण में?" "महानन्द का क्या ऐसा ही नीरव होता है संगीत", आदि मात्र अल्हड़ बाल-भाव नहीं हैं। इस बाल-सुलभ जिज्ञासा में आत्मा की आकुलता है, प्रकृति में घुल-मिल जाने, उसे समझने, उसी में रम जाने तथा उसी-सा पवित्र बनने की महत् आकांक्षा है। प्रकृति-प्रेम तथा ईश्वर-प्रेम पन्त जी के लिए भिन्न नहीं, एक ही हैं। इस रचना में अभिव्यक्त प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण तथा उसके विधानों का गहन परिचय कवि की आत्मप्रबुद्ध चेतना की ही सम्पत्ति प्रतीत होते हे। "वीणा" की "प्रथम रश्मि का आना" रचना पन्त जी की सर्वोत्कृष्ट रचनाओ मे से है।

तात्कालिक घटनाओं तथा ऐतिहासिक तथ्यों का भी इसमें यत्र-तत्र चित्रण किया गया है। "नीरव व्योम, विश्व नीरव" प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति की सन्धि-प्रस्तावना पर लिखी गई रचना है। "माँ! अल्मोड़े में आये थे" बाल-चपलता की आड़ में यह कविता स्वामी विवेकानन्द के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हुए तथ्य ओर सत्य पर प्रकाश डालती है। इसी भाँति "तिलक! हा! भाल तिलक!" ओर "गहन कानन" क्रमशः तिलक के स्वर्गवास तथा महाराणा प्रताप के चेतक घोडे की स्वामिभक्ति पर कवि के मार्मिक उद्गार हैं।

"वीणा" में "पल्लव" जैसा शिल्प-मार्जन नहीं है किन्तु इसके पद उतने ही गीतिमय हैं। यह "पल्लव" के ही उत्कृष्ट प्रगीत-सौष्ठव और परिमार्जन की आधारशिला अथवा प्रारूप है।

ग्रन्थि

"वीणा" की समकालीन रचना "ग्रंथि" है। दोनों के बारे में पन्त जी का कहना है—"इनकी शैली तथा भावभूमि में मैंने संभवतः बनारस में संचित अपने काव्य-संस्कारों को अपनी किशोर क्षमता के अनुरूप वाणी देने की चेष्टा की है। "वीणा" के अधिकांश प्रगीत और "ग्रंथि" एक ही परिवेश—कूर्मांचल और लगभग एक ही काल में रचे गये हैं। "ग्रंथि" का लेखनकाल सन् 1919 के मई-जून के माह हैं, और "वीणा" की रचनाएँ 1918-1919 के बीच लिखी गयी हैं।" "ग्रंथि" का प्रकाशन-काल सन् 1929 है। यह एक वियोगान्त प्रेम-कथा है। प्रथम पुरुष में आत्मकथा के रूप में वर्णित इसकी कथा इस प्रकार है—एक बार सन्ध्या के समय नायक की नाव ताल में डूब गई। मूर्छा टूटने पर उसने देखा कि एक बालिका उसका सिर अपनी जाँघ पर रखे हुए अधीर चिंतित दृष्टि से उसकी ओर देख रही है। नायक को उसकी मूकता की आड़ में प्रणय का प्रथम परिचय पढ़ते देर नहीं लगती और वह भी उसके प्रेम-पाश में बन्दी होकर पहली बार अपने शून्य तथा वंचित जीवन में अपनापन महसूस करता है। यह प्रणय-कहानी चलती है और नायक-नायिका दोनों एक-दूसरे के वियोग में व्याकुल समय व्यतीत करते हैं। किन्तु कुछ समय बाद नायिका का ग्रन्थि-बंधन अन्य किसी के साथ हो जाता है।[8] निराशा एवं विषाद से विवश प्रेमी चीख उठता है।[9]

"ग्रंथि" का यह भाग काव्य की दृष्टि से काफ़ी महत्त्व रखता है। इसमे दर्शन, सौन्दर्य, प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, आह, अश्रु, वेदना आदि विरह के उपकरणों पर सुन्दर उद्‌गार हैं जो प्रायः स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। प्रेम, आशा तथा वेदना आदि के बारे में कवि की उक्तियों को देखकर आश्चर्य होता है कि किशोरावस्था में ही उसका अनुभव कितना व्यापक था। पन्त जी ने तो इस कथा का आधार काल्पनिक ही बताया है, किन्तु इसमें प्रस्तुत विवरण इतने मूर्त हैं और कल्पना (अर्थात् इसमें अभिव्यक्त काल्पनिक अनुभूति भी) इतनी सजीव है कि वह यथार्थ प्रतीत होती है।

अन्त में कवि संसार के विशाल वैभव की रिक्तता का अनुभव करता

हुआ "वेदना के इस मनोरम विपिन" में आकर सब भाँति सुख-सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार "पतन के नीले अधर पर भाग्य का निष्ठुर उपहास" दिखलाने के बाद कथा का अन्त हो जाता है।

यह रचना इस विचार का समर्थन करती है कि समय की दृष्टि से अपना औचित्य खो चुकी मध्ययुगीन नैतिकता के आधार पर खड़े समाज में सच्चा प्रेम व मानव का सुख असंभव है। इसे पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी ने प्रेम-विषयक कविताओं के क्षेत्र में कितनी बड़ी वैचारिक क्रान्ति की थी। द्विवेदी-युग मे प्रेम, मिलन, विरह इत्यादि विषयों पर कुछ भी नहीं लिखा गया। यह वर्जित पदेश था। पन्त जी की इस रचना में पहली बार प्रेमी का अश्रु-गद्गद् कंठ फूट पडा।

पल्लव

सन् 1926 ई. में प्रकाशित "पल्लव" का स्थान पन्त जी की काव्य-साधना मे अत्यंत विशिष्ट है। इस कृति में पन्त जी की सन् 1918 ई. से लेकर सन् 1925 ई. तक की रचनायें संकलित हैं।

कई दृष्टियों से "पल्लव" का प्रकाशन एक युगांतरकारिणी घटना थी। इसमें संग्रहीत 32 कवितायें पन्त जी के कवि-व्यक्तित्व की पृथक् पहचान बनाने मे समर्थ हुई थीं और उनके प्रकाशन को हिन्दी में छायावादी काव्यवृत्ति का प्रस्थान-बिन्दु माना गया है।

"ग्रंथि" में जिस विरह की अभिव्यक्ति हुई थी "पल्लव" में वह और भी प्रोढ रूप में प्रकट हुआ है। इस संकलन की "उच्छ्वास" तथा "आँसू" शीर्षक रचनाओं में प्रेम-भावना की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। रीतिकालीन देहनिष्ठ प्रेम के स्थान पर इन कविताओं में नारी की दिव्यता से सिंचित सौन्दर्यानुभूति का चित्रण हमें देखने को मिलता है।

इसमें कुछ रचनायें भावावेग-प्रधान हैं जैसे "मोह", "विनय", "वसन्तश्री", "आकांक्षा", "याचना", "विश्वव्याप्ति", "सोने का गान", "विश्वछवि", "नारी रूप", "निर्झर-गान", "मुस्कान", "मधुकरी", "स्मृति" तथा "छायाकाल" आदि। कुछ रचनायें कल्पना-प्रधान हैं जैसे—"वीचिविलास", "विश्ववेणु", "नक्षत्र" तथा "स्याही की बूँद" आदि। "पल्लव" की शेष रचनायें वे हैं जिनमें कल्पना तथा भावों का संतुलन है जैसे—"मौन निमंत्रण", "बालापन", "छाया", "बादल", "अनङ्ग", "स्वप्न" आदि।

व्यंजना-सौन्दर्य से पूर्ण प्रकृति का सजीव, सुन्दर एवं रहस्यमय वर्णन इस संकलन की अधिकांश कविताओं की विशेषता है। "मौन निमंत्रण" कविता में पन्त जी ने प्रकृति के सारे खेलों को किसी अज्ञात, अस्पर्श्य, अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित किया है जो इन खेलों द्वारा मानव-शिशु का मन बहलाती है।

"परिवर्तन" इस काव्य-संग्रह की एक विशेष रचना है जो पन्त जी को प्रथम बार प्रौढ़ विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है। उसमें वह स्वर्णिम अतीत के विनाश तथा वर्तमान की पीड़ा पर पछताते एवं भावी निर्माण की चिन्ता करते दिखाई देते हैं।"[10] इस विचार-प्रधान रचना में उन्होंने व्यापक दृष्टि से सृष्टि की घटनाओं पर विचार किया है और अन्त में इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि संसार के परिवर्तन-विकास का चिरन्तन नियम ऊर्ध्वस्थ शक्ति द्वारा संचालित जीवन-विधान है। यह रचना उनकी मानसिक तथा साहित्यिक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ की परिचायक है।

"पल्लव" की भूमिका भी अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती है। अपने नवीनतापूर्ण रचना-प्रयासों की जो सैद्धान्तिक विवेचना पन्त जी ने "पल्लव" के 'प्रवेश' में की है उसने साहित्य-जगत् में एक तूफ़ान-सा उत्पन्न कर दिया था। खड़ी बोली की प्रकृति तथा उसके छन्दों की प्रवृत्ति का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उन्होंने कहीं-कहीं व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ीं।

कविता जीवन से विमुख नहीं रह सकती—इसी विचार से उक्त प्रस्तावना अनुप्राणित है। पन्त जी के विचारानुसार कविता को चाहिये कि यह एक नये युग का स्वर बन जाये, समाज की अग्रगामी शक्तियों के आदर्शों को वाणी दे, चारों ओर की सृष्टि का अर्थ भली-भाँति और अधिक गहराई के साथ समझ लेने में मनुष्य की सहायता करे तथा उसमें सौन्दर्य-भाव जाग्रत् कर दे।

मधुज्वाल

उमर ख़ैयाम की रूबाइयों का हिन्दी में रूपान्तर पन्त जी ने सन् 1929 ई. में उर्दू के प्रसिद्ध शायर स्वर्गीय असग़र साहब गोंडवी की सहायता से किया था। किन्तु अनुवाद पूरा होने के साथ ही बीमार पड़ जाने के कारण न केवल "मधुज्वाल" का प्रकाशन स्थगित हो गया वरन् इसकी पाण्डुलिपि भी खो गयी। पन्त जी के शुभचिन्तक रामचन्द्र टंडन जी ने बड़े प्रयास से इसे ढूँढ़ निकाला। पन्त जी ने इसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन तथा संशोधन करके सन् 1947 में इसे प्रकाशित कराया। उमर ख़ैयाम की रूबाइयों के अनुवाद में जो मांसल

सान्दर्य और प्रेम की तीव्रता मिलती है, उसे पन्त जी ने "मधुज्वाल" में अपनी ही कल्पना में लपेटकर सुन्दर प्रगीतात्मक रूप दे दिया है। उन्हें उमर की रूबाइयों में विचारों की प्रधानता तथा काव्यमय कल्पना का अभाव लगा ओर इस अभाव की पूर्ति के लिए ही उन्होंने "मधुज्वाल" को अपने कल्पना-सौन्दर्य से मण्डित कर अधिक सार्थक बना दिया है।

गुंजन

सन् 1932 ई. में प्रकाशित "गुंजन" पन्त जी की एक अन्य प्रौढ़ कृति है। इसमें उनकी सन् 1926 ई. से सन् 1932 ई. तक की कवितायें संग्रहीत हे। 'गुजन" से हम पन्त जी की रचनाओं में एक नया युगान्तर पाते हैं। इसमें कवि एक भावुक तरुण के रूप में नहीं, वरन् एक गम्भीर चिन्तक के रूप में दिखाइ पडता है। "मैं और मेरी रचना गुंजन" शीर्षक अपने लेख में पन्त जी ने लिखा है—"सन् 1925 से लेकर सन् 1930 तक, इन पाँच वर्षों में, मेरा काव्य, जो अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से वस्तुपरक से धीरे-धीरे भावपरक हो गया, वह शायद स्वाभाविक ही था। इन भावपरक प्रगीतों का सर्वप्रथम संग्रह "गुंजन" के नाम से सन् 1932 ई. में प्रकाशित हुआ। "पल्लव" कालीन कल्पना-कोमल तथा वस्तुमूलक कविताओं का "गुंजन" की रचनाओं में एकदम कायापलट देखकर मेरे पाठकों को कुछ समय तक आश्चर्य-चकित, विचारमग्न अथवा मोन रहना पड़ा। पर मैं, जो कि अपने मानसिक विकास के अन्तःसूत्र से भली-भाँति परिचित हूँ, अपने काव्य के इस दिशा-परिवर्तन को विस्मय की दृष्टि से नही देखता। आगे चलकर ऐसे और भी नये क्षितिज मेरे भीतर खुले हैं जिन्होंने मेरी काव्य-कल्पना को नवीन दिशाएँ प्रदान की हैं।"[11]

आगे भी उन्होंने कहा है—"मेरे जीवन-विकास में यह बड़ी अद्भुत बात हुई कि "पल्लव" काल के समाप्त होते-होते, जब "यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु" की धारणा के कारण मेरे भीतर जगज्जीवन के प्रति अत्यन्त विषाद तथा विरक्ति का दुःसह बोझ जमा हो गया था, तब जैसे उसी अवसाद के भार के तीक्ष्ण दबाव के कारण मेरे भीतर एक अज्ञात आनन्द-स्रोत फूट पड़ा, जिसने मेरा ध्यान 'यही तो है असार संसार' से हटाकर मन के भीतर प्रच्छन्न आनन्द-स्रोत की ओर आकर्षित कर दिया और इस अनुभूति ने जैसे "गुंजन" के "सा रे ग म" ही बदल दिये।"

"गुंजन" में कुल 45 कवितायें हैं। इन कविताओं की तीन कोटियाँ हे।

व्यंजना-सौन्दर्य से पूर्ण प्रकृति का सजीव, सुन्दर एवं रहस्यमय वर्णन इस संकलन की अधिकांश कविताओं की विशेषता है। "मौन निमंत्रण" कविता में पन्त जी ने प्रकृति के सारे खेलों को किसी अज्ञात, अस्पर्श्य, अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित किया है जो इन खेलों द्वारा मानव-शिशु का मन बहलाती है।

"परिवर्तन" इस काव्य-संग्रह की एक विशेष रचना है जो पन्त जी को प्रथम बार प्रौढ़ विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है। उसमें वह स्वर्णिम अतीत के विनाश तथा वर्तमान की पीड़ा पर पछताते एवं भावी निर्माण की चिन्ता करते दिखाई देते हैं।"[10] इस विचार-प्रधान रचना में उन्होंने व्यापक दृष्टि से सृष्टि की घटनाओं पर विचार किया है और अन्त में इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि संसार के परिवर्तन-विकास का चिरन्तन नियम ऊर्ध्वस्थ शक्ति द्वारा संचालित जीवन-विधान है। यह रचना उनकी मानसिक तथा साहित्यिक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ की परिचायक है।

"पल्लव" की भूमिका भी अपना स्वतंत्र महत्त्व रखती है। अपने नवीनतापूर्ण रचना-प्रयासों की जो सैद्धान्तिक विवेचना पन्त जी ने "पल्लव" के 'प्रवेश' में की है उसने साहित्य-जगत् में एक तूफ़ान-सा उत्पन्न कर दिया था। खड़ी बोली की प्रकृति तथा उसके छन्दों की प्रवृत्ति का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उन्होंने कहीं-कहीं व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ीं।

कविता जीवन से विमुख नहीं रह सकती—इसी विचार से उक्त प्रस्तावना अनुप्राणित है। पन्त जी के विचारानुसार कविता को चाहिये कि वह एक नये युग का स्वर बन जाये, समाज की अग्रगामी शक्तियों के आदर्शों को वाणी दे, चारों ओर की सृष्टि का अर्थ भली-भाँति और अधिक गहराई के साथ समझ लेने में मनुष्य की सहायता करे तथा उसमें सौन्दर्य-भाव जाग्रत् कर दे।

मधुज्वाल

उमर ख़ैयाम की रूबाइयों का हिन्दी में रूपान्तर पन्त जी ने सन् 1929 ई. में उर्दू के प्रसिद्ध शायर स्वर्गीय असग़र साहब गोंडवी की सहायता से किया था। किन्तु अनुवाद पूरा होने के साथ ही बीमार पड़ जाने के कारण न केवल "मधुज्वाल" का प्रकाशन स्थगित हो गया वरन् इसकी पाण्डुलिपि भी खो गयी। पन्त जी के शुभचिन्तक रामचन्द्र टंडन जी ने बड़े प्रयास से इसे ढूँढ़ निकाला। पन्त जी ने इसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन तथा संशोधन करके सन् 1947 में इसे प्रकाशित कराया। उमर ख़ैयाम की रूबाइयों के अनुवाद में जो मांसल

सान्दय आर प्रेम का तीव्रता मिलती ह, उसे पन्त जा ने मधुज्वाल म अपनी ही कल्पना में लपेटकर सुन्दर प्रगीतात्मक रूप दे दिया है। उन्हें उमर की रूबाइयों में विचारों की प्रधानता तथा काव्यमय कल्पना का अभाव लगा ओर इस अभाव की पूर्ति के लिए ही उन्होंने "मधुज्वाल" को अपने कल्पना-सौन्दर्य स मण्डित कर अधिक सार्थक बना दिया है।

गुंजन

सन् 1932 ई. में प्रकाशित "गुंजन" पन्त जी की एक अन्य प्रौढ़ कृति हे। इसमें उनकी सन् 1926 ई. से सन् 1932 ई. तक की कवितायें संग्रहीत हे। 'गुजन" से हम पन्त जी की रचनाओं में एक नया युगान्तर पाते हैं। इसमें कवि एक भावुक तरुण के रूप में नहीं, वरन् एक गम्भीर चिन्तक के रूप में दिखाइ पडता है। "मैं और मेरी रचना गुंजन" शीर्षक अपने लेख में पन्त जी ने लिखा हे—"सन् 1925 से लेकर सन् 1930 तक, इन पाँच वर्षों में, मेरा काव्य, जा अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से वस्तुपरक से धीरे-धीरे भावपरक हो गया, वह शायद स्वाभाविक ही था। इन भावपरक प्रगीतों का सर्वप्रथम संग्रह "गुंजन" के नाम से सन् 1932 ई. में प्रकाशित हुआ। "पल्लव" कालीन कल्पना-कोमल तथा वस्तुमूलक कविताओं का "गुंजन" की रचनाओं में एकदम कायापलट देखकर मेरे पाठकों को कुछ समय तक आश्चर्य-चकित, विचारमग्न अथवा मोन रहना पड़ा। पर मैं, जो कि अपने मानसिक विकास के अन्तःसूत्र से भली-भाँति परिचित हूँ, अपने काव्य के इस दिशा-परिवर्तन को विस्मय की दृष्टि से नहीं देखता। आगे चलकर ऐसे और भी नये क्षितिज मेरे भीतर खुले हैं जिन्होंने मेरी काव्य-कल्पना को नवीन दिशाएँ प्रदान की हैं।"[11]

आगे भी उन्होंने कहा है—"मेरे जीवन-विकास में यह बड़ी अद्भुत बात हुई कि "पल्लव" काल के समाप्त होते-होते, जब "यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु" की धारणा के कारण मेरे भीतर जगज्जीवन के प्रति अत्यन्त विषाद तथा विरक्ति का दुःसह बोझ जमा हो गया था, तब जैसे उसी अवसाद के भार के तीक्ष्ण दबाव के कारण मेरे भीतर एक अज्ञात आनन्द-स्रोत फूट पड़ा, जिसने मेरा ध्यान 'यही तो है असार संसार' से हटाकर मन के भीतर प्रच्छन्न आनन्द-स्रोत की ओर आकर्षित कर दिया और इस अनुभूति ने जैसे "गुंजन" के "सा रे ग म" ही बदल दिये।"

"गुंजन" में कुल 45 कवितायें हैं। इन कविताओं की तीन कोटियाँ हे।

प्रथम कोटि की लगभग पन्द्रह कविताओं में दुःख-सुख-समन्वय या मानव-महत्त्व की स्वीकृति है। इनमें से "तप रे मधुर-मधुर मन" महत्त्वपूर्ण कविता है। कवि की विचारणा है कि कवि का मन तपकर जब कोमल बनेगा तभी वह जगत् को अपनी संवेदनाएँ दे सकेगा और जीवन की पूर्णतम मूर्ति गढ़कर संसार में अपनापन स्थापित कर सकेगा। कुछ कवितायें जीवन सम्बन्धी हैं, जिनमें विस्मय-भावना, फिर मनन और ज्ञान का विकास, सुख-दुःख का परिज्ञान और अन्त में जीवन के प्रति आकर्षण तथा तज्जन्य शान्ति मिलती है।

दूसरी कोटि की कविताओं में प्रणयगीत हैं। ये प्रणयगीत वासनामय नही, सौन्दर्यमय हैं। पन्त जी का प्रेम स्थूल एवं शारीरिक सौन्दर्य को गौण बनाता हुआ मानसिक और आत्मिक स्तर पर गहन हो जाता है। नारी के प्रति यह वह प्रेम है जो उसके (नारी के) व्यक्तित्व, शील, तथा मनोभावों के प्रति आदर से उत्पन्न होता है। "भावी पत्नी के प्रति", "कब से विलोकती तुमको", "तुम्हारी आँखों का आकाश", "नवल मेरे जीवन की डाल", "आज रहने दो यह गृह काज", "नील कमल सी हैं वे आँखें" आदि कविताएँ इसी कोटि मे आती हैं।

प्रकृति-सौन्दर्य की कविताओं का संख्या की दृष्टि से "गुंजन" में तीसरा स्थान है। "नौका-विहार", "चाँदनी", तथा "एक तारा" प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से उल्लेखनीय कवितायें हैं।

"गुंजन" में शेष स्फुट कवितायें हैं। उनमें "लाई हूँ फूलों का हास", "नीरव तार हृदय में", "अप्सरा", "विहग के प्रति" आदि रचनाएँ हैं जिनम "अप्सरा" का विशिष्ट स्थान है।

"गुंजन" के अनेक प्रगीत पन्त जी की आत्म-साधना के प्रगीत हैं जिनमे आत्म-त्याग एवं विश्व-प्रेम की गुंजार है। वैयक्तिक और वैश्व आनन्द अभिन्न है, इसीलिए तो उन्होंने अनिर्वचनीय तथा ज्योतिर्मय आनन्द-घन से जगत्-कल्याण के लिये "जग के उर्वर आँगन" में बरसने की तन्मय प्रार्थना की है, जिसकी गहनता में पन्त जी के हृदय की सच्ची पुकार छिपी हुई है।

अन्त में सर्वांशेन विचार करने पर हमें "गुंजन" में कवि का दिशान्तर-प्रयास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस संकलन की रचनाओं में पन्त जी ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें सुख-दुःख, औदात्य एवं आनन्द, भूत-वर्तमान तथा भविष्य, अधिभौतिकता एवं आध्यात्मिकता की धारायें मिलकर बहती रहें; तभी आदर्श समाज-व्यवस्था का उदय हो सकता है; विषमता नष्ट हो सकती है।

ज्योत्स्ना

इस नाट्य-कृति का रचनाकाल सन् 1932 ई. है। यह सन् 1934 ई. मे प्रकाशित हुई। काव्य-रूप की दृष्टि से "ज्योत्स्ना" एक नाटिका है, किन्तु इसमे नाटककार पन्त के कम, कवि पन्त के ही दर्शन अधिक होते हैं। इस भाव-नाटिका मे अमूर्त भावों एवम् विचारों को मानवीय रूपों में प्रस्तुत किया गया है। पन्त जी ने इस रूपकात्मक नाटिका में आदर्श समाज-व्यवस्था, ऊर्ध्व नैतिक चेतना तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपनी धारणा को रूपायित किया हे। इस नाट्य-कृति की पात्री सुरभि के ये शब्द कि—"संसार से तामसी विनाश उठ जाये और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाये"[12] पन्त जी की अपनी ही आकांक्षा को व्यक्त करते हैं। दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन बुद्धि द्वारा करता है, कवि उसी सत्य को अनुभूति से सींचकर सजीव कर देता है।

पन्त जी ने अपनी उस मनःस्थिति के बारे में बतलाया है, जिसने उन्हे "ज्योत्स्ना" का प्रणयन करने की प्रेरणा दी—"सन् 1925 ई. से लेकर 1927 तक अपने भाई देवीदत्त तथा पूरनचन्द्र जोशी के निकटतम साहचर्य के कारण मे राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विचारधाराओं के संपर्क में भी आ गया था और जोशी तथा भाई से मार्क्सवाद तथा गांधीवाद आदि के नैतिक-आर्थिक तथा लोकमंगल सम्बन्धी पक्षों के बारे में प्रायः तर्क, विचार-विनिमय तथा बहसें भी छिड जाती थीं। कालाकाँकर में गाँवों के दैन्य, अशिक्षा तथा अन्य जड़ रूढ़िगत जीवन-परिपाटी को देखकर मार्क्सवाद, गांधीवाद आदि की विचार-भाव-प्रणाली सक्रिय रूप से मन में उठने लगी और वर्तमान गाँवों की परिस्थितियों के भीतर से अपना समाधान तथा उत्तर माँगने लगी। अतः उच्च व्यक्तित्व-सम्बन्धी अपनी अन्तःसाधना के साथ ही मेरे मन में लोक-जीवन तथा जन-मंगल के लिए उपयोगी भावधारा का आकर्षण भी प्रतिदिन बढ़ने लगा। वर्तमान विश्व-परिस्थितियो के ज्ञान की पृष्ठभूमि में मैंने अपनी आदर्शवादी-विचारधारा तथा चिंतन को युग-जीवन के यथार्थ में मूर्त कर "ज्योत्स्ना" के रूपक को जन्म दिया था, जिसमें विश्व-जीवन को एक अधिक उन्नत, समन्वित तथा संयोजित धरातल पर अकित किया गया है। आदर्श सामाजिक जीवन की ओर ध्यान दिलाने के अतिरिक्त उसमें एक सृजनशील आत्मिक उल्लास की भी व्याप्ति मिलती हे।[13]

"ज्योत्स्ना", जो पन्त जी के भावी विचार-दर्शन की भूमिका है, पन्त जी के काव्य, चिंतन तथा जीवन का एक महत्त्वपूर्ण चरण एवं उपलब्धि है। पन्त जी

के स्वर्ण-काव्य का चेतनात्मक वैभव, भाव-धारा तथा पृष्ठ भूमि मुख्यतः ज्योत्स्ना ही में मिलती है। पन्त जी के ही शब्दों में—"मेरे काव्य-दर्शन की कुंजी निश्चय ही "ज्योत्स्ना" है।"[14]

इस नाटिका की कथावस्तु इस प्रकार है—

प्रथम अंक के आरम्भ में संध्या तथा छाया नामक दो सुन्दरियों के सम्भाषण से हमें पता चलता है कि धरती के जन-जीवन की अपूर्णता से चिंतित तथा दुःखित इन्दु अपनी चिर-सुन्दर पत्नी ज्योत्स्ना को आदेश देता है कि वह धरती पर जाये और वहाँ अक्षय सुख, सौन्दर्य एवं स्नेह के सुहावने साम्राज्य की स्थापना कर दे।

दूसरे अंक में तरुण-सुन्दर रजनीनाथ (इन्दु) अपनी पत्नी ज्योत्स्ना से वार्तालाप करता दिखाई देता है। धरती पर नये जीवन की सृष्टि करने के विषय में अपने पति का आदेश सुनकर ज्योत्स्ना असमंजस में पड़ती है—धरती का जीवन तो इतना अपूर्ण है। क्या केवल प्रेम तथा सौन्दर्य से अशिव पर विजय पाने में उसकी शक्तियाँ पर्याप्त सिद्ध होंगी? इन्दु के काफ़ी समझाने पर वह आश्वस्त हो जाती है।

तीसरे अंक में ज्योत्स्ना समीर तथा सौरभ को अपने साथ लेकर धरती की ओर प्रस्थान करती है। अंक के अन्त में निद्रा का आगमन होता है।

चौथे अंक का दृश्य इस प्रकार है—रात्रिकाल में वन में वृक्षों के तल में ऊँघती हुई छाया अपनी निद्रा को भंग करने वाले शरारती उल्लू को उसके हथकंडों, चंचल स्वभाव तथा रात्रिकालीन वन के शान्तिभंग के लिए भला-बुरा कहती है।

पाँचवें अंक में उषा का प्रवेश होता है जिसे देखकर धरती पर सुखमय जीवन का निर्माण करने में प्रयत्नशील लोगों के मार्ग में रोड़े अटकाने वाला सब कुछ छायाओं के साथ भाग खड़ा होता है। अरुण के साथ उषा धरती पर उतर आती है। आनन्दोल्लास भरे गीतों एवं नृत्यों द्वारा लोग धरती पर उनके आगमन का स्वागत करते हैं। फूल खिल उठते हैं और उनकी ओर अपने सौरभपूर्ण मस्तक झुकाते हैं।

"ज्योत्स्ना" का लक्ष्य मानव-मन को जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर और रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है। बाह्य प्रकृति के अनाचारों से मुक्त होने के लिए हमें भूत-विज्ञान का विकास तथा आत्मिक उदासीनता का पराभव करने के लिए चिदानन्द की अवतारणा करनी है—अपनी

वैचारिक भूमि पर पन्त जी ने इसी स्वस्थ तथा संतुलित जीवन-दर्शन का संकन इस रचना के माध्यम से किया है।

पाँच कहानियाँ

पन्त जी की कहानियों के इस संकलन का रचनाकाल सन् 1935 ई. है। इसका प्रकाशन सन् 1936 ई. में हुआ। कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से "पांच कहानियाँ" अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें "ज्योत्स्ना" की विचारधारा ने अधिक विकसित रूप धारण कर लिया है। इन कहानियों के द्वारा पन्त जी ने समाज, परिवार, व्यक्ति तथा इहलोक एवम् परलोक सम्बन्धी एक स्वस्थ एव संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके विचारानुसार प्रत्येक के निजत्व एव व्यक्तित्व के विकास के लिए सुसंगठित विकसित सामाजिक विधान की आवश्यकता है। लेखक ने अपनी तीव्र अन्तर्दृष्टि द्वारा वस्तुस्थिति, पात्र तथा उनके गूढ़ चरित्रों के भीतर झाँकने का प्रयास किया है। पात्रों के मनोविश्लेषण के साथ-साथ कहीं-कहीं पन्त जी का अपना व्यक्तित्व भी मुखर हुआ है। इतने संक्षिप्त कलेवर में अत्यंत गम्भीर जीवन-समस्याओं का निदर्शन अपने आप में विशिष्ट है। समाज की प्रचलित कुप्रथाओं तथा जर्जर रूढ़ियों पर यत्र-तत्र उन्होंने मार्मिक आघात भी किये हैं।

सभी कहानियाँ उनकी लेखन-परम्परा तथा विकास-क्रम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं तथा सिद्ध करती हैं कि पन्त जी काव्य-सर्जना के अतिरिक्त वैचारिक गद्य की रचना में भी सक्षम हैं। यद्यपि ये कहानियाँ संख्या में पाँच ही हैं फिर भी इनसे पन्त जी की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

"पानवाला" पन्त जी की पाँचों कहानियों में पहली और सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य चार कहानियाँ क्रमशः "उस बार", "दम्पति", "बन्नू" तथा "अवगुण्ठन" हैं। इन कहानियों में उनके साहित्यिक उद्‌गार के माध्यम में ही परिवर्तन नहीं आया है वरन् जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बदला हुआ प्रतीत होता है। 'पानवाला' कहानी में पीताम्बर के जीवन के सूक्ष्म तथा सफल रेखा-चित्रण द्वारा पन्त जी ने सामाजिकता के बोध को जाग्रत् करना चाहा है। इस कहानी में नायक के वैयक्तिक जीवन के माध्यम से वर्तमान समाज के खोखले और निष्क्रिय स्वरूप का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पीताम्बर जैसे न जाने कितने व्यक्ति हैं जिनके सुयोग्य जीवन को आर्थिक और रागात्मक निर्धनता का कंकाल बनाने में समाज ने योग दिया है। साथ-ही-साथ लेखक ने गम्भीर वैचारिक तथा

के स्वर्ण-काव्य का चेतनात्मक वैभव, भाव-धारा तथा पृष्ठ भूमि मुख्यतः ज्योत्स्ना ही में मिलती है। पन्त जी के ही शब्दों में—"मेरे काव्य-दर्शन की कुंजी निश्चय ही "ज्योत्स्ना" है।"[14]

इस नाटिका की कथावस्तु इस प्रकार है—

प्रथम अंक के आरम्भ में संध्या तथा छाया नामक दो सुन्दरियों के सभाषण से हमें पता चलता है कि धरती के जन-जीवन की अपूर्णता से चिंतित तथा दुःखित इन्दु अपनी चिर-सुन्दर पत्नी ज्योत्स्ना को आदेश देता है कि वह धरती पर जाये और वहाँ अक्षय सुख, सौन्दर्य एवं स्नेह के सुहावने साम्राज्य की स्थापना कर दे।

दूसरे अंक में तरुण-सुन्दर रजनीनाथ (इन्दु) अपनी पत्नी ज्योत्स्ना से वार्तालाप करता दिखाई देता है। धरती पर नये जीवन की सृष्टि करने के विषय मे अपने पति का आदेश सुनकर ज्योत्स्ना असमंजस में पड़ती है—धरती का जीवन तो इतना अपूर्ण है। क्या केवल प्रेम तथा सौन्दर्य से अशिव पर विजय पाने में उसकी शक्तियाँ पर्याप्त सिद्ध होंगी? इन्दु के काफ़ी समझाने पर वह आश्वस्त हो जाती है।

तीसरे अंक में ज्योत्स्ना समीर तथा सौरभ को अपने साथ लेकर धरती की ओर प्रस्थान करती है। अंक के अन्त में निद्रा का आगमन होता है।

चौथे अंक का दृश्य इस प्रकार है—रात्रिकाल में वन में वृक्षों के तल मे ऊघती हुई छाया अपनी निद्रा को भंग करने वाले शरारती उल्लू को उसके हथकंडों, चंचल स्वभाव तथा रात्रिकालीन वन के शान्तिभंग के लिए भला-बुरा कहती है।

पाँचवें अंक में उषा का प्रवेश होता है जिसे देखकर धरती पर सुखमय जीवन का निर्माण करने में प्रयत्नशील लोगों के मार्ग में रोड़े अटकाने वाला सब कुछ छायाओं के साथ भाग खड़ा होता है। अरुण के साथ उषा धरती पर उतर आती है। आनन्दोल्लास भरे गीतों एवं नृत्यों द्वारा लोग धरती पर उनके आगमन का स्वागत करते हैं। फूल खिल उठते हैं और उनकी ओर अपने सौरभपूर्ण मस्तक झुकाते हैं।

"ज्योत्स्ना" का लक्ष्य मानव-मन को जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर और रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है। बाह्य प्रकृति के अनाचारों से मुक्त होने के लिए हमें भूत-विज्ञान का विकास तथा आत्मिक उदासीनता का पराभव करने के लिए चिदानन्द की अवतारणा करनी है—अपनी

वचारिक भूमि पर पन्त जी ने इसी स्वस्थ तथा सतुलित जीवन दर्शन का संकेत इस रचना के माध्यम से किया है।

पाँच कहानियाँ

पन्त जी की कहानियों के इस संकलन का रचनाकाल सन् 1935 ई. है। इसका प्रकाशन सन् 1936 ई. में हुआ। कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से "पाँच कहानियाँ" अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें "ज्योत्स्ना" की विचारधारा ने अधिक विकसित रूप धारण कर लिया है। इन कहानियों के द्वारा पन्त जी ने समाज, परिवार, व्यक्ति तथा इहलोक एवम् परलोक सम्बन्धी एक स्वस्थ एवं सतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके विचारानुसार प्रत्येक के निजत्व एवं व्यक्तित्व के विकास के लिए सुसंगठित विकसित सामाजिक विधान की आवश्यकता है। लेखक ने अपनी तीव्र अन्तर्दृष्टि द्वारा वस्तुस्थिति, पात्र तथा उनके गूढ़ चरित्रों के भीतर झाँकने का प्रयास किया है। पात्रों के मनोविश्लेषण के साथ-साथ कहीं-कहीं पन्त जी का अपना व्यक्तित्व भी मुखर हुआ है। इतने संक्षिप्त कलेवर में अत्यंत गम्भीर जीवन-समस्याओं का निदर्शन अपने आप में विशिष्ट है। समाज की प्रचलित कुप्रथाओं तथा जर्जर रूढ़ियों पर यत्र-तत्र उन्होंने मार्मिक आघात भी किये हैं।

सभी कहानियाँ उनकी लेखन-परम्परा तथा विकास-क्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण है तथा सिद्ध करती हैं कि पन्त जी काव्य-सर्जना के अतिरिक्त वैचारिक गद्य की रचना में भी सक्षम हैं। यद्यपि ये कहानियाँ संख्या में पाँच ही हैं फिर भी इनसे पन्त जी की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

"पानवाला" पन्त जी की पाँचों कहानियों में पहली और सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य चार कहानियाँ क्रमशः "उस बार", "दम्पति", "बन्नू" तथा "अवगुण्ठन" हैं। इन कहानियों में उनके साहित्यिक उद्‌गार के माध्यम में ही परिवर्तन नहीं आया है वरन् जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बदला हुआ प्रतीत होता है। 'पानवाला' कहानी में पीताम्बर के जीवन के सूक्ष्म तथा सफल रेखा-चित्रण द्वारा पन्त जी ने सामाजिकता के बोध को जाग्रत् करना चाहा है। इस कहानी में नायक के वैयक्तिक जीवन के माध्यम से वर्तमान समाज के खोखले और निष्क्रिय स्वरूप का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पीताम्बर जैसे न जाने कितने व्यक्ति हैं जिनके सुयोग्य जीवन को आर्थिक और रागात्मक निर्धनता का कंकाल बनाने में समाज ने योग दिया है। साथ-ही-साथ लेखक ने गम्भीर वैचारिक तथा

सद्धान्तिक मीमांसा करते हुए अपनी वैयक्तिक धारणाएँ भी प्रस्तुत की हैं।

संकलन की दूसरी कहानी "उस बार" है। इस कहानी का कथानक विद्यार्थियों की रंगरेलियों और परिहास से ओत-प्रोत है। सम्भ्रान्त कुल के कुछ छात्रों के चित्रण द्वारा लेखक ने यह निर्देशित किया है कि प्रेम की अनुभूति ओर अभिव्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति में अपने स्वभाव के अनुरूप ही होती है--कोई गहराइ तक जाता है तो कोई ऊपरी आकर्षण में खो जाता है। कुछ में भावात्मक स्थायित्व है तो कुछ में मात्र पानी के बुलबुलों-सी क्षणिकता।

तीसरी कहानी "दम्पति" में पार्वती तथा उसके पति के माध्यम से दाम्पत्य जीवन के बनते और बिगड़ते हुए कुछ दृश्य अंकित किये गये हैं। अति सामान्य गृहस्थी में स्त्रैण पति और पति-प्रेम में मुग्ध पत्नी के जीवन की सहजता, स्वाभाविकता किन्तु विचार-बुद्धि-शून्यता से परिचालित परस्पर घुलमिल जाने की अनुभूति का सरस चित्रण हुआ है। इस दम्पति के बीच कुछ अधिक बातें या रसालाप नहीं होता था। दोनों केवल एक दूसरे की उपस्थिति के प्यासे थे। भाषा की गूढ़ता तथा विचारों की अमूर्तता कहीं भी कथा-प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करती।

"बन्नू" इस संकलन की चौथी कहानी है। बन्नू, जिसे परिस्थिति ने बेरागी बना दिया है, केवल ज्ञान को विकसित करके जिसके रागतत्त्व को एक प्रकार से सुला दिया गया है, उसके चरित्र-चित्रण द्वारा लेखक ने ज्ञान और राग, त्याग और भोग एवं निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय पर प्रकाश डालकर सामाजिक दायित्व के महत्त्व को निरूपित किया है।

"अवगुंठन" शीर्षक कहानी साम्यवादी युवक सतीश के लौकिक व्यवहार-शून्य सैद्धान्तिक ज्ञान के अनुरूप आचरण, तथा रामकुमार के स्वामित्व के अहं से संचालित व्यक्तित्व के चित्रण द्वारा नारी के स्वतंत्र, आत्मप्रबुद्ध व्यक्तित्व को समझने की आवश्यकता पर बल देती है। कहानी का पात्र रामकुमार अपनी नवविवाहिता सुन्दरी पत्नी सरला के स्वतंत्र व्यक्तित्व को भूलकर उसे एक जड़ सम्पत्ति की भाँति अपने पूर्ण आधिपत्य का अंग बनाना चाहता है, किन्तु अन्ततः रामकुमार को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि नारी का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और संस्कार होता है। वह किसी की अहं की तुष्टि के लिए हाथ का खिलौना बनाकर नहीं रखी जा सकती। एक महान् सत्य को जीवन की यथार्थता के भीतर से व्यक्त कर एवं उसे सरल स्वाभाविक जीवन की कहानी बनाकर पन्त जी ने अपनी बहुमुखी क्षमता का परिचय दिया है।

युगान्त

इस काव्य-संकलन में सम्मिलित पन्त जी की 33 कवितायें उनकी काव्य-यात्रा मे आये एक विशिष्ट संक्रमण का संकेत देती हैं। इसमें केवल एक रचना को छोडकर, जो सन् 1930 ई. की है, अन्य रचनायें सन् 1934-35 ई. की हैं। सन् 1936 ई. में प्रकाशित "युगान्त" मानो पन्त जी के काव्यजीवन के छायावादी युग का अन्त और प्रगतिशील युग का प्रवेश-द्वार है। पन्त जी के ही शब्दों मे, "उस समय प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन भावात्मक दर्शन को जन्म दिया, उस सबकी प्रतिक्रिया-स्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति युग के विचार एवं भावना-जगत् को मैंने अपने बदलते हुए दृष्टिकोण के अनुरूप, तब "युगान्त" नामक अपने काव्य-संग्रह तथा पाँच कहानियों में अभिव्यक्ति दी हैं।"[15]

"युगान्त" एक चिन्तन-प्रधान काव्य-संकलन है, जिसमें प्रत्येक वस्तु, घटना या स्थिति को मानवता की कसौटी पर कसा गया है। इसकी चिन्तन-भूमि मानव-मंगल की भूमि है; लोकमंगल या विश्वकल्याण ही इसका साध्य और साधन है। "युगान्त"—काल में पन्त जी इस परिणाम पर पहुँच गये थे कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है।

"युगान्त" के प्रारम्भ में ही निष्प्राण प्राचीनता के प्रति पन्त जी का आक्रोश व्यक्त हो उठा है—"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र"..........। ये जीर्ण पत्र मध्ययुग के जीवन्मृत मन्तव्य हैं जो नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य, नये संगीत अथवा जीवन के नये बसन्त का स्थान घेरे हुए हैं। इनके झर जाने, पतझर हो जाने पर ही नयी सृष्टि पल्लवित, पुष्पित एवं उज्जीवित हो सकती हे। इसीलिए नवयुग के प्रतिनिधि गायक (गीत-खग कोकिल) को पन्त जी ने पुरातन के विध्वंस तथा नूतन के सृजन का सन्देश सुनाने के लिए प्रेरित करते हुए जहॉ यह कहा कि "गा कोकिल, बरसा पावक कण", वहीं दूसरी ओर उन्होंने मानव की दिव्यता का संकेत करते हुए लिखा है—

"मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन, वह न देह का नश्वर रज-कण।"[16]

मानव-व्यक्तित्व के विकास को पन्त जी ने प्रकृति के प्रतीकों के सहारे

चित्रित किया है। कहीं मिट्टी के गहरे अन्धकार को (मृण्मय आवरण को) बीज की तरह भेदकर मनुष्य जड़-निद्रा से जग रहा है, कहीं संकीर्णता के बन्धनों को तोड़कर अपनी मुक्ति का प्रयास कर रहा है और कहीं "खद्योत" की तरह अँधियारी घाटी में अपने हरित स्फुलिंग (अन्तर्ज्योति) को विकीर्ण कर रहा है आज का अन्धकार कल के प्रकाश में लुप्त हो जायेगा और इसी के साथ युग-युगों की पर्वताकार खड़ी बाधक शक्तियाँ (प्रभुता, अहम्मन्यता, सामाजिक जड़ता) भी डूब जायेंगी—यही कवि की भविष्यवाणी है।

कुछ रचनायें दार्शनिकता का पुट लिये हुए हैं, जैसे "छाया", "शुक्र" तथा 'सृष्टि' आदि।

"ताज" शीर्षक कविता में पन्त जी का दृष्टिकोण यथार्थवादी है। वह भावुकता, जो मानव के लिए शुभकर नहीं है, जो उसे नग्न, क्षुधातुर, वासविहीन के प्रति निर्मम तथा विमुख करती है, वह रिक्त, झूठी तथा लज्जास्पद है। सच्चा प्रेमी वही है जिसके प्रेम में लोक-मंगल निहित है।

"बापू" में भारतीय चेतना को कवि ने वाणी दी है। यह बापू की महामानवता के प्रति पन्त जी का प्रथम उद्गार है। पन्त जी का विश्वास है कि मानवता को मुक्ति और नवीन चेतना प्रदान करने के लिए बापू ने अवतार लिया है।

"युगान्त" में इन मानवतावादी रचनाओं के अतिरिक्त कुछ प्रकृति सम्बन्धी कवितायें भी हैं। इनमें "वसन्त", "तितली", "सन्ध्या", "छाया", "बाँसों का झुरमुट", "शुक्र", "खद्योत", "विद्रुम औ'—मरकत की छाया" प्रकृति-प्रेम सम्बन्धी सौन्दर्यप्रधान रचनायें हैं। किन्तु विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन कविताओं में प्रकृति पृष्ठभूमि में है और कवि का मुख्य ध्यान अब मानव पर केन्द्रित है।

"युगान्त" संग्रह में एक-दो आशी :वचन की कवितायें भी हैं जैसे—

"बाँधों, छवि के नव बन्धन बाँधो"[17]

'युगान्त' पन्त जी के काव्य-जीवन का मध्यबिन्दु है जिसके पहले उन्होंने प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम, उल्लास, आत्मा, जगत् आदि की पहेली को मानसिक स्तर पर सुलझाया है और बाद में उन्होंने धरती के यथार्थ जीवन को निरन्तर दृष्टि में रखते हुए उनके समतल तथा ऊर्ध्व विकास की प्रत्यक्ष साधना को महत्त्व दिया है।

युगवाणी

सन् 1939 ई. में प्रकाशित इस कृति का रचनाकाल सन् 1937-38 ई.

है। इस संग्रह की समस्त 82 कविताओं में जीवन की यथार्थ वास्तविकता की प्रखर चेतना अभिव्यक्त हुई है। पन्त जी ने अपनी पत्रिका "रूपाभ" के सम्पादकीय (सन् 1938 ई.) में घोषित किया था कि "इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती, उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"[18] आधुनिक विश्व के अनेक मतवादों में निहित जनहित के सुन्दर तथ्यों को उन्होंने चुन-चुनकर अपनी रचनाओं में वाणी दी और वह केवल कवि ही नहीं विचारक भी बन गये। उनके स्वर में युग की वाणी बोलने लगी। मानवता को बंधन-मुक्त कर आत्मा, मन, ज्ञान-विज्ञान तथा कला के समस्त साधन उसके लिए सुलभ करा देना ही उन्हें सबसे बड़ा पुरुषार्थ प्रतीत होने लगा।

इस संकलन की कविताओं में केवल भाषा और शैली की ही नवीनता नहीं है, कवि जीवन के नये तत्त्वों को भी खोलते हुए आगे बढ़ता है। रूमानी, छायावादी तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों के विपरीत "युगवाणी" जीवन को उसकी नग्नता, मलिनता, जर्जरता, विषमता, कटुता, दयनीयता आदि के यथार्थ सन्दर्भों मे चित्रित करती है—

"बने विश्व-जीवन की स्वर लिपि
जन मन मर्म कहानी
कवि की वाणी।"[19]

"युगवाणी" की अनेक रचनायें मार्क्सवाद तथा गांधीवाद के प्रति पन्त जी की निष्ठा को प्रकट करती हैं। उन्हें गांधीवाद का अन्तःविकास तथा समाजवाद का बाह्य विकास प्रिय लगा, किन्तु इन दोनों की एकांगिता उन्हें उचित नही लगी। अतः उन्होंने समाजवाद तथा गांधीवाद के समन्वय पर बल दिया है।

लोकहित या मानवहित को दृष्टि में रखकर लिखी गई "नवदृष्टि", "नवसंस्कृति", "युग-उपकरण", "भव-संस्कृति", "आवाहन", "पतझर" "जीवन-मांस", "प्रकाश", "जीवनस्पर्श", "मधु के स्वप्न", "मुझे स्वप्न दो", "मन के स्वप्न", "लेन-देन", "कृष्णघन" तथा "हरीतिमा" आदि कवितायें उल्लेखनीय हैं।

इस संग्रह में "गंगा की साँझ", "गंगा का प्रभात", "सुमन के प्रति", "आम्र विहग", "प्रकृति के प्रति", "पलाश", "पलाश के प्रति", "बदली का प्रभात", "दो मित्र", "झंझा में नीम", "ओस के प्रति", "ओस बिन्दु", "कृष्णघन", "जलद", "कुसुम के प्रति" आदि रचनायें प्रकृति से सम्बन्धित हैं।

"अनामिका के कवि के प्रति" तथा "आचार्य द्विवेदी के प्रति" लिखी कवितायें कविवर निराला और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति पन्त जी के प्रेम, उन्मुक्त सौहार्द तथा आदर की सूचक हैं। "बापू" तथा "मार्क्स के प्रति" रचनायें भी इसी कोटि में आती हैं।

ग्राम्या

सन् 1940 ई. में प्रकाशित पन्त जी की इस कृति का रचनाकाल सन् 1939-40 ई. है। यह कृति पूर्णतया ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित है। लोक-जीवन तथा सामाजिक चेतना की ओर आकर्षित उनका मन, जिसका प्रभाव "हार" उपन्यास से लेकर उनकी सभी कृतियों में मिलता है, गाँव वालों के कृमिवत् जीवन को देखकर केवल वितृष्णा से आँखें नहीं मूँद लेता—वह विह्वल होकर मानवता के सुप्त सामाजिक बोध को धिक्कारता है—

"इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज।"[20] "ग्राम्या" मे चित्रित जन-जीवन मर्मस्पर्शी, यथार्थवादी तथा जीवंत है। ग्रामीण जीवन का जितना सरल, सहज, स्पष्ट किन्तु सुगठित, व्यापक, अर्थगर्भित तथा हृदयस्पर्शी वर्णन इसमें हुआ है, वह बहुत कम ही देखने को मिलता है। "ग्राम्या" में कवि ने गाँव वालों की अच्छाइयों-बुराइयों दोनों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है तथा अंधकूप में पड़े जन-मानस को जगाने के लिए सामूहिक विकास तथा आन्तरिक विकास पर बल दिया है।

यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से "ग्रामयुवती", "ग्रामनारी", "कठपुतले", "गॉव के लड़के", "वह बुड्ढा", "ग्रामवधू", "वे आँखें", "मज़दूरनी के प्रति" आदि कवितायें उल्लेखनीय हैं। इनमें से "ग्रामनारी", "नारी", "ग्रामवधू", "मज़दूरनी के प्रति", "ग्रामयुवती", "स्त्री" तथा "आधुनिका" शीर्षक रचनाओ मे भारतीय ग्रामीण नारी का स्पष्ट चित्र उभर आया है।

"गंगा", "गायत्री", "रेखाचित्र", "गुलदावदी", "पतझर", "स्वीट पी के प्रति", "खिड़की से", "सन्ध्या के बाद", "सौन्दर्यकला" तथा "आँगन से" आदि शीर्षक रचनाओं में प्रकृति-चित्र सुन्दरता एवं सजीवता से चित्रित हुए हे। "भारत माता", "महात्मा जी के प्रति", "बापू", "अहिंसा", "राष्ट्रगान" आदि राष्ट्रीय भावनाओं की कवितायें हैं।

"ग्राम्या" का चिंतन-पक्ष स्पष्ट कर देता है कि वह ग्राम-जीवन से आत्मीयता तथा तादात्म्य की उपज है। इसकी भाषा, भाव और कला ग्राम-जीवन से तदाकारिता का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

"ग्राम्या" के प्रणयन के साथ ही अपनी आयु के उन्तालीस वर्ष-सोपान पार करते हुए पन्त जी ने अपने बाह्य तथा अन्तर्जीवन के संघर्ष से प्रेरित होकर अपने लिए एक प्रौढ़ विचार-दर्शन की पीठिका, जिसे फिर उन्होंने कभी नही छोडा और जो उनकी आगामी कृतियों का मेरुदण्ड रही है, तैयार कर ली तथा देश एवं विश्व के जीवन के भीतर से जन्म ले रहे अनेक दृष्टिकोणों के अन्तर्निहित सत्य को मानव-मंगलाशा के संदर्भ में आत्मसात् कर लिया।

स्वर्ण-किरण

सन् 1947 ई. में प्रकाशित इस कृति में पन्त जी की सन् 1946-47 ई मे लिखित छोटी-बड़ी कुल 38 कवितायें संकलित हैं। उनमें से कुछ का धरातल सामाजिक है, कुछ का आत्मगत और कुछ प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

पन्त जी ने इन रचनाओं में भी मात्र भौतिकता अथवा मात्र आध्यात्मिकता का अस्वीकारते हुए अन्तर्बाह्य के समन्वित-विकास के आधार पर जीवन के सुखद, सुन्दर तथा समग्र रूप की कल्पना की है।

इस संग्रह की छोटी रचनाओं को विषय की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं—

(1) चिन्तन-प्रधान : "चिन्तन", "जिज्ञासा", "व्यक्ति और विश्व", "छायापट", "कौवे के प्रति" और "नीलधार"

(2) राष्ट्रीय : "भारत"

(3) नैतिकता-प्रधान : "अवगुण्ठित", "संक्रमण" आदि

(4) प्रतीकात्मक : "भू-प्रेमी", "चन्द्रोदय", "द्वासुपर्णा", "हरीतिमा", "भू-लता"

(5) विनय सम्बन्धी : "महात्मा जी के प्रति", "नेहरू के प्रति", "भूषण", "आवाहन"

(6) रूप अंकन सम्बन्धी : "मत्स्य-गंधाएँ", "चिन्मयी", "स्वर्णिम पराग" ओर "नारीपथ"

लम्बी रचनाओं में "रजतातप", "हिमाद्रि", "इन्द्रधनुष", "अरुणज्वाल", "स्वर्णनिर्झर", "हिमाद्रि और समुद्र", "उषा", "प्रभात का चाँद", "श्री अरविन्द दर्शन", "स्वर्णोदय" तथा "अशोक वन" की गणना की जा सकती है। व्यापक पृष्ठभूमि पर आधारित होने एवं जीवन-यथार्थ की गंध से युक्त होने के कारण "स्वर्णोदय" तथा "अशोक वन" रचनाएँ श्रेष्ठता के उच्चतम शिखर को छूती

हैं। "स्वर्णोदय" में जीवन का, जीवन की सांसारिक यात्रा के आदि और अंत का सांगोपांग यथार्थमय दार्शनिक चित्रण है। "अशोक वन" में नवमानवतावाद की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है जिसमें अरविन्द-दर्शन के सभी मूलभूत तत्त्व समाहित हैं। इस रचना में पन्त जी ने अशोक वन में बंदिनी सीता के रूप में धरती के अज्ञान से निरुद्ध चेतना के विकास की व्याख्या की है। सीता धरती की अभीप्सा की, राम मनुष्य के अंतश्चैतन्य के तथा रावण मनुष्य के अहंकार का प्रतीक है। इस संग्रह की कई कविताओं में प्रकृति-चित्रण भी हुआ है किन्तु ये प्रकृति के स्वतंत्र चित्र नहीं हैं, केवल माध्यम बनकर आये हैं। "हिमाद्रि", "चन्द्रोदय" तथा "प्रभात का चाँद" इसी कोटि की कवितायें हैं।

स्वर्णधूलि

इस संकलन का प्रकाशन भी सन् 1947 में ही हुआ और इसमें सन् 1946-47 में रची हुई 80 कवितायें संग्रहीत हैं। इन रचनाओं में पन्त जी ने दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत किया है। इसमें कुछ "आर्षवाणी" शीर्षक के अन्तर्गत वैदिक ऋचाओं के पद्यानुवाद भी हैं। शेष रचनाओं को निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है :—

(1) सामाजिक

"पतिता", "परकीया", "ग्रामीण", "गणपति उत्सव", "स्वप्नदेही", "क्षणजीवी", "मनुष्यत्व", "साधना"।

(2) सैद्धान्तिक

"सामंजस्य", "आज़ाद", "लोकसत्य", "आशंका", "स्वप्ननिर्मल", "मृत्युंजय", "चौथी भूख", "अन्तिम पैग़म्बर", "छाया", "अन्तर्विकास", "मुक्तिबंधन"।

(3) आवाहन तथा अभिवादन सम्बन्धी

"युगागम", "जातिमन", "भावोन्मेष", "आह्वान", "नववधू के प्रति"।

(4) प्रकृति विषयक

"सावन", "तालकुल", "शरदचाँदनी"।

(5) प्रणय विषयक

"हृदय-तारुण्य", "प्रणय-कुंज", "मर्मकथा", "मर्मव्यथा-गोपन"।

(6) विनयपरक

"प्रणाम", "आर्त", "मातृचेतना", "मातृशक्ति", "लक्ष्मण"।

(7) मानसिक स्थिति का वर्णन

"छाया-दर्पण", "दिवास्वप्न", "प्राणाकांक्षा", "अन्तर्लोक", "स्वर्ण-अप्सरी"।

(8) भक्ति विषयक तथा आध्यात्मिक

"साधना", "आह्वान", "अन्तर्वाणी", "ज्योतिझर", "स्वर्गअप्सरी", "प्रीतिझर", "दिवास्वप्न", तथा "चेतन"।

कथोपकथन की शैली अथवा कथा-शैली को अपनाने वाली "स्वर्णधूलि" की कविताओं ने विचारों तथा भावनाओं को जीवन की तरलता दे दी है। "स्वप्न-निर्मल", "लोकसत्य", "सामंजस्य" में माधव और यादव के पारस्परिक सवाद द्वारा पन्त जी ने युग-विचारों का संघर्षण एवं भावसत्य (अध्यात्मवाद) ओर वस्तुसत्य (भूतवाद) की एकांगिता को समन्वित कर उन्हें व्यापक आत्म सत्यता प्रदान की है।

"स्वर्णधूलि" संग्रह के अन्त में "मानसी" शीर्षक रूपक है जिसके द्वारा स्त्री तथा पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध पर विचार किया गया है। यह सात दृश्यों का पद्यबद्ध एकांकी नाट्य रूपक है। इसमें चार प्रकार की नारियों का चित्रण किया गया है (1) रूढ़िवादिनी (2) गोपी (3) भिक्षुणी (4) आधुनिका। पन्त जी ने गोपी तथा भिक्षुणी को जीवन की दो सीमाओं का नाम दिया है। इन दोनो सीमाओं—भोग तथा त्याग—के बीच ही जीवन की स्थिति है। इसके सातवें दृश्य मे जीवन का आदर्श "श्रम" कहा गया है। वहाँ स्पष्ट किया गया है कि नर-नारी के प्रणय की सार्थकता इस बात में है कि वे स्वर्ग की चिन्ता छोड़कर धरती से अनुराग करना सीखें और श्रमिक बनकर पृथ्वी की अस्वच्छता को दूर करे। अन्त में मंगलकामना की गई है।

युगान्तर

यह सन् 1948 ई. में प्रकाशित काव्य-संग्रह है। इसमें उस समय की पन्त जी की 49 नवीन रचनाएँ हैं, जिनमें से अधिकांश महात्मा गांधी के निधन के बाद उनकी पुण्य स्मृति में लिखी गई थीं। गांधी जी के व्यक्तित्व के प्रति पन्त जी पूर्ण-रूप से नतमस्तक थे। इस संग्रह के प्रारम्भ में बापू को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके सिद्धान्तों को प्रकाशित किया गया है। गांधी जी तथा रवीन्द्र के साधन भिन्न थे किन्तु साध्य एक ही था। कवि ने इन दोनों महापुरुषों के

तथा "स्वर्णकिरण" में अन्तर्मुख (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है, किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं—"युगवाणी" तथा "ग्राम्या" में यदि ऊर्ध्व मानों का समतल धरातल पर समन्वय हुआ है तो "स्वर्णकिरण" और "स्वर्णधूलि" में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"[21]

रजत शिखर

सन् 1950 से सन् 1954 ई. के बीच तक आकाशवाणी की सेवा करते हुए पन्त जी ने जो काव्य-रूपक लिखे वे "रजतशिखर", "शिल्पी" तथा "सौवर्ण" नामक तीन संकलनों में संग्रहीत हैं। इन काव्य-रूपकों की संख्या कुल मिलाकर 12 है। कवि का अपना अन्तर्द्वन्द्व ही इन काव्य-रूपकों में प्रतिफलित हुआ है। ये समस्त काव्य-रूपक कविवर पन्त के जीवन-दर्शन के प्रतिबिम्ब हैं। इनमे भावी युग और मानव की आदर्श-प्रतिमा के अंकन का सफल प्रयास हुआ है।

पन्त जी के काव्य-रूपकों का पहला संकलन "रजतशिखर" है जो सन् 1952 ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें उनके "रजतशिखर", "फूलों का देश", "उत्तरशती", "शुभ्रपुरुष", "विद्युत्वसना" एवं "शरदचेतना" शीर्षक काव्य-रूपक सकलित हैं।

सन् 1951 ई. में लिखित "रजतशिखर" रूपक "रजतशिखर" संकलन का पहला रूपक है। इसमें जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों का द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।"[22]

"रजतशिखर" रूपक का सुखव्रत नामक एक पात्र, जो मनोवैज्ञानिक है, आध्यात्मिक अनुभूतियों को अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति मानता है। दूसरा पात्र अरविन्द-दर्शन का पोषक है। वह अपने तर्कों से मनोवैज्ञानिक को हरा देता है और मनोवैज्ञानिक पात्र उस दूसरे पात्र का अनुयायी बन जाता है। आज के युग मे नैतिक मूल्यों का अभाव दिखाई पड़ता है। रूपक का युवक पात्र इसकी ओर स्पष्ट संकेत करता है—

> "निश्चय ही अब नरक-द्वार खुलने वाला है।
> निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू-मन

अतिरिक्त भगवान् राम और योगी अरविन्द जैसे आध्यात्मिक नायकों का साक्ष्य अपनी जीवन-दृष्टि के समर्थन में प्रस्तुत किया है। अपनी इन रचनाओं के द्वारा भी पन्त जी ने मानवता के कल्याण की साधना को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

"युगान्तर" की कविताओं को निम्नांकित कोटियों में रखा जा सकता है–

(1) युगनायकों से सम्बन्धित

"श्रद्धा के फूल" (संग्रह के प्रारम्भिक 16 गीत जो बच्चन जी के साथ "खादी के फूल" शीर्षक से भी सन् 1948 में प्रकाशित हो चुके थे) "श्री अरविन्द के प्रति", "श्रद्धांजलि", "अवतरण", "कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति", "डॉ. अवनीन्द्र नाथ ठाकुर के प्रति", "मर्यादापुरुषोत्तम के प्रति"।

(2) आध्यात्मिक चेतना सम्बन्धी

"जिज्ञासा", "स्वप्नपूजन", "प्रकाशक्षण", "करुणाधारा", "शोभाजागरण", "मानसी", "स्वप्नगीत", "रँग दो", "त्रिवेणी"।

(3) राष्ट्रीय

"जय जनभारत", "जय आभा रत", "जय जनभारत, जन मन अभिमत", "स्वतंत्रता दिवस", "जयगान", "जागरणगीत", "उद्बोधन", "जागरण"।

(4) मानव-आदर्श तथा मानव-कल्याण से सम्बन्धित–

"वह मानव क्या !" "युगान्तर" के अन्तर्गत "त्रिवेणी" शीर्षक रूपक है जिसमें पन्त जी ने अपने युग सम्बन्धी विचारों को गंगा, यमुना तथा सरस्वती के लोकसुलभ प्रतीकों के माध्यम से सुगमतापूर्वक व्यक्त किया है। इस रूपक में जीवन के प्रति अत्यन्त स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है।

उत्तरा

पन्त जी की "उत्तरा" सन् 1949 ई. में प्रकाशित कृति है जिसमें उनकी 75 कवितायें संग्रहीत हैं। "उत्तरा" की अधिकांश रचनाओं का स्वर भाववादी है। इन रचनाओं में कवि ने अपनी चेतना तथा प्रेरणाओं को भावजगत् में उतारकर लोक से यह आकांक्षा की है कि वह अपने अन्तर्जगत् की ओर ध्यान दे; उस सौन्दर्य-राशि की ओर ध्यान दे जो नूतन दृष्टि के वातायनों से विश्व में बिखरी पड़ रही है।

अतिरिक्त भगवान् राम और योगी अरविन्द जैसे आध्यात्मिक नायकों का साक्ष्य अपनी जीवन-दृष्टि के समर्थन में प्रस्तुत किया है। अपनी इन रचनाओं के द्वारा भी पन्त जी ने मानवता के कल्याण की साधना को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

"युगान्तर" की कविताओं को निम्नांकित कोटियों में रखा जा सकता है–

(1) युगनायकों से सम्बन्धित

"श्रद्धा के फूल" (संग्रह के प्रारम्भिक 16 गीत जो बच्चन जी के साथ "खादी के फूल" शीर्षक से भी सन् 1948 में प्रकाशित हो चुके थे) "श्री अरविन्द के प्रति", "श्रद्धांजलि", "अवतरण", "कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति", "डॉ. अवनीन्द्र नाथ ठाकुर के प्रति", "मर्यादापुरुषोत्तम के प्रति"।

(2) आध्यात्मिक चेतना सम्बन्धी

"जिज्ञासा", "स्वप्नपूजन", "प्रकाशक्षण", "करुणाधारा", "शोभाजागरण", "मानसी", "स्वप्नगीत", "रँग दो", "त्रिवेणी"।

(3) राष्ट्रीय

"जय जनभारत", "जय आभा रत", "जय जनभारत, जन मन अभिमत", "स्वतंत्रता दिवस", "जयगान", "जागरणगीत", "उद्‌बोधन", "जागरण"।

(4) मानव-आदर्श तथा मानव-कल्याण से सम्बन्धित–

"वह मानव क्या !" "युगान्तर" के अन्तर्गत "त्रिवेणी" शीर्षक रूपक है जिसमें पन्त जी ने अपने युग सम्बन्धी विचारों को गंगा, यमुना तथा सरस्वती के लोकसुलभ प्रतीकों के माध्यम से सुगमतापूर्वक व्यक्त किया है। इस रूपक में जीवन के प्रति अत्यन्त स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है।

उत्तरा

पन्त जी की "उत्तरा" सन् 1949 ई. में प्रकाशित कृति है जिसमें उनकी 75 कवितायें संग्रहीत हैं। "उत्तरा" की अधिकांश रचनाओं का स्वर भाववादी है। इन रचनाओं में कवि ने अपनी चेतना तथा प्रेरणाओं को भावजगत् में उतारकर लोक से यह आकांक्षा की है कि वह अपने अन्तर्जगत् की ओर ध्यान दे; उस सौन्दर्य-राशि की ओर ध्यान दे जो नूतन दृष्टि के वातायनों से विश्व में बिखरी पड़ रही है।

"उत्तरा" की कविताओं को निम्नांकित कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) प्रार्थना सम्बन्धी

"जगत् घन", "युगदान", "जीवनदान", "नमन", "मानव-ईश्वर", "स्तवन", "प्रणति", "रंगमंगल"।

(2) आवाहन और प्रोत्साहन सम्बन्धी

"नव मानव", "परिचय", "जागरण-गान", "भू-वीणा", "उद्बोधन", "मौनसृजन", "आह्वान", "अवगाहन"।

(3) प्रतीकात्मक

"अन्तर्व्यथा", "उन्मेष", "आगमन", "प्रीति", "मेघों के पर्वत", "जीवन उत्सव", "भू-जीवन", "मौन गुंजन", "निर्माण-काल", "आवाहन", "ममता"।

(4) युग-विषाद सम्बन्धी

"युग-विषाद", "प्रगति", "उद्दीपन", "अभिलाष", "अनुभूति", "गीत-विहग", "वैदेही"।

(5) गूढ़ मानसिक स्थितियों का चित्रण

"मनोमय", "संवेदन", "स्वप्न-क्रान्त", "उन्मेष", "स्वर्णविभा", "भू-स्वर्ग", "शोभा-क्षण", "स्वप्न-वैभव", "छायासरिता", "आभास्पर्श", "प्रीति-समर्पण", "प्रतीक्षा", "अमर्त्य", "मुक्तिक्षण"।

(6) प्रकृति-चित्रण

"शरदागम", "शरद-चेतना", "चन्द्रमुखी", "शरद-श्री", "जीवन-प्रभात", "वन-श्री", "वसन्त"।

इस संग्रह की प्रस्तावना में पन्त जी ने अपने उत्तर-जीवन की प्रेरणाओं ओर विचारधाराओं का विश्लेषण किया है। इसमें उन्होंने उन आलोचकों के आक्षेपों का निराकरण भी किया है जो उनकी चेतनावादी रचनाओं से सन्तुष्ट नही थे। उन्होंने स्पष्ट किया है कि उनकी विचारधारा विकासशील है और उसकी अपनी गतिविधि है। उन्होंने लिखा है—"ज्योत्स्ना" में मैंने जीवन की जिन बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उसके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, "युगवाणी" तथा "ग्राम्या" में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है)

तथा "स्वर्णकिरण" में अन्तर्मुख (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है, किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं—"युगवाणी" तथा "ग्राम्या" में यदि ऊर्ध्व मानों का समतल धरातल पर समन्वय हुआ है तो "स्वर्णकिरण" और "स्वर्णधूलि" में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"[21]

रजत शिखर

सन् 1950 से सन् 1954 ई. के बीच तक आकाशवाणी की सेवा करते हुए पन्त जी ने जो काव्य-रूपक लिखे वे "रजतशिखर", "शिल्पी" तथा "सौवर्ण" नामक तीन संकलनों में संग्रहीत हैं। इन काव्य-रूपकों की संख्या कुल मिलाकर 12 है। कवि का अपना अन्तर्द्वन्द्व ही इन काव्य-रूपकों में प्रतिफलित हुआ है। ये समस्त काव्य-रूपक कविवर पन्त के जीवन-दर्शन के प्रतिबिम्ब हैं। इनमे भावी युग और मानव की आदर्श-प्रतिमा के अंकन का सफल प्रयास हुआ है।

पन्त जी के काव्य-रूपकों का पहला संकलन "रजतशिखर" है जो सन् 1952 ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें उनके "रजतशिखर", "फूलों का देश", "उत्तरशती", "शुभ्रपुरुष", "विद्युत्वसना" एवं "शरदचेतना" शीर्षक काव्य-रूपक सकलित हैं।

सन् 1951 ई. में लिखित "रजतशिखर" रूपक "रजतशिखर" संकलन का पहला रूपक है। इसमें जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों का द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।"[22]

"रजतशिखर" रूपक का सुखव्रत नामक एक पात्र, जो मनोवैज्ञानिक है, आध्यात्मिक अनुभूतियों को अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति मानता है। दूसरा पात्र अरविन्द-दर्शन का पोषक है। वह अपने तर्कों से मनोवैज्ञानिक को हरा देता है और मनोवैज्ञानिक पात्र उस दूसरे पात्र का अनुयायी बन जाता है। आज के युग मे नैतिक मूल्यों का अभाव दिखाई पड़ता है। रूपक का युवक पात्र इसकी ओर स्पष्ट संकेत करता है—

> "निश्चय ही अब नरक-द्वार खुलने वाला है।
> निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू-मन

भटक रहा है, नैतिक मूल्यो का प्रकाश खो।
अधः पतन में मुक्ति नहीं है। ऊर्ध्व गमन ही
मुक्तिद्वार है।...मोह मुक्त हो गया आज मन।"[23]

अन्त में कवि ने निष्कर्ष निकाला है कि निष्काम कर्म से ही मनः शान्ति उपलब्ध हो सकती है तथा नवजीवन का निर्माण उसी से सम्भव हो सकता है।

"रजतशिखर" में संकलित दूसरा काव्य-रूपक "फूलों का देश" है जिसका रचनाकाल सन् 1951 ई. है। इसमें पन्त जी ने इस युग के अध्यात्मवाद एव भौतिकवाद तथा आदर्शवाद एवं वस्तुवाद सम्बन्धी संघर्ष को अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है और विश्वजीवन मे बहिरंतर सन्तुलन तथा पूर्णता लाने के लिए दोनों की उपयोगिता दिखाई है।

इस रूपक के प्रमुख पात्र "कवि" के माध्यम से पन्त जी ने अपने ही विचारों को वाणी दी है। कवि इसमें जीवन के सत्य को अपनी दृष्टि से देखता हे तथा भावी जीवन के निर्माण में लगा हुआ दिखाई देता है। "वैज्ञानिक" कवि के इस काल्पनिक सत्य से लगाव को देखकर उसकी आलोचना करता है। कवि भौतिक इच्छा की निन्दा नहीं करता, वह सांस्कृतिक चेतना को उभार कर सद्भावना का वातावरण प्रस्तुत करना चाहता है किन्तु वैज्ञानिक मानव की रचनात्मक शक्ति में अटूट विश्वास रखता है।

सन् 1950 ई. में लिखित "उत्तरशती" नामक रूपक में जीवन के वर्तमान सघर्ष का बड़ा ही सजीव तथा काव्यमय वर्णन दिखाई पड़ता है। संभावित तीसरे विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में बड़े ही कारुणिक स्वर इसमें मिलते हैं जो हमें नैतिक जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। सदैव से ही पूर्ण शान्ति का आकांक्षी पन्त जी का हृदय इस रचना के माध्यम से पूर्ण शान्ति बनाये रखने की प्रेरणा देता है। अमरीका ने जो भी प्राप्त किया है उसका लेखा-जोखा लगाकर पन्त जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वहाँ विज्ञान ज्ञान से, बहिर्मुखी समृद्धि अन्तदर्शन से, भौतिकता आध्यात्मिकता से संतुलित नहीं हो सकी है।

इस रूपक के पूर्वार्द्ध में संघर्ष-संग्राम का संक्षिप्त निदर्शन तथा उत्तरार्द्ध में आशा-कल्याणप्रद क्रम-विकास की ओर संकेत किया गया है।

सन् 1950 ई. में लिखित "शुभ्र पुरुष" रूपक महात्मा गांधी जी के पवित्र व्यक्तित्व का शुभ प्रतीक है। इसमें पन्त जी ने जन-गण-मन-अधिनायक गाधी जी के राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति युग की विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की है। इसमें गांधी जी को युग-पुरुष, युग का महानतम

तथा "स्वर्णकिरण" में अन्तर्मुख (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है, किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं—"युगवाणी" तथा "ग्राम्या" में यदि ऊर्ध्व मानों का समतल धरातल पर समन्वय हुआ है तो "स्वर्णकिरण" और 'स्वर्णधूलि" में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"[21]

रजत शिखर

सन् 1950 से सन् 1954 ई. के बीच तक आकाशवाणी की सेवा करते हुए पन्त जी ने जो काव्य-रूपक लिखे वे "रजतशिखर", "शिल्पी" तथा "सौवर्ण" नामक तीन संकलनों में संग्रहीत हैं। इन काव्य-रूपकों की संख्या कुल मिलाकर 12 है। कवि का अपना अन्तर्द्वन्द्व ही इन काव्य-रूपकों में प्रतिफलित हुआ है। ये समस्त काव्य-रूपक कविवर पन्त के जीवन-दर्शन के प्रतिबिम्ब हैं। इनमे भावी युग और मानव की आदर्श-प्रतिमा के अंकन का सफल प्रयास हुआ है।

पन्त जी के काव्य-रूपकों का पहला संकलन "रजतशिखर" है जो सन् 1952 ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें उनके "रजतशिखर", "फूलों का देश", "उत्तरशती", "शुभ्रपुरुष", "विद्युत्वसना" एवं "शरदचेतना" शीर्षक काव्य-रूपक संकलित हैं।

सन् 1951 ई. में लिखित "रजतशिखर" रूपक "रजतशिखर" संकलन का पहला रूपक है। इसमें जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों का द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। मानव-मन के विकास की वर्तमान स्थिति में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।"[22]

"रजतशिखर" रूपक का सुखव्रत नामक एक पात्र, जो मनोवैज्ञानिक है, आध्यात्मिक अनुभूतियों को अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति मानता है। दूसरा पात्र अरविन्द-दर्शन का पोषक है। वह अपने तर्कों से मनोवैज्ञानिक को हरा देता है और मनोवैज्ञानिक पात्र उस दूसरे पात्र का अनुयायी बन जाता है। आज के युग मे नैतिक मूल्यों का अभाव दिखाई पड़ता है। रूपक का युवक पात्र इसकी ओर स्पष्ट संकेत करता है—

> "निश्चय ही अब नरक-द्वार खुलने वाला है।
> निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू-मन

भटक रहा है, नैतिक मूल्यो का प्रकाश खो।
अधः पतन में मुक्ति नहीं है। ऊर्ध्व गमन ही
मुक्तिद्वार है।...मोह मुक्त हो गया आज मन।"[23]

अन्त में कवि ने निष्कर्ष निकाला है कि निष्काम कर्म से ही मनः शान्ति उपलब्ध हो सकती है तथा नवजीवन का निर्माण उसी से सम्भव हो सकता है।

"रजतशिखर" में संकलित दूसरा काव्य-रूपक "फूलों का देश" है जिसका रचनाकाल सन् 1951 ई. है। इसमें पन्त जी ने इस युग के अध्यात्मवाद एव भौतिकवाद तथा आदर्शवाद एवं वस्तुवाद सम्बन्धी संघर्ष को अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है और विश्वजीवन मे बहिरंतर सन्तुलन तथा पूर्णता लाने के लिए दोनों की उपयोगिता दिखाई है।

इस रूपक के प्रमुख पात्र "कवि" के माध्यम से पन्त जी ने अपने ही विचारों को वाणी दी है। कवि इसमें जीवन के सत्य को अपनी दृष्टि से देखता हे तथा भावी जीवन के निर्माण में लगा हुआ दिखाई देता है। "वैज्ञानिक" कवि के इस काल्पनिक सत्य से लगाव को देखकर उसकी आलोचना करता है। कवि भौतिक इच्छा की निन्दा नहीं करता, वह सांस्कृतिक चेतना को उभार कर सद्भावना का वातावरण प्रस्तुत करना चाहता है किन्तु वैज्ञानिक मानव की रचनात्मक शक्ति में अटूट विश्वास रखता है।

सन् 1950 ई. में लिखित "उत्तरशती" नामक रूपक में जीवन के वर्तमान सघर्ष का बड़ा ही सजीव तथा काव्यमय वर्णन दिखाई पड़ता है। संभावित तीसरे विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में बड़े ही कारुणिक स्वर इसमें मिलते हैं जो हमें नैतिक जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। सदैव से ही पूर्ण शान्ति का आकांक्षी पन्त जी का हृदय इस रचना के माध्यम से पूर्ण शान्ति बनाये रखने की प्रेरणा देता है। अमरीका ने जो भी प्राप्त किया है उसका लेखा-जोखा लगाकर पन्त जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वहाँ विज्ञान ज्ञान से, बहिर्मुखी समृद्धि अन्तदर्शन से, भौतिकता आध्यात्मिकता से संतुलित नहीं हो सकी है।

इस रूपक के पूर्वार्द्ध में संघर्ष-संग्राम का संक्षिप्त निदर्शन तथा उत्तरार्द्ध मे आशा-कल्याणप्रद क्रम-विकास की ओर संकेत किया गया है।

सन् 1950 ई. में लिखित "शुभ्र पुरुष" रूपक महात्मा गांधी जी के पवित्र व्यक्तित्व का शुभ प्रतीक है। इसमें पन्त जी ने जन-गण-मन-अधिनायक गांधी जी के राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति युग की विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की है। इसमें गांधी जी को युग-पुरुष, युग का महानतम

व्यक्ति तथा आदर्श मानव के रूप में अंकित करते हुए उनके आदर्शों म अटूट आस्था व्यक्त की गयी है।

गांधी जी के व्यक्तित्व में कवि की निष्ठा कोई नई चीज़ नहीं है। पहल की लिखी उनकी गांधी जी से सम्बन्धित कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की ओर पन्त जी का ध्यान तभी चला गया था जब अधिकांश लोगों के लिए वह राजनीतिक नेता तथा आज़ादी की लड़ाई के सेनानायक भर थे। भारतीय स्वाधीनता से दस वर्ष पूर्व ही "युगवाणी" में पन्त जी ने लिखा था—

"नवसंस्कृति के दूत! देवताओं का करने कार्य,
आत्मा के उद्धार के लिए, आये तुम अनिवार्य।"[24]

"विद्युत्वसना" स्वाधीनता की चेतना का रूपक है, जो स्वाधीनता-दिवस (15 अगस्त सन् 1950) के अवसर पर लिखा गया था। स्वाधीनता ध्येय नहीं, साधन मात्र है, ध्येय है आत्मनिर्भरता तथा एकता। इस युग में जन-स्वतन्त्रता की उपयोगिता लोक-एकता तथा विश्व-मानवता के निर्माण में ही चरितार्थ हो सकती है, यही इस रूपक का सन्देश है।

पन्त जी ने आज़ादी की देवी को "विद्युत्वसना" का प्रतीकात्मक नाम देकर तथा उसकी कल्पना एक अमूर्त चेतना के रूप में करके उसे अधिक व्यापक बना दिया है—

"यह विद्युत्वसना का रूपक है सांकेतिक,
नव युग का सन्देश भरा जिसमें ज्योतिर्मय।"[25]

प्रकृति-सौन्दर्य का कल्पना-प्रधान "शरदचेतना" शीर्षक रूपक सन् 1951 ई. में लिखा गया था। इसमें पन्त जी के चिर-परिचित विषय प्रकृति का अत्यन्त रमणीक वर्णन हुआ है। साथ ही इसमें अन्तःप्रकृति भी प्रकृति के माध्यम से स्पष्ट होती चली है। सदैव की तरह इसमें भी पन्त जी ने भौतिक चेतना की अपेक्षा आध्यात्मिक चेतना को महान् माना है—

"भौतिक ज्योति नहीं है केवल शरद चाँदनी,
आत्मलीन वह अमर चेतना स्वर्गलोक की
अतिक्रम कर सब दिशा काल तन मन के बन्धन
आत्मोल्लास प्रदीप्त हुई परिव्याप्त चतुर्दिक।"[26]

शिल्पी

"शिल्पी" नामक काव्य-रूपक-संग्रह भी सन् 1952 ई. में ही प्रकाशित हुआ। "शिल्पी", "ध्वंसशेष" तथा "अप्सरा" शीर्षक तीन काव्य-रूपक इस सग्रह में सम्मिलित हैं, जिनमें वर्तमान विश्व-संघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन-निर्माण की दिशा की ओर संकेत किया गया है।

"शिल्पी" नामक रूपक "शिल्पी" संकलन का पहला रूपक है। इसके पहले दृश्य में कलाकार के अन्तःकरण का चित्रांकन किया गया है। इसमें शिल्पी मुख्य पात्र है। वह एक मूर्ति-निर्माण में संलग्न है। किन्तु वह अपने कर्म मे असफलता प्राप्त करता है क्योंकि कला आस्था माँगती है। जब कलाकार मे आस्था उत्पन्न होती है, वह अपनी मूर्ति को सजीव देखने लगता है। शिल्पी आस्थाशील मन से गांधी, पटेल, गौरीशंकर, राधाकृष्ण आदि की मूर्तियों का निर्माण करता है।

दूसरे दृश्य में मार्क्सवादी विचारधारा वालों के द्वारा शिल्पी को पलायनवादी और स्वप्नों का चित्रांकन करने वाला मानकर उसकी भर्त्सना की जाती हे। किन्तु शिल्पी अपना मत प्रस्तुत करता है तथा कहता है—कला जनवादी है।

अन्त में (चौथे दृश्य में) मार्क्सवादी आश्वस्त हो जाते हैं और अरविन्दवादी कला को "जनमत का दर्पण" स्वीकार किया जाता है।

चार दृश्यों वाले इस रूपक में पन्त जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब युग की वस्तु-परिस्थिति बदल जाती है और पूर्वमान्य आदर्श निरर्थक हो जाते हे, तब कला को अभिनव आदर्शों की सृष्टि करनी होती है, नव-कल्पित को मानव-आत्मा के चिरन्तन सत्य के साथ संयोजित करना होता है।"[27]

इस रूपक में मूर्तियों के माध्यम से खड़ी बोली हिन्दी-कविता का सम्पूर्ण इतिहास आँखों के सामने मूर्त हो उठता है। पात्र शिल्पी की अंतिम मूर्ति पंत जी की ही अभिनव कविता की मूर्ति है।"[28]

"शिल्पी" संकलन का दूसरा रूपक 'ध्वंसशेष' तीसरे विश्वयुद्ध की आशका से लिखा गया है। सन् 1952 ई. के शीतयुद्ध—वातावरण में पन्त जी जेसे भावप्रवण कवि के हृदय का आशंकित होना स्वाभाविक ही था।

कवि के अनुसार इसमें नव-जीवन-निर्माण का स्वप्न अंकित किया गया है। कवि तथा द्रष्टा का स्वप्न ज्योतिषी की भविष्यवाणी नहीं कि उसके लिए इतिहास को प्रतीक्षा करनी पड़े कि देखें यह सत्य सिद्ध होता है कि नहीं। वस्तुतः स्वप्न तो एक लक्ष्य है जिसकी ओर चलने को इतिहास प्रेरित होता है।

यह लक्ष्य उदात्त तथा महान् है। कवि पूँजीवाद, वर्ग-वैषम्य, भौतिक विज्ञान, जीर्ण धार्मिक अन्धविश्वासी रूढ़ि-रीतियों और युग को खण्ड-खण्ड में विभाजित करने वाली राजनीति तथा अर्थनीति का ध्वंस करके उसके स्थान पर लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा, नवजीवन के आदर्शों की व्याख्या एवं विगत राजनीतिक और आर्थिक तन्त्रों पर मानव-तन्त्र की प्रतिष्ठा करके नवनिर्माण की कल्पना को पूर्ण करता है।

इस रूपक में यांत्रिक युग के महाविनाश का बड़ा ही विराट् तथा मार्मिक चित्र उभरा है। किन्तु कवि इस महानाश से विचलित नहीं होता क्योंकि उसका विश्वासी मन जानता है कि यह बाह्य क्रान्ति ही नहीं है, आन्तरिक क्रान्ति भी है। उन्होंने इसे आन्तरिक संघर्षण के विराट् विस्फोट का रामदूत माना है।"[29]

"शिल्पी" संकलन का तीसरा रूपक "अप्सरा" जैसा कि पन्त जी ने स्वय कहा है—"सौन्दर्य-चेतना का रूपक है"। यह रूपक चार दृश्यों में विभाजित है।

इसमें प्रथम दृश्य है "भावोद्वेलन"। मनःक्षितिज की द्वाभा-चेतना मे हृदय-सरोबर के तट पर कलाकार ध्यान-मौन बैठा है। सामने भावनाओं की स्वर्ण-शुभ्रश्रेणियाँ विचारों के रजत कुहासे को चीरकर निखर रही हैं। आकाश म प्रेरणाओं की लहरियों द्वारा मन्द-मधुर स्वप्नवाहक संगीत गुंजरित हो रहा है। कलाकार इस संगीत को अपने हृदय में उतारने के लिए आकुल है।

द्वितीय दृश्य "मानसिक संघर्ष" है। इसमें अवचेतन की विकृतियाँ इतनी सजग हो जाती हैं कि नव्य-सौन्दर्य-चेतना उतर ही नहीं पाती।

तृतीय दृश्य है "उन्मेष"। पौराणिक आख्यान में जैसे धर्म का ह्रास होन पर धरती ने गाय का रूप धारण करके ईश्वर के समक्ष अनुनय-विनय की थी कि वे अवतार लेकर उसका भार हटायें, उसी प्रकार की व्यंजना यहाँ धरा-चेतना ने की है।"[30] निम्नलिखित पंक्तियों के द्वारा कलाकार उसके दुःखी हृदय को आश्वस्त करता है—

> "जगत् भागवत-जीवन-भिन्न पदार्थ नहीं है
> ईश्वर का ही अंग जगत् आरोहण पथ पर,
> जिसका पूर्व प्रकारान्तर होना निश्चित है।"[31]

चौथे दृश्य "रूपान्तर" में कलाकार समझाता है कि सौन्दर्य-चेतना क्या है? अत्यंत संक्षिप्त तथा सारगर्भित शब्दों के द्वारा पन्त जी ने दर्शन का वह मूलमंत्र जो उनके उत्तरवर्ती काव्य में सदैव प्रतिध्वनित होता रहा है, जग अर्थात् बाह्य के साम्य तथा जीवन अर्थात् अंतर के ऐक्य में संयोजन, बहिरंतर-संयोजन

प्रस्तुत किया है—

> "क्या है यह सौन्दर्य-चेतना? जग जीवन की
> अन्तरतम स्वर संगति; जो अब अन्तर्नभ के
> शिखरों से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह-सी
> स्वप्नों से शोभा-उर्वर करने वसुधा को।"[32]

पन्त जी का तीसरा काव्यरूपक-संकलन "सौवर्ण" बाद में प्रकाशित हुआ, इस कारण उसकी चर्चा आगे की गयी है।

अतिमा

पन्त जी के काव्य-संकलन "अतिमा" का प्रकाशन सन् 1955 में हुआ। इसमें सन् 1954 और फ़रवरी सन् 1955 के बीच रचित 55 कवितायें संग्रहीत है। "अतिमा" शब्द का प्रयोग पन्त जी ने अतिक्रान्ति अथवा महिमा के अर्थ में किया है जिसे अंग्रेज़ी में ट्रांसेंडेंस कहते हैं : "वह मनःस्थिति, जो आज के भौतिक, मानसिक, सांस्कृतिक परिवेश का अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।"[33] "अतिमा" को पन्त जी ने उस ज्योति-रूप में चित्रित किया है जो अन्धकार को भेदती है और भू-जीवन को विकसित करती है।

विषय की दृष्टि से "अतिमा" की कविताओं को निम्नांकित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) प्रकृति सम्बन्धी

"जन्मदिवस", "गिरिप्रान्तर", "पतझर", "कूर्मांचल के प्रति", "सोन-जुही"

(2) सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों पर आधारित

"कौवे बत्तखें मेंढक", "प्रकाश पतिंगे छिपकलियाँ", "केंचुल", "स्वर्णमृग" आदि।

(3) विविध विषयों से सम्बन्धित

इसके अन्तर्गत प्रार्थनापरक तथा सिद्धान्त सम्बन्धी रचनाएँ भी सम्मिलित है। "नेहरू-युग", "अतिमा", "अभिवादन", "लोकगीत", "विज्ञापन", "मनसिज", "आः धरती कितना देती है" तथा "सन्देश" इस काव्य-संग्रह की उल्लेखनीय कवितायें हैं। "रश्मिचरण धर आओ", "आवाहन", "स्वप्न के पथ", "ध्यानभूमि", "प्रार्थना" आदि प्रार्थना-परक रचनाएँ हैं। "शान्ति और क्रान्ति" सिद्धान्त सम्बन्धी

रचना है। कुछ कविताओं में गूढ़ मानस-पट को खोला गया है—जैसे "नवजागरण", "जिज्ञासा", "बाहर-भीतर", "उषाएँ", "प्राणों की द्वाभा", "अन्तर्मानस", "प्राणों की सरसी", "दिव्यकरुणा" आदि।

"गीतों के दर्पण" शीर्षक गीत पन्त जी के आत्मविश्वास को प्रकट करता हुआ यह संकेत करता है कि कवि अब अपने निरीक्षण-परीक्षण तथा अनुभव के आधार पर अपनी मान्यताएँ सुनिश्चित कर चुका है और उसकी दृष्टि अपनी हो चुकी है।

सौवर्ण

पन्त जी के काव्य-रूपकों का तीसरा संग्रह "सौवर्ण" सन् 1956 ई. में प्रकाशित हुआ जिसमें उस समय 'सौवर्ण' एवं "स्वप्न और सत्य" नामक केवल दो रूपक सम्मिलित थे, किन्तु सन् 1963 में प्रकाशित होने वाले इसके अगले संस्करण में "दिग्विजय" शीर्षक तीसरा रूपक भी सम्मिलित हो गया।

इस संकलन के पहले रूपक का नाम "सौवर्ण" ही है जो सन् 1954 में लिखा गया। इस रूपक में पन्त जी ने मानवमूल्यों पर गम्भीरता से विचार किया है और इस दिशा में पूर्व और पश्चिम दोनों की उपलब्धियों तथा सीमाओं की चर्चा की है। उनके विचारानुसार भारतीय दर्शन निषेधों का प्रतीक है। भारतवासियों के अविकसित जीवन के लिए मध्ययुग के जीवन-वर्जन को दोषी ठहराते हुए उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक युग की अनेक विषमताओं की ओर भी संकेत किया है। राजनीतिक दृष्टि से विविध शिविरों में विभाजित विश्व की स्थिति भी पन्त जी की दृष्टि से ओझल न रह सकी। इस सबके लिए एक क्रान्तिद्रष्टा कवि को माध्यम बनाकर उन्होंने अपने जीवन-दर्शन का परिचय दिया है तथा एक नये व्यक्ति की कल्पना की है जो भविष्य में लोकजीवन का सच्चा प्रतिनिधि होगा। पन्त जी का "सौवर्ण" "सोने का आदमी" है। आदमी होकर भी वह देवता है—"मर्त्य अमर", वह ईश्वर ही है, वह ईश्वर ही है।" कवि के शब्दों में—"ज्योतितमस् से परे मैं (सौवर्ण) स्वयं सत्य हूँ।"[34] उसने जग-जीवन की सभी विषमताओं के मध्य समन्वय स्थापित कर लिया है। वह अधः ऊर्ध्व "व्यापक विश्व-संचरण" का प्रतिनिधि है। आत्मविश्वास भरे सौम्य स्वर में सौवर्ण कहता है—

> "शोषण, दुख, अन्याय, दैन्य का भूमि भार हर,
> शतियों के पतझारों में भरने आया मैं,

नव मधु की गुंजरित मधुरिमा ज्वाल पल्लवित।"[35]

अन्त में, पृथ्वी के गर्भ से प्रकट होने वाला वह तेजोमय स्वर्ण-पुरुष पृथ्वी मे ही समा जाता है—भावी मानवता को अनुप्रेरित, अनुप्राणित, अनुमूर्तित करने के लिए। यहाँ श्री अरविन्द के महाप्रयाण तथा उसमें निहित महत् प्रयोजन की ओर संकेत भी है। मूल सिद्धान्त यही निकलता है कि आदर्श मानव, आदर्श समाज, आदर्श संसार सर्वगत समन्वय पर ही आधारित किया जा सकता है।

"सौवर्ण" संग्रह का दूसरा रूपक "स्वप्न और सत्य" है। इसमें यह समस्या प्रस्तुत की गयी है कि गत युग के अति आध्यात्मिक तथा वर्तमान युग के अति-भौतिक आदर्शों तथा सत्य, यथार्थ एवं वास्तविकता के बीच जो विरोधाभास अथवा संघर्ष चल रहा है उसमें किस प्रकार तालमेल बिठाया जाये। पन्त जी के मतानुसार यह कठिन, किन्तु आवश्यक, कार्य आज के कलाकार को करना ह। "रजतशिखर" में यह कार्य युवक साधक कवि के ऊपर, "शिल्पी" में मूर्तिकार के ऊपर तथा इस रूपक में "चित्रकार" के ऊपर डाला गया है।

"स्वप्न और सत्य" में तीन दृश्य हैं। एक दृश्य जागरण का है तथा शेष दो स्वप्नावस्था के हैं। प्रारम्भ में कलाकार अपने भावलोक में लीन रहता हे। उसके दो मित्र हैं जिनमें एक समष्टिवादी तथा दूसरा अन्तश्चेतनावादी है। कला के उद्देश्य को लेकर दोनों में वाद-विवाद होता है। दोनों के चले जाने पर भाव मे तिरता हुआ कलाकार स्वप्न-स्थिति में ही अनेक महापुरुषों से सान्निध्य प्राप्त करता है तथा स्वर्गलोक के अनेकशः सूक्ष्म स्तरों का बोध प्राप्त करता है। साथ ही वह जीवन की समस्त कुत्सा, विडम्बना, घृणा, अमानुषिकता और दूषित वातावरण का साक्षात्कार भी प्राप्त करता है। ऐसी ही स्थिति में वह सो जाता है ओर उसके अन्तर्मन में सूक्ष्म जगत् जागने लगता है। इस प्रकार कहा जा सकता हे कि कवि ने चेतना के संचरण द्वारा अन्तर्बाह्य के समन्वय से आदर्श-जीवन के अरुणोदय की कल्पना की है—

> "हँसता नव-जीवन अरुणोदय,
> तम प्रकाश में होता तन्मय,
> सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्नस्मित
> उठता स्वर्णिम ज्योति ज्वार है।"[36]

आशा एवं उल्लासप्रद वादित्र गीत के साथ यवनिका-पतन होता है।

"सौवर्ण" के परवर्ती संस्करण में सम्मिलित तीसरे रूपक "दिग्विजय" का रचनाकाल सन् 1963 ई. है। इस रूपक में जीवन-सत्य की बहिरन्तर विजय

रचना है। कुछ कविताओं में गूढ़ मानस-पट को खोला गया है—जैसे "नवजागरण", "जिज्ञासा", "बाहर-भीतर", "उषाएँ", "प्राणों की द्वाभा", "अन्तर्मानस", "प्राणों की सरसी", "दिव्यकरुणा" आदि।

"गीतों के दर्पण" शीर्षक गीत पन्त जी के आत्मविश्वास को प्रकट करता हुआ यह संकेत करता है कि कवि अब अपने निरीक्षण-परीक्षण तथा अनुभव के आधार पर अपनी मान्यताएँ सुनिश्चित कर चुका है और उसकी दृष्टि अपनी हो चुकी है।

सौवर्ण

पन्त जी के काव्य-रूपकों का तीसरा संग्रह "सौवर्ण" सन् 1956 ई. मे प्रकाशित हुआ जिसमें उस समय 'सौवर्ण' एवं "स्वप्न और सत्य" नामक केवल दो रूपक सम्मिलित थे, किन्तु सन् 1963 में प्रकाशित होने वाले इसके अगले सस्करण में "दिग्विजय" शीर्षक तीसरा रूपक भी सम्मिलित हो गया।

इस संकलन के पहले रूपक का नाम "सौवर्ण" ही है जो सन् 1954 मे लिखा गया। इस रूपक में पन्त जी ने मानवमूल्यों पर गम्भीरता से विचार किया हे और इस दिशा में पूर्व और पश्चिम दोनों की उपलब्धियों तथा सीमाओं की चर्चा की है। उनके विचारानुसार भारतीय दर्शन निषेधों का प्रतीक है। भारतवासियो के अविकसित जीवन के लिए मध्ययुग के जीवन-वर्जन को दोषी ठहराते हुए उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक युग की अनेक विषमताओं की ओर भी संकेत किया हे। राजनीतिक दृष्टि से विविध शिविरों में विभाजित विश्व की स्थिति भी पन्त जी की दृष्टि से ओझल न रह सकी। इस सबके लिए एक क्रान्तिद्रष्टा कवि को माध्यम बनाकर उन्होंने अपने जीवन-दर्शन का परिचय दिया है तथा एक नये व्यक्ति की कल्पना की है जो भविष्य में लोकजीवन का सच्चा प्रतिनिधि होगा। पन्त जी का "सौवर्ण" "सोने का आदमी" है। आदमी होकर भी वह देवता हे—"मर्त्य अमर", वह ईश्वर ही है, वह ईश्वर ही है।" कवि के शब्दो मे—"ज्योतितमस् से परे मैं (सौवर्ण) स्वयं सत्य हूँ।"[34] उसने जग-जीवन की सभी विषमताओं के मध्य समन्वय स्थापित कर लिया है। वह अधः ऊर्ध्व "व्यापक विश्व-संचरण" का प्रतिनिधि है। आत्मविश्वास भरे सौम्य स्वर मे सौवर्ण कहता है—

"शोषण, दुख, अन्याय, दैन्य का भूमि भार हर,
शतियों के पतझारों में भरने आया मैं,

नव मधु की गुंजरित मधुरिमा ज्वाल पल्लवित।"[35]

अन्त में, पृथ्वी के गर्भ से प्रकट होने वाला वह तेजोमय स्वर्ण-पुरुष पृथ्वी मे ही समा जाता है—भावी मानवता को अनुप्रेरित, अनुप्राणित, अनुमूर्तित करने के लिए। यहाँ श्री अरविन्द के महाप्रयाण तथा उसमें निहित महत् प्रयोजन की ओर संकेत भी है। मूल सिद्धान्त यही निकलता है कि आदर्श मानव, आदर्श समाज, आदर्श संसार सर्वगत समन्वय पर ही आधारित किया जा सकता है।

"सौवर्ण" संग्रह का दूसरा रूपक "स्वप्न और सत्य" है। इसमें यह समस्या प्रस्तुत की गयी है कि गत युग के अति आध्यात्मिक तथा वर्तमान युग के अति-भौतिक आदर्शों तथा सत्य, यथार्थ एवं वास्तविकता के बीच जो विरोधाभास अथवा संघर्ष चल रहा है उसमें किस प्रकार तालमेल बिठाया जाये। पन्त जी के मतानुसार यह कठिन, किन्तु आवश्यक, कार्य आज के कलाकार को करना है। "रजतशिखर" में यह कार्य युवक साधक कवि के ऊपर, "शिल्पी" में मूर्तिकार के ऊपर तथा इस रूपक में "चित्रकार" के ऊपर डाला गया है।

"स्वप्न और सत्य" में तीन दृश्य हैं। एक दृश्य जागरण का है तथा शेष दो स्वप्नावस्था के हैं। प्रारम्भ में कलाकार अपने भावलोक में लीन रहता है। उसके दो मित्र हैं जिनमें एक समष्टिवादी तथा दूसरा अन्तश्चेतनावादी है। कला के उद्देश्य को लेकर दोनों में वाद-विवाद होता है। दोनों के चले जाने पर भाव मे तिरता हुआ कलाकार स्वप्न-स्थिति में ही अनेक महापुरुषों से सान्निध्य प्राप्त करता है तथा स्वर्गलोक के अनेकशः सूक्ष्म स्तरों का बोध प्राप्त करता है। साथ ही वह जीवन की समस्त कुत्सा, विडम्बना, घृणा, अमानुषिकता और दूषित वातावरण का साक्षात्कार भी प्राप्त करता है। ऐसी ही स्थिति में वह सो जाता है ओर उसके अन्तर्मन में सूक्ष्म जगत् जागने लगता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि ने चेतना के संचरण द्वारा अन्तर्बाह्य के समन्वय से आदर्श-जीवन के अरुणोदय की कल्पना की है—

"हँसता नव-जीवन अरुणोदय,
तम प्रकाश में होता तन्मय,
सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्नस्मित
उठता स्वर्णिम ज्योति ज्वार है।"[36]

आशा एवं उल्लासप्रद वादित्र गीत के साथ यवनिका-पतन होता है।

"सौवर्ण" के परवर्ती संस्करण में सम्मिलित तीसरे रूपक "दिग्विजय" का रचनाकाल सन् 1963 ई. है। इस रूपक में जीवन-सत्य की बहिरन्तर विजय

रचना है। कुछ कविताओं में गूढ़ मानस-पट को खोला गया है—जैसे "नवजागरण", "जिज्ञासा", "बाहर-भीतर", "उषाएँ", "प्राणों की द्वाभा", "अन्तर्मानस", "प्राणों की सरसी", "दिव्यकरुणा" आदि।

"गीतों के दर्पण" शीर्षक गीत पन्त जी के आत्मविश्वास को प्रकट करता हुआ यह संकेत करता है कि कवि अब अपने निरीक्षण-परीक्षण तथा अनुभव के आधार पर अपनी मान्यताएँ सुनिश्चित कर चुका है और उसकी दृष्टि अपनी हो चुकी है।

सौवर्ण

पन्त जी के काव्य-रूपकों का तीसरा संग्रह "सौवर्ण" सन् 1956 ई में प्रकाशित हुआ जिसमें उस समय 'सौवर्ण' एवं "स्वप्न और सत्य" नामक केवल दो रूपक सम्मिलित थे, किन्तु सन् 1963 में प्रकाशित होने वाले इसके अगले सस्करण में "दिग्विजय" शीर्षक तीसरा रूपक भी सम्मिलित हो गया।

इस संकलन के पहले रूपक का नाम "सौवर्ण" ही है जो सन् 1954 मे लिखा गया। इस रूपक में पन्त जी ने मानवमूल्यों पर गम्भीरता से विचार किया है और इस दिशा में पूर्व और पश्चिम दोनों की उपलब्धियों तथा सीमाओं की चर्चा की है। उनके विचारानुसार भारतीय दर्शन निषेधों का प्रतीक है। भारतवासियो के अविकसित जीवन के लिए मध्ययुग के जीवन-वर्जन को दोषी ठहराते हुए उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक युग की अनेक विषमताओं की ओर भी संकेत किया ह। राजनीतिक दृष्टि से विविध शिविरों में विभाजित विश्व की स्थिति भी पन्त जी की दृष्टि से ओझल न रह सकी। इस सबके लिए एक क्रान्तिद्रष्टा कवि का माध्यम बनाकर उन्होंने अपने जीवन-दर्शन का परिचय दिया है तथा एक नये व्यक्ति की कल्पना की है जो भविष्य में लोकजीवन का सच्चा प्रतिनिधि होगा। पन्त जी का "सौवर्ण" "सोने का आदमी" है। आदमी होकर भी वह देवता है—"मर्त्य अमर", वह ईश्वर ही है, वह ईश्वर ही है।" कवि के शब्दों मे—"ज्योतितिमस् से परे मैं (सौवर्ण) स्वयं सत्य हूँ।"[34] उसने जग-जीवन की सभी विषमताओं के मध्य समन्वय स्थापित कर लिया है। वह अधः ऊर्ध्व "व्यापक विश्व-संचरण" का प्रतिनिधि है। आत्मविश्वास भरे सौम्य स्वर म सौवर्ण कहता है—

> "शोषण, दुख, अन्याय, दैन्य का भूमि भार हर,
> शतियों के पतझारों में भरने आया मैं,

नव मधु की गुंजरित मधुरिमा ज्वाल पल्लवित।"[35]

अन्त में, पृथ्वी के गर्भ से प्रकट होने वाला वह तेजोमय स्वर्ण-पुरुष पृथ्वी मे ही समा जाता है—भावी मानवता को अनुप्रेरित, अनुप्राणित, अनुमूर्तित करने के लिए। यहाँ श्री अरविन्द के महाप्रयाण तथा उसमें निहित महत् प्रयोजन की ओर संकेत भी है। मूल सिद्धान्त यही निकलता है कि आदर्श मानव, आदर्श समाज, आदर्श संसार सर्वगत समन्वय पर ही आधारित किया जा सकता है।

"सौवर्ण" संग्रह का दूसरा रूपक "स्वप्न और सत्य" है। इसमें यह समस्या प्रस्तुत की गयी है कि गत युग के अति आध्यात्मिक तथा वर्तमान युग के अति-भौतिक आदर्शों तथा सत्य, यथार्थ एवं वास्तविकता के बीच जो विरोधाभास अथवा संघर्ष चल रहा है उसमें किस प्रकार तालमेल बिठाया जाये। पन्त जी के मतानुसार यह कठिन, किन्तु आवश्यक, कार्य आज के कलाकार को करना है। "रजतशिखर" में यह कार्य युवक साधक कवि के ऊपर, "शिल्पी" में मूर्तिकार के ऊपर तथा इस रूपक में "चित्रकार" के ऊपर डाला गया है।

"स्वप्न और सत्य" में तीन दृश्य हैं। एक दृश्य जागरण का है तथा शेष दो स्वप्नावस्था के हैं। प्रारम्भ में कलाकार अपने भावलोक में लीन रहता है। उसके दो मित्र हैं जिनमें एक समष्टिवादी तथा दूसरा अन्तश्चेतनावादी है। कला के उद्देश्य को लेकर दोनों में वाद-विवाद होता है। दोनों के चले जाने पर भाव मे तिरता हुआ कलाकार स्वप्न-स्थिति में ही अनेक महापुरुषों से सान्निध्य प्राप्त करता है तथा स्वर्गलोक के अनेकशः सूक्ष्म स्तरों का बोध प्राप्त करता है। साथ ही वह जीवन की समस्त कुत्सा, विडम्बना, घृणा, अमानुषिकता और दूषित वातावरण का साक्षात्कार भी प्राप्त करता है। ऐसी ही स्थिति में वह सो जाता है ओर उसके अन्तर्मन में सूक्ष्म जगत् जागने लगता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि ने चेतना के संचरण द्वारा अन्तर्बाह्य के समन्वय से आदर्श-जीवन के अरुणोदय की कल्पना की है—

"हँसता नव-जीवन अरुणोदय,
तम प्रकाश में होता तन्मय,
सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्नस्मित
उठता स्वर्णिम ज्योति ज्वार है।"[36]

आशा एवं उल्लासप्रद वादित्र गीत के साथ यवनिका-पतन होता है।

"सौवर्ण" के परवर्ती संस्करण में सम्मिलित तीसरे रूपक "दिग्विजय" का रचनाकाल सन् 1963 ई. है। इस रूपक में जीवन-सत्य की बहिरन्तर विजय

निरूपित हुई है। इसकी प्रेरणा पन्त जी को यूरी गागरिन की अन्तरिक्ष-यात्रा से मिली। प्रारम्भ में अन्तरिक्ष में अप्सराओं का गीत सुनाई पड़ता है। संगीत की ध्वनि बन्द होती है। मरुत् तथा अप्सरा का क्षितिज में वार्तालाप चलने लगता है। प्रश्न करने पर खेचर अपनी अक्षतस्थिति तथा यान की अनुकूलता की स्वीकृति देता है। वह अन्तरिक्ष की अनुभूति को अद्‌भुत कहकर व्यक्त करता है। पृथ्वी की पूर्ण परिक्रमा करके खेचर पुनः भूमि पर आकर नमन करना चाहता है, तब तक नील-ध्वनि होती है—"क्या पायेगी मनुज जाति इस समदिग् जय से?"[37] और आगे वह ध्वनि कहती है—"अभी काल पर जय पाना है धरा-पुत्र को।"[38] इस प्रकार नील-ध्वनि मानव को आत्म-उन्नयन की सीख देती है। नील-ध्वनि की चेतावनी पाकर खेचर का मन नीचे सशरीर उतरने लगता है। यहाँ भी पन्त जी की समन्वयवादी दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है—

> "भौतिक पथ से बढ़े साथ सामाजिक मानव
> आध्यात्मिक, सांस्कृतिक लक्ष्य को यही साध्य है।"
>
> × × ×
>
> विश्व मुक्ति ही व्यक्ति मुक्ति पथ
> मानवता की तुम्हें है शपथ,
>
> × × ×
>
> हो भौतिक सोपान स्वर्ग तक
> आत्मदीप्त अन्तर दृग अपलक
> भावों की शोभा में मुकुलित
> हो इन्द्रिय जीवन हे।"[39]

वाणी

"वाणी" का प्रकाशन-काल सन् 1957 है। इसमें "अतिमा" के बाद की काव्य-रचनाएँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह की रचनाओं का मूल स्वर सामाजिक है। कवि का हृदय-विस्तार यहाँ देखने को मिलता है, साथ ही विश्वमंगल की उत्कट अभिलाषा भी। कटु यथार्थ का बोध करके कवि ने कल्पित तथा कुत्सित भेद हरने के लिए सबको सम्बोधित किया है। "अभिषेक" शीर्षक रचना की ये पंक्तियाँ विश्व के वर्तमान यथार्थ की सटीक व्याख्या करती हैं—

> "धर्म, नीति, संस्कृतियों,
> खँडहर रूढ़ि रीतियों

जाति-पाँतियों, परम्पराओं के प्रेतों से
आत्मपराजित—
राग-द्वेष, भय-क्लेश, अनास्था से चिरकुंठित
वैमनस्य, वैषम्य, स्वार्थगत मतभेदों की
घृणित भित्तियों में सीमित, शतखंडित,
जो बहु आर्थिक तांत्रिक स्पर्धाओं से पीड़ित,
सैन्यशक्ति, शस्त्रों से सज्जित,
भौतिक मदिरा पी प्रमत्त, अणुमृत, जड़ चेतन!"[40]

"वाणी की रचनाओं को विषय की दृष्टि से अधोलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

प्रार्थनापरक—"प्रार्थना"
युगपुरुषों से सम्बन्धित—"बुद्ध के प्रति", "कवीन्द्र के प्रति"
राष्ट्रीय—"भारत माता"
प्रकृति सम्बन्धी—"फूलों का दर्शन"
असंगत यथार्थ के प्रति आक्रोश सूचक—'कौवे", "आत्मदान", "अग्निसंदेश", "अभिषेक"
सांस्कृतिक-जीवन निर्माण हेतु मार्गदर्शक—"नवोन्मेष", "वाणी", "सिन्धुपथ", "विकासक्रम", "आवाहन", "रूपान्तर", "जयदेहि", "रूपदेहि", "स्नेहस्पर्श", 'नवदृष्टि", "अग्नि की पुकार", "जीवन-गीत", "अन्तर्ध्वनि", "विकासक्षेत्र", "अर्थ-सृष्टि", "पुनर्मूल्यांकन", "उन्नयन"

स्वतंत्र रचनाएँ—"घोंघे शंख", "सम्बोध", "कृतज्ञता"
आत्मकेन्द्रित रचना—"आत्मिका"

"वाणी" की सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे लम्बी कविता "आत्मिका" है। आत्मकथात्मक शैली में लिखी हुई यह कविता जीवन-दर्शन को अपनाए हुए, अत्यंत स्निग्धता तथा सरलता के साथ प्रकृति के आँचल, पारिवारिक जीवन, युग-यथार्थ तथा व्यक्तिगत जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों के साथ वस्तुगत धरातल पर विचरी है तथा व्यापक जीवन-सत्य की ओर संकेत करती है।

कला और बूढ़ा चाँद

सन् 1959 ई. में प्रकाशित इस कृति में 90 काव्य-रचनाएँ संग्रहीत हैं। ये सभी रचनाएँ विविध विषयों से सम्बन्धित हैं और विविध अभिव्यक्ति-भंगिमा के

साथ सामने आई हैं। मूलतः 1947 के बाद प्रकाशित अन्य रचनाओं के समान यह कृति भी योगी अरविन्द के दर्शन से प्रभावित है। इस कृति की प्रथम दो रचनाएँ "बूढ़ा चाँद" तथा "कला" कवि के जीवन तथा साहित्य-साधना के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती हैं। "कला" को कवि ने मानवता के व्यापक प्रकाश की वाहिका माना है तथा उसमें सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय देखना चाहा है—

"शिव की कला ही,
सत्य और सुन्दर है।"[41]

"धेनुयें" शीर्षक रचना में पन्त जी ने मानव को सन्देश दिया है—

"तुम्हारा सत्य तुम्हारे भीतर है।"[42]

इस कृति में नवचेतना की कई स्थितियों का चित्रण हुआ है। इसमें पन्त जी ने यह भी कहा है कि वे अवचेतन के शिखर से बोल रहे हैं। चेतना के आनन्द-चित्रों की इसमें अतिशयता है। अपने नवीन जीवन-दर्शन के अनुकूल पन्त जी ने अंधकार और प्रकाश को एक ही कर दिया है। "देव" शीर्षक कविता में अतिमानव की कल्पना की गयी है। "सिंधु-मंथन" कविता में पन्त जी ने नूतन सृष्टि का आवाहन किया है तथा जीर्ण प्राचीन सभ्यता के विनाश की कामना की है। "एकाग्रता", "सान्निध्य", "अनुभूति", "जीवनबोध" "अवरोहण", "सूर्यमन", "शंख", "अंतःस्थित", "अनिर्वचनीय", "वरदान", "सदानीरा" आदि इसकी उल्लेखनीय कविताएँ हैं।

विचार-प्रतिपादन, भावोन्मेष, प्रेरणात्मक स्थिति—इन तीनों दृष्टियों से "कला और बूढ़ा चाँद" ऊर्ध्व-मूल्यों का काव्य है। जीवन-दर्शन की दृष्टि से "कला और बूढ़ा चाँद" में "ज्योत्स्ना" का ही नया रूप है। इसमें कवि की विचार-शृंखला ऊर्ध्व-चेतना के प्रकाशस्थल तक जाती है। यह काव्य पन्त जी के "द्रष्टा रूप" का द्योतक है।

भाव-पक्ष के साथ ही इसका कलापक्ष सशक्त एवम् समृद्ध है। यह पन्त जी का अत्यन्त साहसी काव्य-प्रयोग है तथा इसे सर्वोत्कृष्ट काव्य-कृति मानते हुए भारत सरकार ने पन्त जी को पाँच हज़ार रुपयों का पुरस्कार भी दिया था।

साठ वर्ष : एक रेखांकन

सन् 1960 में प्रकाशित इस आत्मसंस्मरणात्मक गद्य-कृति में पन्त जी ने अपनी जीवन-कथा को पूर्णतया निष्पक्ष होकर मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

इसमें उन्होंने अपने जीवन के जो संस्पर्श दिये हैं उनसे पन्त जी, उनके स्वभाव, उनके व्यक्तित्व, उनकी समसामयिक परिस्थितियों तथा उनकी कविताओं को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

पन्त जी की यह आत्मजीवनी न केवल उनके मानसिक तथा साहित्यिक विकास को अभिव्यक्ति देती है वरन् जीवनी-लेखन के क्षेत्र में एक सर्वथा नये मापदण्ड को स्थापित करती है।

प्रस्तुत कृति में आकाशवाणी से प्रसारित चार वार्ताएँ—"प्रकृति का अंचल", "विकाससूत्र और अन्तःसंघर्ष", "प्रभाव और बाह्य संघर्ष" तथा "नवमानवता का स्वप्न" संकलित हैं जो परस्पर एकसूत्रता तथा एकतंत्रता से सुनियोजित है। लेखक इनमें बीसवीं शताब्दी के साठ वर्षों के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालकर अपनी जीवन-घटनाओं एवं आन्तरिक विकास का चुपचाप वर्णन कर देता है और उस दृष्टि को सम्मुख रख देता है जो मानती है कि मानव-एकता का सत्य मानव-समानता के सत्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है तथा मानव-एकता का संचरण धरती पर अपनी परिपूर्णता में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा जब तक समानता का सामूहिक संचरण उसके लिए उपयुक्त परिस्थितियों का ढाँचा प्रस्तुत नहीं कर देगा। सामूहिक संचरण का अधिकाधिक सदुपयोग तभी हो सकेगा जब वह शक्ति-निर्मम तथा पद्भ्रान्त न बनकर संस्कृत तथा उदार बने और उचित मानवीय साधनों के प्रयोग द्वारा अपने को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करे।

शिल्प और दर्शन

सन् 1961 में प्रकाशित इस निबन्ध-संग्रह के पहले परिच्छेद में पन्त जी के कतिपय काव्य-संचयनों की प्रस्तावनाएँ—"प्रवेश", "पर्यालोचन", "प्रस्तावना", "परिदर्शन", "चरणचिह्न", "दृष्टिपात" तथा दूसरे परिच्छेद में आकाशवाणी स प्रसारित उनकी वार्ताएँ, अभिभाषण तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ निबन्ध संग्रहीत हैं। "मैं और मेरी कला", "कला का प्रयोजन", "यदि मैं कामायनी लिखता", "जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण", "भाषा और संस्कृति", "कला ओर सस्कृति", "मेरी कविता का पिछला दशक", "मेरी साहित्यिक मान्यताए", "प्रयोगशील काव्य", "साहित्यकार की आस्था", "हिन्दी का भावी रूप", "मेरी मनोकामना का भारत", "सन्तुलन का प्रश्न" तथा "दार्शनिक अरविन्द की साहित्यिक देन" आदि इसके दूसरे परिच्छेद की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं जिनसे हमे

ज्ञात होता है कि पन्त जी समसामयिक प्रवृत्तियों के प्रति पूर्ण प्रबुद्ध थे तथा उनके सम्बन्ध में उन्होंने सम्यक् दिशा-निर्देश भी किया। वे कट्टर आस्थाए लकर नहीं चले, अपितु उन्होंने सदैव समयानुकूल सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया, साथ-ही-साथ अपने स्वतंत्र विचार भी व्यक्त किये और जहाँ कहीं मतभेद रहा, वह भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया।

वस्तुतः 'शिल्प और दर्शन' पन्त जी के जीवन एवं व्यक्तित्व के साथ कई साहित्यिक तथ्यों, संस्कृति के विभिन्न पक्षों, उनकी साहित्यिक मान्यताओं एव विभिन्न वादों पर प्रकाश डालता है।

लोकायतन

"लोकायतन" पन्त-काव्य-परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस महाकाव्य के महत् कलेवर में कवि का समस्त जीवन-दर्शन समाहित है। इस महाकाव्य का रचनाकाल सन् 1959 ई. से सन् 1963 ई. तक है। किन्तु यह प्रकाशित सन् 1965 में हुआ। 452 पृष्ठों[13] के इस महाकार काव्य-कलेवर में अन्तर्बाह्य का सतुलित उन्नयन, योगिराज अरविन्द का अतिमानस-दर्शन, भारत की युगीनस्थिति, समकालीन संघर्ष, संकुल जीवन, समस्त आपाधापी, गांधीवाद का जागरण-स्वर तथा जीवन के शाश्वत मूल्यों का अवतरण एवं विश्व की आधुनिकतम वैज्ञानिक प्रगति को संयोजित करने का सफल प्रयास किया गया है।

"लोकायतन" में चित्रित विचार-सरणि अपने आप में नवीन नहीं है। "पल्लव" काल से ही जहाँ-तहाँ इस प्रकार के विचारों का प्रादुर्भाव कवि-काव्य में होने लगा था। इसके बाद "लोकायतन" तक की रचनाओं में जो विचारधाराएं ओर मान्यताएँ अभिव्यक्त हुई हैं, वे सब संयोजित रूप में "लोकायतन" मे समाविष्ट हैं। अतः "लोकायतन" की सबसे बड़ी विशिष्टता यही है कि इस काव्य-कृति में हम कवि की जीवन-साधना की समस्त अनुभूतियों और काव्य-साधना की विविध अभिव्यक्तियों को एक साथ संयोजित रूप में प्राप्त कर सकते है।

यह महाकाव्य गठन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है। पहले भाग का शीर्षक है—"बाह्य परिवेश", जिसके अन्तर्गत (1) "पूर्वस्मृति : आस्था" (2) "जीवन-द्वार" (3) संस्कृति-द्वार" (4) "मध्यबिन्दु : ज्ञान" शीर्षक चार अध्याय है। इस भाग में कवि भारत के निकट अतीत तथा वर्तमान की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अर्थोद्‌घाटन के लिए प्रयत्नशील है।

दूसरे भाग का शीर्षक है—"अन्तश्चैतन्य", जिसके अन्तर्गत (1) "कला-द्वार"

(2) "ज्योतिद्वार" (3) उत्तरस्वप्नः प्रीति" शीर्षक तीन अध्याय हैं। इस भाग मे पन्त जी ने आदर्शवादी विचारधारा की भूमिका से विज्ञान एवं कला की उपलब्धि का मूल्यांकन करते हुए आधुनिक समाज के आध्यात्मिक जीवन के विकास के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण अभिव्यक्त किये हैं। यहाँ उनका ध्यान भारतीय जाति के स्वाधीनता-संघर्ष, भारत द्वारा स्वतंत्रता की प्राप्ति और नवीन स्वाधीन शासन की विकास-योजनाओं एवं मार्गों पर केन्द्रित रहा है। पहले की भाँति पन्त जी ने गांधी जी के व्यक्तित्व एवं विचारों पर विशेष ध्यान दिया है।

"पूर्वस्मृति" शीर्षक में महाकाव्य का सम्पूर्ण कथानक और दर्शन बीज रूप में विद्यमान है। स्मृतिपट पर अतीत के पौराणिक पात्रों के आविर्भाव के द्वारा महाकाव्य की पृष्ठभूमि और उद्देश्य प्रस्तुत किये गये हैं। इसके बाद भूमिका के प्रमुख पात्र "पृथ्वी" का आविर्भाव होता है। पृथ्वी सीता जी (पृथ्वीपुत्री) को गोदी में भरकर अपनी अन्तर्वेदना प्रकट करती है। इस अन्तर्वेदना में पन्त जी ने आने वाली कथा के बीज रूप में वर्तमान युग की समस्त समस्याओं को खोलकर रख दिया है। इसके अतिरिक्त, पृथ्वी के ही शब्दों में, उसके आन्तरिक रूप के दिग्दर्शन में अपने आध्यात्मिक दर्शन की रूप-रेखा भी प्रस्तुत कर दी है। अन्त में नवमानवता की रचना हेतु सभी अपने-अपने कर्तव्य निश्चित कर अन्तर्धान हो जाते हैं।

"जीवन-द्वार" से कथानक प्रारम्भ होता है जिसका सार यह है–

भारत की विगत स्वर्णिम सभ्यता के हत-खण्डहर के रूप में सुन्दरपुर नामक जनपद अपनी जर्जर अवस्था में स्थित था। वहाँ की जनता दुःख-दैन्य, रोग-शोक से पीड़ित होकर नारकीय जीवन बिता रही थी। ऐसे संकटपूर्ण समय मे वहाँ कोई जाग्रत् अवस्था में था तो वह था युवा कवि वंशी, जिसके मानस मे जनता की यह नारकीय स्थिति शूल के समान बिंधा करती थी। उसने अपने बालसखा हरि के सहयोग से इस ग्राम के उद्धार का निश्चय किया, परन्तु देश की परतंत्रता इसमें बाधक बनी। वंशी, हरि तथा हरि की बहन श्री भी देश की स्वतंत्रता में आहुति देने के लिए जनता को प्रेरित करने लगे। श्री के प्रयासो से महिलाओं के लिए कला-शिविर की स्थापना कर उन्हें स्वावलम्बन की शिक्षा दी जाने लगी।

देश में स्वतन्त्रता-संग्राम की ज्वाला तीव्र-से-तीव्रतर होने लगी। नेताओं को जेल में बंद किया जाने लगा। गांधी जी से अत्यधिक प्रभावित वंशी गाधी जी का गुणगान करता था। इसीलिए गाँव के कुछ कुटिल विरोधी लोगों के

षड्यंत्र से वंशी तथा हरि को कारावास भुगतना पड़ा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति पर वंशी तथा हरि जेल से मुक्त हुए, किन्तु कुछ ही दिनो बाद वंशी महसूस करता है कि स्वराज्य मिलने पर भी मनुष्य अभी मन से जाग्रत् नहीं हुआ है। भारत-पाकिस्तान-विभाजन के समय हुए अमानवीय कृत्यो को देखकर उसका मन दुःख से भर जाता है। देश की विभिन्न समस्याएँ उसके सामने आती हैं और उनका हल वह विश्व-जीवन में खोजता है। वह सुन्दरपुर मे पूर्व-स्थापित कला-शिविर को विस्तृत करके उसे विशाल केन्द्र का रूप देता है जिसका मुख्य उद्देश्य मानवता का विकास करना है। वंशी अपनी आत्म-साधना तथा व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर इस केन्द्र में नित्य नवीन प्रयोग करता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उपलब्धियाँ यहाँ दिखाई देने लगती है जिसके कारण कुछ ही वर्षों में कला-केन्द्र की प्रसिद्धि देश-विदेश में फैलने लगती है। वंशी का सम्पर्क पाश्चात्य देशों से बढ़ता है और उसे विदेश-भ्रमण का निमन्त्रण प्राप्त होता है।

वंशी एक-एक करके प्रायः सभी देशों का भ्रमण करता है और यह जानने का प्रयत्न करता है कि मानव-अमंगल का मूल कहाँ है? उसके नेत्रों के सम्मुख प्रत्येक देश के इतिहास और उन्नति के चित्र एक-एक करके आते हैं। सोवियत सघ वंशी को सबसे अधिक आकर्षित करता है। किन्तु वहाँ भी वह उस अन्तर्विकास का अभाव पाता है जिसकी खोज वह कर रहा था। चिन्तन और मनन के द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पाश्चात्य देशों का वैभव तथा विकास केवल बाह्य जीवन तक ही सीमित है—अन्तरतम का अँधेरा वहाँ अभी भी बना हुआ है।

इस भावना से प्रेरित होकर वंशी भारत लौटने पर नई लगन और नये उत्साह से सांस्कृतिक केन्द्र के कार्य-संचालन में लग जाता है। मानव की अह, ईर्ष्या, द्वेष आदि की कुप्रवृत्तियाँ वंशी के कार्य में बाधक बनती हैं। प्राचीन परम्परा को सर्वोपरि मानने वाले और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतीक माधो ओर वाग्विलास वंशी की इस कलात्मक उन्नति के प्रति ईर्ष्यालु हो उठते हैं और उसकी हत्या का प्रयास करते हैं। किन्तु अपने प्राणों की बलि देकर हरि वशी को बचा लेता है। कुछ ही दिनों बाद श्री भी स्वर्गलोक सिधार जाती है। अपने सहयोगी हरि तथा श्री के बिछोह से वंशी का मन टूट जाता है। उसकी अन्तश्चेतना इस समय उसे प्रेरणा और बल प्रदान करती है और वह पुनः केन्द्र के उत्थान के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। किन्तु कुछ ही दिनों बाद अणुयुद्ध

के रूप में विश्व में महानाश के बादल घिर आते हैं। अपनी अन्तरात्मा में इसका पूर्वाभास पाकर वंशी सहसा अपने केन्द्र से अन्तर्धान हो जाता है। केन्द्र का कार्य-भार एक विदेशी महिला "मेरी"—जो वंशी के गुणों पर मोहित होकर उसकी शिष्या बनी थी—सम्भालती है। इसी समय सुन्दरपुर पर भी एक यान से अणुविस्फोट होता है और वह सांस्कृतिक केन्द्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। भाग्यवश मेरी तथा कुछ लोग बच जाते हैं। उन्हें लेकर हिमालय के प्रांगण में मेरी एक नवीन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना करती है जिसका नाम 'लोकायतन' रखा जाता है। यहाँ आकर वंशी का स्वप्न साकार होता है। मानव को नया रूप मिलता है। वह प्रकृति के सौरभमय आँगन में मुक्ति की साँस लेता है। विगत जाति-वर्ण की शृंखला खोल राष्ट्रों की सीमा का अतिक्रम कर मानव अपनी अन्तरात्मा के समस्त कलुषों को धो डालता है। युग-युग से धूमिल आत्मा ज्योतिर्मयी हो उठती है और इस प्रकार इस धरा पर ही स्वर्ग उतर आता है।

यह है "लोकायतन" की संक्षिप्त कथावस्तु, जिसमें समाहित है कवि के जीवन की व्यापक साधना; अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के कड़वे-मीठे जीवन का अद्भुत समन्वय और सबसे ऊपर एक ऐसी ज्योति-रेखा जो समस्त संसार का पथ आलोकित करके अंधकार में भटकते मानव को दिशा-बोध कराके धरा पर स्वर्ग उतार लाने की प्रेरणा देती है।

छायावाद : पुनर्मूल्यांकन

सन् 1965 में प्रकाशित 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' आलोचना के क्षेत्र में पन्त जी की अत्यन्त मौलिक तथा स्वतंत्र कृति है। इसमें प्रयाग विश्वविद्यालय के द्वारा आयोजित "निराला-व्याख्यान-माला" में पढ़े गये इन तीन दीर्घ निबन्धों का संग्रह है—(1) "उद्भव और परिवेश" (2) "विकास और कवि-चतुष्टय" (3) "कलाबोध, विधाएँ और पुनर्मूल्यांकन"। इन निबन्धों द्वारा उन्होंने छायावाद के विषय में फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए मूल्यपरक दृष्टि से उन पर पुनर्विचार करने का स्तुत्य प्रयास किया है। पन्त जी की धारणाएँ यद्यपि स्फुट रूप से उनकी पुस्तकों की भूमिकाओं में व्यक्त होती रही थीं तथापि यहाँ उनका समग्र समायोजन करके उन्होंने एक नयी अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत की है।

पन्त जी ने छायावाद के उद्गम और विकास का विवेचन करते हुए वेदनावाद, स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, चित्रभाषावाद, अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद आदि का विशद विश्लेषण किया है, साथ ही भक्तिकाव्य, रीतिकाव्य

तथा पूर्ववर्ती आधुनिक काव्य से छायावाद की तुलना भी की है। छायावाद की विभिन्न परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने अपनी निजी परिभाषा की भी स्थापना की है—"छायावाद नवीन अन्तः सौन्दर्य से प्रेरित कलाबोध के दीप-दान पर चतुर्दिक् नवीन जीवन-सौन्दर्य तथा भाव-प्रकाश बिखेरती हुई चेतना की ऊर्ध्वमूला शिखा है जो व्यापक विश्वऐक्य तथा लोकसाम्य की अजस्र स्नेहधार से पोषित मूर्तिमान मानव-मंगल का काव्य है।"[44]

छायावादी कवि-चतुष्टय में पन्त जी ने प्रसाद, निराला, स्वयं तथा महादेवी जी की गणना की है।

"कलाबोध, विधाएँ और पुनर्मूल्यांकन" शीर्षक निबन्ध में पन्त जी ने समसामयिक कलाबोध, विविध विधाओं तथा वादों का पुनर्मूल्यांकन किया है एवं छायावादोत्तर समस्त काव्य को एक ही संचरण के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उनके विचारानुसार—"अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा है, प्रगतिवाद एक नवीन वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति की सूक्ष्म-गहन वैचित्र्य से भरी अहंता तथा रुग्ण कुण्ठा को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युग-चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक, गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं, और तीनों अभिन्न रूप से सम्पृक्त हैं। उनके रूप-विधान तथा भाव-सौष्ठव में कोई विशेष अन्तर नहीं है और अपने विचार-दर्शन में भी वे भविष्य में एक दूसरे के निकट आ जायेंगी। ये तीनों धाराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं।"[45]

कला और संस्कृति

सन् 1965 में ही "कला और संस्कृति" का प्रकाशन हुआ। इसके बारे में पन्त जी का वक्तव्य है—"कला और संस्कृति के अन्तर्गत मेरे इधर के कुछ वार्ता-निबन्ध संकलित हैं। "शिल्प और दर्शन" (मई 1961) के बाद मेरी गद्य-रचनाओं का यह दूसरा संग्रह है, जिसमें युग-संघर्ष से सम्बन्ध रखने वाले मेरे अनेक निबन्ध वर्तमान संक्रांतिकालीन जीवन-समस्याओं पर मेरे दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया को प्रतिफलित करते हैं।"[46]

बहिरंग विवेचन तथा आत्मालोचन के साथ ही पन्त जी ने अपने पूर्ववर्ती तथा समसामयिक अन्य कवियों तथा युगचिन्तकों की उपलब्धियों का मूल्यांकन भी किया है। "मैंने कविता लिखना कैसे प्रारम्भ किया", "प्रकृति में मेरा बचपन","मेरी लेखन-प्रक्रिया", "मन के साथी जोशी जी", "काव्य-पुरुष गुप्त

जी'', ''प्रसाद जी के संस्मरण'', ''योगिराज अरविन्द'', ''ऊर्ध्व चेतना'', ''दिव्य दृष्टि'', ''मान्यताएँ बदल रही हैं'', ''साहित्य की एकसूत्रता'', ''राष्ट्रीय जागरण ओर साहित्यकार'', ''वर्तमान संकट-स्थिति और साहित्यकार'' आदि समीक्षात्मक निबन्ध इसी सन्दर्भ में अवलोकनीय हैं।

किरण-वीणा

पन्त जी की यह काव्य-कृति सन् 1967 में प्रकाशित हुई। इसको पढने स स्पष्ट होता है कि पन्त जी ने इसमें व्यक्ति-चेतना से विश्वचेतना की ओर, व्यक्ति-मानव से विश्वमानव की परिकल्पना की ओर बढ़ते हुए अध्यात्म ओर विज्ञान के बीच एक स्थायी पुल बनाने की दिशा में संवेदना के स्तर पर स्पृहणीय प्रयास किया है। कहीं-कहीं उन्होंने अतीत के केंचुल में नव जीवन डालने के स्थान पर नवमानव का निर्माण करने का सुझाव दिया है तो कहीं स्पष्टतः कहा है—

> ''देव मनुज पशु
> नया मनुज बन जीयेंगे जब
> तब होगा चरितार्थ
> धरा पर जीवन ईश्वर है।''[47]

''किरणवीणा'' में 77 कवितायें हैं। कवि ने स्वयं लिखा है—''इन रचनाओ के विषयों में पर्याप्त वैचित्र्य है।''[48] इस कृति में ''तुम कौन'', 'अमर पॉच', 'प्रश्नोत्तर', 'बीज', 'अमृततरी', 'नया बोध', 'चित्रदेश', 'परम बोध' आदि कवितायें ईश्वर विषयक हैं; 'वेणीवती', 'रूपगर्विता', 'उद्बोधन', 'मोहमुग्धा', 'विरहिणी', 'भारतनारी' आदि कवितायें नारी विषयक हैं तथा 'हिम-अंचल', 'बसंत', 'पावस', 'शरद', 'पतझर' तथा 'सूर्यास्त', आदि कवितायें प्रकृति से सम्बन्धित हैं। 'भारत-भू', 'भारत-गीत' तथा 'जय गीत' कवितायें पन्त जी के राष्ट्र-प्रेम की परिचायक हे।

''वाणी'' की 'आत्मिका' की तरह ही इस संग्रह के अंत में 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक कविता में पन्त जी की आत्मकथा की भी रूपरेखा आ गयी है जो इसकी विशिष्ट उपलब्धि है। ''मैं'' का पुरुषोत्तम राम जैसा उदात्तीकृत रूप, उसकी गन्ध और चेतना को पन्त जी ने खण्ड-काव्य के रूप में निदर्शित किया हे। आत्मजीवनी के रूप में यह कविता भारत के दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक इतिहास का भारत की मंगलाकांक्षा के संदर्भ में विवेचन करती है।

पौ फटने से पहले

यह काव्य-कृति भी सन् 1967 ई. में ही प्रकाशित हुई। इसमें पुस्तक के नाम के अनुरूप ही आज के ह्रासोन्मुख भावनात्मक संघर्ष का गहन अंधकार तथा कल की चिन्मय संवेदना का आशारूप-प्रकाश चित्रित हुआ है। साथ ही रागचेतना के सामाजिक विकास की रूपरेखा भी इसमें संग्रथित है। इसकी अधिकांश कवितायें मूलतः जीवन की केन्द्रीय चेतना को सम्बोधित हैं और पन्त जी की भावदृष्टि को समझने में इनसे पर्याप्त सहायता मिलती है।

जन-मंगल की साधना में रत आशावादी पन्त जी का अन्तस् निश्चित रूप से यह जानता था कि पौ फटने वाली है और इस युग का सूची-भेद्य अन्धकार निश्चय ही छिन्न-भिन्न होकर रहेगा।"[49]

आस्थावान कवि ने भू-जीवन में ही ईश्वर की कल्पना की और विश्वास प्रकट किया कि प्रेम से ही हम इस भू-जीवन का नव-निर्माण कर सकते हैं।"[50] आज की स्थितियों में व्यक्ति पूर्णतः सक्षम है और उसे सभी भौतिक शक्ति-साधन प्राप्त हैं; फिर भी, मनुष्य के हृदय में शान्ति, सन्तोष तथा सुख नहीं है।"[51] पन्त जी की विचारणा है कि विज्ञान दृष्टि-विहीन है, नीरस तथा सौन्दर्य से रहित है। इसीलिए भाव-मुक्ति की कामना करते हुए उन्होंने लिखा है—

"अन्तर हो चिर वारि सरोवर
प्रीति हंस का सित घर
सुन्दर तन
सुन्दर हो जीवन
हृदय प्रीति का स्फटिक मुकर
मन आत्मा का सित वाहन
यह साधना धरा-जीवन की
कवि करता आवाहन।"[52]

"युगान्त" की तरह इस समय भी पन्त जी विकृत पुरातन को नष्ट-भ्रष्ट देखना चाहते थे। इस कृति में युग-जीवन तथा कहीं-कहीं प्रकृति तथा नारी रूप के चित्र अत्यन्त आकर्षक रूप से उभरे हैं।

पतझर : एक भाव-क्रान्ति

यह काव्य-कृति सन् 1969 में प्रकाशित हुई। इसमें 109 कवितायें संकलित हैं। इस संग्रह की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है—"प्रस्तुत संग्रह में मेरी अनेक

प्रकार की नवीनतम रचनायें संग्रहीत हैं। अधिकतर रचनायें भाव-प्रधान तथा युगबोध से प्रेरित हैं, कुछ विचार-प्रधान भी हैं।.................संग्रह का नाम "पतझर एक भाव-क्रान्ति" युग-संघर्ष का द्योतक है। भाव-क्रान्ति मेरी दृष्टि में क्रान्तियो की भी क्रान्ति है। आज की विषमताओं तथा जाति-वर्गगत विभेदों का उन्मूलन करने के लिए मनुष्य को रोटी के संघर्ष के अतिरिक्त जनमन में घर किये विगत युगों के मूल्यों से भी लड़ना है...........मेरे विचार यदि तरुण-भावनाओं को अस्थियाँ प्रदान कर सकेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी।"[55]

इससे स्पष्ट है कि पन्त जी ने भावक्रान्ति को आभ्यंतर क्रान्ति का पर्याय माना है, जिसे वे बाह्य या भौतिक क्रान्ति की समग्रता तथा परिपूर्णता के लिए अनिवार्य मानते थे। "पतझर" के द्वारा पन्त जी ने नये जीवन-संदेश का उच्चार किया है। वह मानव-जीवन को न तो पुराने आदर्शों की जेल में बंदी रखना चाहते थे और न उसे रागद्वेष या अहम् से ग्रस्त या त्रस्त देखना पसंद करते थे। वह संयत मनःस्थिति, शील-संस्कार तथा प्रीति से संजीवित करते हुए भू-जीवन के नव-निर्माण को चरितार्थ करने को उत्सुक थे। कुण्ठा, भय, भ्रम, संत्रास, संशय, अनास्था आदि के कारण मानव जीवन के धारा-प्रवाह से अलग होता जा रहा है। अपनी इन कविताओं के माध्यम से उन्होंने उसे आध्यात्मिक तथा लौकिक ऐक्य का आधार देना चाहा है। "पतझर : एक भाव-क्रान्ति" की कविताएँ उस भावभूमि से उपजी हैं जहाँ सुन्दर-असुन्दर की कोई विभाजक रेखा नही होती तथा सत्य स्वयं सौन्दर्य का प्रतीक बन जाता है। "भाव और वस्तु", "आत्मचेतन", "उन्नयन", "मानव-सौन्दर्य", "यथातथ्य", "गीत-दूत", "कवि-कोयल", "विश्व-विवर्तन", "सोपान", "मुक्ति और ऐक्य", "शिवोऽहम्", "अज्ञेय", "आत्मनस्तुकामाय", "भविष्योन्मुख", "भयावृत्त", "पवित्रता", "उद्‌बोधन", "हार्दिकता", "मानदण्ड", "भावक्रान्ति", "आन्तरक्रान्ति", "विद्या-विनम्रता", "व्यक्ति-विश्व", "सहज-साधना", "समर्पण", "कलादृष्टि", तथा "होटल का बैरा" आदि इस संग्रह की उल्लेखनीय कवितायें हैं।

गीतहंस

पन्त जी के इस काव्य-संग्रह का प्रकाशकाल भी सन् 1969 ही है। इसमे 95 कविताएँ संग्रहीत हैं। कवि ने इन गीतों के अन्दर हृदय-मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया है। नैतिक और भौतिक मूल्यों का समन्वय करते हुए जनमन को जीवन-सृजन के प्रेम की ओर उन्मुख किया है। युगीन यथार्थ और आदर्श के बीच चलते हुए अविराम संघर्ष को अनिवार्य मानते हुए कवि ने मानवता को

अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और गम्भीर दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है। इसमें सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् के युगदर्शन तथा युग-यथार्थ की ओर कवि का विशेष रुझान दृष्टिगत होता है। इसमें उन्होंने अतीत की नारी के साथ-साथ भविष्य की नारी का भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

इस संग्रह की अनेक रचनाओं में पन्त जी ने पर्वतीय सुषमा का सुन्दर चित्रण किया है जो प्रारम्भ से ही उनका प्रिय वर्ण्य-विषय रहा है। इसमें उन्होंने धरती के प्रति अपने विशेष प्रेम को व्यक्त किया है तथा उससे अपने अटूट सम्बन्ध को दर्शाया है।

शंखध्वनि

यह काव्य-कृति सन् 1971 ई. में प्रकाशित हुई। इसमें 97 रचनाएँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह की रचनाओं में पन्त जी ने मुख्यतः नव-जागरण के स्वरों को तथा विश्व-जीवन के भीतर उदय हो रहे मनुष्यत्व की रूपरेखाओं को अभिव्यक्त किया है। कुछ रचनाओं में उन्होंने वर्तमान युग-जीवन की विसंगतियों के प्रति अपने मन की प्रतिक्रियाओं तथा कुछ व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुगूँजों को वाणी दी है। इस दृष्टि से 'सृष्टितत्त्व', 'अन्तर्यात्रा', 'आत्मपरिचय', 'आत्मधुरी', 'आत्ममोह', 'देवोत्थान', 'आत्मदर्प' तथा "1971" आदि कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

वर्तमान साहित्य एवं कला के प्रति विचार भी इस संग्रह की कुछ कविताओं में दृष्टव्य हैं जैसे—"कला की सार्थकता" एवं "वस्तु-बोध"। सौन्दर्य-बोध तथा कला के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी आकांक्षा इस प्रकार व्यक्त की है—

"विकसित हो भू-मन, व्यापक सौन्दर्य-बोध हो,
कला दृष्टि नव रूप करे निर्माण विश्व का"[54]

तथा

"कला तुच्छ कुत्सित यथार्थ की सेवक,
काव्य न अब सौन्दर्य-बोध का दर्पण।"[55]

नारी विषयक रचनाएँ भी उनकी इस कृति में हैं जिनमें उन्होंने उसके जागरूक स्वरूप का चित्रण किया है। "युगरमणी", "स्त्री" आदि कवितायें इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं। 'लेनिन के प्रति' शीर्षक रचना में पन्त जी ने मार्क्सवाद तथा गांधीवाद सम्बन्धी अपनी समन्वय-कल्पना को व्यक्त किया है।

'कश्मीर' तथा 'पंखड़ियाँ' प्रकृति विषयक कवितायें हैं तथा 'भारत-भू' पन्त जी के राष्ट्र-प्रेम को दर्शाने वाली कविता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह संग्रह एक ओर तो युग-जीवन के यथार्थ को उद्घाटित करता है तथा दूसरी ओर नवीन मनुष्यत्व के स्वरूप को उभारता है।

शशि की तरी

इस कृति का प्रकाशनकाल 1972 है। इस काव्य-संग्रह में 'अनुपमा' से सम्बन्धित 51 स्मृति-गीत संकलित हैं। अनुपमा का परिचय देते हुए पन्त जी ने लिखा है—"अनुपमा एक तीन-चार साल की भोली लड़की थी जिसे मैंने स्वराज-भवन, इलाहाबाद के बाल-भवन में देखा था।.........अनुपमा में न जाने ऐसे कौन से विशिष्ट एवं उच्च संस्कार थे जिसे देखते ही मेरा हृदय उसके प्रति गहरे वात्सल्य भाव से भर गया और दिन-पर-दिन उसके प्रति मेरे मन का आकर्षण बढ़ता ही गया। उसके घुटने की हड्डी कुछ बढ़ी हुई थी और बार-बार घुटने की टोपी से रगड़ खाने के कारण उसमें प्रायः सूजन हो जाया करती थी। .....दुर्भाग्यवश घुटने का सफल आपरेशन होने के बाद एनिस्थीज़िया के प्रभाव से न उबर सकने के कारण फिर उसकी स्मृति कभी नहीं लौट सकी। तीन-चार दिन के भीतर ही उसकी दशा और भी बिगड़ती चली गयी। चौथे दिन रात्रि के बारह बजे मुझे अस्पताल से फ़ोन द्वारा सूचना मिली कि वह स्वर्ग की कली अपनी देहलीला समाप्त कर चली गयी है।"[56] उसकी स्मृति ने सदैव के लिए पन्त जी के अन्तस् में अपना स्थान बना लिया। प्रकृति के अंक में, हृदय के स्पन्दन में अनुपमा साकार हो उठी। सृष्टि के कण-कण में वही उन्हें दिखाई देने लगी। पन्त जी की कला दुःख-दग्ध होकर सृजनवती हो गयी और उन्होंने "ग्रंथि" के स्तर के, यद्यपि भिन्न वृत्ति के, स्नेह-गीतों का प्रणयन किया—

> "तुम मेरी सौन्दर्य-बोध की
> सूक्ष्म सुरभि ही पावन।"[57]

समाधिता

सन् 1973 ई. में प्रकाशित इस काव्य-संग्रह में 101 रचनाएँ हैं। इसमें भी पन्त जी ने भू-जीवन के प्रति अपनी गम्भीर निष्ठा को वाणी दी है। उनके विचारानुसार यह धरती ही ईश्वर का आँगन है—

> "भेद नहीं जग में ईश्वर में
> प्रज्ञा हो जो विकसित—
> भू-पथ पर ईश्वर ही प्रतिक्षण

विचरण करता निश्चित।"

पन्त जी के विचार सदा ही भविष्योन्मुख रहे हैं। अपनी इस कृति में भी उन्होंने अतीत को भुलाकर भविष्य की ओर आशान्वित रहने की शिक्षा इन पंक्तियों में दी है—

"मत अतीत शव को ढो हे,
देखो भविष्य का आनन।"[59]

स्त्री जाति के प्रति उनके श्रद्धायुक्त विचार यहाँ भी कई कविताओं में दृष्टव्य हैं।

इस संकलन की अंतिम रचना "जय बाँङ्ला" है जिसमें पन्त जी ने बाँङ्ला देश में हुए अत्याचार, अनाचार तथा बलात्कार का यथार्थ अंकन करने के बाद कामना की है कि—

"नव मानवीय सामाजिकता में
संयोजित हो,
धरा स्वर्ग रचना रत
मनुज प्रीति में डूबी
निखिल विश्व तक विस्तृत हो
उसका मनः क्षितिज,
जीवन ईश्वर के प्रति
पूर्ण समर्पित हो मन।"[60]

आस्था

सन् 1973 में ही "आस्था" का भी प्रकाशन हुआ जिसमें कुल 108 रचनाएँ हैं। "आस्था" की कविताएँ मनुष्य की धरती से सम्बन्धित हैं। आज का युग सभ्यता के विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक विघटन का युग है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आज का व्यक्ति बाहरी मूल्यों को महत्त्व देने लगा है तथा आन्तरिक गुणों की अवहेलना करने लगा है। इसीलिए पन्त जी ने आह्वान किया है—

"आत्मज्ञान के ओ दाताओ! सम्मुख आओ,
मानव को मानव बनने की शक्ति, सिद्धि दो।"[61]

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की आलोचना करते हुए पन्त जी ने लिखा है—

"वर्तमान शिक्षा युवकों में,

कृत्रिमता को जन्म दे रही
सत्य जगत् से हटा उन्हें हम
कृत्रिमजग में भटका देते।"[62]

कविता संख्या "इकहत्तर" में जीवन में कर्म के महत्त्व का निरूपण किया गया है। अपने प्रेरणा-स्रोतों के प्रति भी उन्होंने आभार प्रकट किया है[63] तथा आधुनिक युग के मनस्वी विचारकों के दाय के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उनकी प्रशस्ति इन शब्दों में की है–

"डार्विन फ्रायड लेनिन गांधी मार्क्स हमारे
नवयुग दृष्टा हुए, जिन्होंने मनन, अध्ययन
निज युग जीवन का कर जग को सूत्र सत्य के
दिये, विविध-जिनके बहुमुख तानों बानों से–
बुना जा सका वर्तमान युग जीवन का पट,
युग मन, जन युग दर्शन जिनसे हुआ प्रभावित
× × ×
श्री अरविन्द भविष्य विश्व के अन्तर्द्रष्टा–
भावी जीवन का आदर्श यथार्थ जिन्होंने
संयोजित कर, स्वप्न दिया नव धरा-स्वर्ग का"[64]

नारी के प्रति अपने उच्च विचारों को पन्त जी ने यहाँ भी कुछ रचनाओ मे व्यक्त किया है।

साठ वर्ष और अन्य निबंध

सन् 1973 ई. में प्रकाशित इस निबन्ध-संकलन में कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के आत्मकथात्मक तथा उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं पर प्रकाश डालने वाले निबन्ध सम्मिलित हैं। सारे निबन्धों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–(1) वे निबन्ध जिनमें पन्त जी ने अपनी जीवन-कथा को शब्दबद्ध किया है, (2) उन विभूतियों तथा ग्रन्थों का चित्रण तथा विवेचन करने वाले निबन्ध जिन्होंने पन्त जी के जीवन और विचार-जगत् को प्रभावित किया है, और (3) समसामयिक साहित्यिक समस्याओं और प्रश्नों पर पन्त जी का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले निबन्ध।

पन्त जी के ही शब्दों में, "प्रस्तुत संकलन में "साठ वर्ष : एक रेखांकन" के साथ अन्य भी निबन्ध जोड़ दिये गये हैं, जिनमें अधिकांशतः मेरे साहित्यिक

जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं पर ही प्रकाश डालते हैं। चार निबन्ध जिनके शीर्षक हैं—(1) धर्म और विज्ञान, (2) मान्यताएँ बदल रही हैं, (3) आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता तथा (4) उस पार न जाने क्या होगा पहले मेरे निबन्ध संकलन "कला और संस्कृति" में प्रकाशित हो चुके हैं, उन्हें भी प्रस्तुत पुस्तक में विषयों की समानता के कारण सम्मिलित कर लिया गया है।"[65]

मुकुलित सुमनों की सुन्दरता और आकर्षण को जिस प्रकार एक माला मे गूँथकर सँजोया जाता है, उसी प्रकार पन्त जी ने अपने भाव-जगत् और विचार-जगत् क सौन्दर्य को निबन्धों की माला में गूँथा है। पन्त जी के काव्य, कवि-जीवन का मर्म तथा उनके वैचारिक व्यक्तित्व को समझने के लिए यह निबन्ध-संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सत्यकाम

"सत्यकाम" पन्त जी का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है जो सन् 1975 मे प्रकाशित हुआ। ग्यारह सर्गों में विभक्त 238 पृष्ठों का यह महाकाव्य मा सरस्वती को समर्पित किया गया है। सन् 1942 ई. के बाद पन्त जी न मनोजगत् के सूक्ष्म क्षितिजों की ओर भाव-रूपी पंखों को खोलकर मुक्त भाव से जो विचरण किया, उसकी उपलब्धियों की निस्सीम ऊँचाई तथा फलश्रुति इस प्रबन्धकाव्य के कलेवर में बँधकर उपस्थित हुई है। पन्त जी के विचारानुसार अध्यात्म की परिणति धरती के जीवन की सम्पन्नता एवं परिपूर्णता में ही होनी चाहिये। भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की समेकित गति से ही मानव-जीवन की वास्तविक प्रगति हो सकती है—अपने इस विश्वास को पन्त जी ने इस काव्य में भी दोहराया है।

पन्त जी के शब्दों में—"सत्यकाम" में साधना का सत्य तथा काव्य का सत्य तदाकार हो गये हैं। कथा—भाग का कृश-पंजर मुख्यतः छान्दोग्य उपनिषद् से लिया गया है, जिसके अनुसार सत्यकाम नामक पात्र निर्जन वन में वृक्ष, अग्नि, हंस तथा मद्गु—चार देवों से भी दीक्षा लेता है। शेष कल्पना तथा अनुभूति-प्रसूत है। मूलतः यह एक तापस की भावनाओं को वाणी देने वाला बोध-काव्य है।"[66]

संक्षेप में इसका कथानक इस प्रकार है—

बटु जाबाल एक जिज्ञासु किशोर है। ऋषि गौतम के आश्रम में वह विद्या

लकर ऋचा फिर उसे मिलती है। सत्यकाम ऋचा के कहने पर भी उसकी पुत्री को आशीष नहीं दे पाता है। तब ऋचा की ज्ञानवर्धक प्रताड़ना से वह मानवमात्र से प्रेम करने की सही बात समझता है। जल-खगी मद्‌गु सत्यकाम को दीक्षा देती है। सत्यकाम में ऐसी दृष्टि का विकास हो जाता है कि वह विराट् को मनुज-समाज में देखता है। वह गुरु के पास आता है। वहाँ पुन तप करता है। ईश्वर उसके अन्तस् में प्रवेश कर उसे प्रकृति में, मानव मे तथा सर्वत्र ईश्वर का वास देखने का आदेश देते हैं जिससे सत्यकाम को यथार्थ का ज्ञान हो जाता है। गुरु ऋचा को योग-माया बताते हैं। फिर सत्यकाम अपनी माँ से मिलने जाता है। माँ प्रसन्न मन से वहाँ उपस्थित आश्रम-कन्या ऋता का हाथ सत्यकाम के हाथों में सौंप देती है। इतने में ही ऋषिवर गौतम भी वहाँ पहुँच जाते हैं। माँ जाबाल से कहती है—"ओ जाबाल, अपने पिता को प्रणाम करो। गुरु ही तो वास्तव में जीवनदाता होता है।" सत्यकाम गुरु गौतम के चरणों में गिर पड़ता है। गुरु आशीर्वाद देते हैं—"तुम्हारा जीवन सफ्ल हो। लो, तुम्हें पुनः ऋचा मिल गई।" ऋचा को ऋता में देखकर और उसमें ऋचा के समान ही सब कुछ पाकर सत्यकाम विस्मित हो जाता है। सम्यकाम की माँ अपना सब कुछ पाकर और देखकर अभिलषित मृत्यु का वरण करती है। सत्यकाम सोचता है—"माँ मरी या जी उठी।' इस कथ्य के साथ यहीं प्रबन्ध-काव्य समाप्त हो जाता है।

पन्त जी ने इस महाकाव्य के माध्यम से तापस जीवन की सम्पूर्ण साधना को भू-जीवन के यथार्थ से जोड़कर भावी जीवन के रस-मूलों को सिंचित करते हुए मानवता के मंगल तथा वैश्व जीवन के आदर्श की जो संकल्पना की है, वह निश्चय ही आज के टूटे, बिखरे, लड़खड़ाते मानव-जीवन को तथा धरती की सम्पन्नता और परिपूर्णता को, प्रेम-मुक्ति की रसवती भूमि पर सँवारने और सजाने की प्रक्रिया की एक अपूर्व जीवन-दृष्टि है, और पन्त जी का स्तुत्य अवदान है।

पन्त जी के हृदय में स्थित देश-प्रेम की तीव्र भावना के कारण इस महाकाव्य में महान् पुरुषों का गुणगान भी हुआ है; नारी के प्रति दृष्टिकोण-परिवर्तन से नये स्तरों का उद्घाटन हो पाया है; विज्ञान और शिक्षा के फलस्वरूप वैज्ञानिक, शैक्षिक तथा फ़ैशन सम्बन्धी विषयों का आधार भी इसमें स्वीकारा गया है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से पन्त जी का यह काव्य बहुमुखी एवं सर्वांगपूर्ण काव्य बन गया है।

लेकर ऋचा फिर उसे मिलती है। सत्यकाम ऋचा के कहने पर भी उसकी पुत्री को आशीष नहीं दे पाता है। तब ऋचा की ज्ञानवर्धक प्रताड़ना से वह मानवमात्र से प्रेम करने की सही बात समझता है। जल-खगी मद्गु सत्यकाम को दीक्षा देती है। सत्यकाम में ऐसी दृष्टि का विकास हो जाता है कि वह विराट् को मनुज-समाज में देखता है। वह गुरु के पास आता है। वहाँ पुन तप करता है। ईश्वर उसके अन्तस् में प्रवेश कर उसे प्रकृति में, मानव मे तथा सर्वत्र ईश्वर का वास देखने का आदेश देते हैं जिससे सत्यकाम को यथार्थ का ज्ञान हो जाता है। गुरु ऋचा को योग-माया बताते हैं। फिर सत्यकाम अपनी माँ से मिलने जाता है। माँ प्रसन्न मन से वहाँ उपस्थित आश्रम-कन्या ऋता का हाथ सत्यकाम के हाथों में सौंप देती है। इतने में ही ऋषिवर गौतम भी वहाँ पहुँच जाते हैं। माँ जाबाल से कहती है—"ओ जाबाल, अपने पिता को प्रणाम करो। गुरु ही तो वास्तव में जीवनदाता होता है।" सत्यकाम गुरु गौतम के चरणों में गिर पड़ता है। गुरु आशीर्वाद देते हैं—"तुम्हारा जीवन सफल हो। लो, तुम्हें पुनः ऋचा मिल गई।" ऋचा को ऋता में देखकर और उसमें ऋचा के समान ही सब कुछ पाकर सत्यकाम विस्मित हो जाता है। सम्यकाम की माँ अपना सब कुछ पाकर और देखकर अभिलषित मृत्यु का वरण करती है। सत्यकाम सोचता है—"माँ मरी या जी उठी।' इस कथ्य के साथ यहीं प्रबन्ध-काव्य समाप्त हो जाता है।

पन्त जी ने इस महाकाव्य के माध्यम से तापस जीवन की सम्पूर्ण साधना को भू-जीवन के यथार्थ से जोड़कर भावी जीवन के रस-मूलों को सिंचित करते हुए मानवता के मंगल तथा वैश्व जीवन के आदर्श की जो संकल्पना की है, वह निश्चय ही आज के टूटे, बिखरे, लड़खड़ाते मानव-जीवन को तथा धरती की सम्पन्नता और परिपूर्णता को, प्रेम-मुक्ति की रसवती भूमि पर सँवारने और सजाने की प्रक्रिया की एक अपूर्व जीवन-दृष्टि है, और पन्त जी का स्तुत्य अवदान है।

पन्त जी के हृदय में स्थित देश-प्रेम की तीव्र भावना के कारण इस महाकाव्य में महान् पुरुषों का गुणगान भी हुआ है; नारी के प्रति दृष्टिकोण-परिवर्नन से नये स्तरों का उद्घाटन हो पाया है; विज्ञान और शिक्षा के फलस्वरूप वैज्ञानिक, शैक्षिक तथा फ़ैशन सम्बन्धी विषयों का आधार भी इसमें स्वीकारा गया है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से पन्त जी का यह काव्य बहुमुखी एव सर्वांगपूर्ण काव्य बन गया है।

गीत-अगीत

इस काव्य-संकलन का प्रकाशन-काल सन् 1977 ई. है। इस संग्रह में कुल इक्यानवे रचनाएँ हैं जो आज के संक्रान्ति-युग की परिस्थितियों से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं और इनके भाव-बोध में युग की विषमताओं को अभिव्यक्ति मिली है। ये रचनायें प्रमाणित करती हैं कि पन्त जी के अन्तर्मन में कोई ऐसी दिव्य शक्ति छिपी हुई थी जो उन्हें बीमारी की अवस्था में भी कविता लिखने की प्रेरणा देती रहती थी। अपनी उम्र के छिहत्तरवें वर्ष में भी वे प्रसन्न मन से व्यापक जन-जीवन से सम्बन्धित कवितायें लिखते रहे। वयोवृद्धि के बावजूद उनका मन तथा मस्तिष्क दुरुस्त रहा और वह पहले की सी पूर्ण क्षमता के साथ विभिन्न विषयों पर इतने व्यापक रूप से दृष्टिपात कर सके हैं कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। इसमें धर्म, ईश्वर, प्रकृति, नारी, दहेज प्रथा, मध्यम वर्ग का चित्रण, नव-मानवता, महापुरुषों की स्तुति आदि विभिन्न विषयों पर उन्होंने व्यापक दृष्टिपात किया है।

पन्त जी यों तो नारी-महिमा के गायक और नारी-मुक्ति के समर्थक थे किन्तु इस संकलन की एक रचना में पन्त जी ने नारी की अतिशय स्वतंत्रता पर चिन्ता व्यक्त करते हुए लिखा है—

"घर आँगन की शोभा
गरिमा थी जो नारी
अब काया की छाया-भर
वह विधि की मारी!
स्त्री-स्वतंत्रता की आँधी में
भटक गये पग,
सूझ न पाता भावोद्वेलित
अन्तर को मग।"[67]

छोटे बच्चों के प्रति उनका अगाध प्रेम आजीवन बना रहा। उसकी अभिव्यक्ति भी उनकी इस कृति में हुई है—

"आओ, शिशुओं में पायें,
ईश्वर के दर्शन,
और नहीं वह भू पर कहीं,
सत्य यह गोपन।"[68]

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनका रुझान अन्त तक पूर्ववत् बना रहा,

इसका प्रमाण ये पंक्तियाँ हैं—

"धरा-प्रकृति की श्री शोभा पर
मेरा हृदय निछावर
मोहक फूलों का मुख,
पिक का गायन मधुकर का स्वर।
× × ×
मौन नील को देख न जिसका
अन्तर होता तन्मय
वह मनुष्य क्या? वह जीवन प्रति
हो सकता क्या सहृदय?"[69]

इस काव्य-संग्रह में ऐसी कोई नवीन बात नहीं है जो उनकी पहले की रचनाओं में वर्णित न हुई हो। उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उनके चिह्न इस रचना में भी, चाहे वे कितने सूक्ष्म रूप में क्यों न हो, पाये जा सकते हैं।

संक्रान्ति

इसका भी प्रथम प्रकाशन-काल सन् 1977 है। इस संग्रह में कुल बावन रचनायें हैं। इन्हें लिखने की प्रेरणा उन्हें सन् 1977 ई. के चुनाव से मिली थी जिससे उन्हें स्पष्ट आभास हो गया था कि ग्रामीण भी मनोनुकूल राजनीतिक निर्णय ले सकते हैं। गाँवों के इस जागरण से पन्त जी इतना अधिक प्रभावित हुए कि "ग्राम्या" के बाद इस संग्रह में उनका ध्यान फिर से गाँवों की ओर गया तथा उन्हें लगा कि गाँव निस्संदेह ही भारत जैसे विराट् देश के अभिन्न अंग हैं जहाँ भारतीय संस्कृति की धरोहर अभी भी अक्षुण्ण है। इस कृति की प्रायः सभी कवितायें देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं और सभी में प्रकारान्तर से भारत की विश्व में श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है—

"हृदयवान भारत—भू के जन
ईश्वर के प्रति आस्था ही धन,
सभ्य न हों आधुनिक अर्थ में,
संस्कृति के वे जीवित दर्पण।"[70]

उन्होंने ग्राम-निवासियों को भारतीय आत्मा के प्रतिनिधियों के रूप में मान्यता प्रदान की है—

"हमें सिखाओ ग्राम निवासी।
हमको जीवन-कला सिखाओ,
ओ भारत आत्मा के प्रतिनिधि,
चिर पुराण, चिर नव, अविनाशी।"[71]

नये संकट

"नये संकट" पन्त जी की दिसम्बर 1977 में लिखी हुई अन्तिम पर अपूर्ण रचना है जिसमें केवल नौ कवितायें ही संकलित हैं। विविध वर्ण्य-विषय पर आधारित इन कविताओं में भी उनकी बहुवर्णित धारणाओं का नवीन भंगिमाओं में व्याख्यान हुआ है। जीवन के भावी स्वस्थ-विकास सम्बन्धी अपनी आकांक्षा को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"आज नया यथार्थ गढ़ना है
भविष्य की ओर बढ़ना है।
रूढ़ियों के कर्दम से
जीवन को बाहर कढ़ना है।"[72]
आज उपहास, विरक्ति,
घृणा वैमनस्य ने
नया परिवेश निर्मित किया है
नया वातावरण संघटित किया है।
श्रद्धा विश्वास,
आत्महत्या करने की सोच रहे हैं,
मनुष्यत्व मूर्छित पड़ा है।
शत्रु मित्रता का मुखौटा लगाये हैं,
× × ×
यह बाहरी आपात स्थिति नहीं है,
अन्तर की संकट स्थिति है।"[73]

किन्तु जीवन की वर्तमान विसंगतियों से परिचित और पीड़ित होते हुए भी नव जीवन-विकास में उनका विश्वास अक्षुण्ण बना रहता है—

"आज धरती के अन्धकार को
नयी दृष्टि मिल गयी है,
जिससे पुरानी संस्कृति की नींव
हिल गयी है।

दृष्टि व्यापक हो गयी—
एक ही सत्य के प्रतीक हैं
कीचड़ और कमल—
दोनों ही परम उज्ज्वल परम निर्मल
जीवन कृतार्थ हो, सत्य चरितार्थ हो।"[74]

सामूहिक संकलन

समय-समय पर पन्त जी के विभिन्न नामों से कुछ ऐसे संकलन भी प्रकाशित हुए जिनमें उनकी अनेक कृतियों से चुनकर रचनाएँ संकलित की गई। उनमें से अधिकांश ऐसे संकलन हैं जिनमें रचनाओं का चयन पन्त जी ने स्वय किया। इन संकलनों का उल्लेख यहाँ केवल परिचय की दृष्टि से किया जा रहा है। पन्त जी की रचना-यात्रा का वास्तविक परिचय इनसे सीमित रूप में ही प्राप्त हो सकता है। क्रमागत रूप में उन रचनाओं का विवरण पहले दिया जा चुका है जिनसे इन संकलनों की रचनायें ली गयी हैं।

पल्लविनी

सन् 1940 ई. में प्रकाशित यह पन्त जी के प्रथम उत्थान की रचनाओ की चयनिका है जिसमें 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' की विशिष्ट कवितायें संकलित हैं।

आधुनिक कवि (भाग दो)

सन् 1941 ई. में प्रकाशित इस संचयन में पन्त जी की "वीणा" से लेकर 'वाणी' तक की कृतियों की महत्त्वपूर्ण कवितायें संकलित हैं। इसका 'पर्यालोचन' (भूमिका) बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस 'पर्यालोचन' में पन्त जी ने अपने काव्य-विकास के चरणों को दिखाया है तथा अपने ऊपर लगाये गये कुछ आलोचकों के आक्षेपों का निराकरण भी किया है।

कवि-श्री

सन् 1955 ई. में प्रकाशित इस संचयन में जहाँ-तहाँ से चुनी गयी पन्त जी की श्रेष्ठ रचनायें संकलित हैं।

रश्मिबंध

सन् 1958 ई. में प्रकाशित इस संचयन में पन्त जी की कुछ प्राचीन

तथा कुछ नवीन कृतियों की श्रेष्ठ रचनाएँ संकलित हैं। इसके ''परिदर्शन'' (भूमिका) से पन्त–काव्य का स्वरूप तथा काव्य के प्रति उनकी मान्यताओं को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। ''परिदर्शन'' पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी की उत्तरकालीन रचनाएँ उनके अवचेतन मन की सहज परिणतियाँ हे। उनके पीछे पन्त जी की वह वैचारिक पृष्ठभूमि है जो उनके व्यक्तित्व का तात्त्विक अंग है।

चिदम्बरा

सन् 1959 ई. में प्रकाशित यह कृति पन्त जी की काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है। इसमें ''युगान्त'' से लेकर ''वाणी'' तक की रचनाएँ सकलित हैं जिसमें ''युगान्त'', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'युगान्तर', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'अतिमा' तथा 'वाणी' की श्रेष्ठ रचनाओं के साथ 'वाणी' की श्रेष्ठ लम्बी कविता 'आत्मिका' भी सम्मिलित हे। इस प्रकार इस संकलन में सन् 1934 से लेकर 1957 तक के कवि के लगभग 23 वर्षों की विकास-सरणि का विस्तार है। इसके ''चरणचिह्न'' (भूमिका) से पन्त जी के भौतिक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक संचरणों से प्रेरित कृतियों में व्याप्त एकता के सूत्रों को समझने में अधिक सहायता मिलती है। इसमें उन्होंने अपनी सीमाओं के भीतर, अपने युग के बहिरंतर जीवन तथा चेतन्य को नवीन मानवता की कल्पना से मंडित कर वाणी देने का प्रयास किया हे। संभवतः इस संकलन की इन्हीं सब विशेषताओं को देखते हुए भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् 1968 ई. में एक लाख रुपये का पुरस्कार देकर पन्त जी को सम्मानित किया गया।

बच्चन : सुमित्रानन्दन पन्त

सन् 1960 ई. में प्रकाशित इस संचयन में ''वीणा'' से लेकर 'कला और बूढ़ा चाँद' तक की डा. हरिवंश राय बच्चन जी द्वारा संकलित कवितायें है। इसमें बच्चन जी की 30 पृष्ठों की भूमिका भी है जो काफ़ी महत्त्वपूर्ण है।

हरी बाँसुरी सुनहरी टेर

सन् 1963 ई. में प्रकाशित इस संकलन के बारे में पन्त जी का चार पक्तियों का विज्ञापन इस प्रकार है–''हरी बाँसुरी सुनहरी टेर'' में मेरे शृंगार-काव्य के ''सा रे ग म'' संकलित हैं जिन्हें पुस्तक रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय

को सक्रियता प्रदान
करने की चेष्टा की
मानवचेतना के समन्व
मे छाये हुए अन्धवि
विभिन्न धर्मों-संस्कृतिय
के प्रांगण में आमंत्रित
भौतिकता तथा आध्या
कर उन्हें लोक-कल्या
पूरक की तरह, संयोजि
नवीन सांस्कृतिक हृदय
रागात्मक संवेदनाओं,
किया है। कलापक्ष में
का प्रयत्न किया है,
और जिसकी चर्चा क
यदि कभी अपने मन
परिपूर्ण काव्यकृति क
समझूँगा।"[76]

इतनी अधिक र
सतुष्ट नहीं थे। उनको
ही नहीं जा सकी।[77] प
मे प्रणिहित कवि-कर्म
सम्भवतः भविष्य में प्रय
सर्वप्रथम एक उपन्यास
उपन्यास के रूप में
शेष जीवन सामाजिक
तथा मैं जो नहीं लिख स
मे अपनी दुर्बलताओं तथ
की कमियों, कुण्ठाओं त
के कर्दम से अवश्य ही
होगा, अपने इस सम्बोध
नवीन चेतना-काव्य में ग

ो है, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।"
स', 'आँसू', 'भावी पत्नी के प्रति', 'ग्रामयुवती',
ग', 'मानसी', 'पुनर्मूल्यांकन', तथा 'गृहकाज' आदि
।

शित इस संकलन में पन्त-काव्य के सबसे प्रारंभिक
ताओं से लेकर "वाणी" तक की लम्बी कवितायें
'आँसू', 'परिवर्तन', 'अप्सरा', 'ग्राम देवता', 'सध्या
'अशोकवन', 'मानसी', 'कवीन्द्र-रवीन्द्र के प्रति',
ति', 'जन्मदिवस', 'हिमाद्रि', 'संदेश', 'कूर्मांचल क
का' आदि पन्त जी की लम्बी कवितायें प्रथम बा
ृत हुई हैं।

ोष पर्वों पर प्रदान किये जाने योग्य उपहार ग्रंथ
सकी पूर्ति के लिए उन्होंने "चित्रांगदा" का प्रकाशन

ई. में प्रकाशित हुआ। इसके संकलनकर्ता तथा
ार हैं।

न नरेन्द्र शर्मा जी के संपादकत्व में पन्त जी की
शन ने किया था। सन् 1976 ई. में पन्त जी न
नना कर दिया।

शित इस संकलन की भूमिका में पन्त जी ने लिखा
से लेकर अब तक की चुनी हुई रचनाएँ संग्रहीत
चना-प्रक्रिया का अन्तर-इतिहास भी सूक्ष्म रूप मे

देखा जा सकता है। प्रारम्भ में मेरी रचनाएँ मेरी काव्य-चेतना की प्रतिध्वनि के रूप में प्रकट हुई और आज मैं अपनी रचनाओं में सार्थकता का बोध भी करता हूं वस्तुतः "मुक्ताभ" मेरा पहला संकलन है जिसमें किसी विशेष प्रयोजन हेतु नहीं, बल्कि रचनाओं की काव्य-यात्रा की दृष्टि से ही कवितायें संकलित की गयी हैं, अतः इस संकलन का महत्त्व मेरे अन्य संकलनों से अधिक माना जायेगा और इसकी सतरंगी किरणें पाठकों को अधिक आकर्षित कर सकेंगी।"[75]

इस संकलन में "निवेदन", "नक्षत्र", "शिशुभावना", "भू-वंदना", "नृत्यगीत", "बसंत", "तितली", "ग्रामकवि", "गाँव के लड़के", "स्वप्न और सत्य", "नरक मे स्वर्ग", "जन्मभूमि", "15 अगस्त 1947", "सोनजुही", "जीवन-दान", "शांति और क्रांति", "अमृततरी", "अमरयात्रा", "आत्मकथा", "अन्तर्मानस", "नया देश", "कैसी किरणें बरस रही हैं", "नाच, मन मयूर नाच", "युग बोध", "भावक्रांति" तथा "जीवन-साथी" आदि कवितायें संकलित हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि विषय-वस्तु की दृष्टि से पन्त-काव्य अत्यन्त व्यापक है। मानव तथा प्रकृति सम्बन्धी सभी कुछ पन्त जी के दृष्टिपथ मे घूमता था। मानवतावाद ने जहाँ उन्हें जीवन की रिक्तताओं को देखने और समझने के लिए प्रेरित किया, वहीं समन्वययुक्त जीवन की परिकल्पना ने विभिन्न दर्शनों के औचित्य-विचार के फलस्वरूप सार-संचयन द्वारा, उन्हें दिशा-बोध दिया। इस प्रक्रिया में जीवन की कुरूपताओं का व्यापक एवं सूक्ष्म अवलोकन तो हुआ ही, पर उसके फलस्वरूप जीवन की मूलभूत महत्ता, उसका सौन्दर्य तथा उसके शिवत्व का बोध भी उजागर हुआ।

पन्त जी का आत्म-मूल्यांकन

अपने साहित्यिक संदाय के संबंध में पन्त जी का निम्नांकित आत्मकथन उनकी साहित्य-साधना के मूल्यांकन की दृष्टि से अतिशय महत्त्वपूर्ण है—"अपने युग की महत् चेतना से एक साहित्यजीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित और प्रभावित हुआ हूँ। इसके उतार-चढ़ाव में मेरी भी छोटी-सी देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान् कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है तथा अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपनी काव्य-साधना में मैंने संत कवियों तथा रवीन्द्रनाथ से अनुप्राणित छायावाद की मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता को अन्तश्चेतना तथा नवीन लोक-चेतना का स्वरूप देने का यत्न कर उसकी निष्क्रियता

को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानवचेतना के समन्वय में ढालने का प्रयास किया है। मैं अपने युग की चेतना मे छाये हुए अन्धविश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि-रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मेने विभिन्न धर्मों-संस्कृतियों तथा जातियों-वर्गों में बँटे हुए लोगों को अपनी काव्य-चेतना के प्रांगण में आमंत्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया हे। भोतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक-कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक-दूसरे के पूरक की तरह, संयोजित करना चाहा है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पन्दन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष में मैंने अपनी युग-चेतना को नवीन सौन्दर्य का परिधान देने का प्रयत्न किया है, जिसमें मुझे अवश्य ही उतनी सफलता नहीं मिल सकी हे, ओर जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्मश्लाघा प्रतीत हो रही है। भविष्य मे यदि कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओं तथा स्वप्न-सम्भावनाओं को सापेक्षत परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका तो अपनी साहित्य-साधना को मैं सफल समझूँगा।"[76]

इतनी अधिक रचनायें लिखकर भी पन्त जी अपने कवि-कर्म से पूर्णत सतुष्ट नहीं थे। उनको लगता था कि मेरी सबसे प्रिय रचना तो अभी तक लिखी ही नहीं जा सकी।[77] पन्त जी के ही शब्दों में—"पूर्ण नहीं कर सका अभी तक मे प्रणिहित कवि-कर्म धरा पर"—अपनी इस उक्ति को चरितार्थ करने का मे सम्भवतः भविष्य में प्रयत्न कर सकूँ।..................मैंने अपना लेखक का जीवन सर्वप्रथम एक उपन्यास लिखकर प्रारम्भ किया था और अन्त में भी मैं एक वृहद् उपन्यास के रूप में ही अपने सृजनकर्म का समापन करने के उपरान्त अपना शेष जीवन सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य को समर्पित करना चाहता हूँ।"[78] तथा मैं जो नहीं लिख सका उसके लिए अभी तैयारी कर रहा हूँ।............. . मे अपनी दुर्बलताओं तथा त्रुटियों से परिचित हूँ, साथ ही परिचित हूँ अपने युग की कमियों, कुण्ठाओं तथा भ्रान्तियों से।...............आज के युग की कुरूपता के कर्दम से अवश्य ही विश्व-जीवन के सौन्दर्य का पूर्ण सन्तुलित पद्म प्रस्फुटित होगा, अपने इस सम्बोध के, इस आशा और विश्वास के छुटपुट गीत मैंने अपने नवीन चेतना-काव्य में गाये हैं और सम्भव हुआ तो अभी जो नहीं लिख सका

आगे चलकर अपनी नवीन काव्य-कृतियों में उस चिर-अपेक्षित लोक-जीवन एव मानव-जीवन का आख्यान भी गा सकूँगा जो इस महान् युग के भीषण गर्दोगुबार के भीतर निश्चित, निःसंग तथा प्रशान्त भाव से जन्म ले रहा है।.............. ..

मरी समस्त रचनायें केवल मेरे विकास की पद-चिह्न भर हैं। उनमें मेरी कवि-दृष्टि का वैचित्र्य भले ही मिलता हो पर मेरे काव्य-व्यक्तित्व की समग्रता उनमे खोजना, उन रचनाओं के साथ ही, मेरे विकासप्रिय व्यक्तित्व के प्रति भी अन्याय करना है।"[79] अन्यत्र उन्होंने लिखा है–

"अज्ञेय, अपरिमेय अक्षमताओं का नाम ही मनुष्य का व्यक्तित्व हे। भीतरी अयोग्यता के अतिरिक्त बाहरी परिस्थितियों की बाधाओं के दुर्लंघ्य पर्वत मेरे मनःसंस्कार, कवि-कर्म-प्रेरणा, आत्म-प्रस्फुटन या विकास के पथ में रहे हे।"[80] आनुषंगिक विचारणा तथा विकासात्मक अध्ययन की दिशा में कविवर पन्त के ये आत्मसाक्ष्य उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रामाणिक पद-चिह्न प्रकट करते हैं तथा कृति को गौरव प्रदान करते हैं।

सन्दर्भ-संकेत



1. सुमित्रानन्दन पंत ग्रंथावली खण्ड 1, हार, पृ. 30, प्रथम संस्करण 1979
2. सुमित्रानन्दन पंत ग्रंथावली खण्ड 1, हार, पृ. 61, प्रथम संस्करण 1979
3. सुमित्रानन्दन पंत ग्रंथावली खण्ड 1, हार, पृ. 63, प्रथम संस्करण 1979
4. सुमित्रानन्दन पंत ग्रंथावली खण्ड 1, हार, पृ. 62, प्रथम संस्करण 1979
5. आकाशवाणी वार्ता, स्वर्णिम रथचक्र के अन्तर्गत "वीणा" पर।
6. वीणा--विज्ञापन, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 1
7. वीणा--ग्रन्थि सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 92, नवीन संस्करण, 1972
8. वीणा—ग्रन्थि, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 124, नवीन संस्करण 1972
9. वीणा—ग्रन्थि, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 125, नवीन संस्करण 1972
10. पल्लव--परिवर्तन, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 145-146, आठवाँ संस्करण,

1977

11 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 6, शिल्प और दर्शन—मैं और मेरी रचना "गुंजन", पृ. 255, प्रथम संस्करण 1979
12 ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 52, चतुर्थ संस्करण 1972
13 भेंटवार्ता—सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शान्ति जोशी पृ. 307, प्रथम संस्करण 1970
14 भेंटवार्ता—सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1, शान्ति जोशी पृ. 316, प्रथम संस्करण 1970
15 साठ वर्ष : एक रेखांकन—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 48 प्रथम संस्करण, 1960
16 युगपथ—युगान्त—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 12, तृतीय संस्करण, 1978
17 युगपथ—युगान्त—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 26, तृतीय संस्करण, 1978
18 रूपाभ पत्रिका का सम्पादकीय—अंक एक, जुलाई 1938
19 युगवाणी—नव दृष्टि, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 18
20 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड-2, ग्राम्या—गाँव के लड़के, प्रथम सं. 1979
21 उत्तरा-प्रस्तावना—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 9, चतुर्थ संस्करण, सन् 1980
22 रजतशिखर—विज्ञापन—सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 3, पृ. 80, प्रथम संस्करण 1979।
23 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड-3, रजतशिखर-रजतशिखर, पृ 91-95
24. युगवाणी—बापू कविता—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 17, पाँचवाँ संस्करण, 1982
25 रजतशिखर—विद्युत्वसना, सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 3, पृ 151, प्रथम संस्करण, 1979
26 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड-3, रजतशिखर-शरदचेतना, पृ. 163, प्रथम संस्करण 1979
27 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड-3, शिल्पी-शिल्पी, पृ. 193, प्रथम संस्करण 1979
28 वही, पृ. 200
29 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड-3, शिल्पी-ध्वंसशेष, पृ. 213, प्रथम संस्करण 1979

30 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, शिल्पी : अप्सरा, पृ. 240, प्रथम संस्करण 1979
31 वही, पृ. 241,
32 वही, पृ. 242,
33 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, अतिमा-विज्ञापन, पृ. 352, प्रथम संस्करण 1979
34 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 3, सौवर्ण-सौवर्ण, पृ. 277, प्रथम संस्करण 1979
35 वही, पृ. 279,
36 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, सौवर्ण-स्वप्न और सत्य, पृ. 308, प्रथम संस्करण, 1979
37. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 3, सौवर्ण-दिग्विजय, पृ. 315, प्रथम संस्करण 1979
38 वही, पृ. 315
39. वही, पृ. 319
40 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 4, वाणी-अभिषेक कविता, पृ. 161, प्रथम संस्करण 1979
41. कला और बूढ़ा चाँद—"कला" शीर्षक कविता, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 18 तृतीय संस्करण 1973
42 वही, पृ. 19,
43. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, प्रथम संस्करण 1979
44. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 42, प्रथम संस्करण 1965
45. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 80, प्रथम संस्करण 1965
46 कला और संस्कृति—विज्ञापन, सुमित्रानन्दन पन्त, प्रथम संस्करण, 1965
47 किरण-वीणा—देव श्रेणी, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 11 प्रथम संस्करण 1967
48 किरण-वीणा—विज्ञापन, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 11 प्रथम संस्करण 1967

49 पौ फटने से पहले—कविता संख्या 1, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 1, प्रथम संस्करण 1967
50. वही, कविता संख्या 17, पृ. 49
51 वही, कविता संख्या 26, पृ. 99
52 वही, कविता संख्या 40, पृ. 112-113
53 पतझर : एक भावक्रान्ति—विज्ञापन, सुमित्रानन्दन पन्त, प्रथम संस्करण 1969
54 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, शंखध्वनि, कला की सार्थकता, पृ. 17, प्रथम संस्करण 1979
55 वही, शंखध्वनि : वस्तु बोध, पृ. 25
56. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, शशि की तरी—परिचय, पृ. 89, प्रथम संस्करण 1979
57. वही, कविता सं. 9, पृ. 96
58 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, शशि की तरी, कविता सं. 2, पृ. 139, प्रथम संस्करण 1979
59 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, कविता सं. 87, पृ. 193, प्रथम संस्करण 1979
60. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, कविता सं. 101, पृ. 212, प्रथम संस्करण 1979
61. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रन्थावली खण्ड 7, आस्था, कविता सं. 11, पृ. 224, प्रथम संस्करण, 1979
62. वही, कविता सं. 86, पृ. 284
63 वही, कविता सं. 73, पृ. 272
64. वही, कविता सं. 98, पृ. 294, प्रथम संस्करण 1979
65. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—विज्ञापन-सुमित्रानन्दन पन्त, प्रथम संस्करण 1973
66 सत्यकाम—विज्ञप्ति—सुमित्रानन्दन पन्त, प्रथम संस्करण 1975
67. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, गीत-अगीत, गीत संख्या 17, पृ. 451, प्रथम संस्करण 1979
68. वही, कविता सं. 31, पृ. 462
69. वही, कविता सं. 42, पृ. 474
70 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, संक्रांति, कविता सं. 5, पृ.

525, प्रथम संस्करण 1979
71. वही, कविता सं 14, पृ. 529,
72. वही, नये संकट, कविता सं. 5, पृ. 559
73 वही, कविता सं. 4, पृ. 558
74. वही, नये संकट, कविता सं. 7, पृ. 561
75. मुक्ताभ—भूमिका—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 5, प्रथम संस्करण, 1977
76. वही, पृ. 10-11,
77. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरी सबसे प्रिय रचना (लेख), पृ. 195, प्रथम संस्करण 1979
78. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—सुमित्रानन्दन पन्त, नव मानवता का स्वप्न, पृ. 51, प्रथम संस्करण 1973
79. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, जो न लिख सका—पृ. 359, प्रथम संस्करण 1979
80 साठ वर्ष और अन्य निबन्ध, सुमित्रानन्दन पन्त, नवमानवता का स्वप्न, पृ. 52, प्रथम संस्करण 1973

प्रथम अध्याय

पन्त जी के तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी विचार

तत्त्व-दर्शन ही वह चेतना-शिखर है जहाँ से धर्म, साधना, उपासना सदाचार की धाराएँ निस्सृत होती हैं। हर प्रकार के सांस्कृतिक चिन्तन व्यवहार का उत्स तत्त्व-दर्शन में ही निहित होता है। तत्त्व-दर्शन की गहन के बिना सभी शास्त्रीय, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टियाँ छिन्नमूल निराधार-सी प्रतीत होती हैं। नवीन सांस्कृतिक चेतना के अग्रदूत महापुरुषों व्यक्तित्व उनके तत्त्व-दर्शन से ही अनुप्राणित रहता है और वही उन्हें मान महत्ता का अनुभावन करने और विश्व-जीवन में उसकी स्थापना का प्रयास की प्रेरणा देता है।

पन्त जी के चिन्तन में किसी विशेष धार्मिक या साम्प्रदायिक दर्शन प्रति परिपूर्ण या अविचल निष्ठा के दर्शन हमें नहीं होते। उसमें तो अध्ययन तथा चिंतन से उपलब्ध उन सभी तत्त्वों का समन्वय मिलता है जिसके मानव कल्याणकारी पथ से नवमानवता की ओर बढ़कर पृथ्वी पर ही स्वर्गिक अनुभूतियों को प्राप्त कर सके। उन्होंने अपनी दार्शनिक विचारधारा में ब्रह्म आत्मा, सृष्टि, जीवन तथा जगत् के प्रति जो विचार व्यक्त किये हैं वे मानव-हित से सम्बन्धित हैं। मानव, मानव-जीवन तथा प्रकृति-सौन्दर्य सभी एक ही आत्मा—ईश्वर है। यह सर्वात्मभाव उनके स्वभाव, व्यक्तित्व तथा कृतित्व का मूल स्वर है। पंत जी अपनी प्रथम कृति "हार" के "युवायोगी" से लेकर अपनी नवीनतम कृतियों "सत्यकाम", (1975), "गीत-अगीत", (1976), "संक्रान्ति" (1977) तक में एक ही लक्ष्य—मानवकल्याण—की प्राप्ति के लिए आकुल रहे। इसीलिए औपनिषदिक विचारधारा, मार्क्स, गांधी, विवेकानन्द, अरविन्द आदि जिसकी भी विचारधारा से पंत जी को मानवकल्याण हेतु जो तत्त्व मिले उन्हें ही उन्होंने ग्रहण करके अपनी समन्वयवादी दृष्टि तथा कल्पना के आधार पर नूतन परिवेश में सजाकर प्रस्तुत किया। पन्त जी ने स्वयं ही स्वीकार किया

8—"मैं न दार्शनिक हूँ न दर्शनज्ञ, न मेरा अपना कोई दर्शन है और न यही मुझे लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये मेरे मन के प्रकाश-स्फुरण अथवा भाव-प्ररोह हैं जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं में शब्द-मूर्त करने का प्रयास किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य-क्षितिजों को छू सका हूँ वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते हैं। दर्शन-ग्रन्थों तथा महापुरुषों के वचनों से अपनी भावनात्मक उपलब्धियों का समर्थन पाकर मैं आश्वस्त हुआ हूँ और मुझे मनोबल भी प्राप्त हुआ है।"[1]

पन्त जी को सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा प्रकृति से मिली। "आधुनिक कवि: भाग 2" के "पर्यालोचन" में उन्होंने स्वयं कहा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टों बैठा प्रकृति के दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अज्ञात सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्य-पट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।"[2]

एक ओर प्रकृति-दर्शन और दूसरी ओर हिमालय की तपोभूमि में गुंजित रामकृष्णदेव, विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ के अद्वैत-दर्शन से युक्त सप्राण वचनों तथा उपदेशों ने मिलकर पंत जी के प्रारम्भिक व्यक्तित्व तथा मानस-जगत् का निर्माण किया। 15 वर्ष की अवस्था से ही उन्होंने रामायण, महाभारत, गीता आदि को पढ़ना भी प्रारम्भ कर दिया था। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उनकी धार्मिक वृत्ति को और पोषण मिला। दूसरी ओर वह दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की ओर भी झुके। उन्होंने स्वयं ही लिखा है—"स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। "परिवर्तन" में भी इस विचारधारा का काफ़ी प्रभाव है।"[3]

अपनी "आत्मिका" शीर्षक रचना में उन्होंने इस प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"रामकृष्ण औ' रामतीर्थ के वचनामृत से थी भू प्लावित
पुनर्जागरण का युग था वह भारतीय दर्शन का जग हित।

× × ×

दर्शन भाग

प्रथम अध्याय

पन्त जी के तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी विचार

तत्त्व-दर्शन ही वह चेतना-शिखर है जहाँ से धर्म, साधना, उपासना एवम् सदाचार की धाराएँ निस्सृत होती हैं। हर प्रकार के सांस्कृतिक चिन्तन और व्यवहार का उत्स तत्त्व-दर्शन में ही निहित होता है। तत्त्व-दर्शन की गहन दृष्टि के बिना सभी शास्त्रीय, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टियाँ छिन्नमूल और निराधार-सी प्रतीत होती हैं। नवीन सांस्कृतिक चेतना के अग्रदूत महापुरुषों का व्यक्तित्व उनके तत्त्व-दर्शन से ही अनुप्राणित रहता है और वही उन्हें मानवीय महत्ता का अनुभावन करने और विश्व-जीवन में उसकी स्थापना का प्रयास करने की प्रेरणा देता है।

पन्त जी के चिन्तन में किसी विशेष धार्मिक या साम्प्रदायिक दर्शन के प्रति परिपूर्ण या अविचल निष्ठा के दर्शन हमें नहीं होते। उसमें तो अध्ययन तथा चिंतन से उपलब्ध उन सभी तत्त्वों का समन्वय मिलता है जिसके द्वारा मानव कल्याणकारी पथ से नवमानवता की ओर बढ़कर पृथ्वी पर ही स्वर्गिक अनुभूतियों को प्राप्त कर सके। उन्होंने अपनी दार्शनिक विचारधारा में ब्रह्म, आत्मा, सृष्टि, जीवन तथा जगत् के प्रति जो विचार व्यक्त किये हैं वे सभी मानव-हित से सम्बन्धित हैं। मानव, मानव-जीवन तथा प्रकृति-सौन्दर्य सभी में एक ही आत्मा—ईश्वर है। यह सर्वात्मभाव उनके स्वभाव, व्यक्तित्व तथा कृतित्व का मूल स्वर है। पंत जी अपनी प्रथम कृति "हार" के "युवायोगी" से लेकर अपनी नवीनतम कृतियों "सत्यकाम", (1975), "गीत-अगीत", (1976), "संक्रान्ति" (1977) तक में एक ही लक्ष्य—मानवकल्याण—की प्राप्ति के लिए आकुल रहे। इसीलिए औपनिषदिक विचारधारा, मार्क्स, गांधी, विवेकानन्द, अरविन्द आदि जिसकी भी विचारधारा से पंत जी को मानवकल्याण हेतु जो तत्त्व मिले उन्हें ही उन्होंने ग्रहण करके अपनी समन्वयवादी दृष्टि तथा कल्पना के आधार पर नूतन परिवेश में सजाकर प्रस्तुत किया। पन्त जी ने स्वयं ही स्वीकार किया

है—"मैं न दार्शनिक हूँ न दर्शनज्ञ, न मेरा अपना कोई दर्शन है और न यही मुझे लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये मेरे मन के प्रकाश-स्फुरण अथवा भाव-प्ररोह हैं जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं में शब्द-मूर्त करने का प्रयास किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य-क्षितिजों को छू सका हूँ वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान तथा सजीव लगते हैं। दर्शन-ग्रन्थों तथा महापुरुषों के वचनों से अपनी भावनात्मक उपलब्धियों का समर्थन पाकर मैं आश्वस्त हुआ हूँ और मुझे मनोबल भी प्राप्त हुआ है।"[1]

पन्त जी को सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा प्रकृति से मिली। "आधुनिक कवि: भाग 2" के "पर्यालोचन" में उन्होंने स्वयं कहा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टों बैठा प्रकृति के दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अज्ञात सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्य-पट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।"[2]

एक ओर प्रकृति-दर्शन और दूसरी ओर हिमालय की तपोभूमि में गुंजित रामकृष्णदेव, विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ के अद्वैत-दर्शन से युक्त सप्राण रचनों तथा उपदेशों ने मिलकर पंत जी के प्रारम्भिक व्यक्तित्व तथा मानस-जगत् का निर्माण किया। 15 वर्ष की अवस्था से ही उन्होंने रामायण, महाभारत, गीता आदि को पढ़ना भी प्रारम्भ कर दिया था। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उनकी धार्मिक वृत्ति को और पोषण मिला। दूसरी ओर वह दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की ओर भी झुके। उन्होंने स्वयं ही लिखा है—"स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। "परिवर्तन" में भी इस विचारधारा का काफ़ी प्रभाव है।"[3]

अपनी "आत्मिका" शीर्षक रचना में उन्होंने इस प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है—

> "रामकृष्ण औ' रामतीर्थ के वचनामृत से थी भू प्लावित
> पुनर्जागरण का युग था वह भारतीय दर्शन का जग हित।
>
> × × ×

गरज रहे थे अन्तर उर्वर, दीप्त विवेकानन्द वचन घन।

पुनर्जागरण का वह युग था ही और इस जागरण-काल में भारतीय संस्कृति के उन शाश्वत और प्राचीन मूल्यों के जो समय के प्रभाव से मध्ययुग में अपना महत्त्व खो बैठे थे, पुनर्जीवन तथा पुनःस्थापन के लिए समवेत प्रयत्न किये गये थे। धार्मिक और सांस्कृतिक नवजागरण से उत्पन्न वातावरण का प्रभाव अन्य छायावादी कवियों की भाँति पन्त जी पर भी पड़ा।

उन्हीं दिनों कवीन्द्र रवीन्द्र की "गीतांजलि" नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत हुई थी। "गीतांजलि" के गीत उपनिषद्-दर्शन से प्रभावित थे और पन्त जी की रुचि के अनुकूल थे। पन्त जी ने गीतांजलि तथा उपनिषद्-साहित्य दोनों का ही गम्भीर अध्ययन किया।

उपनिषदों के अध्ययन ने तो उनके चिन्तन की दिशा ही बदल दी थी। उनका कथन है कि—"दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्त्व मे मंथन पैदा कर दिया और उनके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरे निजी इच्छाओ के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गयी।...........जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखायी देने लगी और बसंत के कुसुमित वातावरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर। इस क्षणभंगुरता के बुदबुदों के संसार में परिवर्तन ही एक मात्र चिरन्तन सत्ता जान पड़ने लगी।"[5]

जहाँ एक ओर उपनिषद्-दर्शन के अध्ययन ने पन्त जी को कुछ समय के लिए उदासीनता के वातावरण में भटकाया है, वहीं दूसरी ओर उसके विधेयात्मक पक्ष से वह प्रसन्न भी हुए हैं—"किन्तु दर्शन के अध्ययन-विश्लेषण की पैनी धार ने जहाँ जीवन के नाम, रूप, गुण के छिलके उतारकर मन को शून्य की परिधि में भटकाया है, वहीं वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसे सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से विमुग्ध और विस्मित कर देती है।"[6]

पन्त जी के भावुक मन तथा मानस पर युग के जिन द्रष्टाओं का प्रभाव पड़ा उनमें रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द, गांधी, मार्क्स तथा योगी अरविन्द के नाम लिये जा सकते हैं। पन्त जी पर जब हम मार्क्स के प्रभाव की बात कहते हैं तो उससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि पन्त जी ने भौतिकवाद को स्वीकार कर लिया था। भौतिकता को वाद के रूप में उन्होंने न पहले स्वीकार किया था और न बाद में ही। भौतिकता की उनकी अपनी अलग व्याख्या थी जिसका

उन्होंने गांधी जी के अध्यात्मवाद से समन्वय कर दिया था। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त कि 'मुख्य तत्त्व पदार्थ (जड़) है, उसी से जीवन (चेतना) का विकास हुआ है, आत्मा-परमात्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है'—उनके आस्तिक मन को कभी स्वीकार्य नहीं हो सका। साथ ही सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर हिंसात्मक क्रांति के पक्ष का भी उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। वह उस दर्शन की ऐतिहासिक व्याख्या को अवश्य स्वीकार करते थे और जगत् की भौतिकता की सत्ता में भी विश्वास रखते थे। साथ ही उन्होंने मध्ययुगीन भारतीय दर्शन के अभावात्मक विचारों पर, जैसे जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद आदि, जो जग-जीवन के चतुर्दिक विकास में बाधक सिद्ध होते हैं, पर अत्यधिक क्षोभ व्यक्त किया।[7] पन्त जी ने न तो भारतीय दर्शन के परवर्ती संकीर्ण व्यक्तिवाद को प्रश्रय दिया और न भौतिकतावादी नास्तिकता को ही। उन्होंने दोनों दर्शनों के लोककल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष को अवश्य ग्रहण किया है। उन्होंने लिखा है—"मानवता और सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त में मिली उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी।"[8]

किन्तु वह अपने इस दृष्टिकोण के पोषण के लिए दर्शन की ठोस आधार-भूमि चाहते थे और वह उन्हें आगे चलकर मिली थी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द से। इन दोनों महापुरुषों ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार करके उन्हें जीवन के लिए ग्रहणीय तथा स्पृहणीय बना दिया था तथा औपनिषदिक अद्वैतवाद को सामाजिक धरातल पर स्वीकार करके मानव-मानव की एकता तथा समानता का स्वर गुंजित किया था। इनकी जीवन-दृष्टि में किसी भी प्रकार के भेद-भाव को तनिक भी स्थान नहीं था। पन्त जी को यही अभीष्ट था। अतः उन्होंने इनकी मान्यताओं को अपनी समग्र चेतना के साथ स्वीकार कर लिया।

पन्त जी के थोड़े बहुत विचारों से हम पहले ही परिचित हो चुके हैं। फिर भी ब्रह्म, आत्मतत्त्व, सृष्टि, प्रकृति, जीव तथा जगत् के प्रति उनके विचार क्या थे तथा उन्हें प्रभावित करने वाली मुख्य विचारधाराएँ कौन-कौन सी थीं यह जानना उनके वैचारिक व्यक्तित्व को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। आगामी पृष्ठों में तत्त्व-दर्शन से सम्बन्धित विविध तत्त्वों तथा पक्षों के सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों का कुछ अधिक विस्तृत परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

परम सत्ता ब्रह्म

दर्शन में सत् (सत्ता) की खोज की जाती है। सत् को ही तत्त्व या परम पदार्थ कहते हैं। कभी-कभी इसी को अन्तिम सत्ता या सत्य तथा परम-तत्त्व कहते हैं। यह सत् क्या है? यह सत् है कि नहीं? यह भाव है या अभाव? यह अनेक है या एक? इन प्रश्नों के भी विविध उत्तर हैं जिनके कारण विविध तत्त्ववादों का जन्म हुआ। इसे शून्यवादी (बौद्ध) शून्य, विज्ञानवादी (बौद्ध) विज्ञान, शब्दवादी (वैयाकरण स्फोटवादी) शब्द, शक्तिवादी शक्ति, शिववादी शिव तथा अद्वैत वेदान्ती आत्मा मानते हैं। हिन्दी के सन्तों में कुछ इसे सत् या सत्य कहते हैं, कुछ नाम कहते हैं तो कुछ हरि कहते हैं। वैदिक तत्त्व-ज्ञान के अन्तर्गत कहा गया है कि समस्त सृष्टि के पीछे एक ही शक्ति है। वह सर्वव्यापक है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होता है और उसे जानकर ही हम सब कुछ जान पाते हैं। पन्त जी ने "वीणा" नामक काव्य-संग्रह में संकलित निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में यही भाव वर्णित किया है कि हम उस परम-सत्ता को जाने बिना इस संसार को नहीं जान सकते क्योंकि वही एक इस सृष्टि के सारे रहस्यों के पीछे शक्ति रूप में विद्यमान है—

"वैसे ही तेरा संसार,
अति अपार यह पारावार,
नहीं खोलता है माँ! अपने,
अद्भुत रत्नों का भण्डार।
× × ×
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार
दिखलाई देती तब उसकी,
विश्वमूर्ति अति सदय उदार।"[9]

इसी संकलन की एक अन्य कविता में पन्त जी ने उस सत्ता का माँ के रूप में स्तवन करते हुए उससे प्रश्न किया है कि वह शुभ दिन कब आयेगा जब उस छविमान की छवि के दर्शन हो सकेंगे, जिसका प्रतिबिम्ब जग के इस निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है।[10]

वस्तुतः यहाँ पन्त जी ने प्रकारान्तर से माँ रूप में ब्रह्म की सर्वव्यापकता की ओर संकेत किया है। इस संसार में प्रत्येक वस्तु में वह परम-तत्त्व विद्यमान है। उपनिषद् "सर्वंखल्विदम् ब्रह्म" कहकर इसी दृष्टिकोण का समर्थन करती है।

उपनिषद् में जगत् को सत्य तथा ब्रह्म को सत्यस्यसत्यम् कहा है। जगत् सत्य है किन्तु निम्न कोटि का सत्य है और ब्रह्म सत्य का भी सत्य है।[11] अर्थात् ब्रह्म सर्वोच्च सत्य है, उससे परे कुछ भी नहीं है, वही जीव तथा प्रकृति का भी गन्तव्य है। किन्तु उसका वास्तविक रूप प्रकृति के, माया के परदे से ढका हुआ है। "हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्" से भी यही भाव ध्वनित होता है स्पष्ट है कि ब्रह्म का स्वरूप मायामय (अविद्यारूपी) प्रकृति के आवरण मे है, उसके स्वरूप को देखने के लिए इस आवरण को दूर करना आवश्यक है। किन्तु उस छवि के मंजुल उपवन का मार्ग इसी अविद्यामय प्रकृति में से ही होकर जाता है; इसलिए उसका अपलाप तो नहीं किया जा सकता, पर यही सब कुछ नहीं है, यह सत्य है। यदि हमारी दृष्टि विश्व के, प्रकृति के मोहक रूप तक ही उलझी रह जाती है तथा हम अविद्या के आवरण को छिन्न-भिन्न करके आगे बढने का प्रयत्न नहीं करते तो निश्चय ही हम मृगमरीचिका में भटक गये है। जगत् के प्रति उपनिषदों का यही दृष्टिकोण है तथा पन्त जी की भी यही विचारणा है।

जीवन के पीछे वह एक अदृश्य शक्ति का अनुभव निरन्तर किया करत थे। वह मानते थे कि जीवन केवल प्रत्यक्ष नियमों से ही नहीं, परोक्ष प्रेरणाओं स भी संचालित होता है। उनका परम-सत्ता सम्बन्धी यह चिन्तन "पल्लव" मे "वीणा" की अपेक्षा अधिक पुष्ट होकर आया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में उन्होने लिखा है—

"तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार,
तुम्हीं में निराकार साकार,
मृत्यु जीवन सब एककार।

× × ×

अचिर विश्व में अखिल,
दिशावधि कर्म नयन मन,
तुम्हीं चिरन्तन! अहे विवर्तनहीन विवर्तन।"[12]

ब्रह्म ही प्रकृति-नर्तकी का भी सूत्रधार है—

"प्रकृति-नर्तकी सुघर! अखिल में व्याप्त सूत्रधर।"[13]

"पल्लव" के "मौन निमंत्रण" में तो बार-बार इसी दिव्य सत्ता की ओर संकेत किया गया है। "ज्योत्स्ना" में भी इसी परम-सत्ता का वर्णन कई स्थलो

पर मिलता है जिससे सब कुछ उदय होता है तथा जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है। एक स्थल पर पन्त जी ने कहा है–

> "चिन्मय प्रकाश में विश्व उदय,
> चिन्मय प्रकाश में विकसित लय,
> रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह ताराचय,
> अग जग प्रकाशमय है निश्चय।"[14]

"युगवाणी" की "संकीर्ण भौतिकताओं के प्रति" शीर्षक कविता में ब्रह्म की सर्वातीतता का वर्णन करते हुए पन्त जी ने लिखा है–

> "बहिरंतर, आत्मा भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
> व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य का मूल।"[15]

यहाँ पन्त जी के ब्रह्म-तत्त्व के चिन्तन पर "तत् सर्वस्यास्य बाह्यतः"[16] इस श्रुति का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। वह तत्त्व सभी भूतों से अतीत है तथा व्यक्ति–विश्व, स्थूल-सूक्ष्म सबसे परे है। उससे परे अन्य कुछ नहीं है। इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र ब्रह्म का "वाणी" (शब्द ब्रह्म) रूप में वर्णन करते हुए उस तत्त्व का जन्म-मरण, तम-प्रकाश सबसे अतीत कहकर परिचय दिया है।"[17]

सर्वव्यापी, सर्वातीत परम तत्त्व की व्याप्ति का वर्णन करते हुए पन्त जी ने लिखा है–"वह असीम ही सीमाओं में व्याप्त है, वह नाना रूपों में, नित एक रूप में विद्यमान है। कलुषित-दूषित में चिर पवित्र रूप में; कुत्सित-कुरूप में सुन्दर रूप में; खण्डित, कुंठित, क्षणभंगुर पदार्थों में नित्य तथा शाश्वत रूप में वही एक निहित है।"[18]

किन्तु वह ईश्वर सामान्य व्यक्ति को दिखाई नहीं पड़ता है। वह क्यों नहीं दिखाई पड़ता, इस बात को पन्त जी ने बहुत ही सहज भाव से निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है–

> "पट पर पट केवल तम अपार, पट पर पट खुले न मिला पार।
> सखि, हटा अपरिचय अन्धकार, खोलो रहस्य के मर्म द्वार।
> मैं हार गया, तह छील छील! आँखों से प्रिय छवि लील लील,
> मैं हूँ या तुम? यह कैसा छल! या हम दोनों, दोनों केवल?
> हम दो भी हैं या नित्य एक? तब कोई किसको सके देख?"[19]

"स्वर्ण-किरण" तथा "स्वर्णधूलि" में ब्रह्म, जीव तथा जगत् सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन उनकी समस्त पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा विस्तृत तथा व्यापक

पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। यहाँ ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण दोनों ही रूपों पर उन्होंने विस्तार से विचार व्यक्त किये हैं। उसे जड़ तथा चेतन से परे अगोचर भी कहा है तथा जीवन का सनातन मूल भी माना है; अन्न, प्राण, मन आदि में ईश्वर की चिर व्याप्ति का उल्लेख भी किया है तथा साथ ही उस तत्त्व को मुक्त सच्चिदानन्द चिरन्तन भी कहा है।"[20] आगे उसकी सर्वव्यापकता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है–

"वही तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित,
वही फूल मधु सुरभि, वही मधुलिह चिरगुंजित।"[21]

वह इतना सूक्ष्म है कि उसे अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अरूप, अस्पृश्य, अरस, अगंध, अगोचर आदि कहा जाता है। वह नेत्र, वाणी, मन, बुद्धि आदि द्वारा जाना नहीं जा सकता। पन्त-काव्य में इसी ब्रह्म के दर्शन हमें चाँदनी, शिशु, अप्सरा आदि के रूप-वर्णन में होते हैं। उनकी चाँदनी रूप, रंग, रेख से ओझल है तो शिशु अतुल, अरूप, अनाम; तथा अप्सरा नित्य, अदृश्य, अस्पृश्य, अकथ, अलौकिक, अमर एवं अगोचर है। चाँदनी के रूप का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है–

"वह है, वह नहीं, अनिर्वच, जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना-सी वह, जिसमें अचेत जीवाशय।"[22]

यहाँ पन्त जी के विचार श्री अरविन्द से काफ़ी मिलते-जुलते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार "परम-सत्ता, शाश्वत, निरपेक्ष तथा असीम है।"[23] "प्रातिभज्ञान द्वारा उसका अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।"[24] "मानव प्राणी अपनी प्रकृति को उन्नत बनाकर इस भागवत सत्ता के साथ एकत्व अनुभव कर सकता है तथा दिव्य जीवन को प्राप्त कर सकता है। इसके लिए उसे अपनी आत्मा का साक्षात्कार करना होगा।"[25] इसी सत्य को अपनाकर पन्त जी ने आत्मप्रधान संस्कृति की कल्पना की है तथा जन-भू-स्वर्ग (दिव्य जीवन की भू-प्रतिष्ठा) के लिए मानवता को आत्मकेन्द्रित तथा अणुमृत—जन के लिए अपने भीतर देखने की अपेक्षा का संकेत किया है।

योगिराज अरविन्द के विचारानुसार जड़ तथा चेतन में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही सत्ता के दो छोर हैं। अतः दोनों एक हैं।"[26] पन्त जी ने उसका परिचय इन शब्दों में दिया है–

"दिव्य पुरुष जो अति समीप, अन्तरतम में स्थित,

नहीं देख पाते उसको, वह जो अभिन्न नित।
देखो उसके दिव्य काव्य को संसृति-विस्तृत,
वह कभी न मरता है, न जीर्ण होता वेदाऽमृत।"[27]

इसी ब्रह्म की चर्चा पन्त जी ने "उत्तरा" में इस प्रकार की है—

"तुम आये गये, जगत् का छल,
तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल।
रीता हो मरे धरा अंचल
तुम परे अचिर, चिर से सुन्दर।"[28]

परम-तत्त्व के आने-जाने (आरोहण-अवरोहण) में ब्रह्म का चेतन विकास परिलक्षित होता है। यहाँ पर पन्त जी पर अरविन्द-दर्शन के विकास-सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है। श्री अरविन्द के विचारानुसार विकास के दो पक्ष है—निवर्तन—विवर्तन या अवरोहण-आरोहण। जो निवर्तित अथवा अवरोहित है, ऊपर स्तरों में निहित है, विकास की प्रक्रिया में उसी का विवर्तन-आरोहण होता है। उस अद्वितीय परम-ब्रह्म ने संकल्प किया "एकोऽहं बहुस्याम्", मैं एक हूँ, अनेक होऊँ—और वह त्रिक् के रूप में सत्—चित्—आनन्द होकर प्रकट हुआ। यह गोचर जगत् उसी परम-तत्त्व का पार्थिव निवर्तन है। श्री अरविन्द ने इस निवर्तन अथवा अवरोहण का सोपान-क्रम यह बतलाया है—सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मानस, जीव, प्राण, जड़ तत्त्व (मैटर)। विवर्तन अथवा विकास का सोपान—क्रम ठीक इसके विपरीत है—जड़ तत्त्व से प्राण, प्राण से जीव, जीव से मानस, मानस से अतिमानस, अतिमानस से आनन्द, उस से चित् और उससे परम ब्रह्म अर्थात् निरपेक्ष सत्। इस प्रकार जड़ भी भौतिकतावादी जड़ता से युक्त जड़ नहीं है, सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही निवर्तन है।"[29]

"स्वर्णोदय" कविता में पन्त जी ने जीवन के भू पर अवतरण तथा उसके विकास-ह्रास के क्रमान्तर को साधारण बालक की जीवन-यात्रा के रूपक द्वारा अंकित किया है। बालक के जन्म के रूप में अमर्त्य फिर इस धरती पर मर्त्य देह लेकर अवतरित होता है। उसकी प्रशस्ति में पन्त जी ने लिखा है—

"जयति, प्रथम जीवन स्वर्णोदय,
रक्त स्फीत, लो दिशा का हृदय।
काल तमस व्यवधान चीरकर,
किसने मारा यह स्वर्णिम शर? × × × धन्य आज का पुण्य दिवस क्षण,

फिर अमर्त्य ने धरा मर्त्यतन।"[30] धीरे-धीरे समय व्यतीत होता है। वह बालक से किशोर, किशोर से पिता और विचार तथा कर्म के ताप में तपकर पितामह बनता है। उसकी चेतना का भी विकास होता है। वह जड़-चेतन से परे मूल सनातन जीवन-स्थिति को दिव्य समझने लगता है। अन्न, प्राण, मन, आत्मा उसी एक चिरव्याप्त, मुक्त, सच्चिदानन्द चिरन्तन ईश के मात्र ज्ञानभेदात्मक विविध रूप बन जाते हैं–

> "वस्तु भेद ये : चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित,
> वह अज्ञेय, स्वतः संचालित, एक, अखंडित।
> × × ×
> एक एकता से न बद्ध, बहु मुख शिख शोभन,
> सर्व, सर्व से परे, अनिर्वचनीय, वह परम"[31]

सन् 1974 में लिखित "सत्यकाम" की इन पंक्तियों में भी प्रकारान्तर से यही बात कही गयी है–

> "जड़ में प्रथम निवर्तित फिर जीवन में विकसित
> भू अवरोहण किया ब्रह्म ने जीव जगत् में,
> आरोहण मानव को करना पड़ा, पुनः वह
> आत्मा का पा दिव्य स्पर्श, निज मूल सत्य का
> सित् अनुभव कर सके प्राप्त–सच्चिदानन्दमय!"[32]

इस अनुभूति के प्राप्त होने पर उसका हृदय शाश्वत अमृत से भर जाता है। अब वह अंतर्जीवन के इसी सत्य को मानव-जीवन का केन्द्र मानता है।

अतः स्पष्ट है कि पन्त जी के विचारानुसार जगत् की प्रवंचना अथवा भ्रम भी ईश्वर ही है। वह सनातन सत्य है जिसकी अभिव्यक्ति से धरती पर संसृति का ह्रास तथा विकास होता रहता है। वह तत्त्व चिर एवं अचिर दोनों से परे है। यह ब्रह्म की अनिर्वचनीयता तथा निर्विशेषता है जो उसका उच्चतम स्वरूप है। इस प्रकार यहाँ सच्चिदानन्द की स्थापना के साथ-साथ उसकी अनिर्वचनीयता भी स्वीकार की गयी है।

उपनिषदों में भी ब्रह्म को इन दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। उसका उच्चतम भावात्मक रूप–जहाँ तक मानव बुद्धि पहुँच सकती है–वह सच्चिदानन्द है, मानव के क्षेत्र से परे भी उसका रूप है, अतः वह अनिर्वचनीय है।

नहीं देख पाते उसको, वह जो अभिन्न नित।
देखो उसके दिव्य काव्य को संसृति-विस्तृत,
वह कभी न मरता है, न जीर्ण होता वेदाऽमृत।"[27]

इसी ब्रह्म की चर्चा पन्त जी ने "उत्तरा" में इस प्रकार की है—

"तुम आये गये, जगत् का छल,
तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल।
रीता हो मरे धरा अंचल
तुम परे अचिर, चिर से सुन्दर।"[28]

परम-तत्त्व के आने-जाने (आरोहण-अवरोहण) में ब्रह्म का चेतन विकास परिलक्षित होता है। यहाँ पर पन्त जी पर अरविन्द-दर्शन के विकास-सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है। श्री अरविन्द के विचारानुसार विकास के दो पक्ष है—निवर्तन—विवर्तन या अवरोहण-आरोहण। जो निवर्तित अथवा अवरोहित है, ऊपर स्तरों में निहित है, विकास की प्रक्रिया में उसी का विवर्तन-आरोहण होता है। उस अद्वितीय परम-ब्रह्म ने संकल्प किया "एकोऽहं बहुस्याम्", मैं एक हूं, अनेक होऊँ—और वह त्रिक् के रूप में सत्—चित्—आनन्द होकर प्रकट हुआ। यह गोचर जगत् उसी परम-तत्त्व का पार्थिव निवर्तन है। श्री अरविन्द ने इस निवर्तन अथवा अवरोहण का सोपान-क्रम यह बतलाया है—सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मानस, जीव, प्राण, जड़ तत्त्व (मैटर)। विवर्तन अथवा विकास का सोपान—क्रम ठीक इसके विपरीत है—जड़ तत्त्व से प्राण, प्राण से जीव, जीव से मानस, मानस से अतिमानस, अतिमानस से आनन्द, उस से चित् और उससे परम ब्रह्म अर्थात् निरपेक्ष सत्। इस प्रकार जड़ भी भौतिकतावादी जड़ता से युक्त जड़ नहीं है, सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही निवर्तन है।"[29]

"स्वर्णोदय" कविता में पन्त जी ने जीवन के भू पर अवतरण तथा उसके विकास-ह्रास के क्रमान्तर को साधारण बालक की जीवन-यात्रा के रूपक द्वारा अंकित किया है। बालक के जन्म के रूप में अमर्त्य फिर इस धरती पर मर्त्य देह लेकर अवतरित होता है। उसकी प्रशस्ति में पन्त जी ने लिखा है—

"जयति, प्रथम जीवन स्वर्णोदय,
रक्त स्फीत, लो दिशा का हृदय।
काल तमस व्यवधान चीरकर,
किसने मारा यह स्वर्णिम शर? × × × धन्य आज का पुण्य दिवस क्षण,

फिर अमर्त्य ने धरा मर्त्यतन।"[30] धीरे-धीरे समय व्यतीत होता है। वह बालक से किशोर, किशोर से पिता और विचार तथा कर्म के ताप में तपकर पितामह बनता है। उसकी चेतना का भी विकास होता है। वह जड़-चेतन से परे मूल सनातन जीवन-स्थिति को दिव्य समझने लगता है। अन्न, प्राण, मन, आत्मा उसी एक चिरव्याप्त, मुक्त, सच्चिदानन्द चिरन्तन ईश के मात्र ज्ञानभेदात्मक विविध रूप बन जाते हैं—

"वस्तु भेद ये : चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित,
वह अज्ञेय, स्वतः संचालित, एक, अखंडित।
× × ×
एक एकता से न बद्ध, बहु मुख शिख शोभन,
सर्व, सर्व से परे, अनिर्वचनीय, वह परम"[31]

सन् 1974 में लिखित "सत्यकाम" की इन पंक्तियों में भी प्रकारान्तर से यही बात कही गयी है—

"जड़ में प्रथम निवर्तित फिर जीवन में विकसित
भू अवरोहण किया ब्रह्म ने जीव जगत् में,
आरोहण मानव को करना पड़ा, पुनः वह
आत्मा का पा दिव्य स्पर्श, निज मूल सत्य का
सित् अनुभव कर सके प्राप्त—सच्चिदानन्दमय!"[32]

इस अनुभूति के प्राप्त होने पर उसका हृदय शाश्वत अमृत से भर जाता है। अब वह अंतर्जीवन के इसी सत्य को मानव-जीवन का केन्द्र मानता है।

अतः स्पष्ट है कि पन्त जी के विचारानुसार जगत् की प्रवंचना अथवा भ्रम भी ईश्वर ही है। वह सनातन सत्य है जिसकी अभिव्यक्ति से धरती पर संसृति का ह्रास तथा विकास होता रहता है। वह तत्त्व चिर एवं अचिर दोनों से परे है। यह ब्रह्म की अनिर्वचनीयता तथा निर्विशेषता है जो उसका उच्चतम स्वरूप है। इस प्रकार यहाँ सच्चिदानन्द की स्थापना के साथ-साथ उसकी अनिर्वचनीयता भी स्वीकार की गयी है।

उपनिषदों में भी ब्रह्म को इन दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। उसका उच्चतम भावात्मक रूप—जहाँ तक मानव बुद्धि पहुँच सकती है—वह सच्चिदानन्द है, मानव के क्षेत्र से परे भी उसका रूप है, अतः वह अनिर्वचनीय है।

पन्त जी के विचारानुसार "परम निरपेक्ष है, शब्दहीन है, स्वरहीन है, भावहीन है, किन्तु यह निरपेक्ष "सदानीरा" जागतिक व्यापारों, सापेक्ष सत्यों द्वारा व्यक्त होता है। सापेक्ष को समझना निरपेक्ष को समझना है। जब इस निरपेक्ष का अंतःस्पर्श मिल जाता है तब अन्तर में अनहद नाद सुनाई पड़ता है। साक्षात्कार एवं अनुभूतिजन्य अन्तर्नाद ही शंख है।"[33]

"लोकायतन" में भी उस परम-सत्ता के विषय में पन्त जी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं–

"उस असत् ब्रह्म से नाम रूप सत् आया,
वह सुकृत, रसौ वै सः, सर्वत्र समाया
इच्छा बल से ही एक, विविध में वितरित।"[34]

आगे भी उन्होंने कहा है–

"अन्न ही ब्रह्म, जिसमें भव उद्भव स्थिति लय,
प्राण ही ब्रह्म, जो महत् अन्न का आशय।
मन ब्रह्म उभय ही अन्न प्राण का आलय,
विज्ञान ब्रह्म जो इन सबका आशय।
आनन्द ब्रह्म-आनन्द निखिल भव उद्भव,
आनन्द विश्व स्थिति, उसमें ही लय सम्भव।"[35]

उस सर्वव्यापी परम-तत्त्व की व्याप्ति का उल्लेख करते हुए पन्त जी ने लिखा है–

"सीमा में निस्सीम! महत् लघु ही में मूर्तित
समझ न पाया था, विधि कला-सृष्टि में सर्जित।"[36]

अपने अन्तर्मन में गूँजते हुए ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर उन्होंने स्वयं इस प्रकार दिया है–

"किसके हैं ये आँख, कान, मस्तक नासा मुँह?
गन्ध स्पर्श, रस शब्द अर्थ सार्थक हैं किससे?
किसके कर-पद, कर्मों की प्रेरणा, मनीषा,
निखिल इन्द्रियों का स्वामी वह कौन? ब्रह्म ही।
एकमेव वह अद्वितीय वह सर्वशक्तिमय।"[37]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के मूल में स्थित तथा उसके व्यापक रूप में परिव्याप्त एक परम-सत्ता में पन्त जी का विश्वास उनकी

चेतना का स्थायी अंग है और इसे उनका जन्मजात संस्कार कहा जा सकता है। आगे चलकर पन्त जी ने जो प्रभाव ग्रहण किये उनसे उनकी परमसत्ता में निष्ठा की निरन्तर पुष्टि हुई। उस परम-सत्ता के प्रति पन्त जी का आकर्षण भी उनकी चेतना का स्थायी तत्त्व है और वह उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तथा उसके साथ एकाकार होने की आकांक्षा से निरन्तर प्रभावित रहे हैं। उनके सम्पूर्ण काव्य-विस्तार में कहीं एक भी ऐसी पंक्ति नहीं मिलती जिससे यह प्रतीत हो कि सृष्टि की तत्त्वभूत परम-सत्ता में पन्त जी का विश्वास कभी खंडित हुआ हो।

आत्म-तत्त्व

ब्रह्म-तत्त्व की भाँति आत्मतत्त्व को भी उपनिषदों में अक्षर, अविनाशी, नित्य तथा अमरण-धर्मा कहा गया है। पन्त जी को भी प्रारम्भ से ही आत्मा के नित्यत्व तथा अमरत्व पर विश्वास था और उनकी सभी रचनाओं में उनके इस विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। उनकी परवर्ती रचनाओं में उनका यह विश्वास ओर अधिक मात्रा में अभिव्यक्त हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियाँ उनके इसी विश्वास की द्योतक हैं–

"मृत्युहीन रे यह पुकार मानव-आत्मा की निश्चय"[38]

तथा

क्षणभंगुर यह तन, आत्मा रे मुक्त चिरंतन"[39]

पन्त जी के विचारानुसार आत्मा लिंगरहित होती है–

"लिंग मुक्त है आत्मा! किसका पुत्र, पिता या दार?
किसका शत्रु मित्र वह, जो है एक अभिन्न, अनन्य,
उसी सर्वगत आत्मा का अस्तित्व, नहीं है अन्य।"[40]

उन्होंने इस तथ्य का स्पष्टतः प्रतिपादन किया है कि केवल आत्मा की ही सत्ता है, वह ज्ञाता और चिर निर्मुक्त है, वह नाम, रूप तथा चिह्न से भी रहित है, यह स्वयं परमात्मा-रूप है।"[41]

वह आत्मा तथा परमात्मा में अभेद-सम्बन्ध मानते थे। "लोकायतन" में पन्त जी ने दो पक्षियों के सुन्दर दृष्टान्त द्वारा इसे समझाने की चेष्टा की है। एक वृक्ष की डाली पर दो पक्षी रहते थे। एक बहुत चंचल था, एक डाली से दूसरी डाल तक फुदकता रहता था। दूसरा शांत, सुस्थिर, तेजस्वी तथा यशस्वी था। वृक्ष के कुछ फल मधुर थे, कुछ कड़वे भी थे। चंचल पक्षी कभी मधुर फल का आस्वाद लेता था और सुखी हो जाता था तथा कभी कड़वे फल खा जाता

था तो दुखी होता था और कभी-कभी तो वह इतना दुखी हो जाता था कि फल खाना ही छोड़ देता था और दूसरे पक्षी को ध्यान से देखने लगता था जो न कभी मधुर फल खाता था और न कड़वे फल; और इसी कारण वह न दुखी होता था और न सुखी ही। उससे आकर्षित होकर पहला पक्षी एक दिन दूसरे पक्षी के समीप जा बैठा तो उसके सान्निध्य तथा प्रकाश से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसका हृदय-परिवर्तन हो गया। उसका सारा भ्रम जाता रहा और उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान हो गया कि वह स्वयं भी उस दूसरे पक्षी की तरह का ही पक्षी था और उसके द्वारा मधुर व कड़वे फलों का खाया जाना तथा परिणामस्वरूप सुख और दुःख पाना एक प्रकार का भ्रम ही था—

"दो पक्षी रहते एक वृक्ष पर शाश्वत,
चखता पीपल फल एक, स्वाद में रत।
दूसरा देखता, भोग मुक्त मन, अनशन,
जीव ही ईश, जो भाव रहित प्रभु, अर्पित मन।
× × ×
नदियाँ ज्यों सागर में बह होतीं अवसित,
त्यों मुक्त पुरुष भी नाम रूप रज विरहित-
उस दिक् परात्पर चिद्, द्युति में होता लय।
भव क्रम विकास में खुलता जिसका आशय,
आत्मा ही दर्शन मनन योग्य परमोज्ज्वल।"[42]

कठोपनिषद् आत्मतत्त्व को देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से परे बतलाती है, वहाँ केवल सत्, चित्, आनन्द का वास रहता है।"[43] इसी से मिलते-जुलते विचार पन्त जी की इन पंक्तियों में दृष्टव्य हैं—

"मनोजग से परे त्यों आत्मा चिरन्तन,
जहाँ मुक्ति विराजती, औ' डूब जाता हृदय-क्रन्दन।
वहाँ सत् का वास रहता, वहाँ चित् का लास रहता,
वहाँ चिर उल्लास रहता, यह बताता योग दर्शन।"[44]

पन्त जी के विचारानुसार आत्मतत्त्व कहीं बाहर नहीं, हमारे अन्तर में ही विद्यमान है। औपनिषदिक तथ्य पर आधारित इस विचार पर बल देते हुए उन्होंने लिखा है—

"हम मूर्तियाँ हैं बाहर, चेतन प्रकाश कण भीतर हैं।"[45]

यही तथ्य उनकी विभिन्न रचनाओं में अनेक प्रकार से व्यक्त हुआ है। अन्तरतम में निहित मानव की आत्मा की दिव्यता कोई स्वप्न-कथा नहीं है। वह मनुयष्यत्व का सार-तत्त्व है जिसके अति-चेतन प्रकाश से शोभा-सुषमा की सहस्रों दीप्त मरीचियाँ विभिन्न दिशाओं में प्रकाश विकीर्ण कर उसकी महानता का प्रतिपादन कर रही हैं—

"वह अनिर्वाच्य सुख, आत्मा का सच्चिद् धन,
ज्योतित हो उससे जन-भू-मन का प्रांगण!
जलते न वहाँ रवि, शशि, विद्युत्, तारागण,
सबका प्रकाश उसके प्रकाश का ही कण।
× × ×
प्रज्ज्वलित अग्नि से उठ तद्वत् पावक कण
उड़कर ज्यों होते लीन उसी में तत्क्षण,
एकात्मा ही आत्माओं की महदाशय
तब व्यक्ति-मुक्ति का प्रश्न मात्र भ्रम निश्चय।"[46]

पन्त जी की निम्नोद्धृत पंक्तियों से भी उनकी उपर्युक्त धारणाओं की पुष्टि होती है—

"मनुज अस्मिता आत्मा की प्रतिनिधि बन जग में,
भाग्यों के उत्थान-पतन से जूझ निरंतर,
जीवन संघर्षों का मूल्यांकन कर प्रतिक्षण
क्रम विकास में, ऊर्ध्व-मूल्य को धरा अवतरित।"[47]

आगे भी उन्होंने लिखा है—

"निखिल वस्तुएँ जग की आत्मा की स्वरूप हैं—
वस्तु-बोधमय आत्म ज्ञान ही पूर्ण ध्वनात्मक।
× × ×
रूप तत्त्व की ही अरूपता आत्मा में है,
औ" आत्मा की ही अरूपता रूप तत्त्व है।"[48]

सृष्टि

पन्त जी के सृष्टि सम्बन्धी विचारों को भी उपनिषदों की सृष्टि सम्बन्धी स्थापनाओं से प्रेरणा मिली है। "एकोऽहम् बहुस्याम्" की प्रतिध्वनि उनके काव्य

म जहा-तहा सुनाइ पड़ती ह। कहा उन्हाने यह कहकर कि--

"एक छवि के असंख्य उडुगन, एक ही सब में स्पन्दन"[49]

आर कहीं यह कहकर कि--

"एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास।"[50]

सृष्टि-रचना के सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है।

सृष्टि के विभिन्न कणों को एकता के साँचे में ढालकर नवीनतम स्वरूपो की सृष्टि करने वाली अतुलित सत्ता का महत्त्व उन्होंने इन शब्दों में दर्शाया है--

"महिमा के विशद जलधि में, हैं छोटे छोटे से कण,
अणु में विकसित जग जीवन, लघु अणु का गुरुतम साधन।"[51]

पन्त जी ने 'युगवाणी' की 'रूपपूजन' तथा 'ग्राम्या' की 'खिड़की स' कविताओं में भी सृष्टि सम्बन्धी चिंतन किया है। उनके विचारानुसार यह सृष्टि ब्रह्म की शक्ति से ही आविर्भूत है। उनका कथन है कि ब्रह्म की शक्ति ही नाना प्रकार के तालों में बँधकर सृष्टि-रूप में नृत्य कर रही है तथा शत-शत रवि, शशि, उडुगन रूप की परिधि में ही मुक्त रूप से प्रकाशित हो रहे हैं।"[52]

वह शक्ति जो सृष्टि का सृजन किया करती है उसे उपनिषदों में प्रकृति अथवा माया कहा गया है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति की साम्यावस्था जब ब्रह्म की इच्छा द्वारा खण्डित होती है तभी सृष्टि-कार्य आरम्भ हो जाता है। पन्त जी की भी विचारणा है कि--

"प्रकृति रूप इच्छा से उन्मद, करती सृजन सनातन।"[53]

अन्यत्र इसी तथ्य को स्पष्टतः प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लिखा है--

"एक शक्ति से कहते जग प्रपंच यह विकसित,
एक ज्योति कर से समस्त जड़-चेतन निर्मित
सच है यह आलोक पाश में बँधे चराचर
आज आदि कारण की ओर खींचते अन्तर।"[54]

इसी प्रकार के विचार पन्त जी ने "ज्योत्स्ना" में उषा के माध्यम से व्यक्त किये हैं--

"इस जड़ आवरण को फाड़कर जीवन की अमर उर्वरता, अपने ही सृजन-सुख के कारण, असंख्य आकार-प्रकार धारण कर, नित्य नव-नव कलि-कुसुमों, भावनाओं-कल्पनाओं एवं हासोच्छ्वासों में फूट-फूट पड़ती है।............जीवन का यह आश्चर्यजनक अज्ञेय सृजन-रहस्य हृदय को विस्मय से अवाक् कर देता है।"[55]

सृष्टि-चिन्तन पन्त जी के जीवन-दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जीवन को उन्होंने एक चेतन शक्ति के रूप में, "लाइफ़ फ़ोर्स" के रूप में रूपायित किया है और इसके लिए प्रतीक चुना है बीज का। बीज संसार को पत्र-पुष्प देकर फिर बीज ही में परिणत हो जाता है। यही सृष्टि का रहस्य है।[56]

सृजन के रहस्य को देखकर पन्त जी चकित रह गये। मिट्टी के गहरे अंधकार में पड़े एक छोटे से बीज की शक्ति भी अचंभित करने वाली है—

"मिट्टी का गहरा अन्धकार, डूबा है उसमें एक बीज,
वह खो न गया, मिट्टी न बना, कोदों सरसों से क्षुद्र चीज़।
× × ×
वह है मुट्ठी में बन्द किये, वट के पादप का महाकार,
× × ×
बंदी उसमें जीवन अंकुर, जो तोड़ निखिल जग के बंधन,
पाने को है निज सत्त्व, मुक्ति! जड़ निद्रा से जग, बन चेतन।"[57]

ऐसी बीज-सृष्टि-परम्परा के महत्त्व को समझ लेने के बाद उन्होंने विकास-क्रम की विशिष्टता एवं समन्वय-सार को सहर्ष स्वीकार कर लिया। जीवन-क्रम के इस सुन्दर सत्य को उन्होंने इस प्रकार दर्शाया है—

"झंझा हर जीर्ण पत्र, बोता नव बीज-निकर,
पाता निज सद् विकास, होता लय तम कट-मर"[58]

क्योंकि पन्त जी के विचारानुसार—"सृष्टि के विधान में तामसी प्रवृत्तियों का स्थान तथा उपयोगिता, अप्रत्यक्ष एवं तिर्यक् रूप से सृष्टि के विकास को सहायता पहुँचाना है। विश्व की बाह्य सत्ता तमोगुण में है, फलतः तामसी प्रवृत्तियाँ गौण रूप से सृष्टि का संहार करती हुई, सूक्ष्म दृष्टि से सृजन करने में सहायक होती है। ये सृष्टि रूपी फल को चारों ओर से घेरे हुए कठोर छिलके की तरह हैं, जो जीवों के अज्ञान-जनित समस्त आघात-प्रतिघात सहकर अपने अन्तस्तल में सात्त्विक सूक्ष्म वृत्तियों के रस एवं माधुर्य की रक्षा करती हैं।"[59]

इसी प्रकार के विकास-क्रम को "किरणवीणा" में इस प्रकार दर्शाया गया है—

"अब बीजों के मुख में अंकुर, अंकुर करतल में नव किसलय,
किसलय वेणी में गुँथे फूल, फूलों के मृदु उर मधुप निलय।"[60]

प्राकृतिक तथा मानवीय प्रगति को देखने की यह एक नवीन दृष्टि है जो प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक बर्गसाँ के सृष्टि सम्बन्धी विचारों से गहरी समानता रखती है और सम्भवतः उनसे प्रभावित भी है—

"नाश नहीं होता विकासप्रिय अमृत सत्य का
मिथ्या का संहार अवश्यंभावी जग में।
पुनः निभृत नेपथ्य लोक में निज कौशल से,
नवल सृष्टि तुम सृजन करोगी महाकाल में,
पराशक्ति के महानंद से अभिप्रेरित हो।"[61]

बर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद का प्रभाव उन पर विशेष रूप से 'स्वर्णकिरण" के बाद की रचनाओं में दिखायी देता है। उन्होंने उसके सृजनशील विकास के सिद्धान्त को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—

"सृजनशील जग विकास, जड़ जीवन मनोभास"[62]

डॉ. हरिनारायण सिंह के शब्दों में "बर्गसाँ आत्मा को ऐसी चेतन शक्ति मानता है जो स्वतः स्फूर्तिदायक, विकासोन्मुख तथा सृजनशील है। अपनी प्रगति के साथ वह काल की सृष्टि करती है। आत्मा के विकास का प्रत्येक क्षण अपना पिछला इतिहास अपने साथ लाता है। इसी पिछले इतिहास की पार्श्वभूमि में आत्मा का प्रतिक्षण विकास होता रहता है। विकासोन्मुख आत्मा के कोई दो क्षण कभी भी समान नहीं हो सकते।"[63]

पन्त जी ने प्रायः इन्हीं विचारों को निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त किया है—

"ईश्वर को मरने दो, हे मरने दो,
यह फिर जी उट्ठेगा, ईश्वर को मरने दो
× × ×
शत रूपों में, शत नामों में, शत देशों में,
शत सहस्रबल होकर,
उसे सृजन करने दो,
क्षण अनुभव के विजय पराजय, जन्म मरण,
औ' हानि लाभ की लहरों में उसको तरने दो।"[64]

"अतिमा" तथा "वाणी" दोनों का स्वर विकासोन्मुखी है। ध्वंस भी निर्माण का ही लक्षण है। मानवता के चरण बढ़ते जा रहे हैं। उसे नये युग का

आह्वान ही नहीं करना है, उसके लिए सक्रिय योगदान भी देना है। "वाणी" की 'बज्र के नुपूर' कविता महानाश में सृष्टि को प्रस्फुटित होते देखती है। यह प्रलय तथा सृष्टि को विकास के अनिवार्य चरण मानती है।"[65]

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है–

"सृष्टि और स्रष्टा
दो नहीं, अभिन्न एक हैं।
सृष्टि-कर्म करने में
निश्चय ईश्वर ही का
कार्य सतत करते हम।
ईश्वर शोक-ताप से
पाप पुण्य से ग्रस्त नहीं होता।
जग जीवन संघर्षण में,
वही निरत रहता नित अविरत।[66]

विकास का क्रम जो सामान्यतः हमारे मनीषियों द्वारा माना गया है उससे पन्त जी पूर्ण सहमत थे। सृष्टि विकासमयी है–इस मान्यता को निम्नलिखित पक्तियों में बहुत सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है–

"पंचतत्त्व–जिनसे विराट् भौतिक जग निर्मित
उनमें जल का ही कोमल वक्षःस्थल चुनकर
जीव तत्त्व की रचना की स्रष्टा ने पहले।
अगणित लघु कीटाणु-बीज-क्षण से जीवन के
उर्वर जल अंचल में उगने लगे अतन्द्रित,
उनसे धीरे विविध मच्छ कच्छादि रूप धर
जीवन भू पर लगा विचरने नभ में उड़ने,
धरा गर्भ में, गिरि खोहों में, तरु नीड़ों में,
वास बनाकर, जल-सृष्टि फैली जगती में।

× × ×

कोटि योनि तर, विपुल अनुभवों को संचित कर
ऊर्ध्व रीढ़ मानव ने जन्म लिया जब उनमें
बहु विकास क्रम सोपानों पर शनैः चरण धर
सृष्टि कला का गोपन मर्म लगा तब खुलने।

× × ×

जीवों में उसने प्रवेश कर सृष्टि रची यह,
एक सूत्र में बाँध सहज देवों चींटी को।"[67]

इसी विचार को पन्त जी ने "समाधिता" में इस प्रकार व्यक्त किया ह –

"सीमा में निस्सीम, महत्-लघु ही में मूर्तित,
समझ न पाया था विधि कला सृष्टि में सर्जित।"[68]

नानाविध गति तथा परिवर्तन के माध्यम से सतत विकास की प्रक्रिया मे पन्त जी ने अपना विश्वास व्यक्त करते हुए कहा है–

"केवल जीव वृद्धि पाते हैं, वे परिणत होते जाते हैं।
जीवन क्षण, जीवन के युग, जीवन की स्थितियाँ।।
परिवर्तित परिवर्धित होकर, भव इतिहास कहाते हैं।"[69]

अन्यत्र उन्होंने कहा है–

"जो तुम्हें समझना सृष्टि तत्त्व, तो देखो शैशव का स्मित मुख

× × ×

कितना असहाय अबोध उसे, छोड़ा विधि ने जीवन-पथ पर,
कण्टक वन में वह फूल तुल्य, हँसता निःस्पृह, विस्मय पुलकित

× × ×

शिशु बनना ही रे चरम लक्ष्य, यह आत्मज्ञान की भी सित स्थिति,
गत अभ्यासों का जीवन रण, समरूप चेतना की अथ इति।"[70]

ब्रह्म तथा जीव

ब्रह्म तथा जीव के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में पन्त जी के विचार वैशेषिक के परमाणुवाद पर आधारित प्रतीत होते हैं। महर्षि कणाद ने विलक्षण वैशेषिक का बोध अपने परमाणुवाद से दिया है–

"विलक्षण वैशेषिक का बोध, हमें दे गये महर्षि कणाद,

× × ×

बहिर्जग वैशेषिक का क्षेत्र, वस्तु का मौलिक सत्य विशेष,

× × ×

सावयव जग के निखिल पदार्थ,
निरवयव अविनश्वर परमाणु, सृष्टि या लय का आदि न अन्त

× × ×

न कुछ भी देशकाल में स्थाणु!
मुख्यतः षट् पदार्थ जो भाव, असत् सातवाँ पदार्थ अभाव,
× × ×
सूक्ष्मतम जड़ परमाणु स्वरूप, निखिल जड़ जग जिनका संयोग"[71]

जीव तथा ब्रह्म की एकता, अंश-अंशीभाव की विवेचना पन्त जी ने इन शब्दों में की है–

"तुम जीवों में ही हो ईश्वर"[72]

तथा

"मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन"[73]

यहाँ स्फुलिंग की इस कल्पना का स्रोत उपनिषद् की वह सूक्ति प्रतीत होती है जिसमें कहा गया है कि जैसे जलती हुई आग से उसी के समान रूप वाले सहस्रों स्फुलिंग निकलते रहते हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं तथा पुनः उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।"[74]

चिर अक्षर ही जीवों में क्षर, स्वयं मुक्त वह पूर्ण परात्पर,
विश्व विवर्तन क्षर विकास की है अनंत शाश्वती प्रतीक्षा!
नित सत् राम, शक्ति चित् सीता, अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता।"[75]

अक्षर रूप पुरुष प्रकृति के रूप में प्रकट होता है और वही प्रत्येक वस्तु का उपादान तथा निमित्त कारण भी बनता है। जीव ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है। वह सत् चित् और आनन्द भी है किन्तु जब ईश्वर लीला करने के लिए इच्छा करता है तो जीव को अपने आनन्द का अनुभव नहीं होता है। इस कारण उसे दुःख मिलता है। इस दुःख के कारण वह बन्धन में पड़ जाता है। ईश्वर की कृपा होने पर जीव इस बन्धन से मुक्त हो पाता है। मुक्तावस्था में जीव तथा ईश्वर का वास्तविक एकत्व हो जाता है। इस भाव को निम्नलिखित पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया है–

"वृत्तियों का कर पूर्ण निरोध, पंचविध क्लेशों से हो मुक्त,
सिद्धकर सम्प्रज्ञान समाधि, चित्त होता ईश्वर से युक्त।
दुःखमय जड़ असार संसार, जीव हित मोक्ष द्वार ध्रुव योग।
प्राप्त हो जो ईश्वर प्रणिधान, सहज ही छूटें भव के रोग।
स्वयं बन जाना भगवत् रूप, यही जीवात्मा का वर ध्येय।"[76]

इससे पहले पन्त जी ने "उत्तरा" की "परिणति" शीर्षक कविता में भी

व्यक्ति-चेतना अथवा जीव-चेतना एवं ब्रह्म-चेतना, जो तत्त्वतः एक ही हैं किन्तु मल-विक्षेप के आवरण के कारण दो दृष्टिगत होती हैं, की एकाकारिता की स्थिति चित्रित की थी—

"धरती की वेदना, कामनाओं की छाया,
स्वर्गचेतना, मृत्यु भीत स्वप्नों की माया,
दोनों तुममें पूर्ण हुए अब बन मन काया,
बाहर भीतर ऊपर नीचे! पात्र तुम्हीं अभिनय में।"[77]

"स्वर्णधूलि" में भी प्रकारान्तर से यही विचार व्यक्त हुए हैं—

"भीतर बाहर ऊपर छाया, नव्य चेतना बन बन,
× × ×
अचिर जगत में व्याप्त चिरन्तन।"[78]

जीवन-मृत्यु

पन्त जी ने जीवन-सरिता को शाश्वत प्रवाह माना है। अतः उसमें जन्म-मरण का चिर-बंधन लगा हुआ है। "ज्योत्स्ना" में "लहरों का गीत" में लहरें कहती हैं—

"चिर जन्म मरण को हँस-हँस कर, हम आलिंगन करतीं पल-पल,
फिर-फिर असीम उठ-उठकर, फिर-फिर उसमें ही हो ओझल।"[79]

जन्म तथा मृत्यु इस संसार के दो द्वार हैं—

"वृद्ध बालक फिर एक प्रभात, देखता नव्य स्वप्न अज्ञात
मूँद प्राचीन मरण, खोल नूतन जीवन।"[80]

यदि जीवन विकास है तो मृत्यु विकास-क्रम के ह्रास का नाम है। यही बात "ज्योत्स्ना" में स्वप्न तथा कल्पना ने कही है—"जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नाम-रूप के कोषों को धारण किये रहेंगे, मानव-जगत विश्राम नहीं ले सकेगी। अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिये। बीज संसार को पत्र-पुष्प-फल देकर पुनः बीज में परिणत हो जाता है।"[81]

आगे "ज्योत्स्ना" में ही पन्त जी ने कहा है—

"झंझा हर जीर्ण पत्र, बोता नव बीज-निकर,
पाता नित सद् विकास, होता लय तम कट-मर।"[82]

वस्तुतः फूल के खिलने तथा मुरझाने में एक स्वाभाविक विकास दिखायी पड़ता है। "कला और बूढ़ा चाँद" की 'फूल' कविता सृजन-शक्ति की सहजता एवं स्वयं—प्रवर्तितता पर प्रकाश डालती है—

> "वह तटस्थ था अनासक्त, तन्मय।
>
> × × ×
>
> जन्म-मरण, ऊपरी क्रम था, वह, मात्र, फूल।"[83]

"वाग्वबोध" नामक कविता भी अधखिली कली के रूपक के माध्यम से जन्म तथा मृत्यु, खिलने तथा मुरझाने को विकास-क्रम की स्वाभाविक स्थितियाँ मानते हुए उनके आन्तरिक सत्य की शाश्वतता एवं अक्षरता का बोध प्रदान करती है।"[84]

"ज्योत्स्ना" में भी पन्त जी ने इसी से मिलते-जुलते विचार व्यक्त किये थे—

> "मत हो विरक्त जीवन से, अनुरक्त न हो जीवन पर,
> जग परिधि मात्र जीवन की, स्थित केन्द्र अमर उर भीतर।
>
> × × ×
>
> निश्चय आत्मा है अक्षय, निश्चय मृन्मय तन नश्वर,
> यह जीवन चक्र चिरन्तन, तू हँस-हँस जी, हँस-हँस मर।"[85]

आगे भी उसी नाटिका में उन्होंने कहा है—

"जीवन के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन का सम्यक् उपयोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोजकर उस पर हृदय केन्द्रित कर लेना होता है। तब मनुष्य जीवन के उस सूत्र को ग्रहण कर पाता है, जिसके छोरों में बँधे सुख-दुख, जन्म-मरण आदि द्वन्द्व, तुला के पलड़ों की तरह, उठते-गिरते रहते हैं।"[86]

इसी नाटिका में डैफ़ोडिल तथा पिंटूनियाँ के परस्पर वार्तालाप द्वारा जीवन के बारे में उन्होंने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"डैफ़ोडिल—यह जीवन का सुनहरा पल बिना नाचे-कूदे, मुँह लटकाये बिता देना कैसी नादानी है।" पिंटूनियाँ—"ठीक कहते हो, डैफोडिल! हँसी-खुशी, रास-रंग मनाने के सिवा जीवन का और ध्येय ही क्या हो सकता है? अपने ही सुख से खिलकर अपने ही सुख में विलीन हो जाना! आनन्द का एक क्षण, यही तो जीवन है।"[87]

'सत्यकाम' की ये पंक्तियाँ भी इसी तथ्य को दोहराती हैं—

"स्नेहमयी माँ का जीवित शव देख सामने

× × ×

उर स्वीकार नहीं कर पाया, मृत्यु-सत्य को।

आत्मा का अमरत्व मानकर उसका अन्तर

जीवन ही का सत्य मृत्यु में, अनुभव करता।

× × ×

ब्रह्म सत्य की पवित्रता थी दिव्य मृत्यु में।

सोच रहा था सत्यकाम, माँ मरी या जी उठी?"[88]

पन्त जी के विचारानुसार "हमारे इस भू-गोलक के रूप में मूर्त जीवन-तत्त्व, अपने विकासशील पंखों पर निरन्तर गतिमान, आज अपने विकास की एक ऐसी स्थिति पर पहुँचने को है कि वह पूर्ण-जीवन तथा परलोक जैसी अनेक भ्रान्त धारणाओं की स्वर्णिम शृंखलाओं को तोड़कर, जहाँ बाहर की ओर अनन्त नील मे उड़ान भरकर अपने अनेक सहधर्मी ग्रह-नक्षत्रों तथा पितृलोक रूपी चन्द्र से नवीन जीवन-सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है, वहीं उसे भीतर की दिशा में भी क्षुद्र वैयक्तिक अहंता के अन्धकार तथा जन्म-मृत्यु के खोखले भय के पाशों एवं जगत्-जीवन सम्बन्धों से मुक्त होकर तथा मानव-जीवन के सामूहिक अमरत्व में अंतःस्थित होकर अपने अक्षत आनन्द में, नवीन सृजन-उन्मेषो से प्रेरित होकर नित्य नवीन जीवन-मंगल के स्वप्नों को काल के हृदय-कमल मे प्रतिष्ठित करना होगा।'

जगत् और ब्रह्म

उपनिषदों के अनुसार तत्त्व एक ही है और वह है ब्रह्म। और वही जब देशकाल-निमित्त (कारण) के आवरण में दिखायी पड़ता है तब उसे जगत् कहते है। देशकाल तथा निमित्त की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वे मन के परिवर्तन मात्र है। उन्हीं के माध्यम से ब्रह्म नाना रूपात्मक जगत् में प्रकाशित हो रहा है।"[89] अव्यक्त (ब्रह्म) तथा व्यक्त (जगत्) के बारे में पन्त जी की विचारणा है कि—

"निराकार तम मानो सहसा ज्योति पुंज में हो साकार,

बदल गया द्रुत जगत्—जाल में धर कर नाम रूप नाना।"[90]

जिस प्रकार समुद्र तथा उसकी तरंगों में अभिन्न सम्बन्ध है, उसी प्रकार

ब्रह्म तथा जगत् में भी अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार तरंगों को हम उनके नाना रूप-भेद के कारण ही समुद्र से पृथक् जानते हैं, उसी प्रकार नाम-रूप-भेद के कारण ही ब्रह्म जगत् रूप में भासित हो रहा है। तरंगों का समुद्र के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध है। उसी प्रकार जगत् का ब्रह्म के साथ भेद तथा अभेद दोनों का सम्बन्ध है। ये देशकाल-निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहते हैं। ज्यों ही तरंगें चली जाती हैं, ये भी अन्तर्निहित हो जाते हैं। "ज्योत्स्ना" नाटिका में "लहरों के गीत" में अपने विचार पन्त जी ने लहरों के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर, हम आलिंगन करतीं पल पल
फिर-फिर असीम से उठ उठकर, फिर-फिर उसमें हो हो ओझल।"[91]

पन्त जी की दृष्टि में जीवन-शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अन्तिम और ठोस परिणति इसी नाम-रूप के जगत् में है। यही साकार सत्य है। विधाता की अनन्त क्रियात्मक कला जीवन-मृत्यु, सृजन-संहार, समस्त द्वन्द्व, इसी विभिन्नता के वैचित्र्य से पूर्ण, मूर्त विश्व के रूप में चरितार्थ हो रहे हैं।.........चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनों ही प्रकार से परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप के दर्शन होते हैं।"[92]

पन्त जी के विचारानुसार सारा जगत् ईश्वर की लीला का विलास है। उन्होंने धरती तथा स्वर्ग दोनों को ही ईश्वर के अंश बताया है—

"दोनों तुम में पूर्ण हुए अब,
बन मन काया,
बाहर भीतर ऊपर नीचे
पात्र तुम्हीं अभिनय में।"[93]

यहाँ पन्त जी ने धरती एवं स्वर्ग, वर्तमान एवं भविष्य दोनों को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति माना है तथा उसे सर्वत्र व्यापक माना है। यह "सर्वखल्विदम् ब्रह्म" अथवा "एकमेवाद्धितीयम्" अथवा "पुरुषएवेदं सर्वम्" की ही प्रतिध्वनि है। अन्यत्र ब्रह्म एवं जगत् का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"पूर्ण तत्त्व वह, पूर्ण तत्त्व यह, पूर्ण उसी से व्याप्त चराचर।"[94]

सब कुछ ब्रह्म ही है, इस सिद्धान्त को वह मानते थे। इस बात की पुष्टि निम्नांकित पंक्तियों से भी होती है—

"ब्रह्म ही जगत्-प्रपंच निमित्त ब्रह्म ही उपादान आधार

जागतिक जीवन ब्रह्म-विवर्त, ब्रह्म ही स्थूल-सूक्ष्म का सार।"[95]

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—

"देखा मैंने, कहीं नहीं थी जग की सत्ता
मात्र तुम्हीं थे, अगणित काल बिन्दु भर थे सब
अंश तुम्हारे! भूत तुम्हीं में परिणत होते
परिवर्तन भोगते, तरंगों—से उठ गिर कर।"[96]

पन्त जी के मत से जगत् कार्य रूप से ब्रह्म ही है—

"बदलती वस्तु न वस्तु स्वरूप, रूप परिवर्तन ही परिणाम,
कार्य रहता कारण में लीन, यही सत्कार्यवाद अभिराम।"[97]

जैसे कार्य (घट) कारण (मिट्टी) से अभिन्न है क्योंकि दोनों की सामग्री एक ही है, किन्तु साथ ही दोनों भिन्न भी हैं क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार, प्रयोजन इत्यादि पृथक्-पृथक् हैं; उसी प्रकार जगत् (कार्य) ब्रह्म (कारण) से भिन्न और अभिन्न दोनों है। ब्रह्म अद्वैत है, जगत् द्वैत (नाना) है। दोनों नित्य सत्य हैं। अद्वैत ब्रह्म (कारण) ही द्वैत जगत् (कार्य) का वास्तविक रूप धारण करता है।

पन्त जी की विचारणा है कि जगत् की उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता, प्रत्युत उसका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है। अनुभव-योग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर तिरोभाव। ईश्वर में अनन्त वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। ईश्वर अपनी शक्ति का अनुभव मात्र करने से संसार का रूप धारण करता है—

"परमात्मा का सक्रिय रूप ही हिरण्यगर्भ बन,
फिर विराट् से पुरुष-प्रकृति में द्विधा भक्त हो,
भौतिक जग में प्रसरित होता, अतः तत्त्वतः
परमेश्वर में और जगत् में भेद नहीं है।
वे अभिन्न हैं! निखिल विश्व महिमा भर प्रभु की।"[98]

भारतीय दर्शन तथा धर्म में प्रकृति-पुरुष, शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, राम-सीता अयुगल होते हुए भी युगल हैं, एक दूसरे से अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं। पन्त जी को यह अमूर्त अद्वैतवाद स्वीकार्य नहीं था जो धरती की चेतना एवं शक्ति का आलिंगन नहीं करता। उनके मत से जीवन द्वैत का क्रीड़ास्थल है, उन्हीं का परस्पर प्यार है तथा यह प्यार ही आनन्द-मंगल का निस्सरण है। जीवन की

रसात्मक अनुभूति, उसका सुख-दुःख, विरह-मिलन अन्य कुछ नहीं हैं, केवल भगवान् के ही बिम्ब हैं, उसी की ओर जाने के मार्ग हैं। क्योंकि–

"स्वयं सृष्टि में प्रसरित ब्रह्म विराट् रूप में।"[99]

जब ईश्वर जगत् में ही है, वही सर्वत्र जीवों में व्याप्त है, मृत्यु तथा जीवन का शाश्वत सत्य है, तब जगत् से उदासीन होना अनुचित है; क्योंकि–

"यदि ब्रह्म सत्य तो जग भी सत्य असंशय।"[100]

जैसा कि मैं पहले भी लिख चुकी हूँ पन्त जी के मतानुसार परम तत्त्व सत् चित् आनन्द ब्रह्म है। उस अद्वितीय ब्रह्म ने संकल्प किया–"एकोऽहम् बहुस्याम्"–मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ, और त्रिक् अर्थात् सच्चिदानन्द के रूप मे प्रकट हुआ। यह गोचर जगत् उसी तत्त्व का विवर्तन है–

"मूलतः प्रकृति-पुरुष दो तत्त्व,
प्रकृति-जड़-सत् रज तम गुण साम्य
पुरुष चेतन–निर्गुण, निःसत्त्व।
मिलन से महत्-तत्त्व का जन्म,
महत् से अहम्-तत्त्व तम रूप
सत्त्व से कारण आविर्भाव,
तमस् से पंचभूत भव कूप।"[101]

पन्त जी के मतानुसार जिसे जड़ या द्रव्य (मैटर) कहा जाता है वह तथा चेतना या आत्मा दोनों ही सत्य हैं। "ब्रह्मं सत्यं जगत् मिथ्या" का सिद्धान्त असत्य है–

"जगत् के प्रति मिथ्या का भाव, जगत् कर्ता का धिक् अपमान।"[102]

जड़-द्रव्य तथा आत्मा दोनों में से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। जड़-तत्त्व का निषेध करने वाला आत्मवादी तथा आत्मा की अवज्ञा करने वाला जड़वादी-दर्शन दोनों ही एकांगी हैं। उपनिषदों में भी कहा गया है–

"अन्नं ब्रह्मेति व्यंजनात्।"

केवल ज्ञानेन्द्रियों और, एक सीमा तक, बुद्धि को ही ज्ञान का एक मात्र साधन स्वीकार कर लेने के कारण जड़वादी आत्मा का निषेध कर देता है, किन्तु उसका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण होने के कारण त्याज्य है। इसी प्रकार आत्मवादी द्वारा भौतिक जगत् का निषेध भी त्याज्य है–

"आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम?

मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम?[103]

× × ×

आत्मा औ" भूतों में स्थापित करता कौन समत्व?
बहिरंतर, आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
भौतिकता, आध्यात्मिकता केवल हैं उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।"[104]

पन्त जी ने "अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता" कहा है तथा—"ब्रह्मैवेदममृत" के आधार पर यह घोषित किया है कि जीवन में निरन्तर ज्ञानामृत की धार छलकती रहती है—

"चिर महानन्द के पुलकों से झर-झर नित अगणित लोक-निचय,
नाचते शून्य में समुल्लसित, बन शत-शत सौर-चक्र निर्भय!

× × ×

जड़ चेतन, चेतन जड़ बन-बन, रचते चिर सृजन प्रलय अभिनय![105]

इसी आनन्दमय ब्रह्म की धारणा में पन्त जी का हृदय लीन था और इसी "चिर अव्यय", "चिर नूतन" प्रकाश एवं आनन्द अथवा रूप-रस-ब्रह्म से उन्होने जग के उर्वर आँगन में ज्योतिर्मय जीवन के वर्षण की कामना की है। ईश्वर में चिर विश्वास के कारण ही वह सांसारिक जीवन की कटुता के मध्य भी नवीन आशा तथा नवीन अभिलाषा की स्थापना करने में सफल हो सके।

उन्होंने जड़ तथा चेतन, सुख और दुःख, प्रकाश तथा अन्धकार सभी मे एक ही सत्य के संचरण को देखा। इसीलिए उन्हें जगत् सुन्दर तथा सत्यमय लगता था—

"स्पर्श तुम्हारा अपरिहार्य, प्रिय
खोले मर्म जगत् का जीवन,
जगत् सत्य है, जगत् सत्य,
श्री शोभा सुख का शाश्वत दर्पण।"[106]

तथा

"जगत् रे अमर प्रेम का नीड़,
जहाँ जीवन-ईश्वर का वास।"[107]

जीवन के अन्तकाल तक उनके इस विचार में कोई परिवर्तन नहीं आया। उनके जीवन-काल के अन्तिम दिनों में लिखित अपूर्ण रचना "नये संकट" की

निम्नोद्धृत पंक्तियों में भी यही विचार ध्वनित है कि जगत् की हर वस्तु में उसी परम-तत्त्व का वास है--

"ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर,
एक ही प्रकाश, बहता निरन्तर,
× × ×
एक ही सत्य के प्रतीक हैं,
कीचड़ और कमल,
दोनों ही परम उज्ज्वल
परम निर्मल।"[108]

मुक्ति और बन्धन

मुक्ति और बन्धन के सम्बन्ध में पन्त जी के विचार वैदिक मान्यताओं पर आधारित हैं। उनके मतानुसार माया के बन्धनों को अवश्य ही खोलना पड़ेगा, इससे पहले मुक्ति नहीं। इसी दृष्टि से उन्होंने 'स्वर्ण-धूलि' में सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों से अतीत रहने की शिक्षा दी है, माया के बन्धनों को काट डालने की प्रेरणा दी है--

"इस प्रकार दिन प्रतिदिन जब तक कर्म शक्ति हो क्षीण,
बन्धन मुक्त करो आत्मा को, जन्म मरण हों लीन।"[109]

क्योंकि जब सकाम-कर्मों का नाश हो जायेगा तब--

"फिर न रह गये मैं, तुम, ईश्वर, जीव या कि भव बन्ध,
मैं सब में, सब मुझमें--केवल मात्र परम आनन्द।"[110]

'स्वर्णधूलि' की ही 'मुक्ति-बन्धन' कविता में उन्होंने बताया है कि जीवन को बंधन में डाल दिया जायेगा तो उसकी उड़ानें रुक जायेंगी तथा यदि उसे केवल उड़ने ही दिया जायेगा तब भी उसका काम नहीं चलेगा क्योंकि चारा-पानी लेने के लिए उसे पृथ्वी पर उतरना ही पड़ेगा।"[111] अतः मुक्ति के लिए बंधन भी बहुत आवश्यक है--

"पैग़म्बर के एक शिष्य ने
पूछा, हज़रत, बन्दे को शक
है आज़ाद कहाँ तक इन्साँ
दुनिया में पाबन्द कहाँ तक?

× × × ×

पैग़म्बर का था यह उत्तर—

हो आज़ाद यहाँ तक, कहता
तुमसे एक पैर उठ ऊपर
बँधे हुए दुनिया से कहता,
पैर दूसरा अड़ा ज़मीं पर।"[112]

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—

"लोक-मुक्ति है ध्येय प्रकृति का, मनुज करें जग जीवन निर्मित।
चेतन की भव मुक्ति के लिए, वाहन जड़, तन, मात्र न बंधन।।"[113]

पन्त जी की मान्यता थी कि वैयक्तिक मुक्ति, स्वर्गलोक-गमन का विगत-आदर्श मृत्युतुल्य है क्योंकि इस भू को स्वर्ग बनाना ही वास्तविक लोक मुक्ति है—

"वैयक्तिक मुक्ति निरर्थक, वह आंशिक आत्मिक स्तर पर,
सामूहिक गरिमा में ही मूर्तित जग जीवन ईश्वर।"[114]

आगे भी उन्होंने कहा है—

अब व्यक्ति-मुक्ति, गत ऋद्धि-सिद्धि, करती न हृदय को आकर्षित
ईश्वर को जग-जीवन क्रम में सर्वांग रूप करना विकसित।

× × ×

वह मुक्त मुक्ति बंधन से हो, बन्धन में रहता नित्य मुक्त।"[115]

कर्म और जन्मान्तरवाद

पन्त जी ने कर्म, जन्मान्तरवाद तथा भाग्यवाद से सम्बन्धित मान्यताओं का भी अपने काव्य में उल्लेख किया है और विशेष रूप से अपने स्वर्णकाव्य मे अधिकतर किया है। आत्मा की शाश्वतता की सिद्धि के लिए मृत्यु के उपरान्त जीव का कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करना तथा उन्हीं के अनुसार उसकी गतिविधियों का अनुशासित होना वैदिक तत्त्व-चिन्तन का प्रमुख सिद्धान्त है। पन्त जी ने स्वयं इस मान्यता का समर्थन करते हुए कहा है—

"बोओगे पाओगे, निश्चित कारण कार्य विधान,
कहते शुभ का शुभ फल, अशुभ अशुभ का फल धीमान्।"[116]

वैदिक ऋषियों की भाँति पन्त जी चाहते थे कि मानव सत्कर्मों द्वारा वैभव

नव धन सम्पत्ति अर्जित करे तथा उसे त्यागपूर्वक भोगे—

"मानव तुम शत हस्त करो वैभव एकत्रित,
औ' सहस्र कर होकर उसे करो नित वितरित।
× × ×
पाप कर्म तुम छोड़, रहो सत्कर्मों में रत।"[117]

इसी से मिलते-जुलते विचार उन्होंने "अतिमा" की "आ : धरती कितना देती है" शीर्षक कविता में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

आः इतनी फलियाँ टूटीं, जाड़ों भर खायीं,
× × ×
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवायीं।
× × ×
हम जैसा बोयेंगे वैसा ही पायेंगे।"[118]

निम्नलिखित पंक्ति में भी पूर्वजन्म के कर्मों पर बल दिया गया है—

"कर्मों के अनुरूप हुआ वह वर्ग विभाजित।"[119]

जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध में पन्त जी के विचार गीता की निम्नांकित पंक्तियों से काफ़ी प्रभावित थे—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।"[120]

यही बात उन्होंने इन शब्दों में कही है—

"आत्मा जीर्ण वसन तज रज का, नव वसनों से होती भूषित।"[121]

कर्म तथा ज्ञान का समन्वय

मोक्ष रूप साध्य की उपलब्धि के लिए उपनिषदों में कर्म तथा ज्ञान दोनों के समन्वित रूप को ही साधन रूप में स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद में कहा गया है—

"अंधं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामनुपासते।
ततो भूय इव तेऽपि तमो ये विद्यायां रताः।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।"[122]

पन्त जी ने बिल्कुल यही विचार अपनी इन पंक्तियों में व्यक्त किये हैं—

"अंध तमस में गिरते वे जो मात्र अविद्या में रत,
भूरि तमस् में पड़ते वे जो विद्या में रत संतत।
विद्याऽविद्या उभय एक में, भेद जिन्हें यह अवगत,
विद्यामृत पी, मृत्यु अविद्या से वे तरते अविरत।
ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।"[123]

उनके विचारानुसार—

"कर्म जगत् जीवन निर्माता, मुक्ति अभय दाता,
ज्ञान कर्म का संयोजन, प्रिय भारत माता।"[124]

ज्ञानविच्छिन्न कोरा कर्म भी जीवात्मा को अंधकार में डुबा देता है और इसी प्रकार कर्म से रहित कोरा ज्ञान तो जीवात्मा को और भी गहरे अन्धकार मे ले जाता है। अमरत्व की प्राप्ति के लिए कर्म तथा ज्ञान दोनों का समन्वय ही अपेक्षित है। कर्म तथा ज्ञान के साथ कविवर पन्त ने उपासना तथा भक्ति की भी आवश्यकता का अनुभव किया है। ईश्वर से विनती करते हुए वह कहते हैं—

"असत् तमस् के मृत्यु—सलिल से हमें पार कर,
सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर।"[125]

उनकी विचारणा है कि—

"सम्पूर्ण विश्व चिर ज्ञान कर्म इच्छा-रत,
हृदयस्थ पुरुष नित अमृत रूप, शुभ, शाश्वत,
वह छेद अविद्या-ग्रन्थि, भेद-मति बन्धन,
भू पर चलता धर नव विकास-पग प्रतिक्षण।"[126]

अन्यत्र उन्होंने लिखा है—

"बिना कर्म के ज्ञान शुष्क नीरस मरुथलवत्
भू जीवन की उर्वर हरीतिमा से विरहित।

× × ×

कर्महीन हो मनुज-समाज न उन्नति करता,
वह अभाव में रहता, प्रभु महिमा से वंचित।"[127]

'संक्रान्ति' शीर्षक रचना में उन्होंने कर्म एवं ज्ञान को जुड़वाँ भाई बताया है—

"ज्ञान कर्म सन्तान प्रकृति के, वे जुड़वाँ भ्राता।"[128]

कर्म पर बल देते हुए उन्होंने लिखा है—

"कर्म ही ज्ञान, कर्म ही ध्यान, कर्म ही सृष्टि विधान है।
कर्म का सेतु बाँध जीवन सागर तरो,
कर्म का केतु उठा, आर पार-दूरी हरो।"[129]

ज्ञान तथा विज्ञान का समन्वय

ज्ञान तथा विज्ञान दोनों की आवश्यकता को पन्त जी मानते थे। उनके मत से 'केवल तथ्यों तथा नियमों का ज्ञान ही जीवन-सत्य के समग्र-बोध के लिए पर्याप्त नहीं है। उसके लिए विज्ञान को अन्तर्जगत् के सत्यों का भी विश्लेषण-संश्लेषण करने की अनिवार्य आवश्यकता है। ज्ञान एवं संस्कृति अपने को विज्ञान द्वारा स्थापित करती है, बिना विज्ञान के वह एकांगी है क्योंकि उसके अभाव में वह अपने को भू-जीवन में चरितार्थ नहीं कर पाती है। आजकल विज्ञान तथा ज्ञान के सत्यों तथा दृष्टिकोणों का संयोजन न हो सकने के कारण हम देखते हैं कि संसार में, विशेषकर मनुष्य के विचारों तथा चिन्तन के जगत् मे, एक विचित्र स्थिति पैदा हो गयी है। इसीलिए इतिहास के पिछले सभी युगो की अपेक्षा आज मनुष्य के पास अधिक ज्ञान का भण्डार, आवागमन के साधन, शिक्षा सम्बन्धी प्रचुर उपकरण तथा प्रभूत सम्पत्ति होने के बावजूद वह आज भीतर से सुखी, स्वस्थ तथा प्रबुद्ध नहीं है, न उसके हृदय में शान्ति ही विद्यमान ह। विज्ञान ने उसके बाहरी परिस्थितियों के जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी हे किन्तु अन्तःस्थित मनुष्य-चैतन्य का उस अनुपात में विकास न हो सकने के कारण विज्ञान का वरदान आज उसके लिए अभिशाप बनता जा रहा है। अतः आज के बौद्धिक को फिर से मानवी-मूल्यों तथा हृदय सम्बन्धी मूल्यों का जीर्णोद्धार करके अपने अन्तःप्रकाश में जीवन को केन्द्रित करना है क्योंकि इसी अन्तःप्रकाश के स्पर्श से वह आज के ध्वंसात्मक विज्ञान को रचनात्मक जीवन-मंगल की ओर अग्रसर कर सकता है।' अपने नवीनतम काव्य "सत्यकाम" मे ज्ञान-योग की एकांगिता को धरती के जीवन से संपृक्त करने का पन्त जी ने प्रयास किया है—

"इसीलिए भावी द्रष्टा ले जन्म धरा पर,
पूर्ण योग की कृच्छ्र साधना कर भूतल पर,
बन युग के आध्यात्मिक, नव युग के वैज्ञानिक,

जीवन-दर्शन के संयोजन पर बल देकर,
ज्ञान तथा विज्ञान दृष्टि में महत् समन्वय
स्थापित करने के प्रयत्न कर रहे निरन्तर
भू जीवन-मंगल आकांक्षा से उन्मेषित।"[130]

पन्त जी के मतानुसार–

"ज्ञानदृष्टि अन्तर्मन के वैभव से नर को
मनुष्यत्व के श्री स्वर्णिम मूल्यों को देती,
× × ×
महत् भूत विज्ञान शक्ति भू पथ रचना में
बाधक नहीं, सहायक बने प्रबुद्ध मनुज की,
विद्युत् अणु के अश्वों पर आरूढ़ हो सके
प्राणों की संकल्प शक्ति, मानव आत्मा की
गरिमा की सन्देशवाह बन भौतिक जग में।"[131]

इसीलिए उन्होंने मानव को सचेत किया–

"यान्त्रिकता के दास बनो मत खो मानवपन
विद्युत् अणु के अश्वों पर अभय करो आरोहण,
यंत्र तुम्हारे सेवक, भूत प्रकृति पद दासी।
बुद्धि भ्रष्ट जग, हृदय मूल्य उसको दो नूतन,
बहिरन्तर भू जीवन में भर नव संयोजन,
रोको एकांगी विनाश को हे अविनाशी!"[132]

सर्वात्मवाद

उपनिषदों में सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन हुआ है। वह सब में समाया हुआ है। क्या जड़ और क्या चेतन–उसकी व्याप्ति से कुछ भी शेष नहीं बचा है। पन्त जी को प्रारम्भ से ही उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास रहा है। उन्होंने परमसत्ता की सर्वव्यापकता का अपने काव्य में अनेक प्रकार से उल्लेख किया है जिनमें निम्नलिखित विचार मुख्य रूप से अनुस्यूत हैं–

1. जगत् ईश्वरमय है तथा जगत् ही ईश्वर है।
2. ईश्वर तथा जगत् का सम्बन्ध अंगी-अंग रूप में है, इसीलिए जगत् सत्य है।

3. ईश्वर सर्वानुस्यूत है।

4. प्रकृति तथा परमेश्वर मूलतः एक हैं।

उन्होंने ईश्वर तथा जगत् सम्बन्धी सर्वात्मवादी विचारधारा को ही अपनी जीवन-दृष्टि तथा काव्य-दृष्टि के रूप में ग्रहण किया है। प्रकृति-सौन्दर्य पन्त जी की सर्वात्मवादी विचारधारा का मूल उत्स रहा है। प्रकृति में विराट् का आरोप उसके अन्तर-बाह्य सौन्दर्य का विश्लेषण, अनेकता में एकता की भावना, उसमे दिव्य-चेतना की अनुभूति आदि विशेषताएँ प्रकृति तथा परमेश्वर के ऐक्य के सम्बन्ध में उनके भाव की सूचक हैं।

सर्वात्मवाद अंग्रेज़ी शब्द पैन्थीज़्म का पर्याय है। पैन्थीज़्म का शाब्दिक अर्थ है—सब कुछ ईश्वर है।[133] सर्वात्मवाद वस्तुतः नियतिवाद तथा एकात्मवाद दोनों का समन्वित रूप है।[134] यह भावना वेदान्त-दर्शन की "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" एवम् "ईशावास्यमिदं सर्वम्" के रूप में जगत् को ब्रह्ममय प्रमाणित करती है। दोनों में अन्तर इतना है कि वेदान्त जगत् को ब्रह्म रूप मानते हुए भी ब्रह्म को जगत् तक ही सीमित नहीं रखता। वेदान्त का ईश्वर विश्वरूप होते हुए भी विश्वातीत है। पाश्चात्य सर्वात्मदर्शन जगत् को ईश्वर का रूप मानते हुए भी ईश्वर की विश्वातीतता को स्वीकार नहीं करता।"[135] प्रकृति-सौन्दर्य के संदर्भ में पन्त-काव्य में ऐसे दृष्टान्त बहुलता से मिलते हैं जो उन पर सर्वात्मवादी दर्शन का प्रभाव दर्शाते हैं। "वीणा" में उन्होंने लिखा है—

> "खिले थे जब तुम बनकर फूल, भ्रमर बन प्राण, लगाने धूल,
> पास आया मैं, चुपके शूल चुभाये तुमने मेरे गात।"[136]

इस स्थल पर वह तत्त्व फूल एवं काँटा दोनों में समान रूप से व्याप्त कहा गया है। सरिता कल-कल ध्वनि से उसी का गीत गाती हुई बहती है।"[137]

तत्कालीन एक अन्य कविता में भी यही भाव प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है कि लतिका के कम्पित अधरों पर उसी का मृदु अस्फुट-गान फूट रहा है। वही मन्द हवा के रूप में बहकर ध्यान आकर्षित कर रहा है। प्रकृति की शोभा में वही विराजमान है जो अपनी चपल उँगलियों से छूकर हृत्तंत्री के तारों को झंकृत कर देता है।"[138] वह सत्ता रूप में सर्वत्र विद्यमान है।"[139] "पल्लव" की "मौन निमंत्रण" कविता में उस दिव्य सत्ता की उपस्थिति का चित्रण पन्त जी ने बार-बार किया है। प्रकृति व परमेश्वर की एकता को "ज्योत्स्ना" में इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है—"असंख्य कोटि के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त, वन-उपवन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं

के रहते हुए भी एक है।............यह समस्त विश्वचक्र एक ही अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित है।"[140]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है--"चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनों ही प्रकार से परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप के दर्शन मिलते हैं।"[141]

पन्त जी को जीवन के कण-कण में परमेश्वर की उपस्थिति की अनुभूति होती थी। "पल्लव" की "मौन निमंत्रण" कविता वाली अनुभूति "युगवाणी" की इन पंक्तियों में भी है—

> "शीत ताप झंझा के सह बहु वार,
> कौन शक्ति सजती जीवन का बासंती शृंगार?
> सभी उसी के लिए विकल मन,
> उसी शक्ति का पाने जीवन-स्पर्श,
> रोम-रोम में भरने विद्युत्-हर्ष
> चिर चंचल व्याकुल जन।"[142]

उनके विचारानुसार उसी के कारण जड़-पर्वतों की गोद में हरीतिमा लहराती हे, पेड़-पौधे लहराते हैं, शीतल शुभ्र झरने ईश्वर की तरल मुस्कान बनकर हमारे मन को हर लेते हैं, तरह-तरह के जानवर तथा पक्षी भी अपनी विविधता के द्वारा उस परम-तत्त्व की उपस्थिति का आभास देते हैं। पर्वत भी बिल्कुल जड वस्तु नहीं हैं। ये पर्वत मानव को जीवन के विकासक्रम का, उसके औन्नत्य का अर्थ समझाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी ने प्रकृति के रंगीन चित्रों में उस दिव्य चिरन्तन विराट् रूप के दर्शन किये हैं। उनकी विचारणा है कि—

> "वही तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित,
> वही फूल मधु सुरभि, वही मधुलिह चिर गुंजित।"[143]

उन्होंने जड़ तथा चेतन, प्रकाश तथा अंधकार, ज्ञान तथा अज्ञान--सभी मे एक ही सत्य के संचरण को देखा है। अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल पन्त जी ने "कला और बूढ़ा चाँद" में भी अंधकार तथा प्रकाश को एक ही कर दिया है। इस तथ्य की घोषणा उन्होंने अपनी अन्य कृतियों में भी की है। "वाणी" की "कौवे" कविता में उन्होंने दर्शाया है कि निम्न प्रवृत्तियों तथा अहता के सूचक कौवे सत्य को धूमिल नहीं करते वरन् वे भी उसके प्रति

समर्पित है क्योंकि निम्न से उच्च तक एक ही सत्य का संचरण है एवं जड़ तथा चेतन एक ही सत्य के रूप हैं। यदि जड़ निम्नतम सत्ता की स्थिति है तो चेतन उसी का परिपूर्ण एवं विकसित रूप है। निम्न स्थिति से उच्च विकास की स्थिति को प्राप्त करना एक स्वाभाविक क्रम है।"[144] इस स्वाभाविक विकास में सचेत सहयोग देना मनुष्य का कर्त्तव्य है—इस बात पर ज़ोर दिया गया है "विकास क्रम" की इन पंक्तियों में—

"मत रोको, दुर्गम, मत रोको
जड़ की फिर चेतन बनने की
गहन पिपासा।"[145]

यही विचार प्रकारान्तर से "सौवर्ण" की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है—

"युग-जीवन का अन्धकार फिर विहँस उठा
मानस-उज्ज्वल मंगल प्रभात में!
निश्चय ही वह अंधकार था नहीं अकेला,
अलसाया जीवन प्रकाश था,

× × ×

चेतन से जड़ को देखें, जड़ से चेतन को
दोनों का निष्कर्ष एक ही होता निश्चय।"[146]

पन्त जी के मतानुसार अनेकता के अंधकार, अतल गहराइयों में से नया चाँद (नया बोध) निकल आया है। संसार में जब भी कोई परिवर्तन या क्रांति होती है तो उसके मूल में सदैव ही कोई नया मूल्यबोध होता है। पुराने मूल्यबोध मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। "कला और बूढ़ा चाँद" की "अन्तर्मानस" कविता में उन्होंने विनम्रतापूर्वक जीवन-सत्य को उसकी सम्पूर्णता में समझाया है—

"देह अन्धकार न थी
अंतः सुख का पात्र बन गयी,
इन्द्रियाँ क्षणिक न थीं
नया बोध-द्वार बन गयीं,
जीवन मृत्यु न था,
नयी शोभा, नयी क्षमता बन गयी।"[147]

के रहते हुए भी एक है।............यह समस्त विश्वचक्र एक ही अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित है।"[140]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है--"चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनों ही प्रकार से परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप के दर्शन मिलते हैं।"[141]

पन्त जी को जीवन के कण-कण में परमेश्वर की उपस्थिति की अनुभूति होती थी। "पल्लव" की "मौन निमंत्रण" कविता वाली अनुभूति "युगवाणी" की इन पंक्तियों में भी है--

"शीत ताप झंझा के सह बहु वार,
कौन शक्ति सजती जीवन का बासंती शृंगार?
सभी उसी के लिए विकल मन,
उसी शक्ति का पाने जीवन-स्पर्श,
रोम-रोम में भरने विद्युत्-हर्ष
चिर चंचल व्याकुल जन।"[142]

उनके विचारानुसार उसी के कारण जड़-पर्वतों की गोद में हरीतिमा लहराती है, पेड़-पौधे लहराते हैं, शीतल शुभ्र झरने ईश्वर की तरल मुस्कान बनकर हमारे मन को हर लेते हैं, तरह-तरह के जानवर तथा पक्षी भी अपनी विविधता के द्वारा उस परम-तत्त्व की उपस्थिति का आभास देते हैं। पर्वत भी बिल्कुल जड वस्तु नहीं हैं। ये पर्वत मानव को जीवन के विकासक्रम का, उसके औन्नत्य का अर्थ समझाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी ने प्रकृति के रंगीन चित्रों में उस दिव्य चिरन्तन विराट् रूप के दर्शन किये हैं। उनकी विचारणा है कि--

"वही तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित,
वही फूल मधु सुरभि, वही मधुलिह चिर गुंजित।"[143]

उन्होंने जड़ तथा चेतन, प्रकाश तथा अंधकार, ज्ञान तथा अज्ञान--सभी मे एक ही सत्य के संचरण को देखा है। अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल पन्त जी ने "कला और बूढ़ा चाँद" में भी अंधकार तथा प्रकाश को एक ही कर दिया है। इस तथ्य की घोषणा उन्होंने अपनी अन्य कृतियों में भी की है। "वाणी" की "कौवे" कविता में उन्होंने दर्शाया है कि निम्न प्रवृत्तियों तथा अहता के सूचक कौवे सत्य को धूमिल नहीं करते वरन् वे भी उसके प्रति

समर्पित है क्योंकि निम्न से उच्च तक एक ही सत्य का संचरण है एवं जड़ तथा चेतन एक ही सत्य के रूप हैं। यदि जड़ निम्नतम सत्ता की स्थिति है तो चेतन उसी का परिपूर्ण एवं विकसित रूप है। निम्न स्थिति से उच्च विकास की स्थिति को प्राप्त करना एक स्वाभाविक क्रम है।"[144] इस स्वाभाविक विकास में सचेत सहयोग देना मनुष्य का कर्त्तव्य है—इस बात पर ज़ोर दिया गया है "विकास क्रम" की इन पंक्तियों में—

"मत रोको, दुर्गम, मत रोको
जड़ की फिर चेतन बनने की
गहन पिपासा।"[145]

यही विचार प्रकारान्तर से "सौवर्ण" की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है—

"युग-जीवन का अन्धकार फिर विहँस उठा
मानस-उज्ज्वल मंगल प्रभात में!
निश्चय ही वह अंधकार था नहीं अकेला,
अलसाया जीवन प्रकाश था,
× × ×
चेतन से जड़ को देखें, जड़ से चेतन को
दोनों का निष्कर्ष एक ही होता निश्चय।"[146]

पन्त जी के मतानुसार अनेकता के अंधकार, अतल गहराइयों में से नया चाँद (नया बोध) निकल आया है। संसार में जब भी कोई परिवर्तन या क्रांति होती है तो उसके मूल में सदैव ही कोई नया मूल्यबोध होता है। पुराने मूल्यबोध मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। "कला और बूढ़ा चाँद" की "अन्तर्मानस" कविता में उन्होंने विनम्रतापूर्वक जीवन-सत्य को उसकी सम्पूर्णता में समझाया है—

"देह अन्धकार न थी
अंतः सुख का पात्र बन गयी,
इन्द्रियाँ क्षणिक न थीं
नया बोध-द्वार बन गयीं,
जीवन मृत्यु न था,
नयी शोभा, नयी क्षमता बन गयी।"[147]

जीवन की रसात्मक अनुभूति, उसका सुख-दुख, विरह-मिलन अन्य कुछ नहीं किन्तु भगवान् के ही बिम्ब हैं, उसी की ओर जाने के मार्ग हैं। "इन्द्रिय प्रमाण" कविता सत्य के सापेक्ष तथा निरपेक्ष रूपों पर प्रकाश डालती है। यह सापेक्ष इन्द्रियानुभूत जगत् शाश्वत का ही प्रतिभासित रूप है।"[148]

पन्त जी की मान्यता थी कि सर्वात्म की अनुभूति "अवाक् आनन्द" तथा "आत्मविस्मृत तन्मयता" है।"[149] अनंत का सर्वव्याप्त सर्वसमावेशी स्वरूप सीमा तथा असीम, शून्य तथा सर्व, दिशा एवं काल की धारणाओं से युक्त है। सब कुछ होते हुए भी वह भीतर कुछ नहीं है, कुछ नहीं होते हुए भी वह सब कुछ है। यह जगत् के अणु-अणु में व्याप्त होते हुए भी उससे परे भी है। उसे मन की धारणाओं में बाँधा नहीं जा सकता। मन का सूनापन ऐसे दृश्य एवं अदृश्य का गध-स्पर्श पाकर "अनिवर्चनीय" में गीत-भ्रमर बनकर गूँज उठता है। यह भ्रमर की गूँज प्रेम की गूढ़ तृप्ति ही है।"[150] "वरदान" का कथ्य भी इसी "अनिर्वचनीय" एव "अव्यक्त" वरदान के भावार्थ को प्रतिध्वनित करता है।"[151]

"नया प्रेम" शीर्षक रचना मध्ययुगीन तथा वर्तमान उस विचारधारा का खण्डन करती है जो जीव के जीवन को भगवान् से भिन्न एवं उनके विरह से दग्ध मानती है। यह रचना भगवान् की उपस्थिति को सर्वत्र मानते हुए उससे पार्थक्य को असंभव मानती है। पन्त जी ने कहा है—

> "तुम पिछली फूलों की वीथियों
> आँसू की गलियों से होकर
> मत आना—
> क्या कोई भी घर,
> कोई भी आँगन
> कोई भी पथ
> तुम्हारा नहीं है?"[152]

"नया प्रेम" की यह मान्यता सर्वात्मवाद एवं मानवतावाद, मानव का मानव के प्रति प्रेम एवं "सियाराममय सब जग जानी" ही है।

इसी से मिलते-जुलते भाव "लोकायतन" में भी व्यक्त किये गये हैं—

> "जगत्-जीवन में तुम हो मूर्त,
> धरा पर करे स्वर्ग अभिसार,
> एकता का रच स्वर्णिम सेतु।"[153]

"पूर्व स्मृति" में सीता, राम, उर्मिला, लक्ष्मण, उमा, गौरी तथा वाल्मीकि क माध्यम से उन्होंने यह संकेत किया है कि दिव्य न तो जगत् से परे है और न जागतिक व्यापारों के प्रति तटस्थ है, वह जगत् के कण-कण में व्याप्त है। ईश्वर का आँगन ही जगत् है, दिव्य शक्तियों को हम अपने बीच अनुभव कर सकते है, व हमारी ही हैं, हमारी आत्मीय।"[154]

'किरणवीणा' में उन्होंने कहा है—

"परम, सदाशिव, पराशक्ति भी, परब्रह्म भी,
परमेश्वर, अग-जग-सृष्टा भी! अपर दृष्टि से
मैं ही हूँ अग-जग, लघु तृण कृमि, अमित प्रेम में,
सृष्टि स्वर्ग सोपान—जीव से देव-श्रेणि तक।"[155]

पन्त जी ने इसी से मिलते-जुलते विचार "समाधिता" में इन शब्दो में व्यक्त किए हैं—

"भेद नहीं जग में ईश्वर में, प्रज्ञा हो जो विकसित—
भू-पथ पर ईश्वर ही प्रतिक्षण विचरण करता निश्चित।"[156]

यही बात प्रकारान्तर से "सत्यकाम" में भी कही गयी है—

"ईश्वर ही निःसंशय, व्याप्त विश्व जीवन में,
लोट रहा कण-कण में
जगत् कर्म करने में भी ईश्वर का अनुभव,
हो सकता साधक को, जिससे ओत-प्रोत जग"

कठिन तपस्या में रत सत्यकाम को अन्तर्नभ में अमृत-ध्वनि सुनाई दी—

"विश्व-चेतना ही में खोजो मुझे सतत तुम,
विश्व-प्रकृति ही में, तुमको मैं मूर्त मिलूँगा।
× × ×
विश्वकर्म मेरा हृत्स्पन्दन, महाप्राण नर,
उसका अधिकारी हो सकता लोक धरा पर।"[157]

यही बात 'गीत-अगीत' में भी कही गयी है—

"विश्व रूप में देखे सुन्दर, ईश्वर को साकार निरन्तर।"[158]

उपर्युक्त विवेचन से यह बात सिद्ध है कि अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल पन्त जी जड़-चेतन, प्रकाश-तम तथा ज्ञान-अज्ञान में कोई भेद नहीं मानते थे जीवन के कण-कण में उन्हें परमेश्वर की उपस्थिति की अनुभूति होती थी

भारतीय सतो तथा दार्शनिकों से यह उनका मतभेद था। कबीर आदि संत अज्ञान को अज्ञान ही मानते थे। अद्वैतवादी यद्यपि कहते यही हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है, तथापि व्यवहार-काल में वे भी भेद को मानकर चलते हैं। पन्त जी की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपनी मूल मान्यताओं का अलग-अलग रचना-युगों में सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। इस छायावादी कवि द्वारा सातवें दशक तक अपनी इन अपेक्षाकृत नयी मान्यताओं का सतत प्रयोग उसकी सुदृढ़ निष्ठा को प्रकट करता है।

रहस्यवाद

रहस्यवाद क्या है—इसको परिभाषित करते हुए परशुराम चतुर्वेदी जी ने कहा है कि "रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूलाधार किसी व्यक्ति के लिए विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट निर्विशेष एकता एवं परमात्मत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुखी भी हो जाता है।"[159] इस परिभाषा में पाँच ऐसी बातें समाहित हैं जिन्हें समझ लेना आवश्यक है—

1. रहस्यवाद की जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृति
2. व्यक्ति के साथ विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता का स्वीकार
3. परम-तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति
4. ऐसे अनुभव की अनिर्वचनीयता और
5. रहस्यवादी व्यक्ति के व्यवहार का स्वाभाविक रूप से अपने संकुचित अहं की परिधि को लाँघकर व्यापक तथा विश्वात्मक होना।

पन्त-काव्य में रहस्यवाद को वस्तुतः जीवन-दर्शन के रूप में ही स्वीकार किया गया है। वहाँ पर सत्ता के प्रति जिज्ञासाएँ, सत्ता के स्वरूप का निर्धारण, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का उल्लेख, उस अनुभूति की अनिर्वचनीयता का कथन तथा कवि के व्यक्तित्व की व्यापकता आदि से सम्बन्धित सभी स्थितियाँ न्यूनाधिक रूप में विद्यमान हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि पन्त जी की रहस्य-भावना प्रणयमूलक न होकर चिन्तन-प्रधान है। वह हृदय के धरातल से व्यक्त न होकर बौद्धिक धरातल से प्रसारित हुई है।

प्रारम्भ से ही पन्त जी का एक अज्ञेय सत्ता में दृढ़ विश्वास रहा है। उसकी सर्वव्यापकता से उनका परिचय भी था किन्तु उसके गुण तथा स्वरूप के

सबध में वह अनभिज्ञ थे। उनके विचारानुसार प्रकृति की अपनी एक सत्ता ह तथा प्रकृति स्वयं ही विकसित होती है किन्तु उसमें ब्रह्म का सूत्र बिंधा हुआ है। प्रकृति के निरंतर परिवर्तन तथा नवीनीकरण का सम्बन्ध उन्होंने प्रकृति तथा मानव को प्रेरित करने वाली चैतन्यधारा की अक्षुण्ण गतिशीलता से जोड़ा है। "वीणा" तथा "पल्लव" की बहुत सी रचनाओं में इस धारा की सर्वजयी सृजनशील शक्ति में उनका दृढ़विश्वास मुखरित हुआ है।

"वीणा" की एक रचना में पुष्प तथा नक्षत्रों को 'मधुरिमा के मृदु हास' कहकर वह प्रश्न करते हैं कि तुम में ऐसे कौन से अदृश्य गुण निहित हैं जो चुपचाप मेरी आत्मा को अपने निकट खींच लेते हैं।"[160] इसी गीत में आत्मा व्याकुल होकर पूछती है—

"कहाँ हो कर्णाधार!
लघु लहरों में खेल रही है
मेरी हल्की नाव,
न तुम से है प्रिय
तनिक दुराव
जानते हो सब मन के भाव।"[161]

"वीणा" में उस प्रियतम से अविच्छिन्न सम्बन्ध की अभिव्यक्ति भी हुई है जो अद्वैत-भाव को लेकर चली है। पन्त जी कहते हैं कि मैं तुमसे सब प्रकार से एक हूँ पर इस अभिन्नता के सम्बन्ध को कैसे स्पष्ट करूँ? कौन से उपमान जुटाऊँ? फिर भी उन्होंने उस संबंध को अधोलिखित पंक्तियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास अवश्य किया है—

"जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक पाँति।"[162]

पन्त जी को आत्मा-परमात्मा के संबंध का ज्ञान प्रारम्भ से ही था। तभी वह यह कह सके—

'जब मैं थी अज्ञात प्रभात—
माँ! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात।
तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर,

तू उमग थी मे उत्पात
अब तेरी छाया सुखमय,
अंधकार में नीरवता बन
माँ! उपजाती है विस्मय।"[163]

जब आत्मा-परमात्मा से विच्छिन्न नहीं हुई थी तब दोनों एक थे, उस समय दोनों में कोई अन्तर नहीं था, एक सुन्दर ज्योति के रूप में दोनो मे अभिन्नता थी किन्तु अब संसार में आते ही अविद्या से सम्पर्क होने पर दोनो म पर्याप्त दूरी हो गयी है। उस दूरी को दूर करने के लिए अभिन्नता के ज्ञान का प्रकाश पुनः आवश्यक हो गया है। उस प्रकाश के प्रज्ज्वलित होते ही मोह की छाया छिन्न-भिन्न होकर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेगी।"[164] इसीलिए कवि की आत्मा उस विराट माँ की गोद में जाने की आकांक्षा प्रकट करती है ताकि दोनों के मध्य का अन्तर और अधिक न बढ़ जाये। वह सबसे छोटी रहकर उस महती शक्ति के साथ उसी प्रकार रहना चाहती है जिस प्रकार शिशु अपनी माता का आँचल पकड़कर सदा उसी के साथ रहता है तथा निर्भयता एवं सुरक्षा का अनुभव करता है।[165]

तरुण पन्त जी प्रकृति के वैभव से बालक की भाँति चकित थे और उसके पीछे एक जीवित, जाग्रत्, स्पन्दित, अतीन्द्रिय सत्ता की कल्पना करते थे।

इस संसार के सुबह तथा शाम उन्हें अत्यन्त रहस्यमय लगते थे। उन्हे लगता था कि मानो यह समस्त प्राकृतिक वैभव, यह सम्पूर्ण आकर्षण केवल उन्हीं के लिए है—

"कनक छाया में जबकि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन
× × ×
न जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन।"[166]

"गुंजन" की कविताओं में पन्त जी की रहस्य-भावना और भी गहरी हो गयी है और उसमें दार्शनिकता का भी पुट आ गया है। यह समस्त सृष्टि उन्हे

एक रहस्यमय इच्छा के सूत्र पर कठपुतली की भाँति नृत्य करती प्रतीत होती ह—"अविरत इच्छा ही में नर्तन,

करते अबाध रवि, शशि, उड्गन,

दुस्तर आकांक्षा का बंधन।"[167]

इस इच्छा के बंधन से मुक्ति तभी मिल सकती है जब मनुष्य सुख-दु ख से ऊपर उठकर शाश्वत जीवन के साथ अपने जीवन को एकात्म कर दे। उनके मत से—"अस्थिर है जग का सुख-दुःख, जीवन ही नित्य चिरन्तन,

सुख-दुःख से ऊपर, मन का, जीवन ही रे अवलम्बन।"[168]

तब उन्होंने साधना के पथ को पकड़ा, किन्तु यह साधना मात्र सक्रिय भाव से प्रकृति तथा जीवन के साथ एकात्म हो जाना है; बुदबुद की भाँति जल मे लय होकर जल का रहस्य पाना है—

"कँप-कँप हिलोर रह जाती, रे मिलता नहीं किनारा,

बुदबुद विलीन हो चुपके पा जाता आशय सारा।"[169]

'ज्योत्स्ना' में एक गीत है—

"चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय, चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय

× × ×

चिर महानन्द के पुलकों से, झर-झर नित अगणित लोक-निचय,

नाचते शून्य में समुल्लसित, बन शत-शत सौर-चक्र निर्भय।"[170]

"इस चिन्मय प्रकाश के अगाध समुद्र में मनुष्य का अस्तित्व लहरों की तरह है। जैसे जल के केवल स्पन्दन से ही लहर की सत्ता है वैसे ही यह मानव-जीवन उस विराट् चिन्मय प्रकाश के सागर की मात्र हिल्लोल है—पता नही किस निरवधि, निरालस अतीत में यह हिल्लोल उठी थी और पता नही किस अनागत भविष्य में यह फिर उसी प्रकाश-पुंज में लीन हो जायेगी। बार-बार अस्ति तथा नास्ति का यह खेल ही अनादि काल से मनुष्य की जिज्ञासा तथा रहस्य का विषय रहा है।"[171]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त-काव्य में जीव-ब्रह्म के केवल अनन्य सम्बन्ध की जिज्ञासा व अनुभूति ही नहीं; आश्चर्य, आनन्द तथा रहस्यात्मकता के विविध सूत्र भी व्याप्त हैं जो जीवन, प्रकृति तथा चेतनता से कई प्रकार से सबधित किये गये हैं। इसमें हमें जीव तथा ब्रह्म संबंधी उस प्रकार की जिज्ञासा नही मिलती जो निराला, महादेवी वर्मा तथा रामकुमार वर्मा के काव्य का विषय

है। पन्त जी के रहस्यवाद का आधार है एक व्यापक आश्चर्य तथा रहस्य की भावना (स्पिरिट ऑफ वन्डर)। पन्त जी ने प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य, बालक तथा छोटे-बड़े सभी जीवों को एक विशेष आश्चर्य व रहस्य की दृष्टि से देखा है और जहाँ तक संभव हुआ है इनसे सीधा नाता स्थापित करना चाहा है। इसी विराट् आश्चर्य की भावना ने पन्त-काव्य के वर्ण्य विषयों को विशेष महत्त्व प्रदान किया है क्योंकि जीवन, जगत् तथा उसमें व्याप्त चिन्मय शक्ति को नये प्रकार से देखने की दृष्टि उसने हमें दी है। पन्त जी के विचारानुसार प्रकृति, मनुष्य तथा सृष्टि के मूल में एक रहस्यमय-उपचेतन काम कर रहा है। वस्तुतः चेतन एवं उपचेतन में कोई भेद नहीं है। उपचेतन मन ही कालान्तर में चेतन मन का रूप धारण कर लेता है—

> "अवचेतन मन से होता रे, चेतन मन संतत संचालित,
> मन के दर्पण में मन की छवि, रंजित होकर होती बिंबित।"[172]

चेतना विकसित होते ही साधक का हृदय दिव्य सौन्दर्य, दिव्य माधुर्य तथा दिव्य आनन्द से परिपूरित हो जाता है, उसमें दिव्य पुरुष निवास करने लगता है।

पन्त जी के उत्तरवर्ती काव्य में भी ब्रह्म तथा सृष्टि से सम्बन्धित बड़ी मनोरम जिज्ञासाएँ मिलती हैं। कवि प्रश्न करता है—

> "कौन सत्य वह? महाशून्य तुम, जिससे गर्वित होकर,
> महाविश्व में बदल गये, धारण कर निखिल चराचर,
> किसके बल से पंचभूत बन, सतत कर्म में तत्पर?
> शब्दित नभ, चल अनिल, द्रवित जल, दीप्त अग्नि, भू उर्वर।"[173]

'स्वर्ण-किरण' की 'जिज्ञासा' शीर्षक कविता में तो पन्त जी ने इस प्रकार की अनेक जिज्ञासाएँ प्रकट की हैं जिनका सम्बन्ध ब्रह्म तथा सृष्टि की विचित्रता तथा बहुरूपता से जुड़ा हुआ है। वे उस ब्रह्म से सम्बन्धित हैं जो अज्ञेय कहा गया है, उस लोक से सम्बन्धित हैं जो प्रकाश तथा आनन्द की लहरों से युक्त है और जो वैदिक परम व्योम है। पन्त जी के विचारानुसार वह तत्त्व "अवाङ्मनसगोचर" है जिसे उन्होंने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

> "लौट-लौट आते तट छूकर वाद विवाद शास्त्र षड्दर्शन,
> सत् डूबते उतराते सुख, दुख इच्छायें जन्म औ' मरण।
> × × ×
> चिर अनादि अज्ञेय, पार जा पाते नहीं चक्षु वाणी मन[174]

पन्त जी की उत्तरवर्ती रचनाओं में जिज्ञासा तथा उत्कंठा की वृत्ति कम होती चली गयी है और उसके स्थान पर रहस-स्पर्श की अनुभूति, भौतिक चेतना के निचले स्तरों पर ऊर्ध्व चेतना-स्तरों से झरने वाले प्रकाश और आनन्द की धाराओं से उत्पन्न मस्ती तथा चेतना के दिव्यीकरण के वर्णन अधिक हैं। वस्तुतः यह साधक के अपने साध्य के निकट तक पहुँच जाने की स्थिति है जहाँ केवल आनन्द तथा प्रकाश ही रह जाता है, चेतना के अन्तःगवाक्ष खुल जाते हैं और प्राणी अनन्त शोभा-सिन्धु की लहरों पर थिरकता हुआ आनन्द से उन्मत्त हो उठता है—

"मचल उठता ज्वार, शोभा-सिन्धु में जग,
नाचता आनन्द पागल, भाव-लहरों पर,
थिरकते प्रेरणा पग! इन्द्र धनुष मरीचि दीपित
चेतना का मर्म में खुलता गवाक्ष, रहस्य भास्वर।"[175]

बरसते हुए कचनारी ऐश्वर्य से ऐसे अकथनीय प्रभाव पड़ते हैं कि अन्तर आकुल हो उठता है और कभी-कभी तो देह-बोध विस्मृत हो जाता है तथा आत्मा का पृथक्-अस्तित्व परम-अस्तित्व में घुलकर एकाकार हो जाता है—

"विस्मृत हो जाता देह भाव, विस्मृत अस्मिता नहीं विस्मय,
धुल जाते जड़ संस्कार मलिन, अस्तित्व पिघल होता तन्मय।"[176]

भाव की यही वह चरमोच्च भूमि है जहाँ पहुँचने के लिए समस्त साधना, समस्त योग, समस्त कविता तथा समस्त कला व्यग्र रहती है। किन्तु उस चरमोच्च-भाव-भूमि को शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। शब्द एवं वाणी तो सापेक्ष एवं सीमित हैं—

"केवल
अगम शांति है।
अरूप लावण्य,
अकूल आनन्द
प्रेम का,
अभेद्य रहस्य।"[177]

'सूर्यमन' प्रेम के इस अभेद्य रहस्य के गुंजरण का आकांक्षी होकर "समर्पण" मे पूर्ण प्रणत हो जाता है—

"तुम्हारे रश्मि चरण

× × ×

जिन्हें देख,

दृष्टि अपलक

निछावर कर देती है।"[178]

पन्त जी की रहस्यानुभूतियों के जो ऐश्वर्य एवं वैभवपूर्ण चित्र गत पृष्ठों पर दिये गये हैं उनकी प्रभविष्णुता, उनका जीवन-बिंब-विधान, उनकी भाषा की निर्दोष सटीकता आदि इस बात के प्रमाण हैं कि वे शत-प्रतिशत वास्तविक अनुभूतियाँ हैं। मात्र कल्पना के आधार पर ऐसा अनुभूतिपरक चित्रण नहीं हो सकता।

समाहार

इस प्रकार भौतिकता तथा आध्यात्मिकता, जड़ता तथा चेतनता, ज्ञान तथा विज्ञान, कर्म तथा ज्ञान, बंधन तथा मुक्ति, जीवन तथा मृत्यु, सुख तथा दुःख, व्यष्टि तथा समष्टि के बीच का जो मिला-जुला मार्ग पन्त जी ने खोजा था, उसे कहाँ तक और कब तक मान्यता मिलेगी, कहा नहीं जा सकता; किन्तु इसमे शक नहीं कि सामान्य पाठक के हृदय को वह मार्ग सीधा तथा सरल प्रतीत होता है।

उनके विचार सदा समन्वयात्मक रहे हैं। उन्होंने लिखा है—

"ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत् में उभय रूप तम में गिरने वाले जन
ज्योति केतु ऋषि दृष्टि करे उन दोनों का संचालन
बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।"[179]

यही मानव का देवत्व है जिसमें जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है। इसी के आधार पर विश्व-संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एक मात्र समाधान है। आज के द्रोहरत-मानव की यही मुक्ति है और यह समाधान युग का मात्र सामयिक सत्य नहीं है, युग-युग का शाश्वत सत्य है, मानव-जीवन की चिरन्तन समस्या का चिरन्तन समाधान है।

पन्त जी के विचारानुसार राष्ट्रों एवं वर्गों की अनेकता में मानव-एकता की

स्थापना ही आज की विषमता की समाप्ति का उपाय है। व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में वह और आगे बढ़े तथा अनेकता में एकता की उनकी यह अनुभूति भौतिक तत्त्वों से ऊपर परम तत्त्व तक पहुँची—

> "अन्न प्राण मन आत्मा केवल ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
> इन सबमें चिर व्याप्त ईश रे, मुक्त सच्चिदानन्द चिरन्तन।"[180]

पन्त जी की अपनी कोई स्वतन्त्र अथवा सर्वथा नवीन दार्शनिक मान्यताएँ नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व तथा साहित्य में हमें भारतीय अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि पर यूरोप के मानवतावाद की प्रतिष्ठा मिलती है जो उनसे पहले कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य में भी हमें दिखाई देती है। वैसे तो अद्वैतवाद तथा मानवतावाद दो विभिन्न दर्शन प्रतीत होते हैं; एक पूर्व का है, दूसरा पश्चिम का है; एक पुरातन है दूसरा नवीन है। किन्तु तात्त्विक विश्लेषण करने पर मानवतावाद अद्वैतवाद का ही प्रोद्भास प्रतीत होता है। अद्वैतवाद का मूल आधार है अनेकता में एकता का ज्ञान अर्थात् यह ज्ञान कि संसार में दिखायी पड़ने वाली अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्त्व) ही सत्य है। एकांत व्यक्ति-साधना के क्षेत्र मे तो साधक उस एकता (एक तत्त्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न मे अनेकता (जगत्) को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा विमुख हो जाता हे किन्तु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण लेकर साधना में अग्रसर होता है तो अनेकता (जगत्) में उसे मिथ्यापन का आभास नहीं होता। स्थूलतः जो अनेक नाम-रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के प्रतिबिम्ब होने के कारण उससे अभिन्न हे। इस प्रकार जगत् में "स्व" तथा "पर" का भाव, महान् तथा लघु का भाव, उच्च तथा निम्न का भाव, अर्थात् किसी भी प्रकार की पृथकता अथवा तात्त्विक भिन्नता का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी चींटी से लेकर हाथी तक, समान हैं। सभी मानव समान हैं तथा उस परम-शक्ति का प्रतिबिम्ब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं।

कबीरदास तथा उनके सहयोगी सन्तों ने इसी आध्यात्मिक मानवतावाद का अपने जीवन तथा काव्य में प्रतिपादन किया था। कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानवतावादी विचारधारा से भी प्रभाव ग्रहण करके इसी को नवीन रूप मे प्रस्तुत करते हुए अपने विश्वबंधुत्व—सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। कवीन्द्र रवीन्द्र का यही विश्वबंधुत्व पन्त-काव्य में विश्वसंस्कृति बन गया—

> "हमें विश्वसंस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,

मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।"[181]

रवीन्द्र पर केवल पूर्ववर्ती मानवतावादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त जी पर परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का भी प्रभाव है। इसीलिए उन्होने मानव-एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है--

"मानवीय एकता जातिगत तन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव मुख श्री कर मंडित।"[182]

यह मनःस्वर्ग आत्म-संस्कार का ही काव्यमय नाम है।

जैसा मैं पहले संकेत कर चुकी हूँ पन्त जी का इस जीवन-दर्शन की ओर शुरू से ही रुझान रहा है। "ज्योत्स्ना" जिसमें उन्होंने पहली बार अपने विचारों की विशद अभिव्यक्ति की है, मानवतावाद की सबल उद्घोषणा है। "युगान्त" मे उन्होंने इसे आध्यात्मिक पुट देना शुरू किया था किन्तु 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मार्क्सदर्शन के प्रभाववश उनकी चिन्तन-प्रवृत्ति के किसी सीमा तक बहिर्मुखी हो जाने के कारण इस चिन्तन-धारा का स्वाभाविक विकासक्रम टूट गया था। सन् 1944 की अस्वस्थता तथा श्री अरविन्द के सत्संग ने उन्हे अन्तर्मुख चिन्तन की ओर पुनः प्रेरित किया तथा "स्वर्णकिरण" एवं 'स्वर्णधूलि' मे यह चिन्तनधारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गयी। पन्त जी की उत्तरवर्ती अधिकांश रचनाएँ उनकी दार्शनिक परिकल्पना को प्रस्तुत करती हे। यदि कहीं नैसर्गिक प्रकृति या समाज का वर्णन किया भी गया है तो अन्त में उस पर आध्यात्मिकता की छाप लगा दी गयी है। पन्त जी की इन उत्तरवर्ती रचनाओं का मूल आधार अरविन्द-दर्शन ही है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि पन्त जी की मुख्य प्रवृत्ति सामाजिकता की ओर है जबकि श्री अरविन्द का अधिकांश जोर अध्यात्म पर है। पन्त जी का दर्शन मानवतावादी है, जो काम तथा अध्यात्म, व्यष्टि तथा समष्टि, भूत और अध्यात्म के समन्वय पर आधारित है।

पन्त जी की तत्त्व-दार्शनिक दृष्टि भू-जीवन के समतल और ऊर्ध्व विकास की परिपूर्ण चेतना से अन्वित थी। उनको मान्य तत्त्व-दर्शन के सिद्धान्तों मे, जिनका परिचय विगत पृष्ठों में यथासम्भव विस्तार से दिया गया है, उनकी सभी वेचारिक तथा व्यावहारिक मान्यताओं की झलक सम्मिलित हो गयी है, किन्तु उनके विचारों को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से उनकी धर्म, साधना, उपासना एवं नीति सम्बन्धी दृष्टि के सम्बन्ध में अलग-अलग परिचय तथा विवेचन आगामी पृष्ठों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सन्दर्भ-संकेत



शिल्प और दर्शन—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 161, प्रथम संस्करण 1961
आधुनिक कविः भाग दो, पर्यालोचन, पृ. 7-8, प्रथम संस्करण 1941
आधुनिक कविः भाग दो, पर्यालोचन, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 10, प्रथम संस्करण 1941
सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, वाणी-आत्मिका, पृ. 176, प्रथम संस्करण 1979
आधुनिक कविः भाग दो, पर्यालोचन, पृ. 10-11, प्रथम संस्करण 1941
आधुनिक कविः भाग दो, पर्यालोचन, पृ. 10-11, प्रथम संस्करण 1941
वही, पृ. 30, प्रथम संस्करण 1941
वही, पृ. 30, प्रथम संस्करण 1941
वीणा—सु. पन्त, गीतसंख्या 43, पृ. 58, नवीन संस्करण, 1972
वही, गीतसंख्या 36, पृ. 50, नवीन संस्करण, 1972
हिन्दी साहित्य कोश—संपादक धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ. 520, प्रथम सस्करण, संवत् 2015
पल्लव—परिवर्तन, सु. पन्त, पृ. 154-155, आठवाँ संस्करण, 1977
वही, पृ. 154, आठवाँ संस्करण, 1977
ज्योत्स्ना, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 53, चतुर्थ संस्करण, 1978
युगवाणी—संकीर्ण भौतिकताओं के प्रति, पृ. 30, पाँचवाँ संस्करण 1982
हिन्दी साहित्य कोश—सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 520, प्र. सं.
युगवाणी—"वाणी", पृ. 60, पाँचवाँ संस्करण, 1982
युगवाणी—तुम ईश्वर, पृ. 59, पाँचवाँ संस्करण, 1982
युगान्त—छाया, पृ. 29, तृतीय संस्करण, 1972
स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय, पृ. 133, चतुर्थ संस्करण, 1971
स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय, पृ. 135, चतुर्थ संस्करण, 1971
गुंजन—चाँदनी कविता, पृ. 270, सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 1, प्रथम

मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।"[181]

रवीन्द्र पर केवल पूर्ववर्ती मानवतावादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त जी पर परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का भी प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव-एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है--

"मानवीय एकता जातिगत तन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव मुख श्री कर मंडित।"[182]

यह मनःस्वर्ग आत्म-संस्कार का ही काव्यमय नाम है।

जैसा मैं पहले संकेत कर चुकी हूँ पन्त जी का इस जीवन-दर्शन की ओर शुरू से ही रुझान रहा है। "ज्योत्स्ना" जिसमें उन्होंने पहली बार अपने विचारों की विशद अभिव्यक्ति की है, मानवतावाद की सबल उद्घोषणा है। "युगान्त" मे उन्होंने इसे आध्यात्मिक पुट देना शुरू किया था किन्तु 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मार्क्सदर्शन के प्रभाववश उनकी चिन्तन-प्रवृत्ति के किसी सीमा तक बहिर्मुखी हो जाने के कारण इस चिन्तन-धारा का स्वाभाविक विकासक्रम टूट गया था। सन् 1944 की अस्वस्थता तथा श्री अरविन्द के सत्संग ने उन्हें अन्तर्मुख चिन्तन की ओर पुनः प्रेरित किया तथा "स्वर्णकिरण" एवं 'स्वर्णधूलि' मे यह चिन्तनधारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गयी। पन्त जी की उत्तरवर्ती अधिकांश रचनाएँ उनकी दार्शनिक परिकल्पना को प्रस्तुत करती हे। यदि कहीं नैसर्गिक प्रकृति या समाज का वर्णन किया भी गया है तो अन्त मे उस पर आध्यात्मिकता की छाप लगा दी गयी है। पन्त जी की इन उत्तरवर्ती रचनाओं का मूल आधार अरविन्द-दर्शन ही है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि पन्त जी की मुख्य प्रवृत्ति सामाजिकता की ओर है जबकि श्री अरविन्द का अधिकांश जोर अध्यात्म पर है। पन्त जी का दर्शन मानवतावादी है, जो काम तथा अध्यात्म, व्यष्टि तथा समष्टि, भूत और अध्यात्म के समन्वय पर आधारित है।

पन्त जी की तत्त्व-दार्शनिक दृष्टि भू-जीवन के समतल और ऊर्ध्व विकास की परिपूर्ण चेतना से अन्वित थी। उनको मान्य तत्त्व-दर्शन के सिद्धान्तों मे, जिनका परिचय विगत पृष्ठों में यथासम्भव विस्तार से दिया गया है, उनकी सभी वैचारिक तथा व्यावहारिक मान्यताओं की झलक सम्मिलित हो गयी है, किन्तु उनके विचारों को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से उनकी धर्म, साधना, उपासना एवं नीति सम्बन्धी दृष्टि के सम्बन्ध में अलग-अलग परिचय तथा विवेचन आगामी पृष्ठों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सस्करण 1977

23. There is then a supreme reality eternal, absolute and infinite (Sri Arvindo, The Life Divine, Vol. II, page 34.
24. Intution brings to man those brilliant messages from the unknown which are the beginnings of his higher knowledge. (Sri Arvindo, The Life Divine, Vol. I, page 81).
25. There must be true self realised within if there is to be the life realised in world and nature. (Sri Arvindo, The Life Divine, Vo. II, page 596).
26. Substance is the form of itself.....and of that substance if matter is one end, spirit is the other. The two are one. (Sri Arvindo, The Life Divine, Vol. I, page 191)
27. स्वर्णधूलि—दिव्यकाव्य कविता, पृ. 284, सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, प्रथम संस्करण 1979
28. उत्तरा—अमर्त्य कविता, पृ. 75, चतुर्थ संस्करण 1980
29. हिन्दी साहित्यकोश—धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ. 50-51 प्रथम संस्करण
30. स्वर्ण-किरण—"स्वर्णोदय" कविता, पृ. 94, चतुर्थ संस्करण, 1971
31. स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय, पृ. 135-136, चतुर्थ संस्करण, 1971
32. सत्यकाम—जीव ब्रह्म, पृ. 397, सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 3
33. कला और बूढ़ा चाँद—शंख कविता, पृ. 156, तृतीय संस्करण 1973
34. लोकायतन—कला-द्वार, पृ. 185, सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 5, प्रथम संस्करण 1979
35. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—कला-द्वार, पृ. 185, प्रथम संस्करण 1979
36. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, समाधिता—कविता सं. 10, पृ. 143, प्रथम संस्करण 1979
37. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, सत्यकाम—ब्रह्माग्नि, पृ. 381, प्रथम संस्करण 1979
38. स्वर्ण-किरण—इन्द्रधनुष, पृ. 22, चतुर्थ संस्करण, 1971
39. स्वर्ण किरण—स्वर्णोदय, पृ. 126, चतुर्थ संस्करण, 1971
40. स्वर्णधूलि—सन्यासी का गीत, पृ. 290, सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, प्रथम संस्करण 1979

लोकायतन—कलाद्वार, पृ. 200, सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, प्रथम संस्करण 1979
लोकायतन—कलाद्वार, पृ. 135-136, सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 5
इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परे मनः, मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः—कठोपनिषद् (1, 3, 10) हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपादक धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 240 से उद्धृत।
स्वर्णधूलि—चौथी भूख, पृ. 312, सु. पं. ग्रंथावली खण्ड 2
युगपथ—सु. पन्त, पृ. 105, द्वितीय संस्करण, 1964
सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—कलाद्वार, पृ. 135, प्रथम संस्करण 1979
सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—आत्मब्रह्म, पृ. 383, प्रथम संस्करण 1979
सु पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—आत्मब्रह्म, पृ. 383, प्रथम संस्करण 1979
पल्लव—परिवर्तन, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 149
पल्लव—परिवर्तन, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 150
सु. पन्त ग्रंथावली, खंड 1, गुंजन-कविता सं. 12, पृ. 246, प्रथम संस्करण 1979
युगवाणी, रूपपूजन, सु. पन्त, पृ. 34, पाँचवाँ संस्करण, 1982
युगवाणी—रूपपूजन, सु. पन्त, पृ. 34, पाँचवाँ सं. 1982, 'समाधिता' की निम्नोद्धृत पंक्तियों से भी यही विचारणा पुष्ट होती है—धन्य तुम्हें आनन्द! जाग निष्क्रिय समाधि से, तुम सुख-दुख की बाँहों मे बँध, सृष्टि प्रगति हित दोलित।
सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता—गीतसंख्या 14, पृ. 145, प्रथम संस्करण 1979
ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 105, चतुर्थ संस्करण, 1978
वही, पृ. 76, चतुर्थ संस्करण, 1978
युगपथ—युगान्त, सृष्टि कविता, पृ. 31, तृतीय संस्करण, 1978
ज्योत्स्ना—पृ. 85, चतुर्थ संस्करण, 1978
ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 83, चतुर्थ संस्करण 1978
किरणवीणा—वसन्त कविता, पृ. 124, प्रथम संस्करण, 1967

61. शिल्पी–ध्वंसशेष, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 65, प्रथम संस्करण, 1952
62. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, स्वर्णधूलि--अन्तर्विकास कविता पृ. 305, प्रथम संस्करण 1979
63. छायावाद तथा काव्यदर्शन–डॉ. हरिनारायण सिंह, पृ. 453
64. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि–मृत्युंजय कविता, पृ. 306, प्रथम संस्करण 1979
65. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, वाणी-वज्र के नूपुर, पृ. 143-144, प्रथम संस्करण 1979
66. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत–गीत संख्या 59, पृ. 493, प्रथम संस्करण 1979
67. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम-जीवब्रह्म, पृ 396-406, प्रथम संस्करण 1979
68. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, समाधिता–कविता सं. 10, पृ. 143, प्रथम संस्करण 1979
69. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, स्वर्णधूलि-आशंका कविता, पृ. 320, प्रथम संस्करण 1979
70. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, समाधिता-कविता संख्या 58, पृ. 173, प्रथम संस्करण 1979
71. लोकायतन-द्वन्द्व-पृष्ठ 199, सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, प्रथम संस्करण 1979
72. युगवाणी–तुम ईश्वर कविता, पृ. 59, पाँचवाँ संस्करण 1982
73. पल्लविनी, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 24, प्रथम संस्करण 1940
74. यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंग सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथा क्षराद् विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चेनापि यन्ति, (मु. उ. 2/1/1)
75. स्वर्ण किरण–अशोकवन, पृ. 175, चतुर्थ संस्करण 1971
76. लोकायतन-द्वन्द्व, पृ. 200 सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली, खण्ड 5, प्रथम संस्करण 1979
77. उत्तरा-परिणति कविता, पृ. 70-71, चतुर्थ संस्करण 1980
78. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि-परिणति कविता, पृ. 311, प्रथम संस्करण 1979

79 ज्योत्स्ना, पृ. 109, चतुर्थ संस्करण, 1978
80 ज्योत्स्ना, पृ. 106, चतुर्थ संस्करण, 1978
81. ज्योत्स्ना, पृ. 76, चतुर्थ संस्करण 1978
82 ज्योत्स्ना, पृ. 85, चतुर्थ संस्करण 1978
83 कला और बूढ़ा चाँद—फूल कविता, पृ. 161, तृतीय संस्करण 1973?
84 कला और बूढ़ा चाँद—बाह्य-बोध कविता, पृ. 178, तृतीय संस्करण 1973
85 ज्योत्स्ना नाटिका, पृ. 71, चतुर्थ संस्करण 1978
86 ज्योत्स्ना नाटिका, पृ. 72, चतुर्थ संस्करण, 1978
87. ज्योत्स्ना नाटिका, पृ. 95-96, चतुर्थ संस्करण, 1978
88 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम-मातृशक्ति पृ. 430-431, प्रथम संस्करण, 1979
89 समकालीन भारतीय दर्शन-संपादिका डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, पृ. 76, प्रथम संस्करण 1974 से उद्धृत।
90 वीणा-ग्रंथि-गीत संख्या 58, पृ. 82, नवीन संस्करण 1972
91 ज्योत्स्ना नाटिका—पृ. 109, चतुर्थ संस्करण 1978
92 ज्योत्स्ना, पृ. 106, चतुर्थ संस्करण, 1978
93 उत्तरा, परिणति कविता, पृ. 70, चतुर्थ संस्करण 1980
94 वाणी-अन्तरिक्ष यात्रा कविता, पृ. 155, सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 4, प्रथम संस्करण 1979
95. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 5, लोकायतन-द्वन्द्व, पृ. 201, प्रथम संस्करण, 1979
96 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 230, प्रथम संस्करण, 1967
97 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—द्वन्द्व, पृ. 199, प्रथम संस्करण 1979
98. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम—गुरुकुल, पृ. 406, प्रथम संस्करण 1979
99. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम—गुरुकुल, पृ. 415, प्रथम संस्करण 1979
100. लोकायतन—द्वन्द्व, पृ. 127, सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 5

101. वही, पृ. 199 वही वही
102. लोकायतन—द्वन्द्व, पृ. 194, सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5
103. युगवाणी—संकीर्ण भौतिकतवादियों के प्रति, पृ. 30, पाँचवाँ संस्करण 1982
104. युगवाणी—संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति—पृ. 30, पाँचवाँ संस्करण 1982
105. ज्योत्स्ना—पृ. 53, चतुर्थ संस्करण 1978
106. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता—कविता संख्या 39, पृ 160, प्र. सं. 1979
107. वही, कविता सं. 47, पृ. 166, प्र. सं. 1979
108. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, नये संकट-गीत सं. 7, पृ. 561, प्र स 1979
109. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 2, स्वर्णधूलि-सन्यासी का गीत, पृ. 291, प्र. सं. 1979
110. वही
111. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 2, स्वर्णधूलि-मुक्ति-बंधन कविता, पृ 299, प्र. सं. 1979
112. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 2, स्वर्णधूलि-आज़ाद कविता, पृ. 326, प्र. सं. 1979
113. स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय, पृ. 132-133, चतुर्थ संस्करण 1971
114. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 5, लोकायतन-संस्कृतिद्वार : संक्रमण, पृ. 100, प्र. सं. 1979
115. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 5, लोकायतन-उत्तरस्वप्न : प्रीति, पृ. 444 प्र. सं. 1979
116. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 2, स्वर्णधूलि-सन्यासी का गीत, पृ. 290, प्र. सं. 1979
117. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 2, स्वर्णधूलि-देव कविता, पृ. 284, प्र स. 1979
118. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 3, अतिमा—आः धरती कितना देती है, पृ 376, प्र. सं. 1979

119 सु. पन्त ग्रंथावली, खंड 7, सत्यकामः गुरुकुल, पृ. 406, प्र. सं. 1979

120. श्रीमद्भगवत् गीता (2.22)

121 स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय पृ. 133, चतुर्थ संस्करण, 1971

122 यजुर्वेद 40, नवाँ तथा ग्यारहवाँ मँत्र

123 स्वर्ण-किरण—इन्द्रधनुष, पृ. 22, चतुर्थ संस्करण 1971

124 सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, संक्रान्ति, गीत सं. 9, पृ. 527, प्र. सं. 1979

125 स्वर्ण-किरण—इन्द्रधनुष, पृ. 16, चतुर्थ संस्करण 1971

126. सु. पन्त ग्रंथावली—खण्ड 5, लोकायतन का मध्य बिन्दु पृ. 135, प्रथम संस्करण

127. सु. पन्त ग्रंथावली, खंड 7 सत्यकाम-गुरुकुल, पृ. 415, प्र. सं. 1979

128. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, संक्रान्ति-गीत सं. 9, पृ. 527, प्र. सं. 1979

129. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, गीत-अगीत—गीत सं. 67, पृ. 500, प्र. सं. 1979

130. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 7, सत्यकाम-जीवब्रह्म, पृ. 399, प्र. सं. 1979

131. वही

132. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, संक्रान्ति-कविता सं. 10, पृ. 528, प्र. सं. 1979

133. Pantheism, (Pan, 'all' and 'theism', God) the name given to that system of speculation, which in its spritual form indentifies the universe with God-Chamber's Encyclopaedia, vol. VII, page 732. पन्त-काव्य में कल्पना का कर्त्तृत्व, ब्रिजरानी भार्गव पृ. 84, प्र. सं. 1972 से उद्धृत

134. In order that there may be Pantheism, monism and determinism must be combined. - Flint, Atitheistic. पन्त काव्य में कल्पना का कर्त्तृत्व—ब्रिजरानी भार्गव, पृ. 84, प्र. सं. 1972 से उद्धृत

135. Pantheism, the religious belief or philosophical theory that God and the Universe are identical--James Murry, A New English Dictionary of Historical Principals, vol. VII Page 430.
136. वीणा—गीत संख्या 16, पृ. 22, नवीन संस्करण 1972
137. वीणा—गीत संख्या 28, पृ. 38-39, नवीन संस्करण 1972
138. वीणा—गीत संख्या 39, पृ. 53, नवीन संस्करण, 1972
139. वीणा—गीत संख्या 23, पृ. 32, वही
140. ज्योत्स्ना, पृ. 135, चतुर्थ संस्करण 1978
141. ज्योत्स्ना, पृ. 106, चतुर्थ संस्करण 1978
142. युगवाणी—जीवन स्पर्श, पृ. 46, पाँचवाँ संस्करण 1982
143. स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय, पृ. 135, चतुर्थ संस्करण 1971
144. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खंड 4, वाणी—कौवे, पृ. 143-144, प्र. सं. 1979
145. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खंड 4, वाणी—विकास क्रम, पृ 144-145, प्रथम संस्करण, 1979
146. सौवर्ण—स्वप्न और सत्य, पृ. 304, सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 3
147. कला और बूढ़ा चाँद—अंतर्मानस कविता, पृ. 51, तृतीय संस्करण, 1973
148. कला और बूढ़ा चाँद—इन्द्रिय प्रमाण कविता, तृ. सं. 1973, पृ. 88
149. कला और बूढ़ा चाँद—अनुभूति कविता, पृ. 42, तृतीय संस्करण 1973
150. कला और बूढ़ा चाँद—अनिर्वचनीय कविता, पृ. 143, तृतीय संस्करण 1973
151. कला और बूढ़ा चाँद—वरदान कविता, पृ. 148-149, तृतीय संस्करण 1973
152. कला और बूढ़ा चाँद—नया प्रेम कविता, पृ. 145-146, तृतीय संस्करण 1973
153. सुं. पन्त ग्रंथावली खंड 5, लोकायतन—कला का द्वार, पृ. 151, प्र. सं. 1979

154 सु. पन्त ग्रंथावली खंड 5, लोकायतन—मध्य बिन्दु : ज्ञान, पृ. 127, प्र. सं. 1979
155. किरण वीणा— पुरुषोत्तम राम कविता पृ. 232, प्र. सं. 1967
156. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, समाधिता-गीतसंख्या दो, पृ. 140, प्र. सं. 1979
157. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, सत्यकाम-जीव-ब्रह्म, पृ. 413, प्र. सं. 1979
158. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, गीत-अगीत गीत संख्या 4, पृ. 443, प्र. सं. 1979
159. रहस्यवाद—परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 25, प्रथम संस्करण
160. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 1, वीणा—गीत संख्या 42, पृ. 104, प्र. सं. 1979
161 वीणा-ग्रन्थि—गीत संख्या 42, पृ. 57, नवीन संस्करण 1972
162. वीणा-ग्रन्थि—गीत संख्या 26, पृ. 36, नवीन संस्करण 1972
163. वीणा-ग्रन्थि—गीत संख्या 13, पृ. 18, नवीन संस्करण 1972
164. वीणा-ग्रन्थि—गीत संख्या, 21, पृ. 29, नवीन संस्करण 1972
165. वीणा-ग्रन्थि—गीत संख्या 21, पृ. 29, नवीन संस्करण 1972
166. पल्लव--मौन निमंत्रण, पृ0 85-86, आठवाँ संस्करण 1977
167. गुंजन—गीत संख्या 40, पृ. 268, सु. पन्त ग्रंथावली, खंड 1, प्र. सं. 1979
168. गुंजन—गीत संख्या 14, पृ. 247, सु. पन्त ग्रंथावली, खंड 1, प्र. सं. 1979
169. गुंजन—गीत संख्या 7, पृ. 243, सु. पन्त ग्रंथावली, खंड 1, प्र. सं. 1979
170. ज्योत्स्ना—पृ. 53, चतुर्थ आवृत्ति, 1978
171. ज्योत्स्ना—पृ. 109, चतुर्थ आवृत्ति, 1978
172. युगवाणी—कर्म का मन कविता, पृ. 33, पाँचवाँ संस्करण 1982
173. युगपथ—जिज्ञासा, पृ. 86, द्वितीय संस्करण, 1966
174. स्वर्ण किरण—जिज्ञासा, पृ. 48, चतुर्थ संस्करण 1971
175. किरणवीणा—तुम कौन कविता, पृ. 4, प्रथम संस्करण 1967
176. किरणवीणा—संवेदन, पृ. 13, प्रथम संस्करण 1967

177. कला और बूढ़ा चाँद—रहस्य, पृ. 131, तृतीय संस्क
178. कला और बूढ़ा चाँद,—समर्पण, पृ. 136, तृतीय स
179. स्वर्ण-किरण—पृ. 23, चतुर्थ संस्करण 1971
180. स्वर्ण-किरण—पृ. 133, चतुर्थ संस्करण 1971
181. स्वर्ण-किरण, पृ. 127, चतुर्थ संस्करण 1971
182. स्वर्ण-किरण, पृ. 127, चतुर्थ संस्करण 1971

द्वितीय अध्याय

पन्त जी के धर्म सम्बन्धी विचार

अपने तात्त्विक स्वरूप में धर्म का गहन सम्बन्ध चेतना से है। अखिल सृष्टि के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान ही सत्य-ज्ञान है और रक्षा तथा विकास के जिन नियमों से वह संचालित है, उनके ज्ञान को ऋत-ज्ञान कहा गया है। सत्य और ऋत की चेतना ही धर्म-चेतना है। अपनी-अपनी भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों से प्रेरित तथा किसी विशिष्ट महापुरुष अथवा महापुरुषों द्वारा प्रज्ञापित बोध तथा व्यवहार की जिन सरणियों को आज हम विभिन्न धर्मों का नाम देते हैं, उनका भी तात्त्विक स्वरूप प्रज्ञात्मक ही है। धर्म के प्रज्ञा-पक्ष की उपेक्षा करके किसी देश अथवा काल की पृष्ठभूमि में धार्मिक मान्यता से प्रेरित कर्मकाण्ड मात्र को धर्म समझने की भूल धर्म के चेतना-पक्ष को धूमिल बनाती है। धर्म की चेतना की तुलना में उसके कर्मकाण्ड को अधिक महत्त्व देने तथा उसे अपरिवर्तनीय धर्म-तत्त्व मान लेने से ही धर्म साम्प्रदायिक संकीर्णताओ मे फॅस गया है और विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में मानव-विकास तथा कल्याण का प्रेरक न रहकर विद्वेष, विषमता एवं मानवघाती संघर्ष का क़ारण बन गया है। "धारयते इतिधर्मः" कहकर जिस धर्म की व्याख्या की गयी थी उसकी यह दुर्गति विस्मय के साथ-साथ खेद उत्पन्न करती है। "धर्म मानव-चेतना के लिए अफ़ीम का काम करता है"—लेनिन का यह कथन धर्म के इस गर्हित रूप को ही संकेतित करता है। किन्तु धर्म की प्रकृति के अज्ञान अथवा विकृत ज्ञान के आधार पर धर्म के प्रकृत स्वरूप का विवेचन नहीं किया जाना चाहिये।

धर्म का प्रकृत स्वरूप सत्य और ऋत के बोध और उस बोध से प्रेरित व्यवहार की समष्टि से बनता है। इसी कारण धर्म के अन्तर्गत ज्ञान, भाव और कर्म तीनों की संगति को साधने का प्रयास हमें मिलता है। धर्म के अन्तर्गत ज्ञान-साधना, भाव-साधना तथा कर्म-साधना तीनों को महत्त्व दिया गया है। ज्ञान का सम्बन्ध तत्त्व-बोध प्राप्त करने से भाव का सम्ब घ

तत्त्व-ज्ञान को अनुभूति की वस्तु बनाने के प्रयास से तथा कर्म-साधना का सम्बन्ध तत्त्व-ज्ञान से पुष्ट भावनाओं की प्रेरणा से सम्पन्न होने वाले आचरण से है। इस दृष्टि से धर्म तथा साधना प्रायः एकरूप प्रतीत होने लगते हैं। इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही धर्म को प्रज्ञा की वस्तु कहने की अपेक्षा है, जिससे साधना के क्रियात्मक रूप से उसकी पृथकता को परिभाषित किया जा सके। भाषा में "धर्म-साधना" जैसे शब्द-युग्म का प्रयोग भी प्रचलित है जिसका अर्थ धर्म की साधना ही माना जा सकता है। धर्म कोई अलग चीज़ होगी तभी उसकी साधना हो सकती है। धर्म-चेतना अथवा भावना का व्यवहार-पक्ष ही साधना है। धर्म के साधना-पक्ष के अन्तर्गत यहाँ जिस ज्ञान--साधना की चर्चा की गयी है वह दर्शन के क्षेत्र में तत्त्वचिंतन से प्रकृति में भिन्न है। दर्शन-क्षेत्रीय चिंतन धर्म के प्रज्ञात्मक स्वरूप का आधार है। धर्म-साधना के क्षेत्र की ज्ञान-साधना तत्त्व-चिंतन के निर्व्याज प्रयास से कुछ भिन्न है क्योंकि वह मंगल की सिद्धि को लक्ष्य बनाकर चलती है।

भारतीय वाङ्मय में "धर्म" शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में ही हुआ है। समग्र जीवन में कर्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश धर्म करता है। धर्मशास्त्र के अन्तर्गत संस्कार, वर्णाश्रम-व्यवस्था, राजनीति, भजन-पूजन तथा खान-पान आदि समग्र विषय परिगणित हैं। महाभारत में राजनीति को राजधर्म, अध्यात्म को परम धर्म अथवा मोक्षधर्म आदि नाम देकर धर्म के ही अन्तर्गत प्रतिपादित किया गया है। धर्म के सम्बन्ध में कहा गया है—

"धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजा,
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः।"

अर्थात् धर्म सृष्टि को धारण करता है। जो कुछ भी धारण-वृत्ति से प्रेरित है, वह धर्म है। धर्म के सम्बन्ध में महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्रों में प्राप्त यह कथन अत्यन्त विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण है—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः सः धर्मः"

अर्थात् "जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है।"[1]

मानव-समाज के विकास में धर्म ने अत्यधिक योगदान दिया है। आरम्भ से ही भारत एक धर्मप्राण देश रहा है तथा समय-समय पर यहाँ विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का प्रचार तथा प्रसार होता रहा है। धर्म एवं साहित्य में अटूट सम्बन्ध होने के कारण यहाँ साहित्य को भी धर्म के साधन के रूप में स्वीकार किया गया

है। वैदिक काल से लेकर भारतीय संस्कृति के मध्यकाल तक धर्म-निष्ठा की अभिव्यक्ति ही हमारे वाङ्मय का मुख्य स्वर रहा है।

पन्त जी के शब्दों में—"धर्म की धारणा एक व्यापक धारणा रही है जिसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, अर्थकाम के मूल्य भी अन्तर्भुक्त रह हैं; भावी संस्कृति में भी स्वभावतः ये बाह्य मूल्य अन्तर्लीन रहेंगे और इन मूल्यों का विकास भावी मानव-संस्कृति के विकास तथा संयोजन में भी सहायक होगा। मनुष्य का बहिरन्तर विकास अथवा अभ्युदय ही भविष्य का सांस्कृतिक लक्ष्य रहेगा और उस लोकव्यापी संस्कृति में बाह्य आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक मूल्यों के साथ मानव-जीवन के अन्तर्मूल्य अर्थात् नैतिक, रागात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्य भी पूर्णतः संयोजित रहेंगे; जिससे काम और मोक्ष, ऐहिकता और पारलौकिकता के बीच की खाई पट जायेगी और ईश्वर तथा मानव के बीच एक स्वर्णिम सांस्कृतिक सोपान की स्थापना हो सकेगी।"[2]

विज्ञान के आविर्भाव से पहले देश-कालगत जड़-तत्त्व मानवता के विकास-पथ मे पर्वताकार दुर्लंघ्य बाधाएँ उपस्थित करता रहा और धर्म मुख्यतः ऊर्ध्व आध्यात्मिक धरातल पर ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अथवा विश्वबंधुत्व, चराचर की एकता तथा लोकमंगल के स्वप्न देखता रहा। इन उच्च अभीप्साओं एवं मूल्यों को सामाजिक जीवन के धरातल पर मूर्त एवं प्रतिष्ठित करना तब सम्भव नहीं था क्योंकि धर्म एव अध्यात्म केवल मानव-हृदय की ही ग्रन्थि खोलने में सफल रहे, वे जड़ तत्त्व के निर्मम अवरोध की गाँठ को नहीं सुलझा सके। अतः अन्तर्मुखी अध्यात्म अन्तर्जगत् सम्बन्धी सिद्धियाँ ही प्राप्त कर सका। बहिर्जगत्, जड़-जगत् का निरीक्षण-परीक्षण तथा उस पर आधिपत्य प्राप्त करना विज्ञान के हिस्से में आया। पन्त जी के विचारानुसार—"जड़ और चेतन जो पिछले युगों की धर्म-साधना के अन्तर्गत दो विच्छिन्न तत्त्व, एक-दूसरे के विरोधी मूल्य बन गये थे, भविष्य मे जब ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्मिकता तथा नैतिकता नवीन मानव-संस्कृति में क्रमश परस्पर पूर्णरूपेण संयोजित हो जायेंगे, तब वे एक-दूसरे के पूरक तथा वागर्थ की तरह अभिन्नरूपेण संपृक्त सत्य के रूप में व्यक्त होकर नवीन मनुष्यत्व के मूल्यो मे विकसित हो सकेंगे और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भावी सांस्कृतिक पट में गुम्फित और अनिवार्य सुनहले सूत्र बनकर एक-दूसरे को पूर्णता प्रदान कर इस धरती के जीवन में चरितार्थता का अनुभव करेंगे। पिछले युगों के आध्यात्मिक धार्मिक मूल्यों में चैतन्य शिखर पर किंचित् अभिव्यक्त ईश्वर पहली बार जीवन के स्तर पर इस धरती पर पूर्णतर विकास-क्रम में प्रकट होकर अधिकाधिक मूर्त तथा

साकार हो सकेगा और अधिदर्शनों के निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, परम-सापेक्ष, एक-अनेक, विद्या-अविद्या आदि सम्बन्धी सीमित दृष्टिकोण एक सर्वांगपूर्ण सार्थकता में अपने को समन्वित तथा संयोजित कर पायेंगे।"[3]

अधिकतर यह मान लिया जाता है कि धर्म तथा विज्ञान में मौलिक अन्तर्विरोध है किन्तु पन्त जी की विचारणा है कि—"धर्म का तत्त्व भी वैज्ञानिक सत्यों पर ही आधारित है और आज के युग में जबकि धर्म एक पिछड़ा हुआ, अतीत का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण माना जाने लगा है और विज्ञान धीरे-धीरे जन-मन में उसका स्थान ग्रहण करने की चेष्टा कर रहा है तब भी विचारकों तथा चिन्तकों के मन में यह धारणा स्पष्ट होती जा रही है कि दोनों दृष्टिकोण वास्तव में एक ही जीवन-सत्य को वाणी देने का प्रयत्न कर रहे हैं और दोनों विकास-क्रम में एक-दूसरे के निकट आते जा रहे हैं।"[4]

"धर्म की मूल भावना अथवा मूल सत्य व्यक्ति तथा समष्टिका कल्याण ही रहा है और विज्ञान का सदुपयोग भी हम इसी उद्देश्य के लिए सम्पूर्णतः कर सकते हैं।................धर्म का क्षेत्र मनुष्य के अन्तर्जीवन का सत्य है और विज्ञान का क्षेत्र हमारे बाह्य-जीवन का तथ्य। धर्म आदर्शोन्मुखी होने के कारण गुणात्मक उन्नयन पर बल देता है और विज्ञान मुख्यतः यथार्थोन्मुखी होने के कारण राशिवाचक विकास एवं उन्नति को अधिक महत्त्व देता है। दूसरे शब्दों में यदि धर्म की पीठिका आत्मा की भूख है तो विज्ञान की पीठिका देह-मन की भूख। एक ऊर्ध्व-संचरण की सिद्धि है तो दूसरा समतल-जीवन-संचरण का विकास या प्रसार। विचार की दृष्टि से देखा जाय तो आदर्श और यथार्थ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, बल्कि वे एक-दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं। मानव-जीवन का सत्य इतना निगूढ़ तथा बहुमुखी है कि उसका सर्वांगीण मूल्यांकन करने के लिए हमारे लिए केवल उसके बहुरूप व्यापक प्रसार का ही निरीक्षण-परीक्षण करना पर्याप्त नहीं है; प्रत्युत उसकी गहराइयों में उतरकर उसके गम्भीर प्रयोजन को समझना भी आवश्यक है। जिसे दर्शन में एक-बहु कहते हैं या उपनिषदों में विद्या-अविद्या कहते हैं या आज के युग में जिसे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता कहते हैं, इन विभाजनों को परस्पर विरोधी या ध्वंसक न मानकर यदि हम उन पर व्यापक दृष्टि से विचार करें तो हम उन्हें एक-दूसरे के सहायक, समर्थक तथा पूरक ही पायेंगे। इस दृष्टि से यदि हम विज्ञान तथा धर्म के सत्य की विवेचना करेंगे तो हम उनमें एक मौलिक अन्तर्जात सामंजस्य पायेंगे।"[5]

पन्त जी की धार्मिक पृष्ठभूमि बिल्कुल स्पष्ट है। जैसा कि मैं पहले भी

लिख चुकी हूँ, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी तथा श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन से वह बहुत प्रभावित थे। उनके काव्य में जो दार्शनिक तत्त्व मिलते हैं वे प्राचीन अद्वैतवाद तथा सर्वात्मवाद से ही निस्सृत प्रतीत होते हे। उनकी निष्ठा ब्रह्म के उस स्वरूप में थी जो मूर्त तथा अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता प्राप्त करता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर उन्होंने जीवन की अखण्डता का भावन किया है, हृदय की भावभूमि पर उन्होंने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमय अनुभूति का आस्वादन किया है और जगत् के द्वन्द्वात्मक तथा विषम यथार्थ को उनसे अनुप्राणित कर उन्होंने एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित की जिसमें छायावाद, प्रगतिवाद, रहस्यवाद तथा अध्यात्मवाद का सहज सामंजस्य हे। वह समस्त प्रकृति में भगवान् की सत्ता मानते थे।

कण-कण में ईश्वर है, इस भाव को उन्होंने निम्नांकित पंक्तियों में दर्शाया है—

> "ईशावास्यमिदम् सर्वम् कहते द्रष्टा ऋषि
> उपनिषदों के, जगती में जो कुछ अक्षय है
> वह भगवत् सत्ता है, जग की निखिल वस्तुएँ
> ईश्वर मय हैं, वही सत्य है सार रूप में।"[6]

भगवत्-प्रेम ने ही पन्त जी को कल्याण का गायक बनाया तथा उनके सृजन-सिद्धान्त तथा व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित किया। अपने स्वभाव एवम् अन्तर्जात गुणों के अनुरूप उन्होंने इस प्रेम को साहित्य के माध्यम से वाणी दी हे। इसी प्रेम ने उन्हें सत्कर्म का प्रेमी बनाया, जिसे वे यथाशक्ति आचरित करने का प्रयास भी करते थे। सुश्री शान्ति जोशी के शब्दों में—"उनका धर्म सद्‌गुण का धर्म है। इसलिए वे साधुओं के भक्त थे। त्यागी, संयमी, सात्त्विक तथा सद्‌गुणी जीवन के प्रति उनका स्वाभाविक लगाव था। आत्मोत्कर्ष, आत्मोन्नयन ही मनुष्य का धर्म है और उस धर्म का सर्वात्मभाव से तादात्म्य है। जिस किसी को भी पन्त जी इस आन्तरिक आभा, आन्तरिक विकास की क्षमता से युक्त समझ लेते थे, उसकी सेवा में वे अपने को भूल जाते थे।"[7]

धर्म अपने रूढ़िवादी अर्थ में पन्त जी के लिए निरर्थक था। पन्त जी की उनके मामा जी से हुई विवाद-वार्ता का एक अंश अपने समर्थन में मैं प्रस्तुत कर रही हूँ, जिसमें उन्होंने स्पष्टतः कहा है, "धर्म का युग गया। सभी धर्म पूर्वाग्रही ओर रूढ़िग्रस्त हो गये हैं। जितनी जल्दी वे समाप्त हो जायें, अच्छा है। इसी मे मनुष्य का कल्याण है।" साथ ही उनके लिए रीति-रिवाज़ व्रत, त्योहार आदि का

विचार फिर भर दो।"[12] ये पन्त जी के अन्तर्तम स्वभाव की ही प्रतिध्वनियाँ हे।

"हार" का "कर्त्तव्य-निर्णय" वाला परिच्छेद तो मानो पन्त जी की मानवता, धर्म, विश्वप्रेम एवं विश्वकल्याण की भावना का ही सार है। भविष्य उस प्रेम को अपना लेता है जो व्यक्ति-विशेष तक ही सीमित नहीं है, अपितु जिसमें सारा ससार उसका प्रेम-पात्र बन जाता है। सुफला तथा भविष्य का चिन्तनशील, भाव-प्रवण नैतिक-मानस पन्त जी के स्वभाव तथा व्यक्तित्व का ही प्रतिरूप हे।

इस उपन्यास में उनकी बाद की कृतियाँ, विशेषकर आध्यात्मिक सांस्कृतिक कृतियाँ, बीज रूप में वर्तमान हैं। आशावाद, दिव्य प्रेम, विश्व-कल्याण न केवल पन्त जी की समस्त कृतियों का मूल स्वर है, यह उनके स्वभाव का मेरुदण्ड भी हे। आसक्ति के ऊपर प्रेम, क्षुद्र स्वार्थ के ऊपर विश्वप्रेम, निष्काम प्रेम एव ईश्वर-भक्ति की विजय पन्त जी के बाल, किशोर, युवा और प्रौढ़ समस्त कृतित्व का मूल सूत्र है।

पन्त जी के विचारानुसार–"विभिन्न युगों में अन्तर्मन की मान्यताएँ (धर्म, अध्यात्म, ईश्वर आदि) उपयोगी थीं पर अब उनका बहिष्कार हो रहा है क्योकि पहले सामाजिक दृष्टि का अभाव होने के कारण वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति वेयक्तिक विश्वासों के माध्यम से होती थी। व्यक्ति के शोषण करने, वर्गों एव वर्णों को सन्तुष्ट करने, उन्हें जीवित रखने, पुष्ट करने के पीछे वैयक्तिक विश्वास (धर्म, ईश्वर आदि) ही थे। पर आज इनके कर्त्तृत्व एवं कुत्सितता से परिचित होने के कारण हम वैयक्तिक विश्वासों से नहीं, मनुष्य के विवेक के माध्यम से सामाजिक क्रान्ति के पक्ष में हैं। धर्म आदि सम्बन्धी बातें गत युग की बाते हे।"[13] उन्होंने लिखा है–

"शत मिथ्या वाद-विवाद, तर्क,
शत रूढ़ि नीति, शत धर्म द्वार।
यह पशु मानव का अहंकार।"[14]
इसीलिए वह चाहते थे–
"झरें जाति–कुल वर्ण–पर्ण घन
अन्ध नीड़ से रूढ़ रीति छन,
व्यक्त राष्ट्रगत–राग द्वेष रण
झरें मरें विस्मृति में तत्क्षण।"[15]

अतः स्पष्ट है कि पन्त जी मध्ययुगीन धर्म-संस्कारों को बहुत गया-बीता मानते थे। उनकी विचारणा थी कि ये रूढ़िग्रस्त धर्म-संस्कार मनुष्य के अन्तर

ड़ता से बाँधकर उसे वर्तमान चेतना से तथा उच्च आध्यात्मिक मूल्यों स
हे हैं, मानव-कल्याण के सहज सम्बन्धों को गर्हित मानकर असहज तथा
ो जीवन व्यतीत करने को बाध्य कर रहे हैं। इससे जीवन तथा समाज मे
असंगति पैदा हो रही है, तथाकथित उच्च आध्यात्मिक मूल्यों के खोल के
नैतिक क्रियाओं तथा प्रवृत्तियों के कीड़े रेंगते रहते हैं। दूसरी ओर यह
ो में आता है कि भौतिक सुख-सुविधाओं के अभाव में अनंत मानव
पशुवत् जीवन बिता रहा है। उसको भीतर के स्वास्थ्य को उभारने का
ी नहीं मिलता। भौतिक सुख-साधनों की उपेक्षा करके आध्यात्मिक
स्थापना नहीं हो सकती और बिना आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के
ुख-साधन व्यर्थ तथा अशान्तिकर हैं।

त जी का मध्ययुगीन चेतना को प्रश्रय न देना यह प्रमाणित करता ह
ई हुई जड़वत् मृत संस्कृति को उनका मानव-कल्याण-कामी, विकास-कामी
ीकार नहीं करता था। मध्ययुगीन चेतना हमारे ह्रास, पतन तथा दासता
रही है, इस तथ्य को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के भारतीय
ने अपनी राष्ट्रीय, सामाजिक तथा दार्शनिक चेतना द्वारा स्पष्ट कर
पन्त जी उस मध्ययुगीन वेदांत को स्वीकार नहीं कर सके, जिसन
द, वैराग्यवाद, जगत्-मिथ्यात्व एवं वैयक्तिक मुक्ति की धारणाओं को
र भारत के सामाजिक, राजनीतिक जीवन को मृतप्राय कर दिया था।
काल में देश में विविध सम्प्रदाय बन गये थे जो अपने-अपने धर्मो
को प्रतिपादित करते रहते थे तथा दूसरे धर्मों को तुच्छ बताते थे।
स्थिति पर क्षोभ प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—

'सदाचार क्या धर्म? जगत् में क्यों हैं विविध मतांतर?
त्या है मिथ्या सत्य? मान जीवन के जिन पर अवलम्बित?''[16]

विषम स्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिए पन्त जी ने भगवान् से
कि यह भयंकर स्थिति शीघ्र ही तथा अवश्य ही दूर हो जाये—

ा नहीं कोई कहीं ऐसा अमृत घन
रा पर बरस भर दे भव्य जीवन?
वर्गों से निखर जन
प्रीति प्रतीति में बँध
जीवन करें यापन,
धरा हो ज्योति पावन।''[17]

"उत्तरा" की "उद्‌बोधन" कविता में उन्होंने यह कामना व्यक्त की है—

"जाति पाँति देशों में खंडित भू जन
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन,
नव मनुष्यता में हों मज्जित जीर्ण युगों के अन्तर
विचरें मुक्त हृदय, अन्तःस्थित प्रीति युक्त नारी नर।"[18]

तथा "वाणी" की "अग्नि की पुकार" शीर्षक कविता में यह भावना व्यक्त की है कि कुरूप-सुन्दर, ऊँच-नीच, बुरा-भला, कमल-कीच आदि कल्पित भेद-भाव समाप्त हो जायें एवं सभी मानव एक होकर रहें।"[19]

एक युग था जबकि मानव की व्याख्या में आध्यात्मिकता को प्रधानता दी जाती थी। इसका कारण था—"ईश्वर अंश जीव अविनाशी की भावना" किन्तु आज मानव को भौतिकता से जोड़कर देखा जाता है। पन्त जी ने धर्म तथा नीति के मूल्यांकन में जनहित को ही प्रमुखता दी है—

"धर्म नीति औ' सदाचार का
मूल्यांकन है जन हित
सत्य नहीं वह, जनता से
जो नहीं प्राण सम्बन्धित।"[20]

तथा—

"राष्ट्र, वर्ग, आदर्श, धर्म गत रीति नीति औ" दर्शन
स्वर्णपाश हैं : मुक्ति योजना, सामूहिक जन जीवन।"[21]

पन्त जी के विचारानुसार सामाजिक विषमता, धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता, वर्ण-विषयक एवं वांशिक अंधविश्वास तथा रूढ़िवादी परम्पराएँ मानव की स्वतंत्रता में बाधा डालती हैं। ये लोगों को अलग-थलग कर देती हैं। इन सभी अनावश्यक बातों के गये-बीते कबाड़खाने के पीछे से मानव दिखायी नहीं पड़ता—वह इन्ही के बीच खोया रहता है। इसीलिए पन्त जी ने आह्वान किया है—

"आज मनुज को खोज निकालो।
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो।
देश राष्ट्र के विविध भेद हर,
धर्म नीतियों में समत्व भर,
रूढ़ि रीति गत विश्वासों की

अन्ध यवनिका आज उठा लो।"[22]

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—

"छोड़ नहीं सकते रे यदि जन
जाति, वर्ग, नय, धर्म के लिए रक्त बहाना,
बर्बरता को संस्कृति का बाना पहनाना,
तो अच्छा हो अगर छोड़ दें
हम हिन्दू मुस्लिम औ' ईसाई कहलाना।
मानव होकर रहें धरा पर,
जाति वर्ण धर्मों से ऊपर
व्यापक मनुष्यत्व में बँधकर।"[23]

पन्त जी के मतानुसार मानवता-मात्र की कल्याण-कामना ही धर्म का प्रथम उद्देश्य होना चाहिये। अब तो चेतना में विकसित होकर विश्व निरन्तर संयुक्त होता जा रहा है। इसीलिए अब मानवता को भीतर से संयोजित होना है—

"संयुक्त हो रहा विश्व, चेतना में विकसित,
मानवता को होना भीतर से संयोजित।"[24]

आज सबको धार्मिक संकीर्णताओं का त्याग करके एक ही धर्म में दीक्षित होना है—वह है विशाल मानव-धर्म। मानवोत्थान का कार्य यदि सभी दिशाओ मे समान रूप से होगा तो नवसंस्कृति की स्थापना स्वतः हो जायेगी तथा विश्वव्यापी युद्ध की कल्पना कोरी कल्पना ही रह जायेगी। इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होंने विगत धर्म-नीति एवं संस्कृतियों का अतिक्रमण करके रूढ़ियों से मुक्त मानव-अंतर का आह्वान किया है तथा कहा है कि "अब विगत श्रेय—प्रेय तथा सत्-असत् के स्वर परिवर्तित हो चुके हैं। अब तो शिव सुन्दर होता जा रहा हे तथा शिवतर सुन्दरतर होता जा रहा है।"[25]

सार्वभौम मानवतावाद की स्थापना के बाद विश्व में जाति, धर्म, वर्ग, ऊँच-नीच आदि के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। उन्होंने लिखा है—

"तुम क्या रटते थे, जाति धर्म, हाँ वर्ग युद्ध जन आन्दोलन।
क्या जपते थे, आदर्श नीति—वे तर्कवाद अब किसे स्मरण?"[26]

पन्त जी के मतानुसार—"धार्मिक कट्टरता ही सबसे घातक विष है जो लाखों लोगों की चेतना को धुंध से घेर देता है। देवी-देवताओं की पाषाण-मूर्तियाँ

लोगों को ऐहिक अस्तित्व की हेयता का निरन्तर स्मरण कराती रहती हैं, उन्हें अकर्मण्यता तथा निष्क्रियता से विषाक्त कर देती हैं, सतत भय तथा अशान्ति घेरे रहती है। उन्होंने धर्म के ऐसे ढोंगी लोगों का पर्दाफ़ाश करते हुए "ग्राम्या" में लिखा है—

"राम राम
हे ग्राम देवता, यथा नाम।
× × ×
पण्डित, पंडे, ओझा, मुखिया औ' साधु संत
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पंथ
जो था, जो है, जो होगा—सब लिख गये ग्रंथ
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र-तंत्र।"[27]

"लोकायतन" में पन्त जी ने दिखाया है कि माधो गुरु के आश्रम में अनेक भ्रष्ट धर्माचारों का संगम है जो अपनी भ्रष्टधर्मिता का विष सामाजिक रगों में उपदंशित करते रहते हैं। अधेड़ मौनाचार्य पर जब बाल-भाव उतरता हे तो—

"स्त्रियों की गोदी पर धर शीश
स्तन्य करते वे अकलुष पान
सहज रह बाल-भाव में लीन
भक्त महिमा जाने भगवान्।"[28]

एक और अनाम आचार्य भी हैं जो बंध्याओं की हस्त-रेखायें देखते हैं तथा उनकी गोद भी भर देते हैं।"[29]

अपनी "किरणवीणा" शीर्षक संग्रह की अनेक कविताओं में तथा विशेषत. "पुरुषोत्तमराम" नामक कविता में अनेक स्थलों पर अत्यंत सबल एवम् समर्थ शब्दावली में पन्त जी ने धर्म के वास्तविक स्वरूप एवं ईश्वर के बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं। आधुनिक ढोंगी साधुओं का यथातथ्य चित्रण उन्होंने इन शब्दों में किया है—

"साधु रहे अब कहाँ साधु? गैरिक ठठरी भर,
रिक्त निखिल अध्यात्म ज्योति से अंध कूपवत्।
जीर्ण साधना-पद्धतियों के ऊर्ण भरे त्वच
भाँग चरस, गाँजा पी रहते मदिर समाधित।

न्यस्त कर्म वैराग्य ठूँठ दायित्व विरत वे,
क्लीव दीमकों के बल्मीक—चाटते जन-मन।

× × ×

लोक-कार्य में हाथ बँटाया कभी इन्होंने?
या स्वातन्त्र्य समर ही में ये भाग ले सके?"[30]

अन्यत्र उन्होंने लिखा है—

"आत्मा की रोटी से युग-युग से वंचित जन
अंध रूढ़ियों, मध्ययुगी आदर्शों में रत,
झूठे जप तप व्रत, नहान के पंक में फँसे,
घुट्टी के सँग पी ढोंगी संतों की वाणी—
(जीवन मिथ्या, जग असार, माया मृगतृष्णा)"[31]

तथा—

"आत्मा की सच्ची रोटी यदि मिलती जन को
जीवन प्रति अनुराग, धरा-श्रम के प्रति श्रद्धा—
सहजीवन देता चरित्र, संगठन आत्मबल,
सामूहिक संकल्प हृदय में भरता पौरुष,
भू-जीवन—सौन्दर्य हृदय शोणित में गाता,
ईश्वर होता मूर्तिमान मानव-गरिमा में,
ज्योति-बीज आत्मा, जिसको भू-मानवता की
श्री समग्रता में होना ऐश्वर्य पल्लवित।"[32]

पन्त जी के विचारानुसार—"धर्म की ऊर्ध्व-रीढ़ अध्यात्म है। मनुष्य अपनी रीढ़ के बल पर खड़ा है उसी प्रकार धर्म भी अपनी अनुभूति-जन्य तात्त्विक सत्य के बल पर ही जीवित रहता है। उस दृष्टि की प्राप्ति में सहायता के लिए बाहर से थोपा हुआ विविध क- विधि-विधान केवल धर्म की काया को आकार-प्रकार देने वाले जड के समान हैं जिसकी उपादेयता देश-काल सापेक्ष होती है।........ उसके बाहरी विधि-विधान के घने अँधेरे जंगल से बाहर निकालकर, को आत्मा के प्रकाश में युग के अनुरूप सँवारकर विश्व-मानवता के आध्यात्मिक संजीवन में निखारना होगा जिसके अमृत-तत्त्व का पानकर तथा मन अन्तश्चैतन्य के आलोक से प्रकाशित हो उठे।"[33]

न्यस्त कर्म वैराग्य ठूँठ दायित्व विरत वे,
क्लीव दीमकों के बल्मीक—चाटते जन-मन।
× × ×
लोक-कार्य में हाथ बँटाया कभी इन्होंने?
या स्वातन्त्र्य समर ही में ये भाग ले सके?"[30]

अन्यत्र उन्होंने लिखा है—

"आत्मा की रोटी से युग-युग से वंचित जन
अंध रूढ़ियों, मध्ययुगी आदर्शों में रत,
झूठे जप तप व्रत, नहान के पंक में फँसे,
घुट्टी के सँग पी ढोंगी संतों की वाणी—
(जीवन मिथ्या, जग असार, माया मृगतृष्णा)"[31]

तथा—

"आत्मा की सच्ची रोटी यदि मिलती जन को
जीवन प्रति अनुराग, धरा-श्रम के प्रति श्रद्धा—
सहजीवन देता चरित्र, संगठन आत्मबल,
सामूहिक संकल्प हृदय में भरता पौरुष,
भू-जीवन—सौन्दर्य हृदय शोणित में गाता,
ईश्वर होता मूर्तिमान मानव-गरिमा में,
ज्योति-बीज आत्मा, जिसको भू-मानवता की
श्री समग्रता में होना ऐश्वर्य पल्लवित।"[32]

पन्त जी के विचारानुसार—"धर्म की ऊर्ध्व-रीढ़ अध्यात्म है। मनुष्य अपनी रीढ़ के बल पर खड़ा है उसी प्रकार धर्म भी अपनी अनुभूति-जन्य तात्त्विक सत्य के बल पर ही जीवित रहता है। उस दृष्टि की प्राप्ति में सहायता के लिए बाहर से थोपा हुआ विविध कर्म विधि-विधान केवल धर्म की काया को आकार-प्रकार देने वाले जड़ के समान हैं जिसकी उपादेयता देश-काल सापेक्ष होती है।........ उसके बाहरी विधि-विधान के घने अँधेरे जंगल से बाहर निकालकर, को आत्मा के प्रकाश में युग के अनुरूप सँवारकर विश्व-मानवता के आध्यात्मिक संजीवन में निखारना होगा जिसके अमृत-तत्त्व का पानकर तथा मन अन्तश्चैतन्य के आलोक से प्रकाशित हो उठे।"[33]

पन्त जी को जातिवाद से बहुत चिढ़ थी। छुआछूत अथवा दूसरे को अपने से छोटा समझना उनकी दृष्टि में पाप था, साथ ही सृष्टिकर्ता का अपमान भी। किसी प्रकार का जातिवाद या भेदभाव उनकी दृष्टि में अवांछनीय था—

"जाति पाँतियों में बहु बँटकर
सामाजिक जीवन संकट वर,
स्वार्थ लिप्त रह, सर्व श्रेय के
पथ में हम मत काँटे बोयें।"[34]

वह केवल पुस्तकों में ही नहीं जीवन में भी अपने इन विचारों को कार्यान्वित करते थे। उनकी कथनी तथा करनी में अंतर नहीं था, यह उनकी बहन शांति जोशी के इस उद्धरण से स्पष्ट होता है—"पड़ोस में लोगों का जमादार—जमादारनी के प्रति व्यवहार देखकर वे दुःखी हो जाते थे—'लोग इन लोगों को अछूत कहते हैं। इस दृष्टि से तो माता-पिता भी अछूत हैं। अपने बच्चे को पालने के लिए उन्हें क्या-क्या नहीं करना पड़ता। वरन् अछूतों की तो हमें इज़्ज़त करनी चाहिये। इन्हीं के कारण सफ़ाई संभव है। ये काम करना छोड़ दें, तब देखो।' पिछडी ओर हरिजन जाति के विद्यार्थियों को यदि कोई ऊट-पटाँग बोल दे तो उसी व्यक्ति को वह फूहड़ और असंस्कृत समझ लेते हैं।"[35]

धार्मिक कट्टरता एवं अंधविश्वास के प्रति पन्त जी के तीव्र विरोध को देखकर यह नहीं समझना चाहिये कि वह अपनी उदार आदर्शवादिता से हट गये थे। कवीन्द्र रवीन्द्र, स्वामी विवेकानन्द तथा राष्ट्रीय प्रबोधन-युग के अन्य कार्यकर्ताओं के विचार भी विवेकहीन धार्मिक लीकों के प्रति ऐसे ही थे। इस प्रकार के चित्रण करके जनता को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करना ही ऐसे लोगों का लक्ष्य होता है।

पन्त जी की विचारधारा भारतीय सामाजिक विचारधारा के विकास के आम ढाँचे में ढली हुई थी जिसमें लोकतंत्रवादी भारतीय बुद्धिजीवियों की विचारधारा प्रतिबिंबित थी। मातृभूमि के उत्थान के लिए वह एक ऐसे नये विश्व-मानवधर्म की स्थापना करने में ही सदैव लीन रहे जो अंधविश्वास, जड़-सूत्रवाद तथा मूर्तिपूजा से मुक्त हो तथा मध्ययुगीन असभ्य धार्मिक आचार-विचारों को अस्वीकार करे। उनकी विचारणा थी कि संसार में आध्यात्मिक दृष्टि से सुविकसित समाज की स्थापना तभी हो पायेगी जब प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् में जाग्रत् भागवत-चेतना समस्त मानवता को एक सांस्कृतिक आन्दोलन में संगठित करेगी।

जन-साधारण में लोक-परलोक तथा स्वर्ग-ईश्वर के सम्बन्ध में जो धारणाएँ
कर गयी हैं वे उसके अकर्मण्य वैराग्य को सूचित करती हैं। मनुष्य की
शक्ति को निर्माण की दिशा में मोड़ने के लिए, उसमें रचनात्मक प्रतिभा
ने के लिए पन्त जी ने लिखा है–

"जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित,
मनुज प्रेम से जहाँ रह सके–मानव ईश्वर।
और कौन सा स्वर्ग चाहिये तुझे धरा पर?"[36]

जहाँ मनुष्य स्रष्टा (जीवन का रचयिता) बन जाता है वहाँ वही ईश्वर
-निर्माता) हो जाता है। मनुष्य का स्वर्ग (सुन्दर, सुखद समाज) उसके
बाह्य निर्माण में है–

"मुक्ति जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव मानवता में जन जीवन परिणति,
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म संस्कृत मन,
सुन्दर हो जन वास, वसन, सुन्दर तन।
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित
नव मानव संस्कृतिकिरणों से ज्योतित।"[37]

इस तरह के विचार पन्त जी ने अपनी कृतियों में अनेक स्थलों पर व्यक्त
हैं। अतः पिष्ट-पेषण से बचने के लिए कुछ चुनी हुई पंक्तियाँ मैं यहाँ
त कर रही हूँ–

"कहाँ खोजते मुझको गीता, रामायण में,
बृहद् भागवत कथा महाभारत पन्नों में?
जन गण में देखो मुझको, जो जीवित भारत,
जन-भू जीव-पदार्थ–पृथक् मुझसे युग-युग से।"[38]
"तन्मय अंतर ही प्रभु दर्पण
भूतल मंदिर प्रांगण,
जीवन से ईश्वर वियुक्त?
यह मध्य युगों का दर्शन।"[39]
"स्वर्ग नहीं ऊपर, वह अनगढ़ इस धरती पर,
जग में मूर्तित देखें ईश्वर का मुख भास्वर।

रूप करे निर्माण, बने भू-शिल्पी चेतन,
सृजनशील मन, श्री शोभा प्रेमी हों लोचन।"[40]
"विश्व रूप में देखे सुन्दर
ईश्वर को साकार निरंतर,
धरा स्वर्ग की रचना में हो
लोक कर्म संयोजित।"[41]
"निन्दित न अन्न, यह जगत् अन्न ही में स्थित,
हों अन्न प्राण विज्ञान मनस् प्रभु अर्पित।"[42]

यह बोध स्पष्ट कर देता है कि एक महत् सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता है। यह क्रांति ही मनुष्य के बहिरंतर जीवन में सन्तुलन लाकर उसके समग्र बोध को दीप्त करेगी। उसके बाद ही मनुष्य इस धरती को सुन्दर बना पायेगा। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सत्य है, वह जीवन-चेतना का अन्त्तर्तम या ऊर्ध्वतम, सूक्ष्मात्पर, शाश्वत, अतिचेतन स्तर हैं। पदार्थ, प्राण और मन की भूमिका का परित्याग कर उस ब्रह्म को प्राप्त करने या आत्ममुक्ति के अनुसंधान में उसकी ओर जाने का प्रश्न मध्ययुगीन ध्येय या आदर्श रहा है। हमारा युग-सत्य है—जगत्-जीवन और भू-क्षेत्र को ही ब्रह्म की मूर्तिमान् वास्तविकता में परिणत करना। ऐसे अन्तःसंगठित जीवन में निःसंदेह राग-द्वेष, लोभ-मोह, क्रोध-अहंकार आदि की उपयोगिता नहीं रहेगी—जो अब तक विकास-पथ के स्थूल तथा क्रूर साधन रहे हैं, और रागवृत्ति भी परिष्कृत होकर आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति, तथा सहज व्यापक पवित्रता में परिणत हो जायेगी। इस तथ्य का प्रतिपादन पन्त जी ने "ज्योत्स्ना" में भी किया था—"आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शांति आदि उस सृजन-चेतना के मूलभूत गुण हैं जो सृष्टि-तत्त्व में अभिव्यक्त हुए हैं और मानव-जगत् को उसी सत्य का दर्पण बनाना है।"[43]

"लोकायतन" के "कला-केन्द्र" के मूल में भी पन्त जी की आध्यात्मिकता तथा भौतिकता के समन्वय वाली दृष्टि काम कर रही थी। "कला-केन्द्र" के आध्यात्मिक आदर्श संसार से विच्छिन्न नहीं हैं, राग-मुक्त नहीं हैं तथा इन्द्रिय-दमन पर आधारित नहीं हैं, बल्कि इनके सुन्दर भोग से ही विकसित हैं—

"राग चेतना शुद्धि ही पूर्ण
भागवत भक्ति, मुक्ति का सार!
शांति, सौन्दर्य, प्रीति, आनन्द
धरा पर करें सतत अभिसार
× × ×

प्राण सुख वैभव से महिमाभ
धरा-जीवन का कर शृंगार।"[44]

यह ध्यातव्य है कि पन्त जी की आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नही है और न वह रहस्यवाद ही है। यह आध्यात्मिकता मनोवैज्ञानिक है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। उनका आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास था किन्तु वह आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते थे। अपने में सर्वथा निरपेक्ष, भौतिक जीवन से एकांत-अविकृत उसका अस्तित्व नहीं है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं; उन्नयन है, दमन नहीं। इस बात की पुष्टि उनकी "स्वर्णधूलि" में लिखी हुई निम्नांकित पंक्तियों से भी होती है–

"वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृद गम्भीर चिरन्तन
जिसमें मूल सृजन विकास के, विश्व प्रगति के गोपन।"[45]

किन्तु साथ ही उन्होंने कहा है–

"बौद्धिक शिशु! पग धरना सीखो,
विस्तृत जन भू-प्रांगण।"[46]

जो ऐसा नहीं कर पाते वे अन्तः सत्य के दर्शन नहीं कर पाते, सत्य के सतही रूप में उलझ कर रह जाते हैं, भीतर नहीं पैठ पाते। समुद्र के माध्यम से कितनी सटीक बात प्रस्तुत पंक्तियों में उन्होंने कही है–

"फेनिल हो तुम सिन्धु,
न कुछ भी विस्मय इसमें!
यही वास्तविकता जीवन की–
बहुत फेन है!
जग जीवन में बहुत झाग है,
बहुत फेन है।
जो भी अन्तः सत्य
छिपा है वह दिग्व्यापी
झाग तले।
× × ×

गहराई मे अतल
उतरने के बदले मन
उलझा रहता सतही
झागों ही के जग में।"[47]

इस प्रकार अपनी अनेक रचनाओं में पन्त जी ने धार्मिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक विचारों के आवर्तों से जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को उबारकर पाठकों के मनःक्षितिज में नवीन आध्यात्मिक शिखरों के सौन्दर्य को चित्रित करने का प्रयास किया है जो आने वाली मानवता की ऊँचाई, गहराई एवं व्यापकता का द्योतक है। उन्होंने अपना जीवन-दर्शन युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास की सम्भावनाओं को सम्मुख रखकर, अनेक महान् ग्रंथों तथा महापुरुषों से प्रेरणा प्राप्त कर, अनेक उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् कर, लोक-कल्याण एवं भू-मंगल की भावना के उद्देश्य से अपने काव्य-पुट में गुम्फित किया है। उसमें भू-जीवन तथा भागवत जीवन दोनों "सिया राम मय सब जग जानी" के भावनात्मक अर्थ में ही नहीं, उससे भी व्यापक अर्थ में अभिन्न सत्तायें हैं। उसमें भगवत्-प्रेम व जीवन-मुक्ति का ही नहीं, जीवन-रचना-मंगल का भी उपादान है। तपःपूत व्यक्ति का मन ईश्वर का मंदिर है, इस बात पर अधिक बल न देकर उन्होंने "संयुक्त, संस्कृत, बहिरंतर-संयोजित, सामाजिक जीवन ही भगवत्-चेतना की मूर्त पीठ है तथा उन्नत लोक-जीवन-रचना ही भगवत्-सान्निध्य प्राप्त करने का साधन है।"[48]—इसको अधिक महत्त्व दिया है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण का यह मौलिक अन्तर उनकी रचनाओं में ध्यातव्य है। विकसित परिपूर्ण लोक-जीवन ही भगवत् पूजन का प्रतीक हो, यही उन्हें अधिक स्वाभाविक लगता था। प्रारम्भिक से लेकर अपनी नवीनतम कृतियों "अतिमा", "किरणवीणा", "आस्था", "शंखध्वनि", "समाधिता", "सत्यकाम", "गीत-अगीत" तक में प्रकारान्तर से पन्त जी ने इसी बात पर विशेष बल दिया है। इस सम्बन्ध में उनकी अधोलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"मनुष्य के मान वृथा, विज्ञान, वृथा रे दर्शन,
वृथा धर्म, गणतन्त्र, उन्हें यदि प्रिय न लगे जग जीवन।"[49]
"तुम जीवन-ईश्वर को पूजो वह प्रेम अनिवर्चनीय परम
वह अक्षय रस, घट-घट वासी, यह सृष्टि स्वर्ग का लघु उपक्रम।"[50]
"मनुज-करों को किया समर्पित
ईश्वर ने अपने को निश्चित

वह निर्माण करे जीवन-पथ
सित प्रज्ञा का ले अवलम्बन
× × ×
वह विकास कर सके निरंतर
यह भगवत् उद्देश्य चिरन्तन।"[51]

वस्तुतः पन्त-काव्य अपने समस्त चिंतन, चेतनावाद की आड़ में आस्था तथा प्रेम का काव्य है। वह धरती के रज-कण में, प्रत्येक के जीवन में उस प्यार का प्रस्फुटन चाहते थे, जो जीवन की सार्थकता है—

"भूल स्वयं को
जग को करने लगा प्यार जब
जान सका तब प्रभु को।"[52]
"देवों का हो स्वर्ग महत्—
पर जन-धरती पर
रचना हमको मानवीय
नव स्वर्ग महत्तर।"[53]

मानवीय स्वर्ग की उनकी कल्पना के पीछे उनकी गहन आस्था है—

"वही अन्त में होता,
जीवन में निःसंशय
जो चिर मंगलमय
ईश्वर को होता स्वीकृत।"[54]
तथा
"व्याप्त सृष्टि में अव्यय अक्षर
आस्था पथ से मन
ईश्वर का सूक्ष्म स्पर्श पाता।
ईश्वर भक्त वही जो
भू-जीवन को अपनाता
जीवन-मंगल में वह मूर्तित,
कवि की रस वाणी में कीर्तित।"[55]

"सत्यकाम" भी मूलतः धरती के जीवन का काव्य है। इसमें उन्होंने ओपनिषदिक पृष्ठभूमि की कसौटी पर आधुनिक जीवन-मूल्यों को आँकने का

प्रयास किया है। दार्शनिक सत्य की मर्मस्पर्शी अनुभूति पन्त जी की अपनी थाती है जो उनके काव्य के माध्यम से मानवता का सत्य बनने को मचल उठती है।

इस नवीन जीवन-दर्शन से वह ईश्वर को मनुष्य के और अधिक निकट ले आये हैं। उन्होंने बौद्ध-दर्शन के इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान किया है कि जीवन दुःख का मूल है तथा डार्विन इत्यादि प्राणिशास्त्रीय विकासवादियों के इस निष्कर्ष को भी नकार दिया है कि "जीवन एक संघर्ष है।"[56]

उनके मतानुसार ये दोनों मान्यताएँ अर्द्धसत्य का प्रतिपादन करती हैं। पूर्ण सत्य तो यह है कि जीवन दुख और सुख दोनों का समाहार करते हुए दोनों से अतिशय भी है—वह आनन्दमय है। यही कारण है कि उनकी कविता जग-जीवन से तादात्म्य स्थापित करती हुई दिखाई देती है—

"पृथक् नहीं अब मुझसे कविता,
जीवन में जो पाता
उसे अनूदित करता
काव्य-बोध में
बाँध छन्द-लय में
अनुभव को।
× × ×
मुझे बाँधना नये छन्द में
जग-जीवन को,
वस्तु-जगत् को
भाव-जगत् में कर
रस-परिणत।"[57]
क्योंकि (उन्हीं के शब्दों में)

"दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन प्रज्ञा द्वारा करता है, कवि को उस सत्य को हृदय से सींचकर सजीव कर देना पड़ता है, उस सत्य की मूर्ति बन जाना पड़ता है। सच्चा कवि वही है जो अपने को जीवन के सत्य और सौन्दर्य की प्रतिमा बना लेता है। कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है।"[58]

सन्दर्भ-सकेत



हिन्दी साहित्यकोश—संपादक धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ. 212
सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, धर्म-लेख, पृ. 450
सु पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, धर्म-लेख, पृ. 450-451
सु पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, धर्म और विज्ञान-1 लेख, पृ. 452
सु पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, धर्म और विज्ञान-2, पृ. 456
शिल्पी—सु. पन्त, पृ. 105, प्र. सं. 1952
सु पन्त—जीवन और साहित्य, भाग 1, शांति जोशी, प्र. सं. 19
पृ. 69
सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शांति जोशी, पृ. 69
हार—सु. पन्त, पृ. 128, प्र. सं. 1960
हार—सु. पन्त, पृ. 91-92, प्र. सं. 1960
सु पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शांति जोशी, पृ. 104
हार—(उपन्यास) सु. पन्त, पृ. 48-49 प्र. सं. 1960
साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—सु. पन्त, धर्म शीर्षक लेख, पृ 1
प्र सं. 1973
युगपथ—सु. पन्त, युगान्त, पृ. 22-23, द्वितीय संस्करण 1964
सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि पृ. 292, प्र. सं. 1979
स्वर्ण-किरण—स्वर्णोदय कविता, पृ. 123, चतुर्थ संस्करण 1971
सु. पन्त ग्रंथावली खंड 2,—स्वर्णधूलि—चौथी भूख, पृ. 312, प्र.
1979
उत्तरा : उद्‌बोधन कविता पृ. 35, चतुर्थ संस्करण, 1980
वाणी : अग्नि की पुकार कविता, पृ. 18, प्रथम संस्करण 1958
युगवाणी : मूल्यांकन कविता पृ. 26, पाँचवाँ संस्करण 1982
युगवाणी : भूतदर्शन कविता, पृ. 28, पाँचवाँ संस्करण 1982
युगवाणी : खोज कविता पृ. 55, पाँचवाँ संस्करण 1982
सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि : मनुष्यत्व कविता, पृ. 3
प्र. सं. 1979
युगवाणी—खोज कविता, पृ. 55, पाँचवाँ संस्करण, 1982
वाणी—रूपान्तर कविता, पृ. 58
उत्तरा—जीवन कोंपल कविता, पृ. 54, चतुर्थ संस्करण 1980

27 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, ग्राम्या—ग्रामदेवता, पृ. 152, प्र. सं. 1979
28. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन : ज्योतिद्वार, पृ. 320, प्र. सं. 1979
29. वही
30. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 215, प्र. सं. 1967
31. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 213, प्र. सं. 1967
32. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 213, प्र. सं. 1967
33. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 6, धर्म और विज्ञान-2, पृ. 456, प्र. सं. 1979
34 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, संक्रान्ति, गीत सं. 17, पृ. 531, प्र. सं. 1979
35. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 2, शांति जोशी, पृ. 645
36. युगवाणी : दो लड़के कविता, पृ. 23, पाँचवाँ संस्करण 1982
37 युगवाणी : नव संस्कृति कविता पृ. 19, पाँचवाँ संस्करण 1982
38. किरणवीणा—पुरुषोत्तमराम, पृ. 229, प्रथम संस्करण 1967
39 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, गीत सं. 4, पृ. 140
40. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, संक्रान्ति, गीत सं. 47, पृ. 549
41 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत, गीत संख्या 7, पृ. 443
42. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन : मध्यबिन्दु, पृ. 136
43. ज्योत्स्ना—पृ. 55, चतुर्थ संस्करण, 1978
44. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन : कला द्वार, पृ. 275
45. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 2, स्वर्णधूलि : लोकसत्य, पृ. 324, प्र. सं. 1979
46. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, आस्था, गीत संख्या 2, पृ. 218, प्र. सं. 1979
47. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, आस्था, गीत संख्या 77, पृ. 276, प्र. सं. 1979
48. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 6, चिदम्बरा : चरणचिह्न, पृ. 320, प्र. सं. 1979
49. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 2, ग्राम्या : ग्रामदृष्टि, पृ. 132

50. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 5, लोकायतन : उत्तरस्वप्न—प्रीति, पृ. 448, प्र. सं. 1979

51. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, गीत-अगीत, कविता सं. 8, पृ. 444, प्र. सं. 1979

52. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भाव क्रान्ति, समर्पण कविता, पृ. 458

53. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, शंखध्वनि, देवोत्थान कविता, पृ. 11

54. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, आस्था : कविता संख्या तीन, पृ. 219, प्र. सं. 1979

55. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, संक्रान्ति, गीत संख्या नौ, पृ. 527, प्र. सं. 1979

56. "कौन कहता जीवन दुःख मूल?
मुक्ति केवल छूँछा निर्वाण।
हृदय में हो आस्था का सत्य
सुलभ हो पग-पग पर परित्राण।
बरसता रस प्रहर्ष का मेघ।
अमित श्री शोभा में अम्लान,
गीत बन रोम-रोम के तार
हृदय में भरते स्वर्गिक तान।

सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, गीत संख्या सैंतालीस, पृ. 165

57. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, आस्था : कविता सं. 31, पृ. 235, प्र. सं. 1979

58. ज्योत्स्ना पृ. 73-74, चतुर्थ संस्करण 1978

तृतीय अध्याय

पन्त जी के साधना सम्बन्धी विचार

मानवीय सक्रियता के तीन स्पष्ट आयाम हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इन्हीं को शैव दर्शन में त्रिपुर के रूप में वर्णित किया गया है। इसी को आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्री थोड़े परिवर्तन के साथ प्रज्ञान (कॉग्निशन), भावना (अफ़ेक्शन) और संकल्प (वॉलिशन) का नाम देते हैं। पुराने विचारकों ने जिसे "इच्छा" कहा है उसी को आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भावना और कामना नाम की दो वृत्तियों में बाँटकर वर्णित करते हैं। मनोविज्ञान का क्षेत्र क्योंकि मन तक ही सीमित है, इस कारण मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययन के क्षेत्र में क्रिया को सम्मिलित नहीं करते। क्रिया, मन के क्षेत्र के बाहर, मनुष्य के अन्य ऐन्द्रिक व्यापारों के रूप में हमारे सामने आती है। प्रज्ञान गहन होकर हमारी भाव-वृत्ति को प्रेरित करता है और भाव-वृत्ति हमारे भीतर संकल्पों तथा इच्छाओं को अनुप्रेरित करती है। तत्त्वदर्शन मानव की प्रज्ञान-वृत्ति का परिणाम है जिसे अपने शुद्ध रूप में निर्विकल्प और निस्संग रहना चाहिये। किन्तु अपनी सहजगति में वह मानव की भाव-वृत्ति तथा क्रिया-वृत्ति को प्रभावित और प्रेरित करता है। प्रज्ञान की भावनात्मक और संकल्पात्मक प्रेरणा से धर्म-चेतना का जन्म होता है।

संसार के सभी धर्मों की प्रकृति का यदि विश्लेषण किया जाये तो उनमे हमें दो मुख्य उपादान दिखाई देते हैं जिनमें से एक को हम आन्तरिक विकास अथवा आत्मविकास तथा दूसरे को बाह्य विकास अथवा लोक-विकास कह सकते हैं। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानवीय विकास के इन दोनों आयामो को निःश्रेयस् तथा अभ्युदय कह कर संकेतित किया है। निःश्रेयस् का सम्बन्ध सूक्ष्म एवं आन्तरिक विकास से है। चेतना का परिष्कार तथा विस्तार मनुष्य के जीवन में निःश्रेयस् की सिद्धि करता है तथा उस परिष्कृत एवम् विस्तृत चेतना के प्रकाश में अपने और अपने चारों ओर के प्रत्यक्ष भौतिक जीवन को स्थूल

रूप से अधिक सुविधापूर्ण बनाने का प्रयास हमें अभ्युदय की ओर ले जाता है।

भारतीय मनीषियों ने निःश्रेयस् तथा अभ्युदय के रूप में मानवीय विकास के दो पृथक् आयामों का संकेत अवश्य किया है किन्तु ये दोनों आयाम एक सिक्के के दो पहलुओं के समान पृथक् दिखाई देते हुए भी एक दूसरे से अभिन्न है तथा एक के बिना दूसरे की उपलब्धि केवल एकांगी और अधूरी ही नहीं बल्कि असंभव भी है—इस तथ्य का संकेत भी उन्होंने बार-बार किया है।

निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले मानवीय प्रयास को ही साधना कहते हैं। यूँ तो सामान्य रूप से किसी भी प्राप्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले प्रयास को साधना कहने का चलन है। अपने संकुचित तथा विकृत स्वार्थों की सिद्धि के लिये भी मनुष्य दीर्घकालीन तथा दुर्वह प्रयत्न करते देखे जाते हैं तथा अपने उद्देश्य में सफल होने के बाद वे ऐसा कहते पाये जाते हैं कि बड़ी कठिन साधना के बाद मैंने अपना यह अभिप्रेत लक्ष्य प्राप्त किया है। किन्तु साधना शब्द का इस प्रकार का प्रयोग अतिशय शिथिल-प्रयोग है तथा उस शब्द के इस तरह के प्रयोग को दुरुपयोग ही माना जाना चाहिये।

साधना का सम्बन्ध निस्संदिग्ध रूप से उन मानवीय प्रयासों से है जो मानवीय चेतना की विशुद्धि तथा मुक्ति के लिए किये जाते हैं। मनुष्य की परिभाषा देते हुए प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने उसे सामाजिक प्राणी और बुद्धिशील प्राणी कहा है। बुद्धिशीलता तथा सामाजिकता के तात्त्विक स्वरूप को पहचानने का यदि प्रयास किया जाय तो इन दोनों शब्दों का समाहार भी निःश्रेयस् तथा अभ्युदय की कल्पना में हो जायेगा। मनुष्य के मूल स्वभाव के संबंध में पूरे निश्चय के साथ यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य एक संस्कारशील प्राणी है। प्राणिविज्ञान के अनुसार सभी प्राणी विकासशील माने जाते हैं किन्तु मात्र विकासशीलता को संस्कारशीलता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। जो कुछ, जिस रूप में प्राप्त है नैसर्गिक ढंग से उसका उसी रूप में प्रयोग अथवा उपयोग करना मनुष्य का स्वभाव नहीं है। प्राप्त के आधार पर वह श्रेष्ठतर प्राप्य की कल्पना करता है तथा उसको प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। मनुष्य का यह संस्कारशील स्वभाव उसे अपनी अन्तस्सत्ता को भी अधिक श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा देता है। आत्मसत्ता को श्रेष्ठता की ओर ले जाने का प्रयास ही साधना शब्द की अर्थ-सीमा के अन्तर्गत आ सकता है।

पन्त जी मनुष्य की अन्तस्सत्ता के विकास के महत्त्व को पूरी तरह पहचानते थे तथा अपनी विविध साहित्यिक अभिव्यंजनाओं के माध्यम से उन्होंने

मनुष्य की चेतना के ऊर्ध्व एवं व्यापक संचरण को सम्प्रेरित करने का प्रयास किया है। अपने एक निबन्ध में उन्होंने स्वयं ही कहा है—"मनुष्य के अन्तः सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए तथा उसे वैयक्तिक-सामूहिक रूप में विश्वजीवन में मूर्त एवम् प्रतिष्ठित करने के लिए हमें समदिक्-दृष्टि-विज्ञान के साथ ही अन्य ऊर्ध्व-चेतन सांस्कृतिक अनुष्ठानों तथा उपायों की भी आवश्यकता पड़ेगी। आज विगत ऐतिहासिक युगों की खण्ड मानव-चेतनाओं तथा संस्कृतियों को व्यापक मानवता के रूप में संयोजित करने के लिए हमें मानव-मन की गहराइयों मे नवीन आध्यात्मिक प्रकाश डालकर मानव-प्रवृत्तियों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा और विगत युगों की खर्व बौनी मनुष्यता को अधिक व्यापक, उन्नत भूमिका में पदार्पण करवाना होगा।"[1]

वर्तमान विश्व-जीवन में भौतिक ज्ञान के विकास और भौतिक उपलब्धियों के प्रति जो अतिरिक्त तथा असंतुलित आकर्षण दिखाई देता है, उसकी असंगति का संकेत करते हुए पन्त जी कहते हैं—"जिस प्रकार प्राकृतिक जगत् में, जिसे 'फिनॉमिनल वर्ल्ड' कहते हैं—वाष्प, विद्युत्, रश्मि, अणु तथा रसायन-शक्तियो की खोज कर मनुष्य ने उन्हें मानव-समाज के पुनर्निर्माण के लिए प्रयुक्त किया है, उसी प्रकार अन्तर्जगत् की सूक्ष्म मानसिक शक्तियों का अध्ययन-मनन कर तथा प्राणिक जगत् की विचित्र शक्तियों की खोजकर मनुष्य अपने सांस्कृतिक जीवन को अधिक परिपूर्ण तथा भरापूरा बना सकता है और वर्तमान विश्वसभ्यता में जिन तत्त्वों की कमी है वे विश्व-मंगल के आलोक, सौन्दर्य, शान्ति, मानव-प्रेम, नैतिक-आध्यात्मिक जागरण आदि के तत्त्व मानव-मन तथा आत्मा के अन्तर्विधान के अध्ययन से अर्जित कर मनुष्य उन्हें अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक सर्वांगीण उत्थान तथा अभ्युदय के लिए उपयोग में ला सकता है। मानव की स्थूल चक्षुदृष्टि से ऊपर उसकी दिव्य मनोदृष्टि की सार्थकता तथा चरितार्थता मुझे इसी बात में दिखाई देती है। मानव का भविष्य, मानव-संस्कृति तथा सभ्यता का भविष्य चिर मंगलमय होगा, वह सत्य से वृहत्तर सत्य की ओर, रचना-सौन्दर्य तथा आनन्द से महत्तर जीवन-रचना-सौन्दर्य तथा आनन्द की ओर अग्रसर हो सकेगा, उसके दिव्य मन का ज्ञान उसे निरन्तर यही सन्देश देता आया है।"[2]

जीवन की व्यापक यथार्थता का बोध ही जीवन-बोध है—इस तथ्य का संकेत पन्त जी ने "कला और बूढ़ा चाँद" में संकलित अपनी "जीवन-बोध" शीर्षक रचना में किया है। पन्त जी के "व्यापक यथार्थ" में सूक्ष्म और स्थूल तथा जड़ और चेतन सभी रूप समाहित हैं। सत्ता के इस व्यापक एकत्व का

बोध और उसके साथ आत्म-चेतना के एकाकार का लक्ष्य निरन्तर पन्त जी के सामने रहा। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में यह लक्ष्य निहित रूप में ढूँढ़ा जा सकता है किन्तु उनकी परवर्ती रचनाओं में, जिन्हें उन्होंने स्वयं अपना "चेतना-काव्य" कहा है, उनकी यह आकांक्षा परिस्फुट तथा अत्यन्त प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुई है—

"तम से मुक्त प्रकाश उदित हो,
घृणा-मुक्त उर दया-द्रवित हो, जड़ता में चेतना अमृत हो,
गरज न घन
रस बन, रस बन,
प्राणों में।"

"स्वर्णधूलि" में संकलित "रस-स्रवण" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ पन्त जी की साधना सम्बन्धी आकांक्षा को तो प्रकट करती ही हैं, उनकी साधना के लक्ष्य का भी स्पष्ट संकेत देती हैं।

पन्त जी के मतानुसार वास्तविक साधना तो मात्र सक्रिय भाव से प्रकृति तथा जीवन के साथ एकात्म हो जाना है, बुदबुद की भाँति जल में लय होकर जल का रहस्य पाना है—

"कँप कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा"

"गुंजन" में संकलित उनके एक गीत की ये पंक्तियाँ मेरे इस कथन की पुष्टि करती हैं कि व्यापकता को जानने तथा उसके साथ एकाकार हो जाने की आकांक्षा पन्त जी में आरम्भ से रही है, जो उनके परवर्ती काव्य में अधिक प्रखर तथा मुखर हो गयी है।

व्यापकता के साथ एकाकार होने की पन्त जी की इस आकांक्षा का सबसे विशिष्ट रूप यह है कि वे जीवन को उसकी व्यापक सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करते थे। धरती के स्थूल दैहिक जीवन की उपेक्षा करके आगे बढ़ने वाली वैराग्यमयी साधना पन्त जी को स्वीकार्य नहीं थी। सम्पूर्ण जीवन का यह व्यापक स्वीकार संभवतः उन्हें उनके परिवेश में व्याप्त शैव चिन्तन की प्रेरणा से प्राप्त हुआ था। वे वैराग्य के स्थान पर व्यापक सत्ता के प्रति अनुराग की

साधना को अधिक महत्त्व देते थे—

> "वैराग्य पराजय जन मन की,
> अनुराग सृष्टि रस की वाहक,
> यदि अधोमुखी हो प्राण वृत्ति
> वह मानव-गरिमा की दाहक।"[3]

मानव-गरिमा की दाहक अधोमुखी प्राणवृत्ति को रसवाहक अनुराग-सृष्टि की ओर ले जाना ही उनकी जीवन-साधना एवं काव्य-साधना का परम काम्य रहा है। अपने अनेक छन्दों तथा गीतों में पन्त जी ने मानव-मन के विकास की इस साधना को प्रकाशित किया है। "स्वर्ण-किरण" की अनेक रचनाओं में उषा तथा स्वर्णोदय का रूपक मानवमन के इसी विकास को इंगित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। उनकी रचना "अशोक-वन" की सीता चेतना की प्रतीक हैं। पन्त जी ने सीता को भू-चेतना तथा राम को स्वर्ग-चेतना के रूप में चित्रित किया है। सीता की भू-चेतना जब एक बार ऊर्ध्व-मुख हो जाती है तब वह केवल धरती की वस्तु नहीं रह जाती। मूलतः वह मृण्मय है किन्तु जब राम के स्पर्श से वह एक बार चिन्मय हो गयी तो सदा के लिए चिन्मय हो गयी। अपनी इस रचना में पन्त जी ने राम-कथा को एक नया विकासवादी रूप दिया है। रुद्र-धनु-खण्डन पन्त जी की दृष्टि में मानव-जीवन के एक युगान्त का सूचक है। विगत आदर्श प्रायः असंगत होकर प्रगति के विरोधी बन जाते हैं। रावण ऐसे ही प्रगति-विरोधी आदर्शों का प्रतीक है। पन्त जी की धारणा में राम-सीता का मिलन धरती एवं स्वर्ग का परिणय है—

> "क्या अशोकवन है, क्या सीता?
> वह सुख वैभव स्वर्ग, और यह
> जन मंगल की मूर्ति पुनीता।
> ×   ×   ×
> भू ईप्सा को स्वर्ग दया से
> होना था जग हित परिणीता।"[4]

पन्त जी ने स्वीकार किया है कि—"मैं आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक् वैराग्य के स्फटिक-शीत-मन्दिर में रहकर नहीं मानता। वह तो पुरानी आध्यात्मिकता है, जिसने भागवत-चेतना को जीवन में प्रतिष्ठित करने के बदले "भूतेषु ऽ भूतेषु विचिन्त्यः धीरः" कहकर अन्तर्तम में उसके

अमृत प्रकाश का स्पर्श पाकर सन्तोष कर लिया। जगत् या सृष्टि के मूल मे जो ईश्वर या भागवत चेतना है उसे विकास-क्रम में मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं विश्व-जीवन में मूर्त होना ही चाहिये, यही मेरी दृष्टि में भागवत साक्षात्कार है।"[5] ईश्वरत्व को जीवन की वास्तविकता प्रदान करना ही पन्त जी के लिए भागवत साक्षात्कार है और उसे उन्होंने अपने चेतना-काव्य में एक लम्बी विकासशील सामाजिक प्रणाली कहकर व्याख्यायित किया है।

पन्त जी के मत से साधना का चरम लक्ष्य मुक्ति तथा सत्य की उपलब्धि है। उन्होंने साधना की इस चरम उपलब्धि की अपने मानस में अनुभूति की थी, इसका संकेत हमें "स्वर्णकिरण" की "उषा" कविता में मिलता है। उन्हें मुक्ति-पथ पर विद्यमान उस सत्यालोक के दर्शन हुए थे जिसका मुख हिरण्यमय घूँघट से छिपा हुआ था, और जिसमें निज-पर का भेद-भाव, द्वैत की स्थिति, विनष्ट होकर पृथ्वी के जड़ तथा चेतन सभी सत्य बन गये थे। ऊर्ध्व-अधः, बहिरन्तर, स्थूल-सूक्ष्म, वायु, जल, आग तथा आसमान सभी कुछ उस आलोक में उन्हें सत्यमय दिखायी पड़ने लगा। शाश्वत ज्योति से लिपटा हुआ सत्य का स्वरूप उन्हें अकथनीय प्रतीत हुआ। उस स्थिति में प्रभु तथा भक्त में कोई भेद नहीं रह गया। दोनों मिलकर एक और चिरन्तन सच्चिदानन्द रूप बन गये—

"रहे निर्निमिष भौतिक लोचन
प्रभु, प्रभु-भक्त गये अभिन्न बन
मात्र सच्चिदानन्द चिरन्तन।"[6]

ऐसी अवस्था में साधक जिस अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है उसके अनेक चित्र पन्त जी ने अपने काव्य की भूमिका पर अंकित किये हैं—

"खिल उठा हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय,
खुल गये साधना के बंधन,
संगीत बना उर का रोदन,
अब प्रीति द्रवित प्राणों का पण
सीमाएँ अमिट हुई सब लय"[7]

"वाणी" की कविता "साधना करो युग कृष्ण, साधना करो युग राम" मे स्पन्दित स्वर "कला और बूढ़ा चाँद" में और अधिक काव्यमय, स्निग्ध तथा सुमधुर हो गया है। उनके इस परवर्ती काव्य-संग्रह की "गीत-खग" तथा

एकाग्रता" शीर्षक रचनाओं में अभिव्यक्त एकाग्रसाधना धरती के ऊर्ध्व-सम सचरण की साधना है।

अपनी "जीवन-बोध" शीर्षक रचना में उन्होंने अपना यह मन्तव्य स्पष्टतया उल्लिखित किया है कि यदि इन्द्र-नील-आरोहों पर अविराम बजने वाले रुपहली घण्टियों के नीरव स्वर बुद्धि से अग्राह्य हैं तो साधना से उन्हें सुना जा सकता है। साधना-जनित तादात्म्य अवश्य ही सत्य से साक्षात्कार एवम् उसकी अनुभूति करा देगा। पन्त जी की इस मान्यता में साधना के प्रति उनकी निष्ठा का परिचय अत्यन्त स्पष्ट है। पन्त जी द्वारा संकेतित साधनाजनित तादात्म्य अर्थात् दिव्य की अनुभूति धरती को भुला नहीं देती वरन् धरती के कल्याण की आकांक्षा उसमें और अधिक प्रबल हो जाती है–

"मैं उन आरोहों को
प्राणों की हरी गहराइयों में उलट
नये जीवन-बोध की फ़सल उगाऊँगा।"[8]

शुभ्र प्रेम, अनंत और समग्र सौन्दर्य के साथ तादात्म्य ही पन्त जी के 'आनन्द", "उपस्थिति", "भाव", "भावावेश" तथा "अवरोहण" हैं–

"भावावेश में
जब हृदय
गहरी साँसें लेता है, तुम उड़कर।
उसी में समा जाते हो।"[9]

अन्तर्विरोध की समाप्ति के साथ "उत्क्रान्ति" का जन्म होता है जो कि "लोकायतन" के पात्र वंशी के मानसिक विकास—साधनागत आरोहण को लक्षित करता है। साधना की विभिन्न भूमियाँ प्राकृतिक सुषमा की अनेक भाव-भंगिमाओं मे रूपायित होती हैं और वंशी का मन उनकी दिव्यता में तल्लीन हो जाता है। उर्वशी, मेनका, रम्भा अथवा सम्भ्रान्त वर्ग की सुषमामंडित नारियाँ उसे वास्तविक सौन्दर्य से मंडित नहीं लगतीं। वह सोचता है कि ये अप्सरियाँ शोभा की केंचुल मात्र हैं, इनका सौन्दर्य शिवत्वयुक्त नहीं है। इस प्रकार वंशी को नये मूल्य का आभास हो जाता है और वह समझ जाता है कि ईश्वर सृष्टि से पृथक् नहीं है और न स्वर्ग ही जगत् के ऊपर है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि "लोकायतन" का पात्र वंशी पन्त जी की अपनी ही आत्म-चेतना का प्रतीक है और उसके माध्यम से पन्त जी ने अपने ही

मूल्य-बोध तथा सौन्दर्य-चेतना के विकास को संकेतित किया है।

पन्त जी की काव्य-रचनाओं, निबन्धों अथवा अन्य आत्मकथ्यों में हमे किसी ऐसी साधना-पद्धति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जिसका अनुसरण उन्होंने स्वयं किया हो अथवा जिस साधना-पद्धति को अपनाने की प्रेरणा उन्होने दूसरों को दी हो। किन्तु इस बात के संकेत हमें उनकी रचनाओं में सर्वत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं कि वह साधक थे तथा उनकी साधना ने उन्हें जीवन-चेतना के सर्वथा नवीन आयाम चाहे न दिये हों किन्तु उनके आत्मजात जीवन-बोध को परिस्फुट तथा गहन बनाने में उसका गहरा योगदान था।

अपनी दार्शनिक परिकल्पना के संदर्भ में अभिव्यक्त भावात्मक अनुभूतियों के लिए पन्त जी ने लिखा है कि—"ये केवल अनुभूतियाँ ही हैं। ये साधना की देन तो हैं ही, और मैं साधक भी हूँ, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु ये अन्तःचेतन मन की अनुभूतियाँ हैं जिनके प्राप्त होने से मनुष्य का हृदय शाश्वत अमृत से भर जाता है। फिर वह अन्तर्जीवन के इसी सत्य को मानव-जीवन का केन्द्र मानने लगता है। साधारण मनुष्य भी इसके सूक्ष्म प्रभाव को पकड़ तथा देख सकता है। साधारण व्यक्ति और साधक में अन्तर नहीं होता।"[10]

पन्त जी के इस कथन से उनके साधना-निष्ठ व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। दार्शनिक परिकल्पना उनके मानस में भावानुभूति बन गयी थी। दार्शनिक चिन्तन और भावानुभूति का जैसा एकाकार हमें पन्त जी की काव्य-साधना मे, विशेषतया उनकी परवर्ती काव्य-रचनाओं में, देखने को मिलता है वैसा सघटन हमें संसार के बहुत कम साहित्यकारों के कृतित्व में दिखाई देता है। ज्ञान तथा भाव का यह दुर्लभ तादात्म्य संभवतः उनके व्यक्तित्व का सहज अंग था, इसे स्वीकार करते हुए भी हमें यह मानना ही पड़ता है कि पन्त जी में निरन्तर विकासमान ज्ञान तथा भाव का यह अद्भुत एकात्म उनकी साधना के फलस्वरूप ही विलक्षण सार्थकता तथा सृजनशीलता के सोपान तक पहुँचा था। एकान्त चिन्तन एवं ध्यान के अतिरिक्त किसी प्रकार की प्रत्यक्ष क्रियात्मक साधना-पद्धति के अनुसरण का प्रमाण हमें पन्त जी के जीवन तथा काव्य में नहीं मिलता—यह बात मैं उनके जीवन-विवरण तथा धर्म-सम्बन्धी उनकी मान्यताओं के प्रसंग मे पहले लिख चुकी हूँ। यह सभी जानते हैं कि वह बहुत दिनों तक योगी अरविन्द के आश्रम में रहे थे तथा श्री अरविन्द के विचारों से उनका गहन परिचय था। किसी सीमा तक वह उनसे प्रभावित भी हुए थे। उनकी रचनाओं में अरविन्द-दर्शन की शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हमें देखने को मिलता है। किन्तु पन्त जी के

अपने ही कथन से हमें इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित साधना-पद्धति को उन्होंने अपने अनुरूप नहीं पाया था। पन्त जी की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति को स्पष्ट कर देती हे। उन्होंने लिखा है—"श्री अरविन्द जीवन को जड़ के ऊपर की एक स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार, जो प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण भी है, जड़ से जीवन, जीवन से मन का विकास हुआ है और मन से भी अतिमन या ऋत-चित, जिसे वे "सुपर माइण्ड" भी कहते हैं, उसका विकास होगा और तभी व्यक्ति दिव्य या पूर्णतर बन सकेगा। उनकी साधना-पद्धति मध्ययुगीन दृष्टि से आत्ममुक्ति सम्बन्धी न होने पर भी उस प्रकार की नहीं है जिसे मैं सामाजिक यथार्थ के विकास-पथ से संतुलित विश्व-जीवन के लिए सामूहिक मुक्ति की दृष्टि कहता हूँ। उनका अतिमन एक एरिया या क्षेत्र में, अर्थात् कुछ अतिमानस के साधकों के समूह मे, अवतरित होगा; वे विशिष्ट चैतन्य युक्त व्यक्ति होंगे, जो धीरे-धीरे संसार में उन लोगों में उस नयी सम्बोधि का प्रसार कर सकेंगे जो उसके उपयुक्त पात्र होगे ओर समग्र (इण्टीग्रल) योग की साधना करने को तैयार होंगे, जैसा कि ईसा के अनुयायियों ने भी छोटे रूप में धर्म के स्तर पर किया था। चाहे यह मेरी व्यक्तिगत सीमा के ही कारण हो, मैंने अपने मनोविन्यास को योग-साधना के उपयुक्त नहीं पाया। वैसे भी मैं जगत्-जीवन से ईश्वर-तत्त्व या परम-चैतन्य को विच्छिन्न कर आत्मा की अधिभूमि पर साक्षात्कार से प्राप्त सत्य-बोध को अर्द्ध सत्यबोध ही मानता हूँ और जागतिक जीवन के पूर्ण विकसित रूप में ही ईश्वर-दर्शन या साक्षात्कार को क्रमशः सम्भव मानता हूँ—जैसा कि मैंने "उत्तरा", "अतिमा", "वाणी" के प्रगीतों में तथा "लोकायतन" में भी पूर्ण रूप से व्यक्त किया है। मैं राम तथा कृष्ण आदि के चैतन्य-स्वरूप को भी उस पूर्ण जीवन-सत्य का खण्ड-विकसित रूप ही मानता हूँ और मैं, सत्य की साधना के लिए इतिहास और सभ्यता ने जो सामूहिक विकास-यन्त्र प्रस्तुत किया है, उसी को अधिकृत कर, उसे राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता में और उससे विश्व-मानवता और दिव्य मानवता में क्रमशः विकसित कर उस पूर्ण जीवन को लोक-जीवन में मूर्त देखना सम्भव मानता हूँ।"[11]

पन्त जी का उपर्युक्त उद्धरण साधना के सम्बन्ध में उनके विचारों को समझने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके उपर्युक्त कथन से पहला सकेत हमें यह मिलता है कि वह साधना के द्वारा आत्ममुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक नहीं थे अथवा यों कहें कि मात्र आत्ममुक्ति को वह पर्याप्त नहीं समझते

थे। वह सामूहिक मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित थे और उसकी उपलब्धि का साधन सामाजिक यथार्थ के विकास को मानते थे जिसके द्वारा एक संतुलित विश्व-जीवन की स्थापना होगी। संतुलित विश्वजीवन की सिद्धि ही उनके लिए सामूहिक मुक्ति थी। आत्ममुक्ति के स्थान पर सामूहिक मुक्ति की उपलब्धि को लक्ष्य बनाकर चलने वाले पन्त जी साधना के एक ऐसे स्वरूप का संकेत करते है जिसको अपनाकर चलने वाले साधक हमें संसार के इतिहास में बहुत ही विरल रूप में दिखाई देते हैं। आत्ममुक्ति के निमित्त की जाने वाली साधना को पन्त जी अपर्याप्त मानते थे। उनके विचार से सामूहिक मुक्ति के बिना साधना का लक्ष्य अधूरा ही रहेगा। इस दृष्टि से देखने पर पन्त जी को स्वीकार्य साधना का स्वरूप अतिशय उदात्त प्रतीत होता है। संसार के सभी अवतारी पुरुषो, पैगम्बरों एवं धर्म-प्रवर्तक महापुरुषों के जीवन का लक्ष्य भी धर्म की संस्थापना था। पन्त जी की सामूहिक मुक्ति की अवधारणा इन अवतारी महापुरुषों की धर्म-संस्थापना के उद्देश्य से भी कुछ आगे की वस्तु प्रतीत होती है। इसी कारण उन्होंने राम तथा कृष्ण आदि के चैतन्यस्वरूप को भी पूर्ण जीवन-सत्य का खण्ड-विकसित रूप ही माना है। वह जगत्-जीवन से ईश्वर-तत्त्व या परम-चैतन्य को विच्छिन्न कर आत्मा की अधिभूमि पर साक्षात्कार से प्राप्त सत्यबोध को अर्द्धसत्यबोध कहते थे और यह मानते थे कि ईश्वर-दर्शन या साक्षात्कार की प्रक्रिया सम्पूर्ण जागतिक जीवन में क्रमशः घटित होने वाली एक प्रक्रिया है और वह अपनी पूर्णता के लक्ष्य तक तभी पहुँचेगी जब सम्पूर्ण जागतिक जीवन अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेगा। पन्त जी की इस धारणा के अनुसार अभी तक संसार के किसी भी व्यक्ति को पूर्ण ईश्वर-दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है क्योंकि अभी तक इस धरती पर संतुलित विश्व-जीवन की स्थापना हो ही नहीं पायी है।

पन्त जी की दृष्टि से साधना संतुलित और सम्पूर्ण जीवन प्राप्त करने का एक जागतिक प्रयास है और कोई अकेला व्यक्ति इस प्रयास को अथ से इति तक नहीं पहुँचा सकता। इस जागतिक साधना में किसी भी व्यक्ति का योगदान आंशिक ही हो सकता है। संतुलित विश्वजीवन की प्रकृति को पहचानना और उसकी व्यापक उपलब्धि के लिए अपनी निजी चेतना को संतुलित विश्वजीवन की चेतना से जोड़कर इतिहास और सभ्यता ने जो सामूहिक विकास-यन्त्र प्रस्तुत किया है उसी को अधिकृत कर क्रमशः अधिकाधिक व्यापकता की ओर बढ़ने का प्रयास ही किसी एक व्यक्ति के जीवन में प्रकट होने वाली साधना का रूप हो सकता है।

अपन निरन्तर चिन्तन, मनन तथा भावन के द्वारा पन्त जी ने संतुलित विश्व-जीवन-प्रकृति को पहचान लिया था तथा इस पहचान को उन्होंने अपनी अन्तश्चेतना की उन गहराइयों में स्थापित कर लिया था जहाँ से वह उनकी आत्मानुभूति के रूप में निरन्तर स्फुरित होती रहती थी। ज्ञान तथा भाव के जिस एकात्म स्वरूप की अभिव्यक्ति उनके चेतना-काव्य में हुई है, वह उन्हें अपनी इसी साधना के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। संतुलित विश्वजीवन के स्वरूप को रूपायित करते हुए जगत्-जीवन को उसके अनुरूप बनाने का प्रयास ही पन्त जी की जीवन-साधना थी जिसका प्रकट रूप हमें उनकी साहित्यिक रचनाओ मे देखने को मिलता है।

इस विश्वव्यापी उदात्त साधना की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में आश्रमों तथा संस्थानों का भी योगदान हो सकता है, इस बात को पन्त जी ने माना है। उन्होंने लिखा है—

"ऐसा अवश्य है कि वर्तमान विकास की स्थिति में विशेष ज्ञान-संस्थानो तथा आश्रमों में हमें विशिष्ट उच्चतम मान्यताओं के आधार पर अन्तर्मन तथा अन्तर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ हम भागवत करुणा के सम्पर्क में आकर अन्तश्चेतन के आलोक तथा अन्तर्वैज्ञानिक सिद्धियों के द्वारा लोक-जीवन के विकास-पक्ष की बाधाओं तथा व्यवधानों को हटाने, मानस-ग्रन्थियों को सुलझाने एवं विश्व-जीवन का उन्नयन करने में सफल हो सकेंगे। ऐसे तपोवन तथा साधना-द्वार हमारे दश की विशेषता रहे हैं। वे सदैव हमारी श्रद्धा, भक्ति के पवित्र पथ-प्रदर्शक केन्द्र ओर हमारी चेतना-विषयक उच्च प्रयोगशालाएँ रहेंगे, जहाँ से हमें शान्ति, पवित्रता, आनन्द, भगवत्-प्रेम, आलोक, कल्याण, सद्भावनाओं तथा सद्विचारों का अक्षयदान प्राप्त होता रहेगा। जैसा मैंने "उत्तरा" की भूमिका में भी लिखा है, "हमारा देश अन्तर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है।" मुझे गंगा-तट पर जो भस्म रमाए हुए जटाधारी साधु एक हाथ ऊपर उठाये हुए या लोहे की प्रखर शलाकाओं पर लेटे मिलते हैं, उन्हें भी मेरा मन अपने देश के देह-मन के सत्य सम्बन्धी प्रयोक्ताओं के रूप में ही देखता है जिसकी उपलब्धि हम अब अधिक श्रेष्ठ साधनों से कर सकते हैं।"[12]

पन्त जी के इस उद्धरण से हमें उनके इस विचार का संकेत मिलता है कि अन्तर्मन तथा अन्तर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए हमें तपोवनों तथा साधना-संस्थानों की स्थापना करनी चाहिये जहाँ से सद्भावनाओं तथा सद्विचारो

का अक्षयदान प्राप्त किया जा सके . उनके इस उद्धरण से उनके उस उद्देश्य का सकेत भी हमें मिल जाता है जिसकी प्रेरणा से वह साधु, महात्माओं के सम्पर्क मे आते थे तथा बाद में अरविन्द-आश्रम में जाकर रहे।

अन्तर्मन तथा अन्तर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए जिस ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता की बात पन्त जी ने कही है वह उनके जीवन में भी घटित हुई थी, इसके संकेत हमें उनकी परवर्ती रचनाओं की भावभूमि में बहुत स्पष्टता से मिलते हैं। "स्वर्णकिरण" तथा "स्वर्णधूलि" मे पन्त जी की आत्मा का मुक्त उल्लास, साधना की तल्लीनता तथा शाश्वत जीवन-जागृति की स्फूर्ति अभिव्यक्त हुई है। उन्हें जीवन की पूर्णता में स्वर्णिम आभा तथा एक नया आलोक फूटता दिखाई देता है—

"यह छायाभा है अविच्छिन्न
यह आँख-मिचौली चिर सुन्दर,
सुख-दुख के सुरधनु रंगों की,
स्वप्न सृष्टि अज्ञेय, अमर।"[13]

"युगपथ", "उत्तरा" आदि अन्य परवर्ती कृतियों में उनके आत्मभाव की परिधि क्रमशः व्यापक होती गयी है। जीवन का स्थूल अर्थ, यथार्थता तथा अनुक्रम मानों मिट गया है और उनके स्तब्ध प्राण किसी अति-मानवी एवम् अलौकिक परिव्याप्ति तथा अन्तर्मन किसी दिव्य सत्य से अनुप्राणित प्रतीत होता है। जीवन के स्थूल पहलुओं को लाँघकर वह एक विशाल आत्मा के अन्तर्साक्ष्य में रम गये हैं।

वैयक्तिक सीमा के भीतर अन्तर्मन के संगठन-संयोजन को ही पन्त जी पर्याप्त नहीं मानते थे। "सत्यकाम" शीर्षक उनकी रचना में सत्यकाम कहता है—

"योगसाधना, ब्रह्मचर्य से, यम नियमों से
इष्ट सिद्धियाँ प्राप्त कर चुका मैं, गुरूवर की
महत् कृपा से! किन्तु नहीं संतोष हृदय को।
×   ×   ×
क्रम विकास की पृष्ठभूमि में, भू-जीवन की
वस्तु परिस्थितियाँ सँवारते रहना प्रतिक्षण
आध्यात्मिक साधना, योग, तप, त्याग यही है,
यही विश्व-मंगल, मानव-मंगल का वाहक।"[14]

सामूहिक मुक्ति के बिना केवल आत्ममुक्ति सम्पूर्ण साधना के पंथी पंतजी को अधूरी प्रतीत होती है और केवल आत्ममुक्ति के लिए की जाने वाली ध्यान-साधना उन्हें निरर्थक प्रतीत होने लगती है। इसका संकेत "सत्यकाम" की निम्नोद्धृत पंक्तियों से भी मिलता है—

"कृत्रिम लगता ध्यान-साधना पथ अब उसको,
महा प्रकृति से आत्मयुक्त होना ही उसको
परम योग लगता अब, जग के साथ संतुलन
हृदय कर सके स्थापित, व्यक्ति समाज बनाये,
जन समाज इतिहास बनाये, नित आरोहण
करे विश्व-इतिहास शुभ्र अध्यात्म शिखर को।"[15]

इन उदाहरणों से निर्भ्रान्त रूप से यह बात सिद्ध हो जाती है कि पन्त जी पूरे विश्व-इतिहास को शुभ्र अध्यात्म-शिखर तक पहुँचाना चाहते थे; उनकी साधना केवल आत्मसाधना न होकर विश्व-साधना थी। अपनी इस विश्व-निष्ठा के कारण पन्त जी कर्म को भी साधना के समान ही महत्त्व देते थे। उनके विचारानुसार जीवन-प्रांगण मानवता तथा समाज की दृष्टि से पहले सत्कर्म का क्षेत्र है तब कुछ और। इसी सत्कर्म पर आज दुनिया टिकी है। पन्त जी ऐसा मानते थे कि साधना चाहे जैसी भी हो और जिस स्तर की हो यदि उसके साथ कर्म सम्पृक्त नहीं होता है तो वह निरर्थक है। "सत्यकाम" में ही उन्होंने कहा है—

"बिना कर्म के भक्ति-भाव मृगतृष्णा भर है
जो न जगत्-जीवन को कर सकती अभिसिंचित,
व्यक्ति उन्नयन के दोनों ही श्रेयस्कर पथ,
कर्म हीन हो मनुज-समाज न उन्नति करता
वह अभाव में रहता प्रभु—महिमा से वंचित।"[16]

पन्त जी की कर्मनिष्ठा के परिचय में उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"सुगृही बनने को अपरिहार्य
सत्कर्म निरत जीवन चिन्तन,
इस सियाराम मय जग ही में
साधक को पाने प्रभु-दर्शन।"[17]

"आस्था" शीर्षक अपनी रचना मे पन्त जी ने सत्कर्म को वेदिक ओपनिषदिक दर्शन का सार तत्त्व माना है—

"कर्म खोज मन,
कर्म खोज नित भू रचनात्मक
कर्म खोज तू,
यही सार वेदों शास्त्रों का"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी में धरती से पलायन करने की अपेक्षा धरती तथा स्वर्ग को मिलाने की भावना अधिक प्रबल है। पन्त जी ऊर्ध्वारोहण के लिए उत्सुक थे। आध्यात्मिक चेतना के उद्‌बोधन का स्वर उनमें प्रमुख था; किन्तु जीवन एवं जगत् से पृथक् रहने की आकांक्षा उनमें नहीं थी। वह समतल जीवन-मूल्यों से पूर्णतः उदासीन होकर ऊर्ध्वारोहण में लीन होना नही चाहते थे। वह तो आध्यात्मिक तत्त्व का नव-आलोक ग्रहण कर भौतिक ससार का नव-निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित थे। उनका नव-अध्यात्म सौन्दर्य के अवगुंठन में सांसारिक जीवन की स्वीकृति और भौतिक यथार्थ तथा मानव-कल्याण को अपनाये हुए है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"मेरा काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य नहीं है और यदि है भी तो प्राचीन रूढ़ अर्थ में नहीं है, जिसमें अध्यात्म वैराग्य के सोपान पर अन्न, प्राण, मन की श्रेणियों को पार कर केवल ऊर्ध्वमुख चिदाकाश की ओर आरोहण करता है। मेरे द्वितीय उत्थान के काव्य के लिए उपयुक्त संज्ञा होगी "नवीन-चेतना-काव्य" जिसके अन्तर्गत मानव-जीवन-मन के उच्च एवं समदिक् दोनों स्तर की संस्कृत, संतुलित, व्यापक सामाजिकता तथा नव-मानवता के तत्त्व वर्तमान हैं।"[18]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी का व्यक्तित्व एक साधनानिष्ठ व्यक्तित्व था। सृष्टि के मूल में निहित भागवत चेतना को वे न केवल अपनी चेतना में प्रतिष्ठित करना चाहते थे बल्कि उसे सम्पूर्ण सृष्टि में प्रत्यक्ष रूप से भासमान देखना चाहते थे। पन्त जी का काव्य व्यापक चैतन्य के इसी लक्ष्य का साधन है जिसके द्वारा उन्होंने आत्मविकास की सिद्धि के साथ-साथ लोकविकास की प्रवृत्तियों को अभिप्रेरित करने का प्रयास भी किया है।

पन्त जी ने साधना के जिस स्वरूप की परिकल्पना की थी और उसका जो लक्ष्य निर्धारित किया था, उसे मानक मानकर निर्णय करें तो यही मानना होगा कि पन्त जी साधना-निष्ठा की आत्यंतिक गम्भीरता और तीव्रता के लक्ष्य

तक तो पहुँच गये थे किन्तु अपने निज के मानक के अनुरूप उन्हें सिद्धि प्राप्त नही हुई थी, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व-जीवन के समदिक् और ऊर्ध्व विकास का सतुलित रूप उनके पार्थिव जीवन-काल तक प्रत्यक्षतः प्रकट नहीं हुआ था। किन्तु साधना और सिद्धि के सामान्य मानदण्ड को आधार बनाकर यदि निर्णय दिया जाय तो उनका काव्य और उनकी गद्यात्मक रचनाएँ इस बात का निश्चित प्रमाण देती हैं कि वह वैयक्तिक आत्म-चेतना के पूर्ण विकास और प्रसार के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर चुके थे और इस दृष्टि से उन्हें आत्ममुक्तिरूपी सिद्धि प्राप्न हो चुकी थी। वह ऊर्ध्वारोहण के लक्ष्य तक पहुँच गये थे और अपनी काव्य-साधना के माध्यम से अपनी उस ऊर्ध्व-चेतना को व्यापक भू-जीवन मे समाविष्ट करने के प्रयास में लगे हुए थे। पन्त जी आत्मा की अमरता और भू-जीवन के साथ उसके अविच्छिन्न सम्बन्ध और एकाकार को मानते थे। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि उनका दिव्य चैतन्य किसी-न-किसी रूप मे अब भी साधना-सक्रिय है और तब तक रहेगा जब तक सम्पूर्ण जीवन के समदिक् और ऊर्ध्व विकास का उनका स्वप्न साकार नहीं हो जाता।

सन्दर्भ-संकेत



1. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 6, जीवन के अनुभव और उपलब्धियाँ नामक निबन्ध, पृ. 462, प्र. सं. 1979
2. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, दिव्य दृष्टि नामक लेख, पृ. 448, प्र. सं. 1979
3. सु पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, गीत संख्या 45, पृ. 164
4. स्वर्ण-किरण : अशोक वन, पृ. 158
5. चिदम्बरा : चरणचिह्न, सु. पन्त, पृ. 29-30
6. स्वर्ण-किरण : स्वर्णोदय, पृ. 146
7. युगपथ : अमर स्पर्श, पृ. 92
8. कला और बूढ़ा चाँद : जीवन-बोध कविता, पृ. 110-111

9. कला और बूढ़ा चाँद : भावावेश कविता, पृ. 123
10. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—सु. पन्त, पृ. 78, प्रथम संस्करण
11. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन—पृ. 78
12. चिदम्बरा : चरणचिह्न, पृ. 32-33, प्रथम संस्करण 1958
13. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि : छायाभा कविता, पृ. 310
14. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम : प्राणब्रह्म, पृ. 352, प्र. स. 1979
15. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम : जीव-ब्रह्म, पृ. 388
16. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम : गुरुकुल, पृ. 415
17. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, गीत संख्या 31, पृ. 155
18. चिदम्बरा : चरणचिह्न, पृ. 29, प्रथम संस्करण 1958

चतुर्थ अध्याय

पन्त जी के उपासना सम्बन्धी विचार

सामान्य भाषा-प्रयोग में "साधना" और "उपासना" इन शब्दों को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में व्यवहृत करने की प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु थोड़ी सूक्ष्मता से विचार करने पर और व्यापक वाङ्मय में इन शब्दों के प्रयोग की परम्परा पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द सर्वथा समानार्थी नहीं हे। भाषा-वैज्ञानिक तथ्य तो यह है कि किसी भाषा के कोई भी दो शब्द एक दूसरे के पूर्ण पर्याय अथवा पूर्णतः समान अर्थ वाले नहीं होते। प्रत्येक शब्द की अपनी व्युत्पत्ति तो होती ही है, उसका अपना इतिहास भी होता है, जो उसे अर्थ की एक निजी परिधि और भंगिमा प्रदान करता है। सूक्ष्म अर्थ-भेद की दृष्टि से साधना शब्द की अर्थ-परिधि अधिक व्यापक है, जिसके भीतर उपासना शब्द के अर्थ का भी समाहार हो जाता है। केवल शब्द की दृष्टि से ही नहीं, क्रियात्मक रूप में भी साधना के अन्तर्गत उपासना के अतिरिक्त कुछ अन्यप्रकार के क्रिया-कलाप भी स्थान पाते हैं। साधना के प्रसंग में चर्चा करते हुए पहले यह सकेत किया गया है कि शिथिल अर्थ में किसी भी काम्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले प्रयास को साधना कहने का चलन हमें मिलता है। अपने संकुचित तथा विकृत स्वार्थों की सिद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयासों को भी लोग साधना की संज्ञा दे देते हैं, किन्तु उसी चर्चा में साधना के वास्तविक स्वरूप का परिचय देते हुए यह भी कहा गया है कि निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले मानवीय प्रयास को ही साधना कहते हैं। जिस प्रयास के द्वारा किसी ऊर्ध्व अथवा श्रेय लक्ष्य की सिद्धि हो, उसी प्रयास को साधना कहना सार्थक है। साधना का क्षेत्र केवल मानसिक प्रयासों तक ही सीमित न रहकर कायिक प्रयासों को भी अपने भीतर अन्तर्भुक्त करता है। साधना शब्द के अर्थ को उसकी सम्पूर्ण व्यापकता में लें तो जीवन को बाहरी विकास और पोषण देने वाले कर्म भी उसकी सीमा में स्थान पा जाते हैं।

साधना का एक अंग कर्म-साधना भी है।

कर्म-साधना का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार से है, जो मानव-प्रयास की व्यक्तिगत परिधि से निकलकर समाज के व्यापक क्षेत्र में अपनी सार्थकता ढूँढ़ता है। धर्म की परिधि में मानव के व्यक्ति-केन्द्रित तथा समाज-केन्द्रित दोनों ही प्रयास आते हैं। धर्म के व्यक्ति-केन्द्रित प्रयास का स्वरूप ही साधना का स्वरूप है, जिसके सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों का विवरण पिछले परिच्छेद में दिया जा चुका है। चित्त-शुद्धि के निमित्त विधि के रूप में अपनाये जाने वाले अन्य ऐन्द्रिक कर्मों को भी साधना की सीमा में ही ग्रहण किया गया है। धर्म के समाज-केन्द्रित प्रयासों के सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों को आगामी अध्यायों में उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक विचारों के रूप में विवृत किया जायेगा। प्रस्तुत परिच्छेद में धर्म के व्यक्ति-केन्द्रित प्रयास के उस अवयव के सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसका सम्बन्ध साधना के विशिष्ट रूप उपासना से है।

पारिभाषिक अर्थ में साधना शब्द का प्रयोग मानवीय चेतना के परिष्कार और ऊर्ध्व विकास के निमित्त किये जाने वाले प्रयासों के लिए ही होता है। चित्त के परिष्कार और उसमें सत्य के समग्र रूप को उद्भासित करने के लिए काया-शुद्धि की अपेक्षा का अनुभव करते हुए यम, नियम, आसन और प्राणायाम जैसे साधना के कायिक प्रयासों का विधान भी हमें साधना-शास्त्र में मिलता है, जिनके साधन से ध्यान, धारणा और समाधि की चैतस् स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। साधना के अन्तर्गत सत्य-स्वरूप के बोध के लिए अध्ययन और मनन का भी स्थान है। चित्त के विकास और परिष्कार के विविध साधनों में से एक साधन उपासना भी है। उपासना से संबंधित हर मानसिक और कायिक व्यापार साधना का ही अंग होता है किन्तु साधना से संबंधित हर मानसिक और कायिक क्रिया-कलाप उपासना का अंग माना जाय, ऐसा नहीं है।

उपासना का क्षेत्र मुख्यतः मनुष्य की अनुरागात्मक भाववृत्ति है। उपासना सत्य की प्रतीति तक ही सीमित न रहकर सत्य के प्रति अनुरक्ति की भी आकांक्षा करती है और उस अनुरक्ति की नित्य विकासमानता और चरम तीव्रता को ही अपना परम लक्ष्य मानती है। ज्ञान-साधना के क्षेत्र का सत्य उपासना में ईश्वर अथवा परमात्मा बन जाता है और उस परमात्मा से अनुराग का सम्बन्ध स्थापित करके साधक उपासक बन जाता है। इस दृष्टि से उपासक के भाव को भक्ति-भाव और उस भाव से प्रेरित मानसिक और कायिक क्रिया-कलाप को

उपासना कहा जा सकता है। भक्ति-साधना ही वास्तव में उपासना है। ज्ञान-साधना और कर्म-साधना उपासना के लिए साधन रूप में अपेक्षित होते हुए भी उपासना के तात्त्विक अंग नहीं हैं।

साधना और उपासना के अर्थ में पाये जाने वाले इस सूक्ष्म अंतर को ध्यान में रखते हुए ही सुमित्रानन्दन पन्त के साधना सम्बन्धी व्यवहार एव विचार की चर्चा करने के बाद उपासना के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण और विचारों का संकेत यहाँ पृथक् रूप से देने की अपेक्षा प्रतीत होती है। साधना और उपासना के स्वरूप भेद से पन्त जी भी परिचित थे। "रजत शिखर" नामक अपने काव्य-रूपक में अपने प्रतिनिधि पात्र युवक के द्वारा उन्होंने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखा है—

> "साधक अब मैं नहीं नम्र आराधक भर हूँ।
> साधक मेरे पूजनीय हैं, ऊर्ध्वारोही—
> समतलगामी जगत् प्रणत है जिनके पद पर।"[1]

इसी क्रम में उन्होंने आगे लिखा है—

> "आराधक बन सकूँ प्रणत मैं दिव्य ज्योति का,
> जो इस मृण्मय धरा दीप की अमर शिखा है,
> जिसकी करुणा किरणों के अन्तःस्पर्शों से
> इस द्रोणी का तम स्वप्नों में दीपित होता।"[2]

इस तरह की और कितनी ही पंक्तियाँ पन्त जी की रचनाओं से उद्धृत की जा सकती हैं जिनसे हमें इस बात का स्पष्ट परिचय मिलता है कि पन्त जी साधना और उपासना के अन्तर को जानते और मानते थे। ऊपर उद्धृत पक्तियों में उपासना शब्द का प्रयोग न होकर आराधना शब्द का प्रयोग हुआ है जो उपासना के अभिप्राय को ही अभिव्यक्त करता है।

उपासना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बीसवीं शताब्दी के सर्वप्रमुख सन्त श्री हरिबाबा जी ने कहा है—"जिस क्रिया के द्वारा हम अपने को अपने इष्ट के साथ विराजमान कर सकें, उसी का नाम है उपासना। "उप समीपे आसना स्थितिः इति उपासना।" भाव-प्रवण मन से उपासना करें या उपासना से मन मे भाव-प्रवणता हो, अधिकारी भेद से दोनों प्रकार की बात सम्भव है। उत्तम अधिकारी सिद्ध भक्तों के मन में तो पहले से ही भावप्रवणता होती है। अत उनकी उपासना सहज एवं सरल होती है; वह अबाध रूप से सरिता की प्रबल

धारा की तरह निरन्तर अपने इष्ट की ओर बहती रहती है। किन्तु साधक भक्त के मन में भावप्रवणता पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती, प्रज्ज्वलित अग्नि के समान उसका रूप नहीं होता।............सिद्ध भक्तों के, रसिकों के सत्संग से उनके मन में भी भावप्रवणता धीरे-धीरे उसी तरह प्रज्ज्वलित पावक का रूप धारण कर सकती है। अतः किसी कोटि के साधक को भी निराशा का भाव मन मे नहीं लाना चाहिये। रुचि हो या न हो, अपनी साधना में लगे ही रहना चाहिये।"[3]

पूज्य हरि बाबा के इस उद्धरण से उपासना के स्वरूप का परिचय तो हमे मिलता ही है, साधना और उपासना के स्वरूप के भेद का संकेत भी हमें प्राप्त होता है। हरि बाबा जी ने कहा है कि उत्तम अधिकारी सिद्ध भक्तों के मन मे तो पहले से ही भावप्रवणता होती है। इसका आशय यह है कि भावप्रवणता साधना की सिद्धि के रूप में प्राप्त होती है। यहाँ बाबा जी ने उपासना को साधना का ही एक अंग बताया है। जब तक प्रज्ज्वलित अग्नि के समान भावप्रवणता पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती तब तक की उपासना साधना का अंग होती है। हरि बाबा के अनुसार सिद्ध भक्तों के और रसिकों के सत्संग से साधकों में भी भावप्रवणता धीरे-धीरे प्रज्ज्वलित पावक का रूप धारण कर लेती है। जब तक भावप्रवणता जाग्रत् नहीं होती तब तक उपासक अथवा भक्त साधक कोटि में रहता है।

हरिबाबा के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि उपासना के लिए मन में भावप्रवणता का होना आवश्यक है, उसके बिना उपासना असम्भव है। हरि बाबा की दृष्टि में भाव-प्रवणता के जाग्रत् होने का एक उपाय स्वयं उपासना ही है। भावप्रवणता की प्राप्ति के लिए की जाने वाली उपासना साधना का ही एक प्रकार है। हरि बाबा की दृष्टि में उपासना का सिद्ध-रूप ही साधना का परम लक्ष्य है, जब साधक उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ वह अपने को अपने इष्ट के निकट विराजमान पाता है। श्रीमद् भगवद्गीता के बारहवें अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों में उपासना के दो स्वरूपों का परिचय दिया गया है। श्लोक इस प्रकार हैं–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।

उपरि उद्धृत श्लोकों में पहले श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि "जो सतत युक्त भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं और जो तुम्हारे अव्यक्त अक्षर रूप की उपासना करते हैं, उनमें से श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है?" इस पर भगवान् कृष्ण उत्तर देते हैं कि "जो परम श्रद्धा से मुझमें अपने मन को स्थित करके और निरन्तर मुझसे युक्त रहते हुए मेरी उपासना करते हैं, वे उत्तम योगी के रूप मे मुझे मान्य हैं। जो लोग अपने इन्द्रिय-समूह को नियन्त्रित करके सर्वत्र समबुद्धि से सर्वव्याप्त, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अक्षर, अनिर्देश्य और अव्यक्त रूप की उपासना करते हैं और सम्पूर्ण भूतों के हित में रत रहते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।"

इन श्लोकों में निहित अभिप्राय की यदि हम विवेचना करें तो हमें यह दिखायी देता है कि कृष्ण रूप में साकार परमात्मा को अर्जुन ने तुम कहकर सम्बोधित किया है और निराकार ब्रह्म को अव्यक्त और अक्षर कहा है। साकार और निराकार दोनों ही रूपों में परमात्मा की उपासना करने वालों को उन्होंने योगवेत्ता और भक्त कहा है और यह जानना चाहा है कि उक्त दोनों रूपों में से किस रूप के उपासक को आप श्रेष्ठ मानते हैं। श्रीकृष्ण ने अपने उत्तर में सगुण भक्त को युक्ततम बताया है और यह भी कहा है कि निराकार उपासक भी मुझे ही प्राप्त करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि साकार उपासना के निमित्त उन्होंने केवल यह आवश्यक बताया है कि भक्त मेरे में अपने मन को आविष्ट करे और निरन्तर मुझसे जुड़ा रहे जबकि निराकार उपासना के निमित्त उन्होने इन्द्रिय-संयम, ब्रह्म के स्वरूप-चिन्तन, सम्पूर्ण भूतों के हित में रति और सबमें समबुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया है। श्रीकृष्ण के उत्तर से यह संकेत मिलता है कि साकार उपासना अपने आप में साधन और सिद्धि दोनों है जबकि निराकार उपासना के लिए अन्य साधनाओं द्वारा इन्द्रिय-संयम, परमात्म-बोध, सर्वत्र समबुद्धि तथा सर्वभूत-हित में रति की अपेक्षा होती है और परमात्मा के साथ संयोग की आकांक्षा होती है। सगुण उपासना में भगवान् के आकारयुक्त अवतारी रूप के प्रति संयोग की आकांक्षा रहती है और दूसरी में सर्वगत सर्वाकार विश्वरूप भगवान् में निरन्तर रति की अपेक्षा होती है। परमात्मा में रति

उपासना का आवश्यक गुण है जिसे पूज्य हरि बाबा ने भावप्रवणता कहकर सकेतित किया है।

शब्दकोश में भक्ति का अर्थ बताते हुए "पूज्यादिष्वनुरागो भक्तिः" और "स्वरूपानुसंधानं भक्तिः" जैसे वाक्य मिलते हैं, जिनके अनुसार पूज्य के प्रति अनुराग, प्रेम, स्नेह आदि तो भक्ति है ही, अपने स्वरूप का अनुसंधान भी भक्ति हे। स्वस्वरूप के अनुसंधान में भी प्रेम का तत्त्व स्वाभाविक रूप से आ ही जाता है क्योंकि अपने आप से प्रेम होना सहज सिद्ध है।

ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री कृष्ण-बोधाश्रम जी के मतानुसार भक्ति दो प्रकार की होती है। एक को उन्होंने अनुरागात्मिका फलरूपा भक्ति और दूसरी को उन्होंने साधन-भक्ति का नाम दिया है और कहा है कि अनुरागात्मिका फलरूपा भक्ति साधन-भक्ति के अनुष्ठान से सिद्ध हो जाती है, उसके लिए विधानान्तर अपेक्षित नहीं है, साधन-रूपा भक्ति के लिए शुभ साधनो की अपेक्षा उन्होंने अवश्य बतायी है।"[4]

श्री कृष्णबोधाश्रम जी के इस अभिमत से श्री हरि बाबा के पूर्वोद्धृत मत की ही पुष्टि होती है। इन दोनों विचारकों ने उपासना और भक्ति इन दोनों शब्दों को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है और उनका ऐसा करना सगत भी है।

पन्त जी के जीवन और रचनाओं के समग्र अध्ययन से हमें यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वह निरन्तर अध्ययन, मनन, सत्संग तथा ध्यान-साधना के सोपान पार करते हुए आराधना अथवा उपासना के शिखर पर पहुँचे थे। उनकी उपासना श्रीमद्-भगवद्गीता के पूर्वोद्धृत श्लोकों में से तीसरे और चौथे श्लोक मे वर्णित निराकार उपासना के अधिक निकट की वस्तु प्रतीत होती है। निराकार शब्द का वास्तविक अर्थ सर्वाकार ही है क्योंकि आकारहीन के प्रति किसी प्रकार के लगाव की संभावना हो ही नहीं सकती। पन्त जी ईश्वर और सृष्टि को अभिन्न मानते थे। उनके साधना सम्बन्धी विचारों की चर्चा में उनकी "छायावादः पुनर्मूल्यांकन" नामक रचना से एक उद्धरण दिया गया है जिसमे उन्होंने कहा है कि—"वैसे भी मैं जगत्-जीवन से ईश्वर-तत्त्व या परम-चैतन्य को विच्छिन्न कर आत्मा की अधिभूमि पर साक्षात्कार से प्राप्त सत्य-बोध को अर्द्ध-सत्य-बोध ही मानता हूँ और जागतिक जीवन के पूर्ण विकसित रूप मे ही ईश्वर-दर्शन या साक्षात्कार को क्रमशः सम्भव मानता हूँ, जैसा कि मैंने "उत्तरा", "अतिमा", "वाणी" के प्रगीतों में तथा "लोकायतन" में भी पूर्ण रूप से

व्यक्त किया है।" उसी प्रसंग में पन्त जी ने यह भी कहा है कि—"मैं राम तथा कृष्ण आदि के चैतन्य स्वरूप को भी उस पूर्ण जीवन-सत्य का खण्ड-विकसित रूप ही मानता हूँ।"

पन्त जी के उपासना-भाव को निराकारोपासना-भाव कहने से भ्रान्ति होने की सम्भावना है, अतः उसे सर्वोपासना कहकर संकेतित करना ही समुचित प्रतीत होता है। उनका प्रेम किसी अवतारी विग्रह के प्रति न होकर सर्वव्याप्त भागवत-रूप के प्रति था। इस तथ्य को पुष्ट करने वाले कितने ही उद्धरण इस प्रबन्ध के तत्त्वदर्शन, धर्म तथा साधना आदि के प्रसंगों में दिये जा चुके है। प्रस्तुत प्रसंग में केवल यह प्रमाणित करने की अपेक्षा है कि वह चिन्तन और ध्यान जैसी साधना-पद्धतियों के माध्यम से अनुरागात्मिका फलरूपा उपासना के सोपान तक पहुँच गये थे। चेतना के संतुलित और सम्पूर्ण विकास के फलस्वरूप उनके भीतर सम्पूर्ण जीवन और सत्ता के प्रति अशेष एवम् गहन अनुरक्ति जाग्रत् हुई थी तथा उनके हृदय में सम्पूर्ण सत्ता में निहित सत्य, शिव और सुन्दर का दिव्य रूप अपनी परिपूर्णता में उद्भासित हुआ था। सम्पूर्ण सत्ता के उस दिव्य भागवत रूप की प्रतीति उनके भीतर इतनी सघन हो गयी थी कि उसने उनकी चेतना में एक व्यक्तित्व का रूप धारण कर लिया था, जिसे वे व्यक्ति रूप में अपने काव्य में बार-बार सम्बोधित करते और उससे प्रार्थना करते अथवा बातचीत करते पाये जाते हैं। उस दिव्य रूप के प्रति उनका अनुराग प्रायः आसक्ति की सीमा तक पहुँचा हुआ दिखाई देता है। व्यापक सत्ता के प्रति यह अनुरक्ति पन्त जी में सहसा प्रकट हुई हो, ऐसी बात नहीं है। उनकी आरम्भिक रचनाओं में भी हमें व्यापक आध्यात्मिक चेतना के संकेत मिलते हैं।

उनकी पहली रचना "हार" नामक उपन्यास में उसका नायक भविष्य पुजारी से प्रश्न करता है—"जो आपने अन्त में कहा कि ईश्वर-भक्ति ही प्रेम की चरमावस्था है, तो क्या विश्व-प्रेम ईश्वर-भक्ति नहीं है? क्या ईश्वर-भक्ति उससे भिन्न है?"[5] इस पर पुजारी उत्तर देता है कि—"विश्व-प्रेम ईश्वर-भक्ति का एक खण्ड है। किन्तु ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति के लिए इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कोई ईश्वर-भक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। सारे विश्व की भक्ति करना एक तरह से ईश्वर-भक्ति करना है।"[6] इसी प्रसंग में पुजारी आगे भी कहता है—"यथार्थ में मनसा-वाचा-कर्मणा विश्व की सेवा करना तथा दूसरों का उपकार करना ही धर्म अर्थात् कर्त्तव्य है। जब जीव इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है और जब उसका प्रेम उससे भी उन्नत होने लगता है, तब वह अपने

लिए एक और प्रेम-पात्र को ढूँढ़ता है अर्थात् जब वह मनसा-वाचा-कर्मणा "सर्वेषाम् च हिते रतः" हो जाता है; जब वह अपने द्वेष-कामादि को जीत लेता है, जब वह क्षमा, दया, उदारता आदि सात्त्विक गुणों से अपने को अलंकृत कर मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेता है तब वह देवत्व को पाने की इच्छा करता है। तब वह मनुष्यत्व का पालन करते हुए तथा लोक-सेवा करते हुए भी साथ-ही-साथ अपने प्रेम को अधिक उन्नत कर ईश्वर की ओर लगाता है, उसकी प्राप्ति के लिए लगाता है। इसी प्रेम को ईश्वर-भक्ति कहते हैं। तब मनुष्य "सर्वधर्मान् परित्यज्य" अर्थात् अपने सब गौण कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर उस महान् कर्त्तव्य मे, ईश्वर की शरण में चला जाता है। वह पहले-पहल प्रस्तर की मूर्तियों में उस निराकार की कल्पना कर अपनी प्रवृत्ति उस ओर लगाता है।..............इस प्रकार वह अपनी अन्य गौण क्रियाओं को ईश्वर ही में अर्पण कर देता है। यही श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददाति यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेयः तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

इस प्रकार जब उस ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसे शान्ति मिल जाती है। उससे उन्नत अवस्था प्रेम की और नहीं होती। इस अवस्था में जीव ईश्वर में लय हो जाता है।"[7]

"हार" के उपर्युक्त उद्धरण पर जब हम ध्यान देते हैं तो यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि अपनी किशोरावस्था में ही पन्त जी का चिन्तन कितना गम्भीर रूप धारण कर चुका था। "हार" की रचना पन्त जी ने पन्द्रह वर्ष की आयु में की थी। "श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों में निहित तात्पर्य तभी उनकी चेतना में स्पष्ट रूप से समाहित हो गये थे। गीता के बारहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में जो जिज्ञासा अर्जुन ने कृष्ण के समीप की थी, वही जिज्ञासा "हार" का नायक भविष्य पुजारी जी के निकट करता है और पुजारी जी गीता की स्थापनाओं के आधार पर ही उत्तर देते हैं। अल्पवय किशोर पन्त के मन में इस तरह के विमर्श का उठना उनकी जन्मजात आध्यात्मिक प्रवृत्ति का परिचय देता है। अपने उस किशोर वय में पन्त जी ने विश्व-प्रेम को ईश्वर-भक्ति का एक खण्ड माना था किन्तु अपने चेतना-विकास के पथ से गुज़रते हुए उन्होंने विश्व और ईश्वर के अविच्छेद्य एकत्व की प्रतीति कर ली और तब उन्हें राम और कृष्ण आदि के चैतन्य स्वरूप भी पूर्ण जीवन-सत्य के खण्ड-विकसित रूप ही प्रतीत होने लगे और "हार" के पुजारी

द्वारा संकेतित ब्रह्मात्मैक्य विश्वैक्य के रूप में परिणत हो गया।

"वीणा" के एक गीत में उन्होंने परम-सत्ता के प्रति अपने समर्पण-भाव को व्यक्त करते हुए लिखा था—

"मुझे सौंपने दो तुमको
अपनी वांछाएँ रज-कण सी
होने दो निश्चिन्त निडर।"[3]

"वीणा" भी उनकी आरम्भिक कृति ही है और उसमें भी उनकी किशोर-वय की रचनाएँ ही संकलित हैं। उस काल के मनोभाव के अनुरूप उन्होंने अपनी वांछाओं को रज-कण कहकर कुछ हेय भाव से वर्णित किया है जो कालान्तर में भू-भागवतनिष्ठा से जुड़कर परिवर्तित हो गया। उपासना का प्रमुख भाव परम-सत्ता के प्रति समर्पण का भाव माना जाता है जिसका संकेत "वीणा" की इन पंक्तियों में कितने स्पष्ट रूप से मिलता है।

इष्ट के साथ किसी-न-किसी रूप में आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना उपासना अथवा भक्ति का एक आवश्यक तत्त्व है। दास्य-भाव की उपासना में इष्ट को अपना स्वामी और अपने को सेवक, सख्य-भाव की उपासना में इष्ट को अपना सखा और अपने को उसका सखा तथा वात्सल्य भाव की उपासना में इष्ट को अपना पुत्र या पिता और अपने आपको उसका पिता या पुत्र तथा मधुर-भाव की उपासना में इष्ट को अपना प्रियतम और अपने को उसका प्रेमी मानकर उससे आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा जाता है और उसी के आधार पर प्रेमानुभूति की जाती है।

"शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेव च।
अमी पंचरसाज्ञेयाः प्रोक्ता वै रसवेदिभिः।।"

"सिद्धान्तरत्नांजलि" नामक भक्ति-ग्रंथ की दशश्लोकी टीका के चतुर्थ परिच्छेद के उक्त श्लोक में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं उज्ज्वल-भाव के अतिरिक्त शान्त भाव की भक्ति का भी उल्लेख किया गया है। उज्ज्वल-भाव मधुर-भाव का ही दूसरा नाम है। भक्ति में शान्त-भाव की स्थिति कुछ विडम्बनापूर्ण मालूम पडती है। अनुरक्ति भक्ति का लक्षण है जबकि शान्तभाव में स्थायी भाव के रूप में निर्वेद की चर्चा की गयी है। इसी कारण शान्त-भाव के भक्ति-वचन प्रायः कम मिलते हैं। ज्ञानात्मक प्रतीतियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति निराकारोपासक सन्तों की वाणियों में अवश्य पायी जाती हैं जिनमें परम-सत्ता के

साथ आत्मा के अभिन्न एकत्व का शान्तअनुभूतिपरक वर्णन मिलता है।

परम-सत्ता के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति पन्त जी की रचनाओं में हमें आरम्भ से ही देखने को मिलती है। अपनी आरम्भिक रचना "वीणा" में उन्होंने परम-सत्ता को माँ के रूप में सम्बोधित करते हुए कहा है–

"तेरी आभा को पाकर माँ!
जग का तिमिर त्रास हर दूँ–
नीरव रजनी में निर्भय।"[9]

परम-सत्ता को माँ के रूप में देखने और मानने की प्रवृत्ति पन्त जी को अपनी जन्म-भूमि और पारिवारिक परिवेश से प्राप्त हुई थी। अल्मोड़ा-क्षेत्र मे शक्ति की उपासना की प्रधानता मिलती है। पन्त जी ऋग्वेदीय चितपावन ब्राह्मण थे। उनके पिता गंगादत्त जी यों तो परम वैष्णव थे किन्तु कुल-परम्परा से शाक्त होने के कारण शिव और शक्ति की समान भाव से उपासना करते थे। वह एक ओर जहाँ "विष्णु सहस्रनाम" और "गीता" का नित्य पाठ किया करते थे वहीं नवरात्र में दुर्गाशप्तशती का पाठ भी किया करते थे। वैष्णव होते हुए भी शक्ति की उपासना की प्रेरणा श्री गंगादत्त जी को क्षेत्रीय परिवेश से ही प्राप्त होती थी। पन्त जी ने "साठ वर्षः एक रेखांकन" शीर्षक अपनी आत्मकथात्मक कृति में स्वयं कहा है–

"आँखें मूँद कर जब अपने किशोर-जीवन की छायावीथी में प्रवेश करता हू तो नीली प्लेटों से पटी, ढालू छत के पहाड़ी घर का चारदीवारी से घिरा छोटा-सा आँगन पलकों में नाचने लगता है। एक ओर पत्थर का चबूतरा, दूसरी ओर छोटा-सा मन्दिर है। चबूतरे पर बैठा मैं पढ़ता हूँ और काँस की ढेरी-सी गोरी बूढ़ी दादी की गोद में सिर रखकर साँझ के समय दन्तकथाएँ और देवी-देवताओं की आरती के गीत सुनता हूँ। उनकी क्षीण दन्तहीन कण्ठध्वनि–"माई के मन्दिरवा में दीपक बारूँ" या "हो रही हे जै-जैकारी शिवा तेरे बाँके भवन मे" पहाड़ी झुटपुटे में अब भी नींद लाने वाली झींगुर की झंकार-सी गूँज रही है।"[10]

उपर्युक्त पंक्तियों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी के बाल-मन पर अज्ञात रूप से ही परम-सत्ता के मातृरूप के प्रभाव-संस्कार पड़ गये थे। "वीणा" में संकलित अपनी रचनाओं को पन्त जी ने अपना "दुधमुहाँ" प्रयास बताया है। इस अर्थ में उन रचनाओं में उनकी नैसर्गिक चेतना और भावना की अभिव्यक्ति हुई है। पन्त जी की जीवन-कथा-लेखिका शान्ति जोशी के शब्दों में–"अपनी इस रचना में माँ और बालिका के वार्तालाप अथवा चपल

किन्तु आत्मप्रबुद्ध बालिका के स्वगत-कथनों द्वारा कवि ने अपनी सहज भोली अनुभूतियों, निश्छल प्रेम तथा अनन्त से अनन्त तादात्म्य को अभिव्यक्ति दी हे। माँ चरम आत्मीयता का प्रतीक है। वह वह भगवच्छक्ति है जो प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। भगवती अथवा माँ के रूप में परम सत्य की कल्पना करना पन्त का कुमाऊँनी दायधन है। अल्मोड़ा-निवासी शक्ति के उपासक हे। यही शक्ति अथवा भगवती पन्त जी की बचपन में अनिंद्य सुन्दरी प्रकृति थी आर अब भगवती रूप में निराकार अनन्त शक्ति है जिसके गीत अनन्त हैं।"[11]
'वीणा'' की बालिका परमात्मसत्ता की प्रतीक माँ से बार-बार कहती है—

"अविरल स्नेह अश्रु-जल से माँ।
मुझको मति-मल धोने दो
× × ×
द्रोह, मोह, छल, मदन, मद मुझे
निज संगति से खोने दो
× × ×
और नहीं तो, अपना ही सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे मगगामी! दे दो
दिव्य-अप्रकट गुण पावन
× × ×
निज अवलम्ब अचंचल दो
सदा स्वेदमय रख यह भाल
× × ×
धीरज देना अटल अगाध
निडर काल से कर विकराल
× × ×
माँ! काले रंग का दुकूल
नव मुझको बनवा दो सुन्दर
× × ×
माँ! वह दिन कब आयेगा जब मैं तेरी छवि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है जग के निर्मल दर्पण में।"

सुश्री शान्ति जोशी ने पन्त जी की ऐसी रचनाओं पर टिप्पणी करते हुए

लिखा है कि—"ये मात्र अल्हड़-भाव नहीं हैं। इस बाल-सुलभ जिज्ञासा में आत्मा की आकुलता है—प्रकृति में घुल-मिल जाने, उसे समझने, उसी में रम जाने तथा उसी-सा पवित्र बनने की आकांक्षा है। प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण, उसके विधानों और विषयों का गहन परिचय आत्मप्रबुद्ध चेतना की ही सम्पत्ति है।"[12]

परमसत्ता की मातृरूप में यह कल्पना पन्त जी के मानस में योगी अरविन्द के सम्पर्क में आने के बाद और भी परिपुष्ट हो गयी जो यह मानते थे कि पूर्ण समर्पण केवल माँ की कृपा से ही प्राप्त होता है। "श्री अरविन्द के योग मे मातृशक्ति की सबसे बड़ी महिमा है, माँ के प्रति समर्पित होने पर ही भगवत्-प्राप्ति सम्भव है, माता ही भगवान् की सक्रिय शक्ति है"—आदि बातें पन्त जी ने 'कला और संस्कृति" नामक अपनी कृति में "अरविन्द की देन" शीर्षक निबन्ध मे स्वयं कही हैं।

"परम-सत्ता को सदा मातृ-रूप में ही देखने की प्रवृत्ति पन्त जी में नही मिलती। परम-सत्ता को भगवान् शिव के रूप में भी उन्होंने देखा है। उनकी बचपन की कल्पना में हिमालय के प्रति उनका आकर्षण इस मान्यता के आधार पर भी था कि हिमालय शिव का वास है। उन्हें सदैव लगता कि पर्वत प्रदेश के वासी होने के कारण शिव हमारे ही हैं। उन्हें मन-ही-मन विश्वास हो गया था कि शिव किसी-न-किसी दिन उन्हें अवश्य ही हिमालय पर विचरण करते हुए दिखलाई देंगे। वे शिव-दर्शन के लिए लालायित रहते। हिमालय देखते ही एकदम शिव-साक्षात्कार की कामना उन्हें उद्वेलित कर देती।"[13]

भगवती और भगवान् शिव के रूप में परम-सत्ता की यह कल्पना आगे चलकर सम्पूर्ण सत्ता के एकत्व में ढल गयी और सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकाकार हो गयी। अपने स्वभाव का परिचय देते हुए पन्त जी ने कहा है—"पर के प्रति, सर्व के प्रति मेरे अन्तःकरण का ऐसा स्वाभाविक तथा जन्मजात आकर्षण रहा है कि अपने बाह्य जीवन-सम्बन्धी छोटे-मोटे अभावों की ओर मुड़कर या अपने सुख-दुःख में रमकर उसने कभी सोचना स्वीकार ही नहीं किया।"[14]

परिवार में परमात्मसत्ता के प्रतीक के रूप में किसी विग्रह अथवा मूर्ति की उपासना की परम्परा होने पर भी पन्त जी के जीवन में इस तरह के किसी प्रत्यक्ष प्रतीक की उपासना का कोई स्थान नहीं था और न उन्होंने कहीं मूर्ति-पूजा की आवश्यकता पर बल दिया है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि उन्होने प्रत्यक्ष प्रतीक-पूजा अथवा मूर्ति-पूजा का कहीं खण्डन भी नहीं किया है। उनकी रचनाओं के पढ़ने से प्रतीत होता है कि इस तरह के पूजा-विधान में उनकी

गहरी निष्ठा यद्यपि नही थी किन्तु उस तरह क पूजा-विधान क प्रति उनके मन मे आदर अवश्य था।

अवतारी राम और कृष्ण को उन्होंने परम-चैतन्य का पूर्ण रूप न मानकर उसका खण्ड-रूप ही माना है किन्तु इन व्यक्तित्वों के प्रति उनके मन में गहरा आदर भाव था। मानव के सांस्कृतिक विकास के इतिहास की पृष्ठभूमि में इन व्यक्तित्वों के स्वरूप की व्याख्या करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित ' आधुनिक कवि : भाग 2" की भूमिका-स्वरूप "पर्यालोचन" में उन्होंने लिखा—"श्री राम इस दृष्टि से अपने देश में कृषि-क्रान्ति के प्रर्वतक कहे जा सकते हैं जिन्होंने कृषि-जीवन की मान-मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एवं सुव्यवस्थित कृषि-जीवन की सुव्यवस्था पशुजीवियों की कष्ट-साध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ ओर लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि-संस्कृति की ही देन है। कृष्ण का युग कृषि-जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी, उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि चकित कर देने वाले रूप-रग, उस युग की विशद भावना, बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़कर जैसे उस युग की चरमोन्नति के प्रतीक स्वरूप श्री कृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गयी हैं। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामन्त युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था और कृषि सम्पन्न भारत के सिवाय कोई दूसरा देश शायद उसे दे भी नही सकता था।............मर्यादा पुरुषोत्तम राम के स्वरूप में कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीति-नीति सम्बन्धी सात्त्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य पट में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम करके उसे रत्नजटित राजसी बेल-बूटों से अलंकृत कर दिया।"[15]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी राम और कृष्ण को सम्पूर्ण परमात्म-सत्ता का प्रतीक-रूप न मानकर सांस्कृतिक इतिहास के विकास-क्रम में मानवीय चेतना के तब तक सम्पन्न ऊर्ध्वतम विकास का प्रतिनिधि मानते थे और इस दृष्टि से उनके प्रति गहरा आदर-भाव रखते थे। उनका यह आदरभाव इतना प्रकृष्ट है कि वह उपासना के सोपान को स्पर्श करता हुआ दिखाई देता है। उनकी परवर्ती कृतियों में उनकी "किरणवीणा" का विशिष्ट

स्थान है। "किरणवीणा" में उनकी "पुरुषोत्तम राम" शीर्षक एक बहुत लम्बी और विशिष्ट रचना संकलित है। उसकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं--

> "राम, आप क्या केवल तुलसी ही के प्रभु हैं--
> रामायण या विनय-पत्रिका तक ही सीमित?
> सच है, जन गण सेवक तुलसी, और आप
> जन मन अधिनायक, स्वामी, सखा, सहायक सबके।"[16]

इन पंक्तियों में पन्त जी ने राम को प्रभु भी कहा है और उन्हे जन-मन-अधिनायक तथा सबके स्वामी, सखा तथा सहायक की मान्यता दी हे। किन्तु जैसा रचना के शीर्षक से ही प्रतीत हो जाता है कि वे राम को पुरुषोत्तम ही मानते हैं। उन्होंने आगे लिखा है--

> "मध्य युगों की पृष्ठभूमि में तुम्हें चीन्ह कर
> जन-मन-सिंहासन पर वे कर गये प्रतिष्ठित
> भक्ति, विनय, श्रद्धा, आस्था, अनुराग त्याग से
> प्रभु पद पद्मों पर हो पूर्ण निछावर, निश्छल
> तन्मयता से! किन्तु साथ ही जन जीवन को
> जकड़ गये यदि रूढ़ि रीति, जड़ परम्परा के
> लौह नियति श्रृंखल में वे, तो करते भी क्या।"[17]

उपर्युक्त पंक्तियों में पन्त जी ने गोस्वामी तुलसीदास को जन-मन-सिंहासन पर राम को प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया है पर साथ ही यह भी कहा है कि तुलसीदास ने जन-जीवन को रूढ़ि-रीति की जड़ परम्परा में जकड़ दिया। उन्होंने गोस्वामी जी की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में इसी कविता में लिखा है--

> "कैसी भक्ति रही वह! जन-मन प्रभु चरणों पर
> प्रणत, गिड़गिड़ाता शतियों तक रहा निरन्तर!
> प्रभु न हुए, विजयी सामन्ती भूपति कोई
> घिरा चाटुकारों से जय-जयकार मनाता
> कवे! सूत्र मानस में छोड़ गये अनजाने
> आप, भक्ति आवेश द्रवित हो, पापों के घट
> नाम मात्र से पावन बन, भू-जीवन पथ पर
> बँध न सके व्यापक सामाजिक सदाचरण में--
> आत्ममुक्ति हित राम नाम रटते जिह्वा पर!

दुरुपयोग ही हुआ दया का दयासिन्धु की,
युक्त न हो वह सत्य-सिन्धु की सत्य-दृष्टि से।"[18]

जैसा पिछले प्रसंगों में अनेक बार संकेतित किया जा चुका है, पन्त जी की साधना-दृष्टि केवल आत्मभुक्ति को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं करती। भगवान् की दया यदि उनके सत्य-सिन्धु रूप की सत्य-दृष्टि से अन्वित न हो तो पन्त जी उसे भगवान् की दया का दुरुपयोग मानते हैं। वे भक्ति-भावना को व्यापक सामाजिक सदाचरण में बाँधना चाहते हैं। राम का जो रूप पन्त जी के हृदय में आध्यात्मिक अनुभव के रूप में स्फुरित हुआ था, उसका परिचय देते हुए वे अपनी इसी कविता में आगे लिखते हैं—

"तुम तो स्वतः अमृत निर्झर-से मरकत स्वर्णिम
जाने किस चैतन्य-शिखर से उतरे भीतर—
स्वर्गिक सौरभ-से समीर पंखों पर वाहित
प्राणों में बस गये, शुभ्र हीरक प्रकाश-से।
जब प्रहर्ष-स्पन्दित उर आकस्मिक अनुभव से
स्तब्ध हो उठा, आत्मस्मृति रहित;—तुम अन्तर में
बोले, "मैं हूँ! निर्भय हो! छोड़ो सब चिन्ता।"
औ' शिख से नख तक सित चिन्मय भाव-देह धर
क्षण भर हो स्मित प्रकट, समा फिर गये हृदय में।[19]

× × ×

सौम्य तेजभृत, हरित कान्तिमणि-से श्री मण्डित,
उदय हुए थे रजत हृदय में; चार दशक अब
बीत चुके सन् छासठ में! उस दिव्य भाव को!
अमृत-पूर में ज्योति स्नान वह था चेतस् का"[20]

अपनी इन काव्य-पंक्तियों में पन्त जी सन् 1926 में अपने हृदय मे अमृतपूर के रूप में राम के रहस्यावेश का संकेत देते हैं जिसमें उनके चेतस् का ज्योति-स्नान हुआ था। इस प्रकार पन्त जी के निकट राम सत्यसिन्धु ओर चिन्मय भावदेहधारी अमृतपूर थे। उनकी धारणा के अनुसार तुलसी जैसे महाकवि ने अपने युग की परिस्थितियों की सीमा में बँधकर राम के रूप को मध्ययुगीन सामन्ती छवि दे दी थी। तुलसीदास द्वारा चित्रित राम के रूप को अत्यन्त महनीय मानते हुए भी पन्त जी उसे परमात्म-सत्ता का पूर्ण रूप नहीं मानते। राम

में तो उनकी पूरी निष्ठा थी और अपने हृदय में उनके चिन्मय रूप के आवेश की बात भी वे ज्ञापित करते हैं। जो व्यक्ति अपने हृदय में परमात्म-सत्ता के आवेश की बात करे और उसके साथ अपने वार्तालाप का उल्लेख करे, उसके सम्बन्ध में यह मानना ही पड़ता है कि उसकी साधना उपासना के सिद्धि-शिखर तक पहुँची हुई थी। उस आवेश में राम ने पन्त जी से कहा—

> "मैं मानव का सहचर हूँ! अन्तस्थ हृदय में
> व्याप्त सभी के, निज प्रिय जन से अविच्छिन्न नित
>
> × × ×
>
> पाप-पुण्य से भीत न हो, वे स्थितियों के गुण,
> कौन क्षुद्र या महत्? जानते हो? मैं ही हूँ!
> निखिल सृष्टि को देखो एक अखण्ड भाव से।"[21]

पन्त जी के आविष्ट मानस में राम की वाणी ने गूँजकर यह कहा कि म मानव का सहचर हूँ। दूसरी ओर यह भी कहा कि सर्वत्र मैं ही हूँ, इस दृष्टि से तुम निखिल सृष्टि को एक अखण्ड भाव से देखो। मानो तभी से पन्त जी ने चिन्मय राम को अपना सखा मान लिया, ऐसा सखा जो पग-पग पर उन्हे सान्त्वना और मार्ग-निर्देशन देता रहता है। अपने अन्तस्थ राम से यह सुनकर कि मैं मानव का सहचर हूँ, पन्त जी लिखते हैं कि मैं उस समय तो कुछ कह नहीं सका था, पर अब कहता हूँ—

> "बोले थे तुम! प्रीति-मुग्ध मन कह न सका था
> तब कुछ : अब मैं कहता रहता तुमसे, "स्वीकृत
> सख्य मुझे, पर मुझको उसके योग्य बनाओ।"
> निज लघुता के विकल बोझ से जब अनजाने
> आँखों में आँसू भर आते, —तुरत रुष्ट हो,
> कहते तब तुम, 'यह कैसा दयनीय भाव है?
> दूर करो इस हीन ग्रंथि को। मुझे ज्ञात है,
> क्या है क्षुद्र महत् की उपयोगिता सृष्टि में,
> क्यों है द्वन्द्व जगत्! संयुक्त रहो तुम मुझसे,
> और नहीं तप खँटना तुमको, स्वयं प्रतिक्षण
> मैं पथ निर्देशन करता जाऊँगा।"..........[22]

जैसा उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है पन्त जी ने व्यापक परमात्म-सत्ता को

अपने से अभिन्न मानते हुए भी पथ-निर्देशक सखा के रूप में स्वीकार कर लिया था। उनकी चेतना की यह स्वीकृति आगे उनके मानस में सदा स्थिर रूप मे वर्तमान रही। परमात्मसत्ता को तत्त्व-बोध की पृष्ठभूमि में मार्गदर्शक सखा के रूप में स्वीकार करने के बाद पन्त जी को अपूर्व शान्ति का अनुभव हुआ। अपनी उसी कविता "पुरुषोत्तराम" में इस स्वीकृति के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है–

> "तिमिर छँट गया, प्रश्न पट गया, फन्द कट गया,
> उर का उत्तेजित स्पन्दन भी शान्त हो गया।
> तन्मय अन्तर में–क्या हुआ, नहीं कह सकता।
> जन-भू की मांगल्य-शक्ति तब उठकर ऊपर
> मुझे खींच लायी धरती पर सित विस्मृति से।
> आत्मबोध जब जगा, कह चुका हूँ पहले ही
> उदय हुए तुम हृदय-शिखर पर नव आस्था से।"[23]

पन्त जी ने यहाँ स्वीकार किया है कि सर्वभूत परमसत्ता के साथ नित्य साहचर्य की प्रतीति ने ही, उनके भीतर जन-भू की मंगल-साधना की प्रेरणा और शक्ति का संचार किया। उनका आकुल मानस जीवन भर जिस प्रतीति की तलाश में भटकता रहा था, उसे मानो उसका लक्ष्य मिल गया। इसी कविता में पन्त जी आगे कहते हैं–

> "नये हाथ पाँवों से पार किया तब मैंने
> उस सूनेपन के समुद्र को, ज्योतितीर पा।
> मन ने वर्षों तक फैले जीवन-सैकत पर
> बना मिटा स्वप्नों के बाल-धरौंदे अगणित,
> आँक भावनाओं के अस्फुट चरण-चिह्न नव
> संचित किया मनो-वैभवसित, सूक्ष्म दृष्टि पा।
> कौन बना नव कर-पद चेतस्, नयी दृष्टि तब?"[24]

जीवन के आरम्भ से आध्यात्मिकता के जो अस्फुट प्रकाश पन्त जी के मानस में आँख-मिचौनी के रूप में उद्भासित हुआ करते थे अब जैसे उन्होने एक स्थिर प्रकाश का रूप ग्रहण कर लिया था। पन्त जी की साधक आत्मा अपने इष्ट के मानस-प्रत्यक्ष और आश्वस्ति-सम्बोधन से शक्ति पाकर उपासना के रूप में भू-जीवन की मंगल-साधना में निरत हो गयी और उसके बाद का

उनका सारा साहित्य इष्ट-निर्दिष्ट व्यापक भू-कल्याण की चेतना का वाहक बन गया।

कबीर आदि निर्गुण सन्तों के राम की भाँति पन्त जी के राम भी दाशरथि राम नहीं हैं। वे सर्वभूत सत्ता के प्रतीक हैं जिनके निरन्तर साहचर्य की अनुभूति पन्त जी को आवश्यक होने पर प्रबोध देती थी, आश्वासन देती थी, शक्ति देती थी और जीवन के शुभ-विकास के प्रति विश्वास से उन्हें अन्वित रखती थी। अन्तस्थ राम (इसी कविता में) पन्त जी से कहते हैं–

"पुरातनों ने आत्मा के स्तर पर ही मुझको
पहचाना; चित् स्पर्श प्राप्त कर वे उसमें ही
तन्मय, लय हो गये, महत् आनन्द वेग से
विद्युत वाहित, अन्तर्भावावेश समाधित।
मुझे मूर्त कर सके न वे मन प्राण देह में
पूर्ण अवतरित कर, भौतिक जग के प्रांगण में,
रूपायित कर सके न भू-जीवन गरिमा में।
प्राचीनों के लिए तत्त्व की सिद्धि अलम् थी
जो अरूप उपलब्धि मात्र सित आत्म समाधित।

× × ×

चिद् विद्युत का अन्वेषण कर वे फिर उसको
जन-भू जीवन रचनाहित कर सके न योजित

× × ×

दिव को भू से, ईश्वर को जग से वियुक्त कर!-
समदिग्-जीवन-हीन उन्नयन रिक्त पलायन!
महत् श्रेय नव युग को, (जो परिसंयोजन युग)
पूर्ण रूप से वह मुझको वरने को आतुर,
तन मन प्राण, वस्तु स्तर पर भी, मनुज जगत् को
मेरी सत्ता के प्रकाश में ढाल उसे मेरा स्वरूप दे"[25]

परम सत्ता के भाव-सान्निध्य से प्रेरित पन्त जी का परवर्ती काव्य अपनी सात्त्विक प्रकृति में उपासना-काव्य ही है।

अपनी काव्य-कृति "उत्तरा" के स्तवन-गीतों में पन्त जी ने बार-बार अपने इष्ट से निवेदन किया है–

"नमन तुम्हें करता मन!
हे जग के जीवन के जीवन!
प्रीति मौन प्रति उर स्पन्दन में
स्मरण तुम्हें करता मन।
अश्रु सजल अब मेरा आनन
तुहिन तरल वारिज के लोचन
यह मानस स्थिति स्मृति से पावन
करता तुम्हें समर्पण।"[26]
"जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनों में भर रूप मनोहर
चिर श्रद्धा विश्वास भक्ति का
मंगलमय निज जन को दो वर।[27]
× × ×
आज व्यक्ति के उतरो भीतर,
निखिल विश्व में विचरो बाहर,
कर्म वचन मन जन के उठकर
बनें युक्त आराधन।"[28]

इष्ट के जिस मानस-प्रत्यक्ष की अनुभूति पन्त जी को हुई थी उसका सकेत और उसकी प्राप्ति के निमित्त की गयी साधना का परिचय "उत्तरा" में ही संकलित उनकी "विजय" शीर्षक कविता में मिलता है—

"मैं चिर श्रद्धा लेकर आयी
वह साध बनी प्रिय परिचय में,
मैं भक्ति हृदय में भर लायी
वह प्रीति बनी उर परिणय में,
जिज्ञासा से था आकुल मन
वह मिटी, हुई कब तन्मय मैं,
विश्वास माँगती थी प्रति क्षण
आधार पा गयी निश्चय मैं।
प्राणों की तृष्णा हुई लीन
स्वप्नों के गोपन संचय में
संशय भय मोह विषादहीन

तरी करुणा में निभय मे.
लज्जा जाने कब बनी मान
अधिकार मिला कब अनुनय में
पूजन आराधन बने गान
कैसे, कब? करती विस्मय में।"[29]

उपासना के निमित्त वांछित श्रद्धा, आकांक्षा, भक्ति, प्रीति, जिज्ञासा, आकुलता, तन्मयता, विश्वास, निश्चय आदि सभी भावों के, और उपासना के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली तृप्ति तथा संशय, भय, मोह, विषाद आदि के मिट जाने पर प्राप्त होने वाली निर्भयता के संकेत हमें पन्त जी की उपर्युक्त पंक्तियों में प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि मधुर-भाव से सम्बन्धित लज्जा और मान की चर्चा भी यहाँ की गयी है और गीत-साधना के आराधना बन जाने का स्पष्ट स्वीकार भी हमें पन्त जी के अपने ही शब्दों में मिल जाता है।

सन्दर्भ-संकेत

1. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, रजतशिखर—रजतशिखर, पृ. 99
2. वही
3. कल्याण का उपासना अंक—उपासना का स्वरूप, पृ. 15
4. कल्याण का उपासना अंक—उपासना में भक्ति-तत्त्व, पृ. 8
5. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 1—हार, पृ. 60
6. वही
7. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—हार, पृ. 61
8. वीणा—गीत संख्या 41, पृ. 56, नवीन संस्करण 1972
9. वीणा—गीत संख्या 2, पृ. 6, नवीन संस्करण 1972
10. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृ. 141
11. सु. पन्त; जीवन और साहित्य—शान्ति जोशी, भाग 1, पृ. 123
12. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 125
13. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 16-17
14. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृ. 170

15 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 272-273
16 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 183
17 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 184
18 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 184
19 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 186-187
20 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 187
21 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 187-188
22 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 187-188
23 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 196
24 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 196-197
25 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 209-210
26 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3—उत्तरा—नमन कविता, पृ. 61
27 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3—उत्तरा—स्तवन कविता, पृ. 63
28 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3—उत्तरा—नमन कविता, पृ. 61
29 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3—उत्तरा, विजय कविता, पृ. 67

पंचम अध्याय

पन्त जी के नीति सम्बन्धी विचार

धर्म में साधना और उपासना का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उतना ही या उससे कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नीति का है। धर्म के अन्तर्गत नीति की इसी महत्ता के कारण बहुत बार धर्म और नीति को समानार्थी शब्दों के रूप में प्रयोग की प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है। अपने मूल रूप में नीति भी चेतना की ही वस्तु है। हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये के निर्णायक सिद्धान्त ही नैतिक सिद्धान्त माने जाते हैं। "नीति" अथवा उसी का विशेषण रूप "नैतिक" शब्द संस्कृत की "नी" धातु से बने हुए शब्द हैं। "नी" धातु "ले जाने" अथवा "नयन करने" के अर्थ में प्रयुक्त होती है। नीति हमारा नयन करने का काम करती है। यों तो हमारा नयन करने का काम सामान्यतया हमारी इच्छाएँ करती हैं। निसर्गतः जीव-मात्र को कुछ आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ होती रहती हैं जो उन्हें संचालित करती हैं। जैविक आकांक्षाओं से संचालित नैसर्गिक गति हमारे मानव-रूप का नहीं, हमारे प्राणी-रूप का परिचय देती है। जैसा पहले कहा जा चुका है और जैसा प्रायः सभी लोग जानते-मानते हैं, मानव एक संस्कारशील प्राणी है। निसर्ग-प्राप्त परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को वह अपनी बुद्धि के प्रकाश में सुनियोजित और सुव्यवस्थित रखने और बनाने का प्रयास करता है। "जैसा है" को वह "जैसा होना चाहिये" से जोड़ना चाहता है और इसी कारण मानवीय चेतना उसी गति या व्यवहार को समुचित अथवा मानवोचित मानती है, जो "जैसा होना चाहिये" की धारणा के अनुरूप हो। जीवन के इस संस्कारशील विकास का संकेत हमें पन्त जी की इन पंक्तियों में मिलता है—

"सुन्दर से नित सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे,
सुन्दर-सुन्दर जग जीवन।"[1]

"जो होना चाहिये" उसी को आदर्श कहते हैं और "जो जैसा है" उसे यथार्थ कहते हैं। आदर्श की प्रतिमा यथार्थ के आधार पर ही गढ़ी जाती है और यथार्थ का सुसंस्कृत रूप ही आदर्श होता है। आदर्श और यथार्थ में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। आज के यथार्थ के लिए जो आदर्श है, वही उपलब्ध हो जाने के बाद जीवन का यथार्थ बन जाता है और एक नये आदर्श का स्वप्न देखने लगता है। धर्म और विज्ञान का निरूपण करते हुए पन्त जी ने अपने "धर्म और विज्ञान-2" शीर्षक निबन्ध में आदर्श और यथार्थ के परस्पर-पूरक स्वरूप का परिचय इन शब्दों में दिया है—"धर्म का क्षेत्र मनुष्य के अन्तर्जीवन का सत्य है और विज्ञान का क्षेत्र हमारे बाह्य जीवन का तथ्य। धर्म आदर्शोन्मुखी होने के कारण गुणात्मक उन्नयन पर बल देता है और विज्ञान मुख्यतः यथार्थोन्मुखी होने के कारण राशिवाचक विकास एवं उन्नति को अधिक महत्त्व देता है। दूसरे शब्दों में, यदि धर्म की पीठिका आत्मा की भूख है तो विज्ञान की पीठिका देह मन की भूख। एक ऊर्ध्व संचरण की सिद्धि है तो दूसरा समतल जीवन-संचरण का विकास या प्रसार। विचार की दृष्टि से देखा जाय तो आदर्श और यथार्थ में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं।"

यथार्थ सदा अनादर्श हो अथवा अनुचित हो, ऐसी बात भी नहीं है। अनेक नैसर्गिक यथार्थ ऐसे हैं जो अपने आप में वांछनीय और रक्षणीय हैं; किन्तु मनुष्य का संस्कारशील मन उन्हें भी नयी सज्जा और शृंगार देना चाहता है। भोजन की आकांक्षा नैसर्गिक और उपयोगी है। हर जीव को भोजन की आकांक्षा होनी चाहिये। उसके न होने को हम बीमारी मानते हैं। लेकिन भूख की कमी यदि बीमारी है तो अति-भोजन की आकांक्षा भी अपने आप में एक दोष है। अति-भोजन के अनौचित्य का आयाम मात्र जैविक ही न होकर सामाजिक भी है। अति-भोजन हमारे पाचन को बिगाड़ता है, बात इतनी ही नहीं है। वह उससे आगे जाकर दूसरों की भोजन की आकांक्षा की पूर्ति में बाधक भी बनता है।

हमारी भोजन-वृत्ति के सम्बन्ध में केवल मात्रा का नियन्त्रण ही पर्याप्त नहीं माना जाता। कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में खानी चाहिये और कब खानी चाहिये तथा किस समय नहीं खानी चाहिये, इसका ज्ञान भी हमें कराया जाता है। यही विधि-निषेध की परम्परा है जो निसर्ग के क्षेत्र में विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में शास्त्र कहलाती है। शास्त्र की सीमा के अन्तर्गत विचार और आचार दोनों आते हैं। इसी कारण भारतवर्ष में जहाँ दर्शन को शास्त्र कहने की परम्परा है वहीं धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र जैसे प्रयोग भी हमें मिलते हैं।

अनेक प्रसंगों में धर्म और नीति के समानार्थी-शब्दों के रूप में प्रयोग की परम्परा का संकेत पहले किया जा चुका है। "नीति" शब्द का प्रयोग यदि उसके अर्थ की पूर्ण व्यापकता के साथ किया जाय तो वह धर्म का पर्याय बन जाता है। पन्त जी जिसे आत्मा का ऊर्ध्व संचरण कहते हैं और जिसे आध्यात्मिक विकास कहकर भी संकेतित किया जा सकता है, उसके निमित्त; और जिसे वे समतल जीवन-संचरण का विकास कहते हैं और जिसे प्रचलित भाषा में भौतिक विकास की संज्ञा दी जाती है, उसके निमित्त भी कुछ व्यवहार-विधान की अपेक्षा होती है। जीवन के समग्र विकास और सन्तुष्टि के लिए अपेक्षित व्यवहार-विधान के निर्धारण के लिए ही नीतिशास्त्र का जन्म हुआ।

यहाँ एक आधारभूत प्रश्न उठता है कि जीवन को विकास की अपेक्षा क्यों है? जीवन जैसा है, वह यदि वैसा ही बना रहे, तो इसमें क्या बुराई है? जीवन का परम-तत्त्व निर्विकार ब्रह्म-तत्त्व है, ऐसा दार्शनिक मानते हैं। वैज्ञानिक उस परम-तत्त्व को भूत-तत्त्व कहते हैं। ब्रह्म यदि अक्षर है तो भूत भी अक्षर ही है। ब्रह्म अथवा भूत नाम के इन परम-तत्त्वों की परिणति किसी श्रेष्ठतर तत्त्व मे तो क्या होगी, इनके जैसा भी कोई दूसरा परम-तत्त्व नहीं हो सकता। परम-तत्त्व तो जब होगा, एक ही होगा। दर्शन का ब्रह्म और विज्ञान का भूत मानो एक ही तत्त्व के दो नाम हैं जिनमें न तो विकास की सम्भावना है और न विकार की। फिर "जैसा है", उसको "जैसा होना चाहिये" की कल्पना के अनुरूप ढालने के किसी प्रयास की न तो अपेक्षा रह जाती है और न सम्भावना ही।

पारमार्थिक स्थिति तो सचमुच वैसी ही है जैसी कि पूर्व अनुच्छेद में वर्णित की गयी है। किन्तु जीवन परम-तत्त्व की सक्रियता का नाम है। परम-तत्त्व की इस सक्रियता का कोई उद्देश्य है—ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि जो परम-तत्त्व है उसका कोई प्राप्य नहीं हो सकता। मानना यही पड़ता है कि सक्रियता परम-तत्त्व का स्वभाव है। सक्रिय होने के लिए परम-तत्त्व को विषमता अपनानी पड़ती है। विषमता के बिना किसी तरह की गति अथवा संचरण सम्भव नहीं है। परम-तत्त्व की तात्त्विक निर्विकारता के बावजूद उसकी सक्रियता के फलस्वरूप द्वन्द्वात्मक विषमता की स्थिति उत्पन्न हुई; एवम् ह्रास-विकास, सृष्टि-संहार, उत्थान-पतन, तृप्ति-क्षुधा तथा हर्ष और विषाद जैसी प्रातीतिक द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। साथ ही उनमें सन्तुलन बनाये रखने के प्रयास का क्रम भी प्रारम्भ हो गया।

सृष्टि के उन्मीलन और संचरण से सम्बन्धित तात्त्विक स्थिति का चित्रण

प्रसाद जी ने अपनी "कामायनी" में इस प्रकार किया है—

"कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
उसी में सब होते अनुरक्त

× × ×

विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
व्यथा से नीली लहरों बीच,
उमड़ते सुख-मणि-गण द्युतिमान्।"[3]

जहाँ सक्रियता होगी, वहाँ परिवर्तन होगा क्योंकि स्थिरता निष्क्रियता में ही सम्भव है। सृष्टि के परिवर्तनशील रूप का चित्रण पन्त जी ने "पल्लव" में सकलित "परिवर्तन" शीर्षक रचना में बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण,
वही मधु ऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार।"[4]

परिवर्तन शुभ है या अशुभ, वांछनीय है अथवा अवांछनीय, उसे हमें होने दना चाहिये या रोकना चाहिये अथवा उसे कोई नई दिशा देनी चाहिये, इन प्रश्नों के समाधान ढूँढ़ने के प्रयास में ही धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र का उदय हुआ है।

पूर्ण की सक्रियता खण्ड की सक्रियता में भी प्रतिफलित होती है; अंगी की सचरणशीलता अंग को भी संचरणशील बनाती है, समष्टि का विषमता-विक्षोभ व्यष्टि को भी विक्षुब्ध बनाता है। इसी प्रकार व्यापक सत्ता का सन्तुलन-प्रयास खण्ड के सन्तुलन-प्रयास में भी प्रतिफलित होता है। विचारणा के क्षेत्र में कभी-कभी प्रश्न उठाया गया है कि समाज व्यक्तियों का समूह है अथवा व्यक्ति समाज का एक अवयव है। बहुसंख्यक विचारकों ने इस प्रश्न का उत्तर यही दिया है कि

व्यक्ति समष्टि का अवयव है और विज्ञान-चेतना ने अब प्रायः निर्विवाद रूप से इस मान्यता को पुष्ट कर दिया है। समष्टि के संचरण से व्यष्टि प्रभावित होता है और व्यष्टि के संचरण से समष्टि पर भी प्रभाव पड़ता है। सर्वाधिक चेतना से युक्त होने के कारण मनुष्य सृष्टि का सर्वाधिक संवेदनशील तथा सक्रिय अवयव भी है। इस कारण विषमता के विक्षोभ की अनुभूति और संतुलन का समाधान प्राप्त करने की आकांक्षा भी मनुष्य को ही सर्वाधिक मात्रा में होती है।

शुभ और अशुभ, वांछनीय तथा अवांछनीय एवम् उचित और अनुचित के व्यावहारिक विभेद को मानने पर ही धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र की आधारशिला बनती है। धर्मचेतना से प्रेरित व्यवहार-विधान ही नैतिक विधान कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म का व्यवहार पक्ष नीति है। यों तो संकुचित स्वार्थ-चेतना से प्रेरित व्यवहार-विधान को भी नीति कहने का चलन हमें कभी-कभी देखने को मिलता है और छल तथा कपट के आचरण को भी छल-नीति या कपट-नीति का नाम देते हम लोगों को देखते हैं। किन्तु वे सब चालाकी से प्रेरित व्यवहार होते हैं और उनके माध्यम से विकारों की ही अभिव्यक्ति होती है। विकास और उन्नति से सम्बन्धित व्यवहार-सिद्धान्त ही नीति की प्रकृत-परिधि में आते है। केवल नीति नाम दे देने से अनीति नीति नहीं हो सकती।

सत्ता की समग्रता के साथ अपनी तात्त्विक एकता की चेतना के संकुचित हो जाने अथवा कुछ समय के लिए विलुप्त हो जाने के कारण ही सत्ता का अवयव होते हुए भी मनुष्य विघटनकारी प्रवृत्तियों का शिकार होकर या तो निराश हो जाता है अथवा विध्वंसक गतिविधियों में लग जाता है। समग्रता के साथ अपनी तात्त्विक एकता की चेतना को खो देने के कारण पन्त जी ने सृष्टि की परिवर्तनशीलता को देखकर अपने निराश होने की बात स्वयं कही है--"मेरा जीव-दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के "बुदबुदों के व्याकुल संसार" में परिवर्तन ही एक मात्र चिरन्तन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशा-आकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरन्तन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिए लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की व्याकुलता में ऊब-डूब करने लगे।"[5]

पन्त जी ने आगे और भी स्पष्ट रूप से अखण्डता की चेतना के खोने की बात कही है--"ऊपर मैं एक अखण्ड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामन्तयुग की सांस्कृतिक

भावना थी जिसे मैंने खोया था और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नही बल्कि बाहर के जगत् में थे।"[6]

ऊपर अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरन्तन वास्तविकता का अग बन जाने के लिए लहरों की तरह अज्ञात प्रयास की जिस आकुलता की चर्चा पन्त जी ने की है, वही मनुष्य के सांस्कृतिक प्रयास का उद्गम-बिन्दु है। पन्त जी के हृदय के भीतर का यह सांस्कृतिक प्रयास जब आगे बढ़ा तो सम्पूर्ण जीवन से अपने एकत्व की प्रतीति उनकी चेतना का स्थिर अंग बन गयी। पन्त जी के हृदय में घटित होने वाला यह सांस्कृतिक प्रयास केवल उन्हीं से सम्बन्धित काई अनोखी बात नहीं थी, वह मनुष्य के सामान्य संस्कारशील स्वभाव की ही अभिव्यक्ति थी। यह अवश्य है कि संस्कारशीलता से सम्बन्धित संवेदना ओर प्रयासशीलता हर मानव में समान शक्ति और वेग से प्रकट नहीं होती। पन्त जी की संस्कार-चेतना अपने आप में बहुत विशिष्ट थी, इसमें कोई सन्देह नही। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनकी प्रखर-संस्कार-चेतना का प्रमाण है।

जीवन जैसा है उसे वैसा ही नहीं रहना चाहिये, इस सत्य की प्रतीति पन्त जी को अपने काव्य-जीवन के प्रारम्भिक चरण में ही हो गयी थी और उनक अध्ययन-मनन का सहारा पाकर निरन्तर बढ़ती गयी थी। अपनी चरम परिणति में सृष्टि के साथ एकाकार का भाव उनके भीतर कितना तीव्र और प्रखर हा गया था, इसके संकेत तत्त्व-दर्शन, धर्म, साधना तथा उपासना आदि के प्रसंगो मे पीछे बार-बार किये जा चुके हैं। पन्त जी के निकट धर्म, नीति, संस्कृति तथा आदर्श आदि में कोई तात्त्विक भेद नहीं था। वह उनकी चर्चा अपने काव्य मे ओर अपने गद्य-लेखन में मिले-जुले ढंग से ही बराबर करते रहे थे। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, पन्त जी एक सर्जनशील कलाकार थे। उनकी कृतियॉ, विशेषतया बाद की कृतियाँ, गहन वैचारिकता से युक्त अवश्य हैं, किन्तु वे किसी विषय की शास्त्रीय अथवा शुद्ध-दार्शनिक अभिव्यंजनाएँ मात्र नहीं है। उन्होंने धर्म, नीति और संस्कृति के प्रति अपने गहरे लगाव को अपनी रचनाओ के माध्यम से सबल अभिव्यक्ति दी है, पर इनके सम्बन्ध में उन्होंने कोई व्यवस्थित और विस्तृत शास्त्रीय-विवेचना प्रस्तुत नहीं की है। इस कारण, जैसा अन्य उपादानों के सम्बन्ध में हुआ है, उनकी नैतिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति भी निहित रूप में और स्फुट रूप में ही उनकी कृतियों में स्थान-स्थान पर बिखरी हुई हमें मिलती हैं। उनके नैतिक दृष्टिकोण के संकेत इसी कारण, तत्त्वदर्शन, धर्म, साधना और उपासना आदि के प्रसंगों में भी दिये गये हैं।

पन्त जी की नैतिक मान्यताओं के सम्बन्ध में सबसे विशिष्ट बात, जो हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह है उनका विकासवादी दृष्टिकोण। पन्त जी मानते थे कि सांस्कृतिक और नैतिक मान्यताएँ समकालीन परिस्थितियों के आधार पर ही बनती हैं और इस कारण परिस्थितियों में परिवर्तन आने के साथ-ही-साथ उन मान्यताओं में भी परिवर्तन होता जाता है। उन्होंने लिखा है—"इतिहास-विज्ञान के अनुसार जैसे-जैसे जीवनोपाय के साधन-स्वरूप हथियारों और यन्त्रों का विकास हुआ है, मनुष्य-जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान में भी युगान्तर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है।"[7]

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना के ऐतिहासिक परिवर्तन-क्रम पर पन्त जी ने अपनी काव्य-रचनाओं में, उन रचनाओं की भूमिकाओं में तथा अन्य गद्य-कृतियों में बार-बार बल दिया है। उन्होंने वहीं आगे लिखा है—"मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें, तो हमारी आन्तरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जायेंगी।"[8]

"कहता भौतिकवाद वस्तु-जग का कर तत्त्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तर्दर्पण।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपथ अन्तर्परिवर्तन।"

वे आगे और भी कहते हैं—"प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य-स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक धारणा नहीं बनायी जा सकती। मनुष्य एक विवेकशील पशु है—कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना, उसके मौलिक संस्कारों के सम्बन्ध में, वस्तु-जगत् की जिन परिस्थितियों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है, अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से सम्बद्ध है।"[9]

नैतिक अथवा सांस्कृतिक मान्यताएँ स्थिर नहीं रहतीं, वे युगानुरूप निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं, पन्त जी की इस धारणा के निदर्शक उद्धरण उनकी कृतियों से इतने दिये जा सकते हैं कि उनसे ही एक ग्रंथ का कलेवर भर सकता

है। नैतिक मानों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पन्त जी की आस्था डार्विन के वैज्ञानिक विकास-सिद्धान्त और उससे भी अधिक मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन से प्रभावित हुई है। उन्होंने अपने काव्य-संकलन "किरणवीणा" की 'नयी आस्था" नामक रचना में डार्विन के सम्बन्ध में अत्यन्त श्रद्धापूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उस रचना में उन्होंने उनके एक पादरी मित्र के द्वारा डार्विन के प्रति कहलाया है—

> "सखे चार्ल्स! मुझको महान् दुःख,
> तुम प्रसिद्ध विद्वान,
> सुज्ञ अन्वेषक होकर
> ईश्वर के प्रति विमुख,
> धर्म आस्था से विरहित!
> कैसे होगा पापों से उद्धार,
> आत्म कल्याण तुम्हारा?"[10]

इस पर डार्विन उत्तर देते हैं—

> "पोप महोदय, मुझको नहीं धर्म पर आस्था,
> सच है, पर वैज्ञानिक आस्था
> मुझमें सित जीवनी शक्ति प्रति—
> सर्वशक्तिमय जो असंख्य जीवों का पर्वत,
> धरा-स्वर्ग के दिव्य स्वप्न-सी
> जो विकास-पथ पर प्रतिदिन
> मेरी मन की आँखों के सम्मुख।"[11]

उस पादरी का डार्विन के उत्तर से समाधान नहीं हुआ और वह उनके उद्धार के सम्बन्ध में चिन्तित ही बने रहे। डार्विन की मृत्यु का समाचार सुनने पर पादरी दया-द्रवित हुए और उन्होंने एक स्वप्न देखा कि वे चार्ल्स के मंगल से प्रेरित, उसकी आत्मा की रक्षा के लिए नरक-लोक के लिए प्रयाण कर रहे हैं। नरक के यातनापूर्ण दृश्यों को देखते हुए पादरी आगे बढ़ते हुए सातवें नरक में पहुँचे। वहाँ उन्होंने नंदन वन का दृश्य देखा और स्थान-स्थान पर डार्विन की प्रतिमाएँ स्थापित देखीं। उन्होंने आश्चर्यचकित होकर वहाँ के सेवक से पूछा कि वह कौन-सा स्थान है, क्या वह स्वर्गलोक है? नम्र सेवक ने उत्तर दिया—

> "जी यही नया वह स्वर्गलोक, जिसके स्रष्टा
> पतितों के सेवक प्रिय डार्विन हैं।"[12]

वहाँ पादरी तथा डार्विन की मुलाकात हुई। डार्विन ने उनको बतलाया कि जब मैं यहाँ आया तो यहाँ अंधतमस् चारों ओर छाया हुआ था और पाप के भार से दबे मृत जन कर्दम में कृमियों से रेंग रहे थे। न वहाँ हरित शस्य था, न कहीं नगर-पथ अथवा गृह थे। अँधेरे आसमान के नीचे महातंद्रा में मूर्च्छित ठंडी धरती चेतनाशून्य पड़ी थी। मैंने उसका निरीक्षण किया और तब मेरी चिन्तनरत बुद्धि ने कहा—

> "घबड़ाओ मत, और अध्ययन मनन करो।
> क्या भूल गये तुम क्रम-विकास-सिद्धान्त
> नरक भय से विमूढ़ हो? जिसके तुम
> अनुसन्धाता थे मनुज धरा पर।
> वैज्ञानिक का साहस पुनः बटोरो मन में,
> व्यापक सूक्ष्म दृष्टि से देखो क्रम-विकास को।
> वह जैविक ही नहीं विश्व मन की
> आध्यात्मिक पूर्ण प्रगति का भी द्योतक है।
> क्षुद्र नरक ही तो प्रारूप महान् स्वर्ग का—
> जो विकास-पथ पर अब अविरत भू-जीवन में।"[13]

डार्विन विषयक पन्त जी की यह काल्पनिक रचना डार्विन के सम्बन्ध में उनकी आस्था को तो व्यक्त करती ही है, विकास-पथ पर संचरणशील वैज्ञानिक-आस्था में भी उनकी निष्ठा को प्रकट करती है।

डार्विन के व्यक्तित्व तथा उनकी विकासवादी वैज्ञानिक दृष्टि में पन्त जी ने जिस तरह की निष्ठा व्यक्त की है, उसी प्रकार की, और मात्रा में उससे कुछ अधिक ही, निष्ठा उन्होंने मार्क्स के व्यक्तित्व और उनके भौतिकवादी ऐतिहासिक चिन्तन के प्रति भी व्यक्त की है। उनके काव्य-संकलन "युगवाणी" में "मार्क्स के प्रति" शीर्षक से एक कविता संकलित है, जिसमें मार्क्स की स्तुति पन्त जी ने इन शब्दों में की है—

> "साक्षी है इतिहास किया तुमने दुन्दुभि से घोषित
> प्रकृति विजित कर मानव ने की विश्व-सभ्यता स्थापित,
>
> × × ×
>
> धन्य मार्क्स! चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
> तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलंयकर।"[14]

मार्क्स के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है।..............मानवता एवं सर्वभूतहित की विशद भावना जितनी मुझे वेदान्त में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज में सापेक्ष के उस पार "अवाङ्मनस् गोचर" की ओर चले गये हैं, वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल में डुबकी लगाकर उसके आलोक में जन-समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है।..............अध्यात्म-दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष जगत् ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत् का, जिसका सम्बन्ध मानव-जाति की संस्कृतियों—आचार-विचार, नीति-रीति, और सामाजिक संबंधों से है, विकास किस प्रकार हुआ, उस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। जीवन-शक्ति गतिशील है, सामन्तकालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक भावों और आदर्शों से मानव-समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं।"[15]

सांस्कृतिक मानों और नैतिक मूल्यों के विकासवादी चिन्तन के प्रकाश में जब पन्त जी ने अपने चारों तरफ़ के जीवन को देखा तो उन्हें यह दिखाई दिया कि भारतीय जीवन विगत युग की मान्यताओं और मूल्यों के जड़-बन्धन में बँधा हुआ है। इस जड़ता और अंधकार के प्रति उनके मन में तीव्र विक्षोभ का भाव जागा और उन्हें उनमें शीघ्र-से-शीघ्र परिवर्तन लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। वे लिखते हैं—

"सच तो यह है कि हमें अपने देश के युग-व्यापी अंधकार में फैले इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और शाखा-सहित, उखाड़कर फेंक देना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार-संग्राम करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तु-स्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाशलता शताब्दियों के अंधविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मत-मतान्तरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुंजीभूत और विच्छिन्न होकर एवम् हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त का शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना और नवीन

वास्तविकता के आधारों और सिद्धान्तों को ग्रहण किये बिना हममें वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्य, सामूहिक उत्तरदायित्व, परोक्ष विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माणकाल में संस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं, वह अधोमूल वास्तविकता समय के साथ-साथ विकास एवं उत्कर्ष-काल में, ऊर्ध्व-मूल एवं सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगों की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को नवीन जन्म के प्रयास में फिर से अधोमूल होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप देते आये हैं। अब उस सामन्त युग की, नवीन वस्तु-स्थितियों के अनुरूप रूपान्तरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गयी है क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक मात्राओं में घट-बढ़ रही थी, अब वह प्रकार में बदल रही है।"[16]

ऊपर उद्धृत पन्त जी के वाक्यों में उनकी उन्नयनशील एवं विकासोन्मुखी चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। उन्हें लगता है कि जीवन के पुरातन-मान, नाग-पाश की तरह विकास-गति को बाँधे हुए हैं। उन्होंने यहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि वर्तमान युग में विगत सामन्तीयुग के जीवन-मूल्य केवल असंगत ही नही हो गये हैं, बल्कि वे प्रगति के बाधक भी सिद्ध हो रहे हैं। उनके अनुसार हम विगत शताब्दियों में सामन्तयुग के मूल्यों को ही किंचित् हेर-फेर के साथ स्वीकार करते रहे, किन्तु अब सामन्ती युग के मूल्यों में नवीन वस्तुस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित और विकसित होने की क्षमता नहीं रह गयी है। सामन्ती युग की परिस्थितियों और आज की परिस्थितियों में केवल मात्रा-भेद न रहकर अब प्रकार-भेद उत्पन्न हो गया है और इस कारण विगत मूल्यों में आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता हमारे सामने है।

पन्त जी के विचार से विगत जीवन-मानों में परिवर्तन भौतिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित समाजवादी विधान की दिशा में होना चाहिए। वे लिखते है---"भौतिक दर्शन", "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के सत्य को देश-काल के भीतर (संस्कृति के रूप में) प्रतिष्ठित करने योग्य विधान को जन्म देना सामन्तयुग की परिस्थितियों की शक्ति के बाहर

था। उसके लिए एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की ज़रूरत थी, दूसरी ओर मनुष्य की सामाजिक चेतना के विकास की।"[17]

इसी चर्चा में वह आगे लिखते हैं–

"जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अन्तर्जगत् में स्थापित किए हुए था, अब उसे सर्वांगपूर्ण तंत्र के रूप में वह बहिर्जगत् में स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आने वाला युग सामन्तयुग के स्वर्ग की अन्तर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य की सृजनशीलता का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जायगा–

"स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर्जग ही बहिर्जगत्
बन जावे
वीणापाणि!"[18]

अपनी इस मान्यता को उन्होंने अन्यत्र इस रूप में व्यक्त किया है–

"अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय निष्प्राण
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।"[19]

ध्यान देने की बात है कि पन्त जी ने सामान्य मान्यता के सर्वथा विपरीत भारतवर्ष के आध्यात्मिक चिन्तन और मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिक दर्शन को एक-दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार किया है। उनके विचार से विगत युगों में "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के रूप में व्यक्त साम्य दृष्टि को वास्तविक सामाजिक जीवन में स्थापित करने की सम्भावना नहीं थी, इस कारण उसका अनुभव आध्यात्मिक सूक्ष्म चेतना में करके ही विगत सांस्कृतिक चेतना सन्तोष पाती रही थी। आधुनिक वैज्ञानिक विकास और यान्त्रिक क्षमता की उपलब्धि से मनुष्य अब इस स्थिति में आ गया है कि वह आध्यात्मिक साम्य-दृष्टि को प्रत्यक्ष सामाजिक साम्य में परिणत कर सके। वह लिखते हैं–"यदि इस विज्ञान के युग में मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के खिन्न और संदिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और

प्न नहीं भर सकता, तो यह कहीं अच्छा है कि इस दैन्य-जर्जर भाव-ज्वर-पीड़ित" जाति-वर्ग में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का न हो जाये।.........किन्तु जिस जीवनी शक्ति की महिमा युग-युग के दार्शनिक र कवि गाते आये हैं, जिसके क्रिया-कलापों और चमत्कारों का विश्लेषण कर ज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध हैं, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी क व मानव-जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता-जागता नरक बनाये रहेगी, पर किसी तरह विश्वास नहीं होता।"[20]

नैतिक और सांस्कृतिक मानों में छोटे-मोटे परिवर्तन कर देने से ही अब म नहीं चलने वाला है, इस बात को स्पष्ट करते हुए पन्त जी ने लिखा 'यदि मुझे सामन्त युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो ता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता—"इस ाब में (जन मन में) काई लग गयी है, उसे हटाना भर है, इसके अन्दर का अभी निर्मल है—जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता। पर, मैंने लिखा "इस तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा, में भविष्य के लिए उपयोगी नया जल भरना पड़ेगा।"—जो सांस्कृतिक क्रान्ति ओर लक्ष्य करता है।..........जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है? वह तो ाणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधाग्रस्त किसानों को तपस्वी उपाधि देने के सिवाय हमें आगे नहीं ले जा सकती।"[21]

पन्त जी की अन्तर्दृष्टि ने यह देखा कि सांस्कृतिक जीवन के क्रांतिकारी ास के लिए वर्तमान युग में एक अत्यन्त अनुकूल भूमिका प्रस्तुत हो गयी विज्ञान और विकसित यन्त्र-शक्ति ने भौतिक जीवन को व्यापक सुविधाओं प्राप्ति और भू-व्यापी संगठन की क्षमता प्रदान कर दी है। इस तरह की कूल स्थिति संसार के इतिहास में पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई थी और इस स्थिति का लाभ मानव-जाति को उठाना चाहिये। उन्होंने लिखा 'ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति-विशेष का समाधान ो है जो यन्त्र-युग के प्रथम चरण पूँजीवाद ने धनी और निर्धन वर्गों के रूप दा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास में दूसरा नहीं ना। मध्ययुगों की अन्न-वस्त्र-पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित जनता इस वाष्प-विद्युत्गामी युग में सम्पूर्ण जीर्णोद्धार न करना उनके मनुष्यत्व के कृतघ्नता के सिवाय और कुछ नहीं है।"[22]

' सुमित्रानन्दन पंत : वैचारिक व्यक्तित्व

पन्त जी की मान्यतानुसार विगत युगों में सांस्कृतिक जीवन और सांस्कृतिक मानों का, चाहे जितना भी अधिक उत्कर्ष हुआ हो, वह केवल अपने युग-विशेष की परिस्थितियों से प्रेरित था और उससे केवल युग-विशेष की सांस्कृतिक और नैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति ही संभव थी। पन्त जी की विकसित सांस्कृतिक चेतना को विगत युगों का चमत्कारी सांस्कृतिक उत्कर्ष भी अधूरा और अपर्याप्त मालूम पड़ता है। वे कहते हैं—

"पशुयुग में थे गण-देवों के पूजित पशुपति,
थी रुद्र-चरों से कुंठित कृषि-युग की उन्नति।
श्री राम रुद्र की शिवमय कर जनहित परिणति
जीवित कर गये अहिल्या को थे सीतापति।"[23]

श्री राम, पन्त जी की दृष्टि में, कृषि-क्रान्ति के प्रवर्तक थे, जिन्होंने कृषि-जीवन की मान-मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एवं सुव्यवस्थित कृषि-जीवन की व्यवस्था पशुजीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। कृष्ण का युग कृषि-जीवन के विभव का युग था भारतवर्ष जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी, उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि चकित कर देने वाले रूपरंग, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़कर जैसे उस युग के चरमोन्नति का प्रतीक-स्वरूप, श्री कृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गयी है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामन्त युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था।"[24]

पन्त जी की दृष्टि में राम और कृष्ण के रूप में अभिव्यक्त सांस्कृतिक उत्कर्ष उनके अपने युग के लिए तो ठीक था, किन्तु यन्त्रयुग की परिस्थितियों की दृष्टि से पन्त जी उन सांस्कृतिक मानों को पर्याप्त नहीं पाते। वे कहते हैं—"सामन्तयुग में भी समय-समय पर छोटी-बड़ी विश्लिष्ट युगों की गण-संस्कृतियों का समन्वय हुआ है तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु उन सबके नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्तयुग की परिस्थितियों ने ही प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से संबंध रखने वाले मौलिक सिद्धान्तों और मतों का यन्त्रयुग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारण करेंगी।"[25]

पन्त जी के नैतिक चिन्तन को दिशा देने वाला दूसरा तत्त्व है—भू-जीवन मे उनकी निष्ठा, जिसका परिचय पिछले प्रसंगों में भी कई बार दिया जा चुका है। न केवल भारतवर्ष के बल्कि संपूर्ण संसार के मध्ययुगीन सांस्कृतिक चिंतन मे हमें धरती के जीवन के प्रति उपेक्षा के दर्शन होते हैं। उस युग के विचारकों सन्तों और साहित्यकारों की दृष्टि इस लोक की अपेक्षा परलोक पर अधिक रहती थी। धरती के स्थूल जीवन और मानव की भौतिक आवश्यकताओ से सम्बन्धित प्रश्नों पर मध्य-युग में या तो ध्यान ही नहीं दिया जाता था या यदि दिया भी जाता था तो उसके समाधान परलोक सुधारने की दृष्टि से ही उपस्थित किये जाते थे। भारतवर्ष की मध्ययुगीन सांस्कृतिक दृष्टि का परिचय देते हुए पन्त जी कहते हैं—"देश की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों से ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणशक्ति मन्द पड़ गयी और भारतीय संस्कृति का गतिशील जीवन-द्रव जातियो, सम्प्रदायों, संघों, मतों, रूढ़ि-रीति-नीतियों और परम्परागत विश्वासों के रूप मे जमकर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण जन साधारण में देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद, वैराग्यभावना आदि ह्रासयुग के अभावात्मक विचारों और आदर्शों का प्रचार बढ़ने लगा।"[26]

मध्यकाल की सांस्कृतिक स्थिति का परिचय पन्त जी ने अपने 'लोकायतन" नामक विशद काव्य में इस प्रकार दिया है—

> "कहते वे धिक् मध्ययुगी मन को
> जिसने भू को दी विरक्ति, वर्जन,
> दिया पारलौकिक का आकर्षण,
> कर्म-प्रेरणा से वंचित कर जन।
> बाँध कर्म-फल-क्रम में जीवन को
> पूर्व जन्म की रच निर्मम शृंखल,
> अजगर बना नियति बिल का निष्क्रिय
> पाप-पुण्यभय दिखा, किया निर्बल।
> धिक् जग-जीवन को मिथ्या बतला
> रिक्त मुक्ति हित भेजा गृह को वन!
> घोर दरिद्र, कुरूप बना भू को,
> झूठी आस्था दी झूठे साधन,

पक्षाघात ग्रसित पा भू-जन का
भर आते करुणा-जल से लोचन
रुधिर उबलता हृदय शिराओं में
प्रेम-सृष्टि को देख नरक प्रांगण।"[27]

उन्होंने मानव को सचेत किया कि–

"आत्मिक सित संपद्, चरित्र बल प्रति प्रबुद्ध रह।
अन्तर्वैभव ही वैभव वरणीय मनुज हित।
रिक्त त्याग के मरु मृग अंधतमस् में गिरते–
जीवन का जो तिरस्कार, मैं भू-जीवन प्रिय।"[28]

धरती के जीवन को महत्त्व देना आधुनिक युग-दृष्टि का एक सामान्य लक्षण है। इस आधुनिक जीवन-दृष्टि को पन्त जी ने न केवल आग्रह के साथ ग्रहण किया, बल्कि उसे नवीन परिष्कार भी दिया है। पन्त जी भू-जीवन तथा दिव्य-जीवन में कोई अन्तर नहीं मानते। उनकी दृष्टि में भू-जीवन भी दिव्य-जीवन का ही अंग है। वे सम्पूर्ण सृष्टि को भागवत सत्ता मानते हैं और जीवन-साधना को ही परम साधना का सम्मान देते हैं। उनके लिए यह भू-तल प्रभु का मंदिर है। "समाधिता" शीर्षक अपने काव्य-संकलन की एक रचना में वे कहते हैं–

"तन्मय अन्तर ही प्रभु दर्पण,
भू-तल मन्दिर प्रांगण,
जीवन ईश्वर से वियुक्त?
यह मध्य युगों का दर्शन।"[29]
तथा
"इन्द्रिय द्वारों से ही ईश्वर–
जग में करता विचरण,
सूक्ष्म भाव सौन्दर्य स्पर्श पा
मोहित हो उठता मन,
श्लक्ष्ण रत्न छायाभा गुम्फित चिद्गन्धी इन्द्रिय-दल
कहाँ खोजते स्वर्ग?
स्वर्ग रे यही रजोमय भू-तल
× × ×
भंगुर ही में रच पच कर

शाश्वत का रहना संभव
जो शाश्वत को पृथक् खोजते
रीता उनका अनुभव।"[30]
आगे भी उन्होंने लिखा है—
"भू-जीवन से विलग, खोज में
खो थोथे चिन्तन के
युग-युग से हम भटक रहे
माया खँडहर में मन के,
आओ, हम सीधे संयुक्त करें—
मन को जीवन से
धरा-कर्म में निरत, न बिलगायें
शाश्वत को क्षण से।"[31]

भू-जीवन की दिव्यता में अपनी निष्ठा के कारण पन्त जी ने इहलोक की उपेक्षा कर परलोक सुधारने की वृत्ति को विगर्हणीय माना है और धरती के जीवन की असत्यता, निस्सारता तथा अमंगलमयता की घोषणा करने वाली समस्त वैराग्यवादी नैतिक मान्यताओं को मानवीय कल्याण की साधना की दृष्टि से अयोग्य और अवांछनीय बतलाया है। जो चेतना मनुष्य को भू-जीवन से नहीं जोड़ती और उसे विकसित करने की प्रेरणा और शक्ति नहीं प्रदान करती, उसे पन्त जी चेतना का पराभव मानते हैं। डार्विन के विकासवाद और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में पन्त जी ने अपनी निष्ठा अवश्य प्रकट की है, किन्तु वे उनके समान मात्र भौतिकवादी नहीं थे। पन्त जी की भू-जीवन की निष्ठा में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का अत्यन्त स्वस्थ समन्वय हमें दिखाई देता है। उन्होंने भौतिकवादी चिन्तन और आध्यात्मिक चिन्तन की जीवन-साधक स्वस्थ वृत्तियों को ही ग्रहण किया और इन दोनों विचारधाराओं के जो पक्ष उन्हें जीवन-विकास के पोषक प्रतीत नहीं हुए उनकी उन्होंने उपेक्षा की है। पन्त जी ने इन दोनों दर्शनों के तत्त्वों के ग्रहण तथा परित्याग के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—"मैं अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शन-सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण, जो एकान्त परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत् एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं) और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग-युद्ध और

रक्त-क्रान्ति में परिणति हुई है, ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।"[32]

उन्हें न तो ऐसा संकीर्ण भौतिकवाद मान्य था जो आत्मवाद को नकारता हो और न ऐसा अध्यात्मवाद उनके लिए स्वीकरणीय था, जो धरती के प्रत्यक्ष जीवन से आँखें चुराकर आध्यात्मिक उन्नति का पथ अपनाता हो। "युगवाणी" की "संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति" शीर्षक रचना में संकीर्ण भौतिकवाद की सार्थकता को चुनौती देते हुए उन्होंने भौतिकता और आध्यात्मिकता की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है–

"आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे, तुम सँवार कर चाम?
× × ×
आत्मा औ' भूतों में स्थापित करता कौन समत्व?
बहिरन्तर, आत्मा भूतों से है अतीत वह तत्त्व!
भौतिकता, आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।"[33]

अपनी समन्वय-दृष्टि को स्पष्ट करते हुए "युगवाणी" की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है–"मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठनरूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।..................पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है, जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[34]

पन्त जी के नैतिक चिन्तन का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है–सामूहिक विकास में उनकी निष्ठा। सम्पूर्ण जीवन की तात्त्विक एकता में विश्वास रखने के कारण उन्हें ऐसा हर विकास अथवा ऐसे हर विकास का प्रयास जो समूह अथवा समाज की उपेक्षा करके केवल वैयक्तिक उन्नयन अथवा विकास को अपना लक्ष्य मानता है, अधूरा और अपर्याप्त प्रतीत हुआ। सामाजिक विकास के साधक नैतिक मान ही, उनका आयाम चाहे सामाजिक हो अथवा वैयक्तिक, पन्त जी को नैतिक मान प्रतीत होते हैं। सारा नैतिक चिन्तन मंगल अथवा कल्याण को ही लक्ष्य मानकर उद्‌भूत तथा विकसित होता है। पन्त जी समाज तथा व्यक्ति के बीच एक सावयविक जीवन्त सम्बन्ध में विश्वास रखते थे, इस कारण सामाजिक विकास से पराङ्मुख व्यक्ति-विकास अथवा आत्मविकास को

न सपूणत वाछनीय नही मानते युगवाणी की मूल्याकन शीषक कविता मे वे कहते हैं—

"धर्म नीति औ' सदाचार का
मूल्यांकन है जनहित,
सत्य नहीं वह, जनता से जो
नहीं प्राण सम्बन्धित।"[35]

पन्त जी के विचार से नैतिकता और सदाचार का लक्ष्य केवल व्यक्ति का अपना हित नहीं होना चाहिये। जिस नैतिकता और सदाचार के प्राण-सम्बन्ध जनता से न हों उसे वह सत्य नहीं मानते थे। यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है कि पन्त जी का जनहित किसी एक देश, भू-भाग या जाति के जनों तक ही सीमित नहीं है। उनका जन भू-व्यापी जन है। उनकी कविता की ये पंक्तियाँ सार्वभौम जनहित में उनकी निष्ठा का स्पष्ट परिचय देती हैं—

"भू-खण्डों में भग्न, विभाजित
बहिर्मुखी युग मानव का मन,
स्थापित स्वार्थों से शत खण्डित
मानव आत्मा का हत प्रांगण!
देश खण्ड से भू-मानव का
परिचय देने का क्या क्षण यह?
मानवता में देश जाति हों लीन
नये युग का सत्याग्रह!"[36]

हिन्दी के छायावादी काव्य में इस भू-व्यापी जनहित की चेतना के उदय क पीछे पन्त जी ने अंग्रेज़ी कविता तथा रवीन्द्र नाथ की दृष्टि का प्रभाव माना है। "वीणा" से "वाणी" तक की अपनी कुछ चुनी हुई रचनाओं के संकलन 'रश्मिबंध" की भूमिका में, जिसे उन्होंने "परिदर्शन" का शीर्षक दिया है, वे लिखते हैं—"छायावाद के रूप-विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंग्रेज़ी कवियो का प्रभाव पड़ा; भावना में महात्मा (गांधी) जी के सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा युगसंघर्ष की आशा-निराशा का, और विचार-दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का; जो आगे चलकर धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर, जनभूवाद तथा नवमानववाद में परिणत हो गये। विश्ववाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने आरम्भ में मुख्यतः कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंशतः

ली आदि अंग्रेज़ी कवियों से ग्रहण किया।"[37]

भ्रान्ति से बचने के लिये पन्त जी की समूहवादी दृष्टि के सम्बन्ध में कुछ और कहने से पहले यह संकेत कर देना आवश्यक है कि पन्त जी सामूहिकता के साथ वैयक्तिकता को भी महत्त्व देते थे। मार्क्सवादी भौतिकवाद की तरह वे केवल सामाजिक शक्ति और सामाजिक विकास में ही विश्वास नहीं करते थे। उनके निकट समूह और व्यक्ति एक-दूसरे के विरोधी उपादान नहीं थे। उनकी मान्यता के अनुसार सामाजिक उन्नति वैयक्तिक उन्नति का मार्ग खोलती है और वैयक्तिक उन्नति सामाजिक उन्नति का अंग बनती है। मध्यकाल की सीमित व्यक्ति-निष्ठा के कारण सामूहिक विकास की गति को अवरुद्ध पाकर पन्त जी को गहरा विक्षोभ हुआ था। इसी कारण उनकी कई रचनाओं मे समूहवाद अथवा सर्ववाद का ऐसा स्वर सुनाई पड़ता है जो व्यक्ति के महत्त्व को नकारता प्रतीत होता है। "युगवाणी" की भूमिका में उन्होंने लिखा है–"मैंने "युगवाणी" को विश्वमूर्ति कहा है जिससे वह जातिगत मन से मुक्त होकर विश्वमन एवं युग के लोकमन को अपने स्वरों में मूर्त कर सके।"[38]

"युगवाणी" शीर्षक कविता में वे कहते हैं–

"बने विश्व-जीवन की स्वर लिपि
जन मन मर्म कहानी
कवि की वाणी"[39]

"युगवाणी" काव्य-संग्रह की एक अन्य रचना "गंगा का प्रभात" में उन्होंने लिखा है–

"क्षुद्र व्यक्ति को विकसित होकर
बनना अब जन-मानव,
सामूहिक मानव को निर्मित
करनी भव संस्कृति नव,
मानवता के युग प्रभात में
मानव जीवन धारा
मुक्त अबाध बहे, मानव जग
सुख स्वर्णिम हो सारा।"[40]

अपने काव्य में तथा आधुनिक विश्व-चेतना में सामूहिकता की इस प्रवृत्ति के जागरण का कारण पन्त जी वैज्ञानिक युग की विकसित परिस्थितियों को

मानत हे ंग लिखत हे मरा ज्योत्स्ना ग्राम्या म निहित आदशवादी विचारधाराए मेरे चेतना-काव्य में एक व्यापक सांस्कृतिक सामंजस्य में विकसित होकर धरती पर नवीन लोकजीवन, विश्वमानवता तथा मानव-एकता की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट रही हैं। मानवएकता का सत्य मानव-समानता के सत्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु समानता के सत्य को अतिक्रम कर मानवएकता की स्थापना सम्भव नहीं। वैज्ञानिक युग की विकसित परिस्थितियों के अनुरूप मानवता के बहिरंतर जीवन का समूहीकरण होना अनिवार्य है। इसकी जितनी उपेक्षा की जायेगी यह सर्वव्यापी समानता की भावना उतनी ही सशक्त तथा उग्र होती जायेगी। आज जब हम साहित्य के वैयक्तिक मूल्यों के मोह या दर्प में सामूहिकता के मूल्यों की अवहेलना करते हैं तब हम भूल जाते हैं कि किसी पिछले ऐतिहासिक युग या युगों में मानवता का पिछली (सामन्तकालीन) परिस्थितियों के अनुरूप समूहीकरण एव सामंजस्यीकरण हो चुका है। आज की हमारी क्षुद्र अहंता अथवा पृथक् वैयक्तिकता उसी विगत संगठित चैतन्य की स्फुलिंग मात्र है और उसी सांस्कृतिक क्षितिज के भीतर ऊब-डूब करती है। उसे हम अधिक महत्त्व देकर मानवता के नवीन समूहीकरण के पथ में बाधा उपस्थित करते हैं।"[41]

किन्तु जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, पन्त जी वैयक्तिक विकास तथा सामूहिक विकास को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर परस्पर-पूरक मानते है। उनका मत है —"मनुष्यत्व की पूर्ण एवं समग्र अभिव्यक्ति के लिए लोक-जीवन अथवा सामूहिक जीवन ही पर्याप्त नहीं है, भले ही वह एक अनिवार्य सत्य हो। मनुष्यत्व के सम्पूर्ण विकास के लिए व्यक्तित्व का भी अन्तर्विकास या ऊर्ध्व विकास करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि मानवता का सामूहिक, समदिक् विकास उसका आधारभूत धरातल है तो व्यक्ति के रूप में मानव का समग्र विकास उसके मनुष्यत्व का शिखर है।..........आज की आधिभौतिक शक्तियों के विकास के युग में मनुष्य को अपनी आन्तरिक चेतना की शक्तियो का भी उसी अनुपात में विकास करना है।.........व्यक्ति-मुक्ति, सामूहिक समता ओर मानवीय एकता—ये तीनों मूल्य मानवता के भावी विकास के लिए अनिवार्य रूप से सत्य तथा उपयोगी हैं।"[42]

"स्वर्णकिरण" काव्य-संग्रह में संकलित अपनी "चिन्तन" शीर्षक कविता मे पन्त जी ने सामाजिक साधारणता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है। वे व्यक्ति को नगण्य नहीं समझते थे, सिन्धु के साथ वह बिन्दु का मूल्य भी मानते थे—वे लिखते हैं—

"क्या यह उचित
कि यह सामाजिक साधारणता
मूल्य व्यक्ति का करे नियन्त्रित?
जंगम-जीवन-ज्वर की जड़ता
करे मनुज-आत्मा मर्यादित?
मानव-जीवन नहीं अकूल
अतलता ही में सीमित
वहाँ बूँद का मान उदधि से
कहीं अधिक है निश्चित।
बिन्दु सिन्धु? बूँदों का वारिधि
बूँदों पर अवलम्बित
व्यक्ति समाज? व्यक्ति में रहता
अखिल उदधि अन्तर्हित।
सागर की असीमता जड़ है
जन समाज की जीवित,
सृजन शक्ति का दूत व्यक्ति,
करता समाज को विकसित।"[43]

व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास के बिना सामाजिक संचरण और सामाजिक संचरण के बिना व्यक्तिगत सांस्कृतिक विकास सामंजस्य के स्थान पर व्यर्थता और विषमता को ही जन्म देते हैं। जीवन-विकास की व्यक्तिगत और सामाजिक धाराएँ एक-दूसरे से पृथक् रहते हुए अथवा एक-दूसरे का विरोध करते हुए प्रवाहित होती हैं तो उसका जो परिणाम होता है उसका संकेत पन्त जी अपनी इसी कविता में इस प्रकार करते हैं—

"आज अभाव-शक्तियाँ जग में
काँटे बोती हैं पग-पग में,
सामाजिक समता का कटु विष
दौड़ रहा जन की रग-रग में।
आज भाव की सृजन-शक्तियाँ
उतर नहीं पाती हैं भू पर,
जो अन्तर्चेतना व्योम में
उमड़ रही देने जीवन-वर।

आज चतुर्दिक् घृणा, द्वेष,
स्पर्धा से जग-जीवन परितापित,
आज एकता के मन्दिर में
अहम्मन्य जड़-समता स्थापित।
आज प्रतीति न प्रीति हृदय में
औ' उल्लास न आशा,
प्रतिहिंसा तृष्णा संशय भय
नयनों की शर-भाषा।
कब विश्वास, प्रेम, आशा,
पुरुषार्थ, उच्च-अभिलाषा
कला-सृष्टि सौन्दर्य-दृष्टि
होगी जीवन-परिभाषा।''[44]

जैसा पन्त जी की उपरि-लिखित पंक्तियों से और उनके पूर्वोद्धृत विवेचन स प्रकट होता है, उनकी भू-मानवता, मानवीय समता को अंतिम सत्य न मानकर मानवीय एकता को तात्त्विक सत्य मानती है। सामाजिक मंगल व्यक्ति-मंगल की उपेक्षा करके सिद्ध नहीं हो सकता। सामाजिक विकास की सार्थकता व्यक्ति-मंगल की स्थापना में है और वैयक्तिक विकास की उपयोगिता सामाजिक मंगल की सिद्धि में है। पन्त जी ने लिखा है—''व्यक्तिगत कर्म से अधिक मूल्य मेरी दृष्टि मे सदैव से सामूहिक कर्म का रहा है। वह किसी भी देश या जाति के लोगों का सामूहिक अथवा सामाजिक कर्म ही होता है जो व्यक्तियों के भाग्यों का निर्णायक बनकर उनके जीवन को सुख-दुःखमय अथवा दरिद्र-सम्पन्न बना सकता है।...... वास्तव में जीवन एक अखण्ड अक्षय-चेतना-सिन्धु के समान है और जिस प्रकार निस्तल अवाक् समुद्र में असंख्य तरंगें उठ-गिरकर, जन्म-मरण की लीला कर, फिर समुद्र ही बन जाती हैं उसी प्रकार अनन्त जीवों की पीढ़ियाँ भी एक ही जीवन-सिन्धु की सन्तानें हैं और वही उनकी वास्तविक सत्ता होने के कारण, वे अपना पृथक् तरंगाकुल व्यक्तित्व धारण करने पर भी अंततः उसी में विलीन हो जाती या समा जाती हैं।................वैयक्तिक मूल्य मानव-जीवन विकास मे गुणात्मक उन्नयन के लिए आवश्यक हैं तो सामाजिक मूल्य राशिवाचक अभ्युदय के लिए। व्यक्ति और समाज मानव-जीवन के सत्य के दो अनिवार्य अंग हैं जो एक दूसरे पर अविच्छिन्न रूप से निर्भर हैं। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा करने वाला समाज अधिक मानवीय, वैभवपूर्ण तथा सांस्कृतिक संपत्ति-सम्पन्न होगा।''[45]

पन्त जी के विचार से "यदि पुरानी दुनियाँ (मध्ययुग) अति-वैयक्तिकता के पक्षपात से पीड़ित थी तो नई दुनिया अति सामाजिकता के दलदल में फँसने जा रही है।................हमें व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतंत्र अन्योन्याश्रित सिद्धान्तों की तरह स्वीकारना ही होगा तथा मनुष्य की बहिरन्तरमुखी प्रवृत्तियों के विकास और सामंजस्य के आधार पर ही विश्वतंत्र को प्रतिष्ठित करना होगा। दोनों संचरणों की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशांति को जन्म देना होगा।"[46]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी का नीति सम्बन्धी चिन्तन व्यक्तिगत विकास को भी उतना ही महत्त्व देता है जितना सामाजिक विकास को। उन्होंने आज के मानव के लिए व्यवहार-सम्बन्धी विधि-निषेधों को विस्तार से संहिता-बद्ध करने के स्थान पर उन्हें निरूपित करने वाले दिशा-संकेतों के निर्धारण में अपनी विचारशक्ति को अधिक लगाया है। जीवन की दिक्-काल-व्यापी अखण्डता को अपनी चेतना में समाहित करना, जहाँ उनकी मानसिक और आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य था, वहीं उस चेतना के प्रकाश में मानवीय व्यवहार की दिशा का निर्धारण और प्रेरणा उनकी नैतिक धारणाओं का लक्ष्य था। जीवन कैसा होना चाहिये, उसकी समस्याएँ क्या हैं, और उनके समाधान क्या हो सकते हैं—उनके बारे में वे निरन्तर विचार करते रहते थे और उनकी चेतना में आदर्श जीवन का एक रूप भी निर्मित हो चुका था; किन्तु उनकी रचनाओं में उस जीवन-मूर्ति के अनुरूप अनुसरणीय कर्म-विधान का कोई स्पष्ट और ब्यौरेवार विवरण हमें नहीं मिलता। एक सर्जनशील कलाकार इस तरह की कर्मसंहिता का निर्माण संभवतः कर भी नहीं सकता। उन्होंने लिखा है—"मेरी आँखों के सामने जीवन का एक विशिष्ट विधान, एक पूर्णतम मूर्ति रहती है। मेरा मन मानव-जीवन का उद्देश्य जानना चाहता है, वह उसकी तह तक पैठकर उसे नये रूप में सँजोना चाहता है और ध्येय की खोज में अनेक प्रकार के प्रश्नों, समस्याओं तथा कार्य-कारण भावों की गुत्थियों में उलझा रहता है। जीवन के यथार्थ को अपने विश्वासों के अनुकूल बनाने के बदले उसके सामने मूक भाव से मस्तक नवाने की नीति को वह किसी तरह अंगीकार नहीं करना चाहता। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख की भावनाओं में आत्मसंयम तथा साधना द्वारा संतुलन स्थापित कर सामाजिक यथार्थ को आदर्श की ओर ले जाने में विश्वास करता है।"[47]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन में उनकी नैतिक चेतना की निरन्तर सक्रियता और अपराजेय नैतिक उत्साह के दर्शन हमें होते हैं। जीवन की जो पूर्णतम मूर्ति

उनकी चेतना की आँखों के सम्मुख वर्तमान रहती थी उसके स्थूल रूप-आभास मात्र ही हमें उनकी रचनाओं में बिखरे हुए मिलते हैं। उनकी प्रतीति में यह तथ्य दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित हो गया था कि आज विश्व की परिस्थितियों म वज्ञानिक विकास और अद्भुत यान्त्रिक क्षमता के कारण विश्व-जीवन के समग्र आर संतुलित विकास की जो संभावनाएँ पैदा हो गई हैं, वे विश्व-विकास के इतिहास में अभूतपूर्व हैं। विगत युगों का नैतिक विधान, इसी कारण उनकी द्रष्टि में अपर्याप्त और अनेक दृष्टियों से असंगत प्रतीत होने लगा था। उनक आधार पर आज के जीवन के लिए नैतिक विधानों का निर्माण नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है—"विचारकों ने जीवन का कुछ भौतिक-बौद्धिक मान्यताओ तथा नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों में विश्लेषण-संश्लेषण कर उसे सिद्धान्तों मे जकड़ दिया है। मनुष्य की चेतना उन जटिल, दुरूह मूल्यांकनों को आर-पार न भेद सकने के कारण उन्हीं की परिधि के भीतर घूम-फिर कर उनकी बालू की-सी चकाचौंध में खो जाती है; किन्तु जीवन के मूल इन सबसे परे हैं। जीवन अपने ही में पूर्ण है, क्योंकि वह सृजनशील तथा विकासशील है। मनुष्य द्वारा अनुसन्धानित समस्त नियम तथा मान्यताएँ उसके छोटे-मोटे अंग तथा उसकी अभिव्यक्ति के बनते-मिटते हुए पदचिह्न भर हैं। वह आत्मसृजन के आनन्द तथा आवेश में अपनी अभिव्यक्ति के नियमों को अतिक्रमकर अपनी साम्प्रत पूर्णता को निरन्तर और भी बड़ी पूर्णता में परिणत करता रहता है।"[148]

पन्त जी की नैतिकता का लक्ष्य भू-मानव की कल्याण-साधना है। उनक हृदय में सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यों के प्रति गहन अनुराग तथा सहानुभूति का सागर तरंगित होता रहता था। वर्तमान युग की परिस्थितियों में पायी जाने वाला उन असंगतियों को मिटाने की तीव्र आकांक्षा उनके मानस को उद्वेलित करती रहती थी, जो वर्तमान विश्व-जीवन को असंतुलित और विक्षुब्ध बनाये हुए हे। साथ ही वे ऐसे जीवन-मूल्यों के सन्धान में भी लगे रहते थे जो सम्पूर्ण जीवन का, उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक विस्तार में, अखण्ड एकत्व की चेतना स अन्वित कर आनन्दमय बना सकें। इसी कारण सत्य, त्याग, करुणा, सहृदयता, क्षमा, प्रेम आदि शाश्वत मानवीय गुणों की उन्होंने निरन्तर प्रशंसा की है तथा असत्य, असहिष्णुता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों से घृणा की बात कही है। नैतिक मूल्यों में आमूल परिवर्तन की बात करते समय वे केवल मानव-जीवन से सम्बन्धित शाश्वत विधि-निषेधों की उन व्याख्याओं एवं व्यावहारिक पद्धतियों के परित्याग की बात करते थे जो नये युग की दृष्टि से असंगत हो गयी अर्थहीन रूढ़ियाँ बन

गयी हैं। उन्होंने कहा है—"मानव-जीवन की, युगों के अन्धकार एवं नैतिक संकीर्णता की कलंक-कालिमा में सनी चेतना की चादर को—जिसे कबीर जतन से ओढ़कर ज्यों-की-त्यों रख गये थे—नवीन प्रकाश के जल में डुबा कर, उसे संस्कृति के व्यापक मूल्यों की स्वच्छ शोभा प्रदान कर, हमें सबके ओढ़ने योग्य बनाना होगा।.........आज के युग का प्रश्न केवल भारतीय या एक-देशीय आध्यात्मिकता या संस्कृति का नया संस्करण प्रस्तुत करना नहीं है, जैसा मध्ययुग में रहा है। आज समस्त मानवता तथा विश्व-जीवन को एक सक्रिय जीवनोपयोगी आध्यात्मिक चेतना तथा सांस्कृतिक पीठिका प्रदान करना है। आने वाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का—वह देशों की सीमाओं एवं विभेदों को अतिक्रम कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा। आज की बाह्य वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त उसके भीतर अन्तर-वास्तविकता एवं अन्तश्चेतना का उदय तथा विकास होगा।"[46]

सन्दर्भ-संकेत

1. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1, गुंजन, गीत संख्या 13, पृ. 24, प्र स 1979
2. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, धर्म और विज्ञान 2, पृ. 455, प्र स 1979
3. कामायनी—जयशंकर प्रसाद—श्रद्धा सर्ग
4. पल्लव—परिवर्तन कविता, पृ. 142-143, आठवाँ संस्करण 1977
5. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 265, प्र. सं. 1979
6. वही, पृ. 270
7. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 274, प्र. सं. 1979
8. वही
9. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 275, प्र. सं. 1979
10. किरणवीणा—नयी आस्था कविता, पृ. 169, प्र. सं. 1967

11 किरणवीणा—नयी आस्था कविता, पृ. 170, प्र. सं. 1967
12 किरणवीणा—नयी आस्था, पृ. 176, प्र. सं. 1967
13 किरणवीणा—नयी आस्था, पृ. 177-178, प्र. सं. 1967
14 युगवाणी--मार्क्स के प्रति, पृ. 28, पाँचवाँ संस्करण, 1982
15 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग दो, पर्यालोचन, पृ. 277-278
16 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग दो, पर्यालोचन, पृ. 278
17. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 279
18. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 279
19 युगवाणी—समाजवाद-गांधीवाद कविता, पृ. 29, पाँचवाँ संस्करण 1982
20 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 280, प्र. सं. 1979
21 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 281, प्र. सं. 1979
22. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 284, प्र. सं. 1979
23 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 272, प्र. सं. 1979
24 वही
25 सु. पन्त ग्रंथावली, 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 273, प्र. सं. 1979
26. सु. पन्त ग्रन्थावली खण्ड 6, आधुनिक कविताः भाग 2, पर्यालोचन, पृष्ठ 273, प्रं. सं 1979
27 स. पन्त ग्रंथावली खंड 5, लोकायतन, पृ. 321,-322, प्र. सं. 1979
28 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 209, प्र. सं. 1967
29. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, समाधिता, गीत सं. 4, पृ. 140, प्र. स. 1979
30. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, समाधिता, गीत सं. 5, और 7 पृ. 141, प्र. सं. 1979

31. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 7, समाधिता, गीत सं. 9, पृ. 142, प्र. सं. 1979
32. सु. पन्त ग्रंथावली खंड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 278, प्र. सं. 1979
33. युगवाणी--संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति, पृ. 30, पाँचवाँ संस्करण 1982
34. युगवाणी--भूमिका--पृ. 12, पाँचवाँ संस्करण 1982
35. युगवाणी--मूल्यांकन कविता, पृ. 26, पाँचवाँ संस्करण 1982
36. सुमित्रानन्दन पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, रश्मिबंध--परिदर्शन, पृ. 301, प्र. सं. 1979
37. वही, पृ. 292,
38. युगवाणी--युगवाणी की भूमिका, पृ. 11, पाँचवाँ संस्करण 1982
39. युगवाणी--युगवाणी कविता, पृ. 18, पाँचवाँ संस्करण, 1982
40. युगवाणी--गंगा का प्रभात कविता, पृ. 26, पाँचवाँ संस्करण 1982
41. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध--नवमानवता का स्वप्न, पृ. 50-51, प्र. सं. 1979
42. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध--मैं और मेरा परिवेश, पृ. 61, प्र. सं. 1973
43. स्वर्ण-किरण--चिन्तन कविता, पृ. 25, चतुर्थ संस्करण 1971
44. स्वर्ण किरण--चिन्तन कविता, पृ. 26, चतुर्थ संस्करण 1971
45. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध--साहित्य : समसामयिक संदर्भ में, पृ. 81-82, प्रथम संस्करण 1973
46. उत्तरा--भूमिका (प्रस्तावना), पृ. 16, चतुर्थ संस्करण 1980
47. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण, पृ. 210, प्र. सं. 1979
48. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6--जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण, पृ. 210, प्र. सं. 1979
49. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6,--चिदम्बरा--चरणचिह्न, पृ. 325-326, प्र. सं. 1979

समाज-खण्ड

प्रथम अध्याय

पन्त जी की समाज-दृष्टि

सामान्य पृष्ठभूमि

धर्म अथवा संस्कृति से सम्बन्धित व्यक्ति-केन्द्रित मानव-प्रयासों के सम्बन्ध म पन्त जी के विचारों की चर्चा पिछले परिच्छेदों में साधना एवं उपासना सम्बन्धी उनके विचारों के प्रसंग में की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में उनक उन विचारों का विवरण तथा विश्लेषण देने का प्रयास किया जा रहा है, जो धर्म क समाज-केन्द्रित आयामों से सम्बन्धित हैं। सांस्कृतिक अथवा सामाजिक जागरूकता पन्त जी के जन्मजात स्वभाव का अंग थी। अपनी बाल्यावस्था क बीतते-न-बीतते वे व्यापक जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक हो गये थ। उनकी बाहरी अन्तर्मुखता उनकी व्यापक जीवन-चेतना का ही परिणाम थी। पन्त जी बाहर से यदि इतने अन्तर्मुख न होते तो इतना व्यापक सांस्कृतिक चिन्तन करना और उसे साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति देना उनके लिए सम्भव न हो पाता। उनकी सामाजिक चेतना का मूल तो उनके जन्मजात संस्कार में था, किन्तु उसे प्रेरणा और दिशा उनके युग की परिस्थितियों, प्रचलित विचार-धाराओं तथा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के वैचारिक सम्पर्क से प्राप्त हुई।

अंग्रेज़ी शासन ने भारतवर्ष में एक नयी शिक्षा-पद्धति की स्थापना की। अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी की प्रेरणा स भारत की सामाजिक एवम् सांस्कृतिक नव-जागृति का प्रादुर्भाव हुआ। यूरोपीय सपर्क से भारत में भी स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृभावना आदि विचारों का आन्दोलन सहस्र धाराओं में बहने लगा। कविता नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, दर्शन, राजनीति तथा धर्म आदि सभी क्षेत्रों में इन नवीन विचारों का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। यूरोप की वैचारिक क्रान्तियों में, उस समय भारत ने अपना योगदान विचारक की हैसियत से भले ही अधिक न दिया

हो, किन्तु उसका प्रभाव ग्रहण करने में भारत देश यूरोप से पीछे नहीं रहा।

वर्तमान शती के प्रारम्भिक वर्षों में संसार भर के आर्थिक संकट का विशेष अनिष्ट प्रभाव भारत की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति पर पड़ा, जिससे पहले से ही पिछड़ी हुई भारतीय अर्थ-व्यवस्था और भी बिगड़ गयी, देश भर में बेरोज़गारी फैल गयी और दरिद्रता तथा बुभुक्षा का बोझ बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप भारतीय जनता के मध्य अंग्रेज़ी व्यवस्था के प्रति विरोध तीव्रतर हो गया।

एक ओर जहाँ मार्क्सवादियों के बिखरे हुए गुटों के संगठन से भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ, वहीं भारत की विशाल जनता के बीच गांधी जी के विचारों का भी प्रसार हुआ। कोई भी साहित्यिक अपने युग की परिस्थितियो से प्रेरणा एवं प्रभाव अवश्य ग्रहण करता है। भारतीय सामाजिक नव-जागृति के प्रवर्तन का प्रभाव पन्त जी पर भी पड़ा। यद्यपि उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम मे प्रत्यक्षतः अधिक भाग नहीं लिया, तथापि अपने चारों ओर जो कुछ उन्हें सुनाई व दिखाई दे रहा था, उसके विषय में वह अधिकाधिक सोच-विचार करने लगे।

उन्हीं दिनों प्रसिद्ध प्रगतिशील चिन्तक पूरनचन्द्र जोशी से पन्त जी की घनिष्ठ मित्रता हो गयी, जिनका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"मेरे भावाक्रान्त मन को उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से बड़ी सान्त्वना मिलती। उनके विचार मैं बड़े ध्यानपूर्वक सुनता। उनके विचारों द्वारा मेरे मन में मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास की रूपरेखाएँ धीरे-धीरे अंकुरित होन लगीं, जिन्हें मैं पीछे अपने अध्ययन-मनन से अधिक व्यापक एवं समुचित रूप से समझ सका। मेरा विश्व-प्रेम का क्षितिज जोशी जी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सम्भावनाओं से तब विस्तृत एवं वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था।"[1]

अपने प्रेरणास्रोतों की चर्चा करते हुए अपने "चिदम्बरा" शीर्षक काव्य-संकलन की "चरणचिह्न" नामक भूमिका में वे लिखते हैं—"युवावस्था के प्रारम्भ मे रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेज़ी कवियों ने भी मेरी कला-रुचि का संस्कार किया है। किन्तु कला-रुचि एवं सौन्दर्य-बोध से भी अधिक मूल्यवान, जो इस युग के लिए नवीन भाव-चैतन्य, नवीन सामाजिकता तथा नवीन-मानवता का बोध है, वह मुझमें गांधी, मार्क्स तथा श्री अरविन्द के सम्पर्क से विकसित हुआ। निस्संदेह मेरे भीतर अपने विशिष्ट संस्कार रहे हैं। प्रबुद्ध होने पर अपने युग तथा समाज से मुझे घोर असन्तोष रहा है। धरती के जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एव

सौन्दर्य से मण्डित देखने की दुर्निवार आकांक्षा मुझमें अधिक कल्पनाशील होने के कारण युवावस्था में ही उत्पन्न हो गयी थी।......मैंने बाहर के प्रभावों को सदैव अपने ही अंतर के प्रकाश में ग्रहण किया है और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेश कर नवीन दृष्टिकोण तथा उपकरणों से मण्डित होकर निखरे हैं, जिन्हें मैं समय-समय पर अपनी रचनाओं में वाणी दे सका हूँ।"

अन्यत्र उन्होंने लिखा है—"पल्लवकाल तक मेरा कवि आत्म-प्रबुद्ध नहीं हुआ था। उसके बाद ही वह अपने बाहर-भीतर के जीवन-प्रवाह के प्रति सचेत हो सका और अपने बाहर-भीतर के सामाजिक जीवन की सीमाओं से क्षुब्ध होकर उसने "युगान्त", "युगवाणी", तथा "ग्राम्या" में पुरानी दुनिया की अंध-रूढ़ि, रीति-परम्पराओं तथा वैज्ञानिक युग से पहले की संकीर्ण आर्थिक, राजनीतिक प्रणालियों तथा सामाजिक परिस्थितियों में पथराई हुई बाह्य जीवन की चेतना पर निर्मम आघात किये और अपने युग की सम्भावनाओं से नई दृष्टि प्राप्त कर नवीन परिस्थितियों के विकसित सत्य को वाणी देने का प्रयत्न किया, साथ ही विगत युगों के नैतिक, धार्मिक विचारों एवं आदर्शों की सीमाओं से परिचित होने पर मानव-जीवन तथा मन को व्यापक धरातल पर उठाने के अभिप्राय से युग का ध्यान नवीन चैतन्य तथा अध्यात्म के शिखरों की ओर आकृष्ट किया और शतियों के पुंजीभूत निष्क्रिय मानस-अंधकार को नवीन स्वप्नों की सुनहली लपटों में जगाने की चेष्टा की।"[3]

पन्त जी ने अपने साहित्य में प्रसंगानुसार समाज की ज्वलन्त समस्याओं की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है और साथ ही अपने निर्णय तथा समाधान भी प्रस्तुत किये हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि ऐसी समस्याओं के सम्बन्ध में पन्त जी के अपने निजी विचार थे। पन्त जी ने जहाँ कहीं अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह नितान्त नवीन एवं प्रगतिशील है। उनके "स्वर्णधूलि" शीर्षक काव्य-संग्रह की "पतिता" तथा "परकीया" आदि रचनाओं से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि कवि का हृदय कितना सहानुभूतिपूर्ण, उदार और करुणा से द्रवीभूत होने वाला था, तथा उनके विचार कितने विवेकपूर्ण, निर्मल तथा मानवतावादी थे।

उन्होंने समाज की प्रत्येक धड़कन, प्रत्येक स्पन्दन तथा प्रत्येक विकास को देखा, सुना तथा महसूस किया और उन सभी विचार-तत्त्वों से प्रेरणा ग्रहण की जो समाज के अन्दर ही पनप रहे थे और जिनके अंकुर कुछ-कुछ फूटने लगे थे। उस युग का सामाजिक चिन्तन जिन दिशाओं में उन दिनों विशेष रूप से

वाहित हो रहा था और जिनका स्पष्ट प्रभाव पन्त जी पर पड़ा था, उनमें से कुछ प्रमुख वृत्तियाँ ये थीं–

1. धरती के जीवन से लगाव
2. सामाजिक समस्याओं की चेतना
3. आत्मकल्याण तथा विश्वकल्याण अथवा वैयक्तिकता तथा सामूहिकता में समन्वय की दृष्टि।
4. मध्ययुगीन जीर्ण-शीर्ण आदर्शों में अनास्था
5. सांस्कृतिक मूल्यों की युगानुसार पुनर्प्रतिष्ठा पर बल
6. मानवतावादी दृष्टि
7. शिक्षा के प्रसार का महत्त्व-बोध
8. नारी जागरण पर बल

धरती के जीवन से लगाव

अपने देश में जन साधारण के मन में जीवन के प्रति जो खोखले वैराग्य की भावना घर कर गयी है, उसका विरोध कर पन्त जी ने सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर नवीन मानसिक जीवन प्रतिष्ठित करने पर बार-बार ज़ोर दिया है उनका विचार है कि–

"जड़ से चेतन, जीवन से मन,
जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग-दर्शन
दिया भ्रान्तिवश जन-मन दुस्तर,
किया अमंगल उसने भू का
अर्द्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा
एक, अखण्ड, अभेद्य संचरण!"

× × ×

भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन
मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी,
सन्यासी जीवन से अपरत!
आत्मा को प्राणों से विलगा,

अधिदर्शन ने की जग की क्षति
ईश्वर के सग विचरे मानव
भू पर, अन्य न जीवन परिणति!''[4]

पन्त जी की कविताओं में हम प्रगतिशील और प्रयत्नशील मनुष्यों का ओर विशेषतः मनुष्य-समाज का चित्रण देखते हैं। इस दृष्टिकोण से उन्हें समाज का कवि कहना उचित होगा। पन्त जी ने कवि को अपने लेखन से समाज को स्पन्दित करने वाला, अन्याय और अत्याचार से जूझने वाला एवं परमार्थहित सर्वस्व न्यौछावर करने वाला प्राणी भी माना है। जीवनी शक्ति के प्रति उसके मन में एक अगाध विश्वास तथा अमिट आशा का संचार होता रहता है जो जन-साधारण में कम पाया जाता है।[5]

पन्त जी ने जीवन का स्पर्श कर, उसका उन्नयन करने वाले अनेक प्रेरणादायक विचार आकर्षक ढंग से व्यक्त किये हैं, जो समाज के शिक्षित वर्ग को स्पन्दित कर भव्यतर जीवन-यापन का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। इन प्रसगो मे पन्त जी ने निराशा, अज्ञान, अंधकार, क्षुद्रता, संकीर्णता, दीन-हीनता आदि को ध्वस्त करने की प्रेरणा देने वाले विचार व्यक्त किये हैं। उनसे आन्दोलित होकर पाठक अन्याय, अत्याचार से जूझने की प्रेरणा एवं साहस अर्जित कर सकता है। एक विशिष्ट तथ्य इन प्रसंगों में यह भी द्रष्टव्य है कि उनमें कोरा नेतिक प्रवचन, साम्प्रदायिक सिद्धान्त-प्रतिपादन या नारेबाज़ी नहीं है; मानवता को घेरने वाले अशिव और अवांछनीय तत्त्वों से संघर्ष करने की प्रेरणा देने वाले ऐसे विचार भी व्यक्त हुए हैं जो केवल व्यक्ति ही नहीं समष्टि के पुनर्जागरण, विकास और समृद्धि में सहायक हो सकते हैं। वैचारिक स्तर पर पन्त जी का व्यक्तित्व उनकी जीवन-आस्था के अनुकूल ही उनकी इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

''मानवता का रक्त-मांस
जगजीवन से चिर ओत-प्रोत,
निखिल विचारों का बहता
इस अरुण रुधिर में जीवित स्रोत।''[6]
तथा—
''जीवन की क्षणधूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित।
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें-मानव-ईश्वर!
और कौन-सा स्वर्ग चाहिये तुझे धरा पर?''[7]

पन्त जी को आशा थी कि नवीन मूल्यों पर आधारित ऐसे सामाजिक सगठन में कोमल मनुज-कलेवर को भविष्य में अधिक-से-अधिक मानवोचित साधन मिल सकेंगे और वह अपने लिए ऐसा मानवता का महल खड़ा कर सकेगा जिसमें मनुष्य की क्षणधूलि अधिक सुरक्षित रह सकेगी।

"युगान्त", "युगवाणी", "ग्राम्या", "स्वर्ण-किरण", "स्वर्णधूलि" तथा 'अतिमा" आदि कृतियों में इस प्रकार के विचार प्रचुर मात्रा में मिलते हे। 'युगान्त" में भारतीय समाज के जीवन की तीव्र सामाजिक, आर्थिक समस्याएँ प्रतिबिंबित हुई हैं। इसमें पन्त जी ने उस समय का स्वप्न सँजोया है जब पुराना संसार सदा के लिए समाप्त हो जायेगा। उन्होंने ऐसी सामाजिक व्यवस्था के गीत गाये हैं जिसमें दुःख-सुख, औदास्य एवं आनन्द, भूत-वर्तमान एवं भविष्य, आधिभौतिकता एवं आध्यात्मिकता की धाराएँ मिलकर बहती रहें। तभी जाकर आदर्श समाज-व्यवस्था का सूत्रपात हो सकता है और विषमता नष्ट हो सकती है।

पन्त जी के विचारानुसार—"मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप, जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा।........ आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं सत्यं शिवं सुन्दरम् की धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित कर सकेगा।"[8]

सामाजिक समस्याओं की चेतना

पन्त जी जिस विकसित चेतना को सर्वत्र देखना चाहते थे, उसकी थोडी सी झलक उन्होंने अपनी "पाँच कहानियाँ" नामक कहानी-संग्रह द्वारा वर्तमान वातावरण में दिखला दी है। "पाँच कहानियाँ" में पन्त जी का सामाजिक दृष्टिकोण काफी व्यावहारिक तथा क्रियात्मक है, यद्यपि उस समय तक समाजवाद का वह स्वरूप उनके सामने स्पष्ट नहीं हो सका था जिसे बाद में उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में स्वीकार किया। पन्त जी का कहना है कि "सामाजिक-ऐतिहासिक दर्शन के फलस्वरूप मेरी जीवन-दृष्टि अधिक व्यापक हो गयी थी अर्थात् आदर्श के अन्तर्मुख-चिन्तन के साथ मेरे मन ने यथार्थ का बहिर्मुख आग्रह भी स्वीकार कर लिया था।.......किन्तु यह सब होने पर भी आदर्श तथा यथार्थ के बीच व्यवधान मेरे भीतर बना ही रहा। मेरी चेतना तब

इतनी विकसित सशक्त एव परिपक्व नहीं हो सकी थी कि वह आदर्श आर यथार्थ को एक ही मानव-सत्य के, समग्र सत्य के, अंगों—परस्पर पूरक अंगो के रूप में देख सके अथवा ग्रहण कर सके।"[9]

फिर भी हम देखते हैं कि व्यक्ति तथा परिवार की वास्तविक समस्याएँ, मानव-प्रेम, करुणा, निराशा तथा संघर्षों के चित्रण यहाँ यथातथ्य अंकित हुए हे। समाज की प्रचलित कुप्रथाओं तथा जर्जर रूढ़ियों पर यत्र-तत्र पन्त जी ने मार्मिक आघात किये हैं। पात्रों के मनोविश्लेषण के साथ पन्त जी का अपना व्यक्तित्व भी मुखरित हुआ है। अपनी सभी कहानियों के प्रभावपूर्ण अन्त द्वारा पन्त जी ने अपने स्वस्थ तथा संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। "अवगुंठन" नामक कहानी में "युगान्त" की "नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन" वाली आवाज़ दृढ़ता के साथ प्रतिध्वनित हुई है। नायक रामकुमार का संकल्प है—"अविद्या के अंधकार में पले हुए अंध रीति-रिवाजों के डैने तोड़-मरोड़कर समाज के जीर्ण वृक्ष की टूटी टहनियों से उनकी उलूक बस्तियों को जड़ से उखाड़ कर फेंक देना होगा।"[10]

वर्तमान मानव किन जीवन-मूल्यों पर आगे बढ़ रहा है, उसमें क्या अच्छाइयॉ तथा बुराइयाँ हैं एवं इन जीवन-मूल्यों के द्वारा किन समस्याओं का जन्म होता हे, इन सब तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए पन्त जी ने चिन्तन, मनन तथा अध्ययन द्वारा उपलब्ध दार्शनिक तथ्यों के माध्यम से भावी समाज की कल्पना प्रस्तुत की हे। "नरक में स्वर्ग", "पतिता", "ग्रामीण", "परकीया", "चौथी भूख", "मानसी" रूपक;[11] "व्यक्ति और विश्व", "चिन्तन", "आवाहन", "स्वर्णोदय";[12] "मनोमय" "नव-मानव", "उद्‌बोधन", "रूपान्तर"[13]; "शान्ति और क्रान्ति", "आत्मदया", "युग मन के प्रति"[14]; "रूपं देहि", "जयं देहि", "पुनर्मूल्यांकन"[15]; "कोंपले", "आनन्द", "नया प्रेम ", "अनुभूति"[16]; "प्रश्नोत्तर", "दारु-योषित दृष्टि", "सीख", "उद्‌बोधन", "विरहिणी", "क्षणजीवी"[17] आदि कविताएँ इसी कोटि मे आती हैं। इन रचनाओं में वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उनका हल प्रस्तुत किया गया है, अन्तर्विकास पर आधारित समाज की झाँकी प्रस्तुत की गयी है और भावी समाज-सरचना, जीवन-मूल्य और उसमें रहने वाले मानव की स्थिति की भी कल्पना की गयी है।

"नरक में स्वर्ग" शीर्षक रचना में सुधा, क्षुधा नामक पात्रियों, अजित नामक राजकुमार तथा जनता के माध्यम से वर्तमान समस्याओं, शासकीय अत्याचार ओर जनता की प्रतिक्रिया, वर्ग-भेद, राजतंत्र और प्रजातंत्र, नैतिक मूल्यों के मापदण्ड आदि समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए भावी समाज के लिए उनका

हल प्रस्तुत किया गया है। अपने काव्य-संग्रहों में अनेक स्थलों पर पन्त जी ने जन-साधारण में घर किये हुए जाति-पाँति, ऊँच-नीच तथा दहेज प्रथा जैसी विसंगतियों को अभिव्यक्त किया है। "गीत-अगीत" शीर्षक काव्य-संग्रह के एक गीत में दहेज-प्रथा से होने वाले नारी के नारकीय जीवन का सजीव चित्रण पन्त जी ने किया है। दहेज देने में असमर्थ अपने माता-पिता का दुःख देखकर एक पढ़ी-लिखी कन्या कुएँ में डूबकर मर गयी—

"कुमारी कुएँ में डूब मरी
एक प्रकार समझिये तरी!
कन्या मरणं,
तत्काल दुःखं
परिणाम सुखं.........
चरितार्थ कर गयी,
हाँ, सखियों को आर्त कर गयी।
किन्तु जूँ भी नहीं रेंगी
रीति-बधिर कानों में—
रत्ती फ़र्क नहीं पड़ा
तिलक के मानों में।"[18]

"सत्यकाम" शीर्षक कृति में गौतम ऋषि के शिष्यों द्वारा किया गया जाबाल (सत्यकाम) का तिरस्कार[19] आज की उच्च जातियों द्वारा किये जा रहे निम्न जातियों के तिरस्कार का प्रतीक है। इस प्रसंग में पन्त जी कहते है कि ब्राह्मण आदि का जन्म जैसे ईश्वर के विभिन्न अंगों से हुआ है वैसे ही शूद्रों का जन्म भी विराट् पुरुष के अंग से ही हुआ है—

"वंश, गोत्र, पक्षों में ऋषिकुल हुआ प्रवर्तित
शनैः हुआ गुण-कर्म-विभाजन क्रम निर्धारित,
मुख से ब्राह्मण, सबल बाहुओं से क्षत्रिय-भट,
पृथु जघनों से वैश्य, पदों से सेवाश्रम रत
जन्म शूद्र का हुआ विराट् पुरुष से सम्भव।"[20]

"पौ फटने से पहले" तथा "आस्था" आदि काव्य-संग्रहों में भी जाति-पाँति, वर्ग-भेद के बंधन से मानवता को निकालने की प्रबल कामना व आवाहन उपलब्ध हैं।

अपने युग के आर्थिक-वैषम्य का चित्रण भी पन्त जी ने अपनी रचनाओं में प्रचुरता और प्रभावपूर्णता के साथ किया है। समाज में कुछ लोग आवश्यकता से अधिक धनाढ्य हैं तो बहुसंख्यक जन सर्वथा निर्धन हैं। आर्थिक विषमता की इस समस्या का संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है–

"राजाओं से रहते मंत्री क्षुधित-धरा के,
उच्चपदस्थों के ऊँचे नभचुम्बी वेतन,
सुरा नालियों में बहती सम्पद् नगरों की
मध्य वर्ग पिस रहा शासकों के कर-पद बन,
शेष प्रजाजन अन्न वस्त्र गृह से भी वंचित
भाग्य भरोसे बैठे कोसा करते विधि को,
आज घास की रोटी भी न सुलभ जनता को।"[21]

'गीत अगीत' में एक पढ़े-लिखे किन्तु बेकार नवयुवक का प्रस्तुत चित्र समाज पर एक करारा व्यंग्य है–

"सुनता, आराम हराम!
शहर-भर में भटका
मिला नहीं काम,
जो हैं बड़े नाम
गया उनके पास
× × ×
कहा, मुझे काम की तलाश।
घुड़के, काम किसके पास?
कैसे मिले काम?
किसके पास छदाम?
× × ×
काम के लिए चाहिये पुल, सोर्स,
शादी के लिए कुल रुपये का फ़ोर्स,
दोनों नहीं पास, मन मारे,
बैठे रहो निराश।"[22]

"गीत-अगीत" के ही एक अन्य गीत में मध्यमवर्ग के परिवार का यथातथ्य चित्र खींचा गया है–

"न आया आयी हरजाई! न महरी आई बहरी!
बरतन गन्दे पड़े, रसोई में छिलके सड़े।
× × ×
उन्हें दफ्तर जाना, जल्दी खाना बनाना!
नल में बूँद पानी नहीं, उन्हें अभी नहाना!
हज़ार काम, किसे है आराम
× × ×
लो, बैठक में दोस्त आ गये,
यम के दूत छा गये।
उन्हें चाय पिलाओ, और नाश्ता खिलाओ!
× × ×
उस पर ढेर सारे बच्चे,
इससे निःसन्तान ही अच्छे,
अह, मध्य वित्त का जीवन,
जीवन नहीं, मरण!
मृत्यु ही शरण।"[23]

पन्त जी की युग-दृष्टि ने देखा कि पुरानी वर्ण-व्यवस्था का वैषम्य तो अपनी जगह पर है ही, नवीन परिस्थितियों ने एक नये प्रकार के वर्ग-भेद को जन्म दे दिया है। उनके विचार से—"आज के समाज को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम है बुद्धिप्राण—वर्ग जो अपनी अहम्मन्यता का स्वयं ही शिकार बन रहा है। स्वनिर्मित तर्कों, वादों तथा सिद्धान्तों के जाल में वह स्वयं ही मकड़ी की भाँति फँसता चला जाता है। द्वितीय है धर्मप्राण—वर्ग जो अपने खोखले आडम्बरों के कारण चिन्तनीय है। यह धर्मप्राण-वर्ग आत्मा की सत्ता को भूलकर उसके बाह्य स्थूल-सूक्ष्म रूप को सत्य समझ बैठा है। तृतीय वह राजनीतिक वर्ग है जो निर्माण के स्थान पर सतत विध्वंस एवं विनाश के उपकरण जुटाने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति व्यय कर रहा है। चतुर्थ वर्ग उस नवीन सभ्यता के प्रकाश में पल्लवित उन शिक्षितों का वर्ग है जिनमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। स्त्री, धन, पद तथा मान के आगे उनके चक्षु अन्य कुछ देख ही नहीं पाते।"[24]

वैज्ञानिक उन्मेष से प्रेरित जिस भौतिकवादी तथा तर्कवादी दृष्टिकोण का प्रसार विश्व में हुआ है, वह भी पन्त जी के अनुसार "वर्तमान जीवन की

समस्याओं को संयत ढंग से समझने तथा उनका समाधान प्रस्तुत करने में अभी तक असफल ही है।" नवीन बौद्धिकों तथा समाज-चिन्तकों के प्रतिनिधि के रूप मे आज के साहित्यिकों की स्थिति का संकेत करते हुए पन्त जी लिखते है–"आशातीत वैज्ञानिक प्रगति तथा दो विश्व-युद्धों ने हमारे युग की संक्रांतिकालीन काव्य-भावना को अनेक रूपों में विकसित तथा आन्दोलित किया। मूल्य, कलाबोध तथा संवेदना के अनेक नये पक्ष उभरे, विभिन्न दृष्टिकोणों में परस्पर संघर्ष भी रहा, लोक-जीवन के साथ व्यापक सहानुभूति के कारण तथा वैज्ञानिक युग की सम्भावनाओं के कारण यथार्थ की धारणा में एक रूपान्तर हो गया। किन्तु आज भी हमारा महान् युग अपनी महानृतम समस्याओं के लिए कोई समाधान नही उपस्थित कर सका है। आज धरती का जीवन एक ओर दो सशक्त राजनीतिक-आर्थिक शिविरों में विभक्त है तो दूसरी ओर मानव-चेतना तथा मन दो उतनी ही जटिल विचारधाराओं में विदीर्ण हैं। एक ओर नये मानवमूल्यपरक तथा समाजपरक विचार एवं भाव साहित्य में आज अभिव्यक्ति पा रहे हैं, तो दूसरी ओर व्यक्ति-केन्द्रित अवसरवादी उद्‌गारों का स्वार्थपूर्ण संगठनों के बल पर प्रचार बढ़ रहा है। विज्ञान ने मनुष्य जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ तो आमूल बदल दी हैं, पर भीतर का, अतीत की मान्यताओं में पला, आत्मनिष्ठ बौना मनुष्य अभी तक नहीं बदला है। वह जीवन-विकास के पथ पर अनेक प्रकार के अवरोध खड़े कर रहा है।"[25]

वैयक्तिकता तथा सामूहिकता में समन्वय का अभाव

वर्तमान सामाजिक दृष्टिकोण की एक असंगति हमें इस रूप में दिखाई देती है कि समाज का धार्मिक नेतृत्व सर्ववादी वेदान्ती विचारधारा का मौखिक प्रचार तो करता है, किन्तु मनुष्यों को केवल व्यक्तिगत मोक्ष अथवा स्वर्ग-प्राप्ति के निमित्त धर्म-साधना का संकीर्ण उपदेश देता है। सामन्तयुगीन वैयक्तिक उन्नयन का दृष्टिकोण आज और भी संकुचित और हीन होकर मानवीय संस्कारो की सम्भावना और आवश्यकता को ही नकार रहा है। आज का मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों को बड़ी-से-बड़ी हानि पहुँचाने में भी सकोच नहीं करता। संचार और आवागमन के अभूतपूर्व क्षमता-सम्पन्न साधनो के उपलब्ध हो जाने से जहाँ बाहरी दृष्टि से सारी दुनियाँ के मनुष्य एक-दूसरे के बहुत निकट आ रहे हैं, वहीं सामूहिक स्वार्थ के स्थान पर संकुचित वैयक्तिक स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति आश्चर्यजनक गति से बढ़ती दिखाई दे रही है। जिसके

फलस्वरूप समाज में व्यक्तिगत विद्वेष और छोटे-छोटे समूहों का द्वन्द्व बढ़ रहा है। मनुष्य और मनुष्य के बीच पारस्परिक अनुराग और आत्मीयता की भावना कहीं भी दिखाई नहीं पड़ रही है। इसका संकेत करते हुए पन्त जी ने लिखा है–

"दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन,
लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!
आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बंधन विवेक,
चिर आकांक्षा से ही थर्-थर्
उद्वेलित रे अहरह सागर
नाचती लहर पर हहर लहर।"[26]

सामूहिक हित के स्थान पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधना की संकुचित दृष्टि केवल सामान्य जनों तक ही सीमित न रहकर प्रबुद्ध विचारकों और साहित्यकारों मे भी फैल गयी है। प्रगतिवादी काव्यधारा के स्थान पर प्रयोगवादी काव्यधारा के विकास के पीछे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का ही हाथ है। इस सम्बन्ध में पन्त जी का कथन है–"प्रगतिवाद ने सामाजिक अथवा सामूहिक जीवन की प्रेरणा को प्रधानता दी थी, उसमें व्यक्ति का स्थान नगण्य भर रह गया था। इसकी प्रतिक्रिया में हिन्दी में प्रयोगवाद के नये युग का आगमन होता है। प्रयोगवादी कविता मुख्यतः व्यक्तिपरक, आत्मस्थ कविता है।.........प्रगतिवाद में एक सामूहिक विद्रोह की भावना मिलती है, इस नवीनतम विधा प्रयोगवाद में वैयक्तिक विद्रोह तथा सांस्कृतिक मूल्यों के सम्बन्ध में अस्वीकृति पायी जाती है।"[27]

पन्त जी सामूहिक और वैयक्तिक हित-साधना को एक-दूसरे से अविभाज्य मानते हैं, इसका संकेत उनके नैतिक विचारों के प्रसंग में किया जा चुका है। सामाजिक प्रसंग में व्यक्ति और समाज के जीवन्त एकत्व का निदर्शक एक उद्‌गार उनकी कहानी "पानवाला" से यहाँ उद्‌धृत किया जा रहा है–"सामाजिक एकता, सामाजिक सुव्यवस्था एवं समुन्नति व्यक्ति का विशद व्यक्तित्व है जिसकी छत्र-छाया में वह उन्नति कर सकता है, आत्मतृप्ति पा सकता है। समाज व्यक्ति की सीमा का सापेक्ष निःसीम है। वह बूँदों की सम्मिलित शक्ति का समुद्र है जिसमें मिलकर प्रत्येक बूँद एकत्रित ऐश्वर्य का उपभोग कर सकती है।......हम केवल व्यक्तिगत उन्नति, व्यक्तिगत सम्मान, व्यक्तिगत शक्ति को ही समझ सकते हैं, उसी का उपभोग भी करते हैं–अपने सामाजिक व्यक्तित्व का सम्मान,

उसकी शक्ति एवं उन्नति का महत्त्व अभी हमें मालूम नहीं हो पाया है, इसीलिए हम कच्चे सूत की लच्छी के उन उलझे और बिखरे तागों की तरह हैं जो अपनी एकता से बनने वाली रस्सी के बल से अपरिचित हैं।"[28]

कहानी के इस कथ्य में किसी एक देश का नहीं सारे संसार का यथार्थ है। दूसरे महायुद्ध के बाद सभी देश अपनी व्यक्तिगत क्षुद्रता का दुष्परिणाम भोग रहे हैं, अपने को "सर्व" (समूह) का अंग न बना पाने के कारण सब का जीवन "शून्यवत्" हो गया है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति "पानवाला" कहानी के मुख्य पात्र पीताम्बर की तरह केवल जीवित रहने के अभ्यास से जीता है। पन्त जी के मतानुसार सामूहिक आधार पर जब समाज का निर्माण होगा तभी जीवन्मृत मनुष्य फिर से जागेगा।

स्पष्ट है कि पन्त जी जीवन के संघर्षों का समाधान वैयक्तिक रूप से नहीं चाहते थे, साथ ही अति-सामाजिकता भी उन्हें मान्य नहीं थी। वह दोनों का समन्वय चाहते थे।[29] उनकी मान्यतानुसार–

"व्यक्ति समाज परस्पर घुलमिल जायेंगे तब
भर जायेगा अन्तराल दोनों का गहरा?
चिन्ताओं से मुक्त मनुज आत्मोन्नति में रत
संस्कृति का नव स्वर्ग बसायेगा धरणी पर।"[30]

मध्ययुगीन जीर्ण-शीर्ण आदर्शों का अवरोधक प्रभाव

समाज तथा संस्कृति के नव-निर्माण में मानव-संस्कार तथा युगीन जीवन-मूल्यों का प्रमुख हाथ रहता है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर युगानुरूप संस्कृति का उन्नयन तथा विघटन होता है। "साठ वर्ष और अन्य निबन्ध" शीर्षक अपने आत्मसंस्मरणात्मक निबन्ध-संग्रह के "साहित्य : समसामयिक संदर्भ" में पन्त जी लिखते हैं–"आज प्रायः संसार के सभी देशों में जीवन तथा नैतिक मान्यताओं सम्बन्धी प्राचीन दृष्टिकोण करवट बदल रहा है और एक ओर यदि प्राचीन मान्यताओं के ह्रास, विघटन तथा भविष्य में उनकी संदिग्धता के कारण मनुष्य के मन में अनास्था, सन्देह तथा भय आदि का धुंध छाया हुआ है तो दूसरी ओर एक नये जीवन-अरुणोदय की अस्पष्ट आशा-किरणें भी उसे नयी जीवन-दिशा का बोध कराने का प्रयत्न कर रही हैं।"[31]

पन्त-काव्य में इस रूपान्तर की प्रक्रिया के संकेत का माध्यम प्रकृति बनती है। स्थान-स्थान पर बसन्त तथा पतझर के माध्यम से परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। परिवर्तन की प्रक्रिया में मध्ययुगीन, मृतप्राय,

निरर्थक रूढ़ियाँ और रीतिरिवाज तथा जीर्ण-शीर्ण आदर्श सबसे बड़ी बाधाएँ हे। पन्त जी इन बाधाओं को जड़-मूल से उखाड़ देना चाहते थे। उनके अनुसार जिस प्रकार बसन्तागम के लिए पतझर का होना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज और संस्कृति के नव-निर्माण के लिए अवांछनीय पुरातन का विध्वस आवश्यक है। इसी कारण पन्त जी अनेक स्थलों पर अवांछनीय पुरातन के क्षय तथा विनाश का आह्वान करते और उसका स्वागत करते दिखाई देते हैं–

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन।"[32]

प्राचीन परम्पराओं के इन जीर्ण-शीर्ण पत्रों के झड़ने के बाद कंकाल रूप मे जो सामाजिक ढाँचा शेष रहेगा, उसी में नव-जीवन का प्रस्फुटन होगा–

"कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली!
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली!"[33]

तथा–

"झर पड़ता जीवन-डाली से
मैं पतझड़ का सा जीर्ण पात!
केवल, केवल जग-कानन में
लाने फिर से मधु का प्रभात।"[34]

क्रान्ति की कल्पना को भी पन्त जी ने अपने प्रिय विषय प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में कोयल के स्वर पावक-कणों का, खग-कलरव उल्लास और उमंग का, मंजरित प्रकृति तथा प्रस्फुटित बीज नवजीवन का प्रतीक बनकर आये हैं। पन्त जी को आशा है कि मानव इनसे प्रेरणा लेकर नव-समाज की संरचना कर सकेगा–

"गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन!
पावक-पग धर आये नूतन,

एव आध्यात्मिकता के
बार-बार चर्चा की गयी
पन्त जी की दृ
समस्या है—नारी का
मिलती हैं कि—"यत्र
अधिकांश नारियाँ किन
यह कौन नहीं जानता
ओर से असावधान रह
चित्रण करने वाली
पंक्तियाँ कितनी मार्मिक

"योनि मा
पुरुष प्रकृ
नष्ट हो
युग-युग से

इसी सन्दर्भ में उन्
काव्य-संग्रह में संकलित

"सदाचार
पूत योनि

वह समाज
उसका जी
मुक्त हृदय
दृष्टि, स्पर्श

सामाजिक नवनिर्माण

पन्त जी की सामा
की गयी है, वह अपने
कलेवर-सीमा को देखते
नहीं है। पन्त जी की स
उसका स्वरूप रचनात्मक
हमारे समाज की देह में

पल्लवित नवल मानवपन.
कोकिल, भर स्वर में कम्पन!
जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
नीड़ से रूढ़ि रीति छन,
त-राष्ट्र-गत राग-द्वेष रण,
मरें विस्मृति में तत्क्षण
कोकिल, नव गान कर सृजन!
मानव के हित नूतन मन,
, वेश, भाव नव शोभन,
सुहृदता हो मानस-धन,
नुज नव जीवन यापन!"[35]

से पन्त जी ने "पौ फटने से पहले" शीर्षक अपने
इस प्रकार से कही है—

पुरातन,
तन,

रण!
कास पथ
ाश रथ।"[36]

तर स्वप्न" सर्ग में अभिव्यक्त पन्त जी के विचारों
ण के बाद ही आदर्श समाज और संस्कृति की
के बाद सम्पूर्ण विश्व में नवयुग-चेतना का संचार
वन का आगमन हो सकेगा। नव जीवन के बाद
अंचल में भावी समाज की स्थापना होगी और
पवित्रता का विस्तार करने वाली नव्य संस्कृति का

या हुआ, देव! कब बदल गया भू मानसपट!
सागर से फिर निकल रहा नव जीवन तट।
पूर्ण ध्वंस मध्यस्थ बनी चेतना नवल,

स्पर्धा हिंसा भय कर्दम से जग, नव प्रबोध का खिला कमल।
गत ह्रास नाश विघटन का तम जाने कब लीन हुआ कट-छँट,
नवयुग स्वर्णोदय मुस्काता खग मुखरित फिर जग अक्षय वट।

× × ×

मानव उर सत्य हुआ विजयी नव लोक एकता कर स्थापित,
निखरी देशों राष्ट्रों से भू नव विश्व चेतना अनुप्राणित।"[37]

जैसा पहले ही संकेतित किया जा चुका है पन्त जी सर्वान्तिक विनाश की नही बल्कि अवांछनीय, रूढ़ और जर्जर प्रवृत्तियों के विनाश की ही बात करते थे--ऐसे विनाश की जो जीवन के मौलिक तथा शाश्वत स्वरूप की रक्षा करते हुए उसे नया आवरण और विकास प्रदान कर सके।

"मेरी मनोकामना का भारत" नामक लेख में पन्त जी कहते हैं--

"पश्चिम से जो समाजवादी आर्थिक तथा राजनीतिक मान्यताएँ हमें मिली हे, उनका उपयोग तथा प्रयोग हमें अपनी परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुरूप अवश्य करना चाहिये। इस दृष्टि से हमारी मध्ययुगीन अनेक आर्थिक, साम्प्रदायिक प्रवृत्तियाँ हमारी उन्नति के पथ में बाधक बन सकती हैं, जिनको हमे पूर्ण शक्ति से रोकना चाहिये।..............देश में जो पुराने ढंग के धार्मिक विचार के लोग हैं, वे कुछ जीर्ण-शीर्ण नैतिक आदर्शों तथा रूढ़ि-रीतियों मे पथराये हुए आचारों को ही मानव-जीवन की निधि तथा सर्वस्व समझ बैठे हैं। ऐसे लोगों से भी सतर्क रहने की हमें आवश्यकता है। हमें अपने अतीत की परम्पराओं में जो सर्वश्रेष्ठ है उसे ग्रहण तो करना चाहिये, किन्तु साथ ही मानव-सभ्यता के विकास में प्राप्त नवीन मानसिक तथा भौतिक शक्तियों का भी नवीन भारत के जीवन-निर्माण में उपयोग करना चाहिये।"[38]

वर्तमान समाज की एक और विषमता पन्त जी आध्यात्मिक तथा भौतिक मूल्यों का विलगाव मानते हैं। आध्यात्मिक विकास में अभिरुचि रखने वाले भौतिक जीवन की समृद्धि और विकास की अवज्ञा करते पाये जाते हैं और भौतिक अभिरुचि वाले लोग आत्मा के उच्च सोपानों को भुलाकर गर्हित स्वार्थपूर्ण सघर्षों में ही डूब जाते हैं। आध्यात्मिकता और भौतिकता के पृथक् संचरणों की अवांछनीयता और दोनों के समन्वय की आवश्यकता के सम्बन्ध में पन्त जी ने अपने साहित्य में जितना बल दिया है और जितने प्रसंगों में अपनी इस सम्बन्ध की मान्यता को अभिव्यंजना दी है, उतना बल उन्होंने किसी दूसरे सामाजिक या सास्कृतिक मूल्य पर नहीं दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अनेक प्रसंगों में भौतिकता

एवं आध्यात्मिकता के युगपत् संचरण के सम्बन्ध में पन्त जी के आग्रह की बार-बार चर्चा की गयी है।

पन्त जी की दृष्टि में वर्तमान भारतीय समाज की एक अतिशय ज्वलन्त समस्या है—नारी का पिछड़ापन। हमारे शास्त्रों में इस तरह की उक्तियाँ जरूर मिलती हैं कि—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः", किन्तु हमारे समाज में अधिकांश नारियाँ कितनी असहाय, तिरस्कृत, व्यक्तित्वहीन और अशिक्षित हैं, यह कौन नहीं जानता? पन्त जी की सचेत समाज-दृष्टि नारी की दुरवस्था की ओर से असावधान रहती, यह कैसे संभव था? नारी की वर्तमान स्थिति का चित्रण करने वाली उनकी "युगवाणी" की "नारी" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

> "योनि मात्र रह गयी मानवी निज आत्मा कर अर्पण,
> पुरुष प्रकृति की पशुता का पहने नैतिक आभूषण!
> नष्ट हो गयी उसकी आत्मा, त्वचा रह गयी पावन,
> युग-युग से अवगुंठित गृहिणी सहती पशु के बंधन!"[39]

इसी सन्दर्भ में उनकी "नारी" शीर्षक दूसरी रचना भी, जो उनकी "ग्राम्या" काव्य-संग्रह में संकलित है, ध्यान देने योग्य है—

> "सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित
> पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित
>
> × × ×
>
> वह समाज की नहीं इकाई, शून्य समान अनिश्चित
> उसका जीवन-मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
> मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित
> दृष्टि, स्पर्श संज्ञा से वह हो जाती सहज कलंकित।"[40]

सामाजिक नवनिर्माण की प्रेरणा

पन्त जी की सामाजिक जागरूकता के विभिन्न आयामों की यहाँ जो चर्चा की गयी है, वह अपने आप में बहुत अपर्याप्त है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की कलेवर-सीमा को देखते हुए इस सम्बन्ध में और विवरण देने की यहाँ संभावना नहीं है। पन्त जी की समाज-दृष्टि जितनी आलोचनात्मक रही है, उससे अधिक उसका स्वरूप रचनात्मक है। वे केवल इतना ही कहकर संतुष्ट नहीं हो जाते कि हमारे समाज की देह में अमुक बीमारियाँ हैं, इससे आगे जाकर वे अपने युग के

मनुष्यों का आह्वान करते हैं कि वे जगें और चेतना के नये प्रकाश में समाज की असंगतियों को मिटाकर सामाजिक नवनिर्माण का पथ प्रशस्त करें। समाज के ऐतिहासिक विकास के मंगलसंचरण में पन्त जी की गहन निष्ठा थी। आज की सामाजिक विषमताओं और विसंगतियों का मूल कारण पन्त जी की दृष्टि में युगानुरूप सांस्कृतिक चेतना का अभाव है। विगत युगों के मूल्यों को आधार बनाकर आज की सर्वथा नवीन परिस्थितियों में सामंजस्य का मार्ग नहीं ढूँढ़ा जा सकता। पन्त जी समाज के वर्तमान विक्षोभ को नवजागरण के लिए अनिवार्य प्रसव-पीड़ा मानते हैं। उनका विचार है—"मनुष्य-स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में मानव-जाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही हैं, दूसरी ओर मनुष्य की विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यन्त स्वल्प हो और अंधकार की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किन्तु एक कलाकार और स्वप्न-द्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की सांस्कृतिक अभ्युदय की शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।"[41]

काव्य-संकलन "उत्तरा" की "उद्बोधन" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ भी नये समाज के निर्माण की पूर्ववर्ती विक्षुब्ध पृष्ठभूमि का संकेत करती है—

"लोक-चेतना ज्वार बढ़ रहा प्रतिक्षण
स्वप्नों के शिखरों पर कर युग-नर्तन,
तड़क रहीं हथकड़ियाँ झन-झन
मन के पाश भयंकर,
अग्नि गर्भ युग-शिखर विकट
फटने को है, छोड़ो डर!
आज समापन युग का वृत्त पुरातन,
भू पर संस्कृति चरण धर रही नूतन,
रँग-रँग की आभा-पंखुड़ियाँ
बरसाता झुक अंबर,
खोलो उर के रुद्ध द्वार, जन,
हँसता स्वर्ण युगान्तर।"[42]

सामाजिक विकास सांस्कृतिक विकास पर निर्भर

पन्त जी के चिन्तन के अनुसार समाज-संरचना में परिवर्तन लाने के लिए

सास्कृतिक मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा होनी चाहिए। "जीवन के अनुभव और उपलब्धियाँ" शीर्षक अपने निबन्ध में पन्त जी ने लिखा है—"अपने अनेक अनुभवों से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस युग में मानवप्रवृत्तियों तथा जीवन-मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक है। मनुष्य की पिछली मान्यताएँ आज उसके विकास के पथ को प्रशस्त बनाने के बदले दुर्लघ्य अवरोध बनकर उसकी प्रगति को रोके हुए हैं। विभिन्न धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को अतिक्रम कर आज मानव-चेतना को नवीन जीवन-भूमि में पदार्पण करना है, जिसके बिना विगत दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करना संभव नहीं है।"[43]

वर्तमान जीवन का मूल्यांकन करने पर पन्त जी को प्रतीत हुआ कि "आज सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् वर्गों में सीमित होने के कारण हृदय को आकर्षित नहीं कर पाते। कला, संस्कृति और सदाचार के नाम पर मानवता पीड़ित है।" समाज में फैली समस्त समस्याओं का मूल पन्त जी सांस्कृतिक समस्या में पाते हैं। उन्होंने लिखा है—"लोककल्याण के लिए जीवन की बाह्य (सम्प्रति राजनीतिक-आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक-आध्यात्मिक) दोनो ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है।........जहाँ एक ओर असंख्य नंगे-भूखो का उद्धार करना जरूरी है, वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीतिनीतियो की शृंखलाओं से मुक्त होकर मानव-चेतना को युग उपकरणों के अनुरूप विकसित लोकजीवन निर्माण करने में संलग्न होना है।"[44]

पन्त जी स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि "आने वाला युग सामन्त युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर सकेगा ओर उसका पशु (मौलिक संस्कारों सम्बन्धी सामन्तकालीन नैतिक मान) विकसित वस्तुपरिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से बहुत कुछ अशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।......भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक संस्कारों के लिए अधिक विकसित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।"[45]

युगानुरूप सामाजिक विकास के लिए नवीन सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए पन्त जी ने अपनी "उत्तरा" शीर्षक काव्य-कृति की भूमिका में लिखा है—"अपने बहिर्मुख (इन्द्रियों के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ में आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुःख तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते है एवं राजनीतिक-आर्थिक प्रणालियों द्वारा उनमें सामूहिक सन्तुलन स्थापित कर सकते हैं, उसी जीवन-तत्त्व में हम अन्तर्मुख (ऊर्ध्व) मन से अमरत्व, प्रकाश

आदि के रूप में अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते हैं, जिसका सामूहिक वितरण हम किसी प्रकार के सांस्कृतिक आन्दोलन द्वारा ही कर सकते हैं—विशेषत जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है, इस प्रकार के किसी भी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओं का ज्ञान अधूरा ही रह जायेगा और हम प्रवृत्तियों के पशुमन को मनुष्यत्व के सौन्दर्य-गौरव से मण्डित नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक लोकतंत्र जहाँ हमारे भोग के संचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सांस्कृतिक विश्वद्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।"[46]

संस्कृति के स्वरूप की व्याख्या करते हुए पन्त जी लिखते हैं—"संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व-चेतना-शिखर का प्रकाश ओर समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएँ गुंफित हैं। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढ़ि-रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अन्तः-सामंजस्य ग्रहण कर लेता है।........संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिये, जिसके लिए मेने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन या मनःसंगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर, मनुष्यत्व आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

"संस्कृति को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एवं बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित अति-विधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि के दुराग्रह हैं क्योंकि इनके मूल मन से कहीं गहरे, बाहरी परिस्थतियों के अतिरिक्त भीतरी सूक्ष्म परिस्थितियों में भी हैं।..................इसीलिए भविष्य में हम जिस लोक-संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, उसके लिए हमें बाहर और भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिये, सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शक्तियों से काम लेना चाहिये। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायेगा जैसा कि आज भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है, अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप सन्तुलन आ जायेगा जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अति-सामाजिकता तथा अति-वैयक्तिकता के दुराग्रह मात्र हैं।"[47]

पन्त जी की मान्यता के अनुसार आज के सामाजिक जीवन के विघटन का कारण मनुष्य की आन्तर और बाह्य वृत्तियों में सामंजस्य का अभाव है और इस कारण आज की सामाजिक विषमता का समाधान इन दोनों मानवीय वृत्तियों

के संयोजन में ही है। पन्त जी का कहना है कि "मनुष्य का पूर्ण विकास एक सुख-सम्पन्न पूर्ण सामाजिकता ही में नहीं, बल्कि मुक्त, शान्त, आनन्दमय अमरत्व की स्थिति प्राप्त करने में माना गया है और ऐसे व्यक्तियों ने जो इस स्थिति को प्राप्त कर सके हैं, मानव-कल्याण के समतल सत्य में भी बराबर नवीन, मौलिक तथा उच्च गुणों का समावेश किया है। भारतीय संस्कृति जहाँ व्यक्तिवादी है वहाँ उसके लोकोत्तर व्यक्तित्व की रूपरेखाएँ ईश्वरत्व में मिल जाती हैं, किन्तु यह कहना मिथ्या आरोप होगा कि भारतीय संस्कृति केवल व्यक्तिवादी ही रही है। उसने सामाजिक तथा लौकिक जीवन के महत्त्व को भी उसी प्रकार समझने की चेष्टा की है और भिन्न युगों की परिस्थितियों के आधार पर उसने अत्यन्त उर्वर तथा उन्नत सामाजिक जीवन के आदर्श सामने रखे हैं और उन्हीं के अनुरूप लोक-जीवन का निर्माण करने में भी वह अत्यन्त सफल रही है। धर्म-अर्थ-काम सभी दिशाओं में उसका विकास तथा विस्तार अन्य संस्कृतियो की तुलना में अतुलनीय रहा है। उसके वर्णाश्रम की मौलिक व्यवस्था भी जीवन की सभी स्थितियों को सामने रखकर बनायी गयी थी, अब भले ही अपने ह्रास-युग में उसका स्वरूप विकृत हो गया हो।"[48]

पन्त जी के विचार से समाज को अपेक्षित विकास की दिशा में बढ़ाने के लिए मनुष्य को अपने व्यक्तित्व को एक नये अन्तःसंगठन से अन्वित करना है। वे लिखते हैं—"यद्यपि हम अन्तःसंगठन के सत्य में आमूल परिवर्तन नहीं कर सकते, हम उसके विकास के नियमों का अध्ययन कर उसे विशेष युग में विशेष रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकते हैं तथा उसका यथेष्ट रूपान्तर भी कर सकते हैं। हमारा युग एक ऐसा ही संक्रान्ति का युग है, जबकि हमें भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, एवं धर्मों की संस्कृतियों का समन्वय तथा संश्लेषण कर उन्हें मानव-संस्कृति के एक महान् विश्व-संचरण के रूप में प्रतिष्ठित करना है। आज हमें मानव-चेतना के क्षीर-सागर को फिर से मथकर उसके अन्तस्तल में छिपे हुए रत्नों को पहचानना है और मौलिक अनुभूतियों के नवीन रत्नों को भी बाहर निकालकर अपने युग-पुरुष के स्वर्ण-शुभ्र-किरीट में उन्हें समय के अनुरूप नवीन सौन्दर्य-बोध में जड़ना है, जिससे वह भावी मनुष्यत्व की गरिमा को वहन कर सके।"[49]

सामाजिक विकास और शिक्षा

मानव-संस्कृति को एक महान् विश्व-संचरण में प्रतिष्ठित करने के लिए

आर युग-पुरुष के स्वर्ण-शुभ्र-किरीट में मानवचेतना के छिपे हुए रत्नों को जड़ने के लिए पन्त जी एक विशिष्ट शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता को भी समझते थे। वर्तमान शिक्षा-पद्धति उस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती, इसकी उन्हें प्रतीति थी। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के संबंध में उनका मुख्य असंतोष यह था कि उसमें केवल बुद्धि का ही शिक्षण होता है, हृदय की शिक्षा नहीं होती। उनके विचार से वास्तविक शिक्षा तो हृदय की ही शिक्षा है जो मनुष्य की संकीर्ण भावनाओं को उदार बनाती है, उसके हृदय में मानव मात्र की ही नहीं, पशु-पक्षियों एवं कीट-पतंगों के प्रति भी प्रेम व करुणा का भाव जगाती है। "ज्योत्स्ना" नामक नाट्य-कृति में कमला नाम की पात्री मानो पन्त जी के इन्हीं विचारों को वाणी देते हुए कहती है—"हृदय की शिक्षा में हमारी विश्व-संस्कृति के, मानव-प्रेम के एवं समस्त जीवन-कल्याण के मूल अन्तर्निहित हैं। जो शिक्षा हृदय के कपाट खोलकर मनुष्य के भीतर विश्वप्रेम की उन्मुक्त वायु नहीं भर सकती, वह शिक्षा हमारे सत्य की कुंजी नहीं हो सकती।"[50]

पन्त जी युग-जीवन के विकास के लिए शिक्षा को कितना महत्त्व देते थे इसका परिचय हमें "ज्योत्स्ना" के ही दूसरे पात्र मि. रहमान की इस उक्ति में मिलता है—"वास्तव में हमारे युग का हृदय हमारा शिक्षा-विभाग है। नवयुवक और नवयुवतियों में उच्च मानवीय आदर्शों एवं विश्वजनीन भावों का पूर्ण विकास हो सके, उनके हृदय मानव-प्रेम के मधु से एवं सदाचार के सौरभ से ओत-प्रोत हो जायें,—इसी ओर हमारी सबसे अधिक शक्ति झुकी है। शिक्षा हृदय की साधना है, ज्ञान-पद्म के मूल हृदय के सरोवर में हैं, बुद्धि से जान लेने में नहीं। हमारी समस्त चेष्टा इस ओर रहती है कि हमारे विद्यार्थी बुद्धि द्वारा जिस सत्य के दर्शन मात्र करते हैं, उसे हृदय की अविराम साधना से अपने में साकार कर लें। वे अपने ज्ञान की सजीव मूर्ति बन जायें। उनके हृदय की समस्त शक्ति, भावनाओं की समस्त शिराएँ उनके ज्ञान को सींचकर, उनमें सत्य का बोध ही नहीं, सत्य का प्रेम भी अंकुरित कर दें।"[51]

वर्तमान शिक्षा-पद्धति शिक्षा के उस उद्देश्य को पूरा करने में असमर्थ है। ऐसा केवल इस कारण नहीं है कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति केवल बौद्धिक विकास को ही अपना लक्ष्य बनाये हुए है। बल्कि इसका एक दूसरा प्रमुख कारण यह भी है कि वास्तविक शिक्षा के लिए जिस प्रकार के शिक्षकों की आवश्यकता है, उस प्रकार के शिक्षक आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। आज के शिक्षक कैसे हैं, इसका संकेत पन्त जी ने अपनी "किरणवीणा" में संकलित—"पुरुषोत्तम राम" शीर्षक

अपनी लम्बी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना की इन पक्तियो मे किया है

"मुट्ठी भर बौद्धिक मयूर के पंख लगाए,
शिक्षा त्वच, सभ्यता चर्म ओढ़े विदेश का,
का-का-का-कर काक-बुद्धि का परिचय देते
निज भू-स्थितियों प्रति अजान भव-गति पारंगत।"[52]

उपर्युक्त पंक्तियों में निहित व्यंग्य अत्यन्त मुखर तथा पैना है। विशेष रूप से "निज भू-स्थितियों के प्रति अजान, भव-गति पारंगत" इस चौथी पंक्ति का व्यग्य हमारे वर्तमान शिक्षकों के ज्ञान के उस पाखण्डपूर्ण रूप को बेनकाब करता हे जिसके अन्तर्गत हमारे शिक्षक दम तो यह भरते हैं कि ये सम्पूर्ण सृष्टि के विधि-विधान को अच्छी तरह जानते हैं किन्तु उन्हें अपनी ही धरती की स्थितियों का ज्ञान नहीं है।

पन्त जी ने भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का एक बहुत बड़ा दोष यह माना है कि हम विदेशी भाषा में, विदेशी भावों को, विदेशी पद्धति से अपने विद्यार्थियो को देते हैं। "पतझर : एक भावक्रान्ति" शीर्षक अपनी रचना में ये कहते हैं—

"छायी अब आकाश-वेल अंग्रेज़ी भाषा-
प्राणशक्ति भू-जीवी तरु की जिसमें शोषित,
मुण्ड-भक्त अब देश, धरा-चेतना पराजित,
देह अन्न से, मन विदेश की गति से पोषित।
कहाँ रहा अस्तित्व हमारा? परान्नसेवी,
पर-विचार जीवी, निज भू-आत्मा से वंचित।"[53]

यही बात पन्त जी ने प्रकारान्तर से "लोकायतन" में भी कही है—

"आकाश-बेल अंग्रेज़ी छायी जन-मन-पादप पर,
जीवन-विकास क्रम जिससे कुंठित हो रहा निरन्तर।

× × ×

मानसिक दासता कुण्ठित हम स्वाभिमान से विरहित,
पर-भाषा जीवी बुध जन माँगी विद्या पर गर्वित।
पर-भाव-विभव में लिपटे कहते अपने को पण्डित,
पर-कला-बोध लादे हम, दिखते बाहर से संस्कृत।

× × ×

औरों के जीवन-मन को माने अपना जीवन-मन,
हम लगा दूसरों का मुख ढोते रीते जीवन क्षण।"[54]

पन्त जी की सांस्कृतिक चेतना अपने तात्त्विक रूप में इतनी उदार है कि वह हर सांस्कृतिक संचरण को सम्पूर्ण विश्व से जोड़ना चाहती है। वे यह मानते हैं कि नवीन सांस्कृतिक संचरण किसी देश, काल अथवा वर्ग तक सीमित न होकर विश्व-जनीन होना चाहिये। किन्तु साथ ही वे इस तथ्य को भी पूरी तरह पहचानते हैं कि सांस्कृतिक चेतना को जगाने वाली शिक्षा तभी सार्थक, उपयोगी और प्रभावशाली हो सकती है जब उसे अपनी विशिष्ट भूमि के माध्यम से प्रदान किया जाये और वह अपनी प्राण-शक्ति एवं विचार-परम्परा को आधार बनाकर चले। "लोकायतन" की अधोलिखित पंक्तियाँ पन्त जी के मनोभावों को कितनी स्पष्टता के साथ व्यक्त करती हैं—

> "यदि छोड़ सकें परकीया भाषा की हम शठ ममता,
> जन-भू गृहिणी वाणी की बढ़ सके, क्षेत्र या क्षमता।
> वैज्ञानिक दृष्टि नहीं यह, हम हों पर-भाषा पोषित,
> तान्त्रिक स्वतन्त्रता पा हम अब मानस-स्तर पर शोषित।"[55]

पन्त जी जहाँ बुद्धि की शिक्षा के साथ-साथ हृदय की शिक्षा को महत्त्व देते थे वहीं वे यह भी आवश्यक मानते थे कि शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों मे व्यावसायिक और व्यावहारिक दक्षता का भी विकास किया जाना चाहिये। "किरणवीणा" में वे कहते हैं—

> "शिक्षा-पद्धति निश्चय हमें बदलनी होगी,
> जिस शिक्षा से सुख-सुविधा दुह सकें दक्ष कर
> उसे बना कृषि, प्रविधि, अर्थ, उद्योगपरक अब
> हमें राष्ट्र-रचना-हित अगणित जन, कर-पद, मन
> प्रस्तुत करने होंगे नये रक्त से दीपित।"[56]

बुद्धि एवं हृदय के विकास एवं उन्नयन के साथ-साथ शिक्षा के लक्ष्य में व्यावसायिक दक्षता पर ज़ोर देकर पन्त जी ने अपने अन्तर-बाह्य विकास के समन्वय-संदेश को दोहराया है। वे कहते हैं—

> "जो शिक्षा धरती के जीवन की वास्तवता से,
> सम्बन्धित ही न हो, न जन-भू की संस्कृति से,
> जिसे प्राप्त कर युवक न अपना घर सँजो सकें
> औ' न देश सेवा कर पायें—किसे लाभ
> उस रिक्त ज्ञान से? जो बाह्यारोपित अनुकृति भर।"[57]

पन्त जी की दृष्टि में वही शिक्षा सार्थक हो सकती है जो धरती के जीवन की वस्तुस्थिति से सम्बन्धित हो और शिक्षा प्राप्त करने वाले की अपनी भूमि की संस्कृति से भी जुड़ी हुई हो; जिसे प्राप्त करने से शिक्षार्थी का अपना घर भी सँवरता हो और व्यापक जन-कल्याण की भी सिद्धि होती हो। पन्त जी का ध्यान आज के विद्यार्थियों में व्याप्त असंतोष, अशिष्टता, दिग्भ्रान्ति की ओर भी गया है और वे इन विकृतियों का कारण आज की शिक्षा-पद्धति की निरर्थकता को ही मानते हैं। शिक्षा के नाम पर नवयुवकों को आजकल केवल विविध विषयों की सूचनाएँ भर दे दी जाती हैं। उनके भीतर रचनात्मकता और नव सृजन की शक्तियों को जाग्रत् और विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाना। आज का शिक्षित युवक समाज तो दूर अपनी ही सेवा के योग्य नही होता। पन्त जी के दृष्टिकोण से शिक्षा ऐसी होनी चाहिये, जीवन-संदर्भ मे जिसकी सार्थकता असंदिग्ध हो, शिक्षार्थी-चक्षुओं के सम्मुख आलोक के नवीन क्षितिज खुलें और शिक्षा की पूर्णता पर वह पूर्ण मानव बनकर जीवन के कर्म-क्षेत्र में निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ प्रवेश करे, यही शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिये। किन्तु आज की शिक्षा इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर रही है। उसकी अनुपयुक्तता तथा असमर्थता का परिचय पन्त जी ने अपनी इन काव्य-पंक्तियो में दिया है—

> "शिक्षा क्या, हम मात्र सूचनाएँ भर देते
> विविध विषय की नवयुवकों को—रचनात्मकता
> छू भी उन्हें नहीं पाती! यदि शिक्षा को हम
> सच्चरित्रता का पर्याय समझते सम्प्रति
> तो अपने को धोखा देते! मनुष्यत्व की
> पोषक उसे मानते हों तो—मात्र दुराशा!
> वर्तमान शिक्षा युवकों में कृत्रिमता को जन्म दे रही!
> सत्य जगत् से हटा उन्हें हम कृत्रिम जग में भटका देते!
> शिक्षित यौवन अपनी या अपने समाज की,
> सेवा के भी योग्य नहीं रह जाता!
> इसीलिए नवयौवन असन्तुष्ट दिग्भ्रान्त
> अतृप्त, अशिष्ट आज है।
> सर्वप्रथम शिक्षा में क्रान्ति हमें लानी है।"[58]

पन्त जी की धारणा है—

दिग् भ्रष्ट, प्रगति के भ्रम मे रख कई पीढ़ियाँ रहन
निर्माण न हम कर पाये, निरुपाय धरा का यौवन।"[59]

इसीलिए पन्त जी के मत से उस सांस्कृतिक विकास के निमित्त, जो अपनी परिणति में नवीन समन्वित सामाजिक व्यवस्था को जन्म देगा, ऐसी शिक्षा की अपेक्षा है जो नवयुवकों में रचनात्मकता और सच्चरित्रता जगा सके, जो मनुष्यत्व को पोषण प्रदान कर सके और जो उन्हें सहज और सत्यनिष्ठ बना सके।

सामाजिक-सांस्कृतिक विकास और साहित्य

नये युग की आकांक्षा के अनुरूप नवीन सामाजिक विकास को दिशा देने और उस दिशा में मानवीय प्रयास को अनुप्रेरित और उत्साहित करने में पन्त जी कला और साहित्य की भूमिका को भी अतिशय महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी इसी मान्यता ने उन्हें साहित्य-सर्जना में आमरण संलग्न रहने की निरन्तर प्रेरणा दी। साहित्य की सामाजिक भूमिका की चेतना ने ही उनके साहित्यिक कृतित्व को वह आयाम दिया जो उनके चेतना-काव्य के रूप में संसार के सामने आया। साहित्य की सजगता और सामर्थ्य में अपनी निष्ठा को पन्त जी ने इन शब्दों मे व्यक्त किया है—"आज के व्यापक, विस्तृत सामयिक परिवेश-भूमि में जो अन्तर्द्वन्द्व सम्बन्धी आशा-निराशा, निर्माण-विध्वंस, जय-पराजय, वेदना, सृजन-प्रेरणा, सन्देह, नयी आस्था, बौद्धिक तथा लक्ष्य सम्बन्धी अस्वीकृति आदि के गोरे-काले, सुनहले-विषैले, अंकुर उग रहे हैं, उनके भीतर से जीवन की प्रगति तथा सार्थकता को समझने की चेष्टा कर इस युग का साहित्य अवश्य ही एक समग्रतापूर्ण नवीन जीवन-बोध को जन्म दे सकेगा—मुझे इसमें पूर्ण विश्वास है।"[60]

साहित्य की प्रकृति, शक्ति, दायित्व और चेतना के सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों का परिचय कुछ अधिक विस्तार से इस ग्रन्थ के एक आगामी अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक विकास को वांछित दिशा देने वाले अपने साहित्यिक कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए पन्त हुए जी ने स्वयं लिखा है—"अपनी रचनाओं में मैंने अपने युग के बहिरन्तर के जीवन तथा चैतन्य को नवीन मानवता की कल्पना से मण्डित कर वाणी देने का प्रयत्न किया है। आध्यात्मिकता के पेर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं। मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय-कमल में स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय निषेधात्मक ऋण-पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन के विकास तथा जनमंगल का

साधन बनाने का प्रयत्न किया है। मैंने भौतिक-आध्यात्मिक दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्त्वों को लेकर, जड़-चेतन सम्बन्धी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर, व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर नवीन लोकजीवन के रूप मे सर्वांगपूर्ण मनुष्यत्व अथवा मानवता का भाव-दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार मान्यताओं की दृष्टि से मैंने अपनी रचनाओं में जीवन-सत्य ओर जीवन-सौन्दर्य का उपयोग लोक-जीवन-मांगल्य के लिए ही करना काव्योचित समझा है।"[61]

अपनी प्रायः सभी रचनाओं में, विशेषतया अपनी परवर्ती काव्य-रचनाओ मे, पन्त जी ने भावी मानवजीवन, अन्तर्विकास और जीवन-मूल्यों की विवेचना की है। उनका सामाजिक चिन्तन भारतीय परम्परा के स्वस्थ तत्त्वों को अंगीकार करते हुए भी उन्हें यथावत् स्वीकार नहीं करता। उन तत्त्वों को वर्तमान युग की व्यापकता के साथ समायोजित करने की आवश्यकता है। पन्त जी का सामाजिक चिन्तन डार्विन तथा मार्क्स के वैज्ञानिक विकासवाद के तत्त्वों को ग्रहण करता हुआ अपने परवर्ती विकास में योगी अरविन्द की विचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है। योगी अरविन्द के इस दाय को पन्त जी ने अपने "उत्तरा" शीर्षक काव्य-संग्रह की भूमिका में बहुत स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है। उन्होंने लिखा है—"श्री अरविन्द-आश्रम के योगयुक्त (अन्तःसंगठित) वातावरण के प्रभाव से ऊर्ध्व मान्यताओं सम्बन्धी मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई हैं। "स्वर्ण-किरण" और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव मेरी सीमाओं के भीतर, किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगत होता है।"[62]

"लोकायतन" प्रबन्ध-काव्य तो मानो पन्त जी ने अपने सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही लिखा है। उसमें वर्तमान की समस्त समस्याओं का अकन करते हुए भावी जीवन की विराट् झाँकी प्रस्तुत की गयी है। भावी युग मे समाज-संरचना का आधार क्या होगा, किन सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यो मे मानव की आस्था होगी और मानवता के पथ पर बढ़कर किस प्रकार के जीवन को भावी मानव स्वीकार करेगा—इन सब प्रश्नों का समाधान पन्त जी ने बड़े विवेकपूर्ण ढंग से किया है। यद्यपि इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान हमें उनकी "युगान्त-ग्राम्या" आदि रचनाओं के काल से मिलना प्रारम्भ हो गया था (और "लोकायतन" में भी उन विचारों की पुनरावृत्ति मिलती है) किन्तु वहाँ यह समाधान सिद्धान्त रूप में इधर-उधर मुक्तक काव्य में बिखरा हुआ मिलता था। यहाँ (लोकायतन में) वंशी, हरि, श्री, अतुल, प्रीति, शंकर, मेरी, माधोगुरू तथा

उनके शिष्यों के इर्द-गिर्द घूमती हुई कथा को व्यावहारिक ढंग से वृहद्-कलेवर मे प्रस्तुत किया गया है, जिसे पढ़कर ऐसा लगता है कि यह सब कुछ हमारे ही समाज में घटित हो रहा है। साथ-ही-साथ सभी घटनाएँ हमें यह शिक्षा देती हुई आगे बढ़ती हैं कि हमें किन परिस्थितियों में क्या करना चाहिये और क्या नही करना चाहिये, जिससे हम स्वस्थ तथा संतुलित जीवन जी सकें। इस स्वस्थ एव सतुलित जीवन का मुख्य आधार है--समन्वय की वृत्ति। भूत और अध्यात्म, जड ओर चेतन, व्यक्ति और समाज, धर्म और विज्ञान आदि में समन्वय पन्त-काव्य का प्रमुख स्वर रहा है। पन्त जी ने सदैव "अति सर्वत्र वर्जयेत्" के सिद्धान्त को अपनाया है। जीवन के प्रति अत्यधिक मोह, माया, ममता, या उसके प्रति संसार की असारता जनित विरक्ति, ये दोनों ही दृष्टिकोण उस अति के सूचक हैं जो जीवन को कटु, अपंगु और निरर्थक बना देते हैं। ईश्वर की यह सृष्टि सुन्दर जीवन जीने के लिए है--यही बात प्रकारान्तर से पन्त जी ने बार-बार कही है।

पन्त जी के साहित्य में भावी समाज के नवीन विकसित स्वरूप की उनकी परिकल्पना पूरे विस्तार तथा आकुल आग्रह के साथ अभिव्यक्त हुई है। उनके विचार से उनकी यह परिकल्पना उनका मात्र स्वप्न ही नहीं है। उन्हें पूरा विश्वास है कि 'यह परिकल्पना शीघ्र ही सजीव होगी। "स्वप्न और सत्य" शीर्षक अपने काव्य-रूपक में पन्त जी ने जहाँ उन रूढ़ियों को रूपायित किया हे जो ऊर्ध्व चेतना के मार्ग में सतत बाधक हो रही हैं और जन-मानस के अवचेतन तथा अचेतन में प्रविष्ट होकर मानवता के अग्रिम विकास में हानिप्रद सिद्ध हो रही हैं, वहीं उन्होंने अपने इस विश्वास को भी अभिव्यक्त किया है कि चेतना की सतत प्रवहमान गति को वे रोक नहीं सकतीं एवं चेतना की नूतन उषा का आगमन निश्चित है। मानवता का शुभ नवीन प्रभात अवश्य होगा--

> "हँसता नव जीवन अरुणोदय
> तम प्रकाश में होता तन्मय,
> सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्नस्मित,
> उठता स्वर्णिम ज्योति--द्वार है।"[63]

सन्दर्भ-संकेत

●

1. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 32, प्र. स. 1973

2. सु. पन्त ग्रथावली, खण्ड 6, चिदम्बरा-चरणचिह्न, पृ. 312, प्र. सं. 1979
3. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, चिदम्बरा, चरण-चिह्न, पृ. 312, प्र. सं. 1979
4. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, वाणी—बुद्ध के प्रति, पृ. 169, प्र. सं. 1979
5. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, साहित्यकार के स्वर, पृ. 208, प्र. सं. 1979
6. युगवाणी—जीवन-मांस कविता, पृ. 35 पाँचवाँ संस्करण, 1982
7. युगवाणी—दो लड़के कविता, पृ. 23, पाँचवाँ संस्करण, 1982
8. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, चरणचिह्न, पृ. 318, प्र. सं. 1979
9. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरी सबसे प्रिय रचना, पृ. 198, प्र. सं. 1979
10. सु पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, पाँच कहानियाँ, पृ. 37, प्र. सं. 1979
11. स्वर्ण-धूलि की रचनाएँ
12. स्वर्ण-किरण की रचनाएँ
13. उत्तरा की रचनाएँ
14. अतिमा की रचनाएँ
15. वाणी की रचनाएँ
16. कला और बूढ़ा चाँद की रचनाएँ
17. किरणवीणा की रचनाएँ
18. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत, गीत संख्या 86, पृ. 513, प्र. सं. 1979
19. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम, जिज्ञासा, पृ. 214
20. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम, जबाला, पृ. 317, प्र. सं. 1979
21. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 212, प्र. सं. 1967
22. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत, गीत सं. 89, पृ. 515, प्र. सं. 1979
23. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत, गीत सं. 90, पृ. 516, प्र. सं. 1979

24 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, अभिभाषण, पृ. 581-582
25 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरे साहित्यिक जीवन का समारम्भ—लेख, पृ. 188, प्र.सं. 1979
26 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1, गुंजन—एक तारा कविता, पृ. 268, प्र. सं. 1979
27. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ. 128, प्र. सं. 1979
28 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, पाँच कहानियाँ—पानवाला, पृ. 8-9, प्र. सं. 1979
29 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ. 128, प्र. सं. 1979
30. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, सौवर्ण, पृ. 306
31 साठ वर्ष और अन्य निबन्ध, पृ. 82, प्र. सं. 1973
32 युगपथ—युगान्त, गीत सख्या 1, पृ. 11, तृतीय सं. 1978
33 युगपथ—युगान्त—गीत संख्या 1, पृ. 11, तृतीय सं. 1978
34 युगपथ—युगान्त—गीत संख्या 3, पृ. 12, तृतीय सं. 1978
35 युगपथ—युगान्त—गीत सं. 2, पृ. 11-12, तृतीय सं. 1978
36 पौ फटने से पहले—कविता सं. 60, पृ. 172, प्र. सं. 1967
37 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन-उत्तर स्वप्न (प्रीति) , पृ. 421, प्र. सं. 1979
38 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरी मनोकामना का भारत, पृ. 471-472, प्र. सं. 1979
39 युगवाणी—नारी कविता, पृ. 36, पाँचवाँ संस्करण 1982
40. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, ग्राम्या-नारी कविता पृ. 167, प्र. सं. 1979
41. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 274, प्र. सं. 1979
42. उत्तरा—उद्‌बोधन—पृ. 34, चतुर्थ संस्करण 1980
43. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, जीवन के अनुभव और उपलब्धियाँ—पृ. 463
44. युगवाणी—दृष्टिपात, पृ. 10, पाँचवाँ संस्करण 1980

45. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 275
46. उत्तरा–प्रस्तावना, पृ. 19, चतुर्थ संस्करण 1980
47. उत्तरा–प्रस्तावना, पृ. 20, चतुर्थ संस्करण 1980
48. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, भारतीय संस्कृति क्या है, पृ. 431, प्र. सं. 1979
49. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला और संस्कृति, पृ. 419, प्र. सं. 1979
50. ज्योत्स्ना—पृ. 69-70, चतुर्थ संस्करण 1978
51. ज्योत्स्ना—पृ. 75, चतुर्थ संस्करण, 1978
52. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 213, चतुर्थ संस्करण 1967
53. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भावक्रान्ति-इतिहास भूमि कविता, पृ. 435-436, प्र. सं. 1979
54. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, पृ. 92-93, प्र. सं. 1979
55. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, पृ. 93, प्र. सं. 1979
56. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 222, प्र. सं. 1967
57. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 221, प्र. सं. 1967
58. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, आस्था-गीत संख्या 86, पृ. 284, प्र. सं. 1979
59. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, पृ. 93
60. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, साहित्य : समसामयिक सन्दर्भ में, पृ. 395, प्रथम संस्करण 1979
61. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरी साहित्यिक मान्यताएँ-1, पृ. 245, प्र. सं. 1979
62. उत्तरा–प्रस्तावना, पृ. 22, चतुर्थ संस्करण 1980
63. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, स्वप्न और सत्य, पृ. 308, प्र. सं. 1979

द्वितीय अध्याय
पन्त जी की कुटुम्ब-दृष्टि

पन्त जी की समाज-निष्ठा, जागरूक सामाजिक चेतना और सामाजिक नव-निर्माण सम्बन्धी उत्साह का सामान्य परिचय प्रस्तुत करने के बाद समाज के कुछ विशिष्ट आयामों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उनके कुछ दृष्टिकोणो का परिचय देना आवश्यक है। सामाजिक संरचना में परिवार का महत्त्व सर्वोपरि माना जाता है। समाजशास्त्री परिवार को समाज का छोटा रूप मानते है। परिवार-निष्ठा और कुल-पालन भारतीय संस्कृति के प्राणतत्त्व हैं। सत्प्रवृत्तियो का बीजारोपण और संवर्धन अन्य तन्त्रों से जितना हो सकता है, उसकी तुलना मे इन लक्ष्यों की पूर्ति परिवार के परिष्कृत वातावरण के द्वारा अधिक सहज और स्थायी रूप से हो सकती है। सभ्य और सुसंस्कृत समाज-रचना का स्वप्न परिवार-संस्था के सुसंगठन से ही संभव हो सकता है। इस दृष्टि से हर समाज-चेता को परिवार के आदर्श रूप की परिकल्पना करनी ही पड़ती है और उन आदर्शो की प्रतिष्ठा के लिए अपने ढंग से प्रयास भी करना पड़ता है। पारिवारिक जीवन के महत्त्व के सम्बन्ध में पन्त जी भी पूर्णतया सजग थे और इस कारण उनके साहित्य में परिवार सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति पाता है।

यों तो हम सभी जानते हैं कि पन्त जी ने कभी विवाह नहीं किया ओर पत्नी-पुत्रों वाला उनका अपना कोई परिवार नहीं था। उनकी विश्व-व्यापी चेतना सम्पूर्ण सृष्टि को अपना परिवार ही नहीं, अपना अभिन्न रूप मानती थी। सम्पूर्ण सृष्टि में आत्मीयतापूर्ण अनुराग-भावना का विकास हो, यही उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को रूप देने वाली उनकी स्थायी आकांक्षा थी। विश्वजनीन आत्मीय अनुराग की भावना को जगाना ही उनकी जीवन-साधना का, जो उनके व्यक्तित्व मे साहित्य-साधना के रूप में प्रकट हुई थी, लक्ष्य था। उनकी जीवन-कथा लेखिका तथा परम आत्मीया सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है--"जिसके मूल में एकता,

सहजता और प्रेम का अभाव है, उसे अपनाने में पन्त असमर्थ हैं, वह असत्य है।" अपनी इस बात की पुष्टि में उन्होंने पन्त जी का यह आत्मकथन उद्धृत किया है—"ऐसे द्वैतभाव को अपना कर मैं जी नहीं सकता—मेरा कवि उस दिन मर जायेगा जिस दिन इसे मैं वास्तविकता में अपना लूंगा।"[1]

किन्तु हर आन्तरिक चैतन्य और व्यापक आदर्श का एक सीमित और स्थूल रूप भी होता है। विश्वात्म भाव की सबसे अधिक सार्थक और स्वाभाविक अभिव्यक्ति पारिवारिक जीवन में होती है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाली प्रसिद्ध उक्ति जितना महत्त्व वसुधा को देती है, उतना ही महत्त्व कुटुम्ब को भी देती है। वैश्व-आत्मीयता कुटुम्ब-भावना का ही व्यापक रूप है और कुटुम्ब-प्रेम वैश्व-आत्मीयता का सीमित प्रभावी रूप है। उन्मेषपूर्ण कुटुम्ब-भावना ही अपना स्वाभाविक प्रसार पाकर विश्व-परिवार का उदात्तरूप ग्रहण कर सकती है। पन्त जी के जीवन में भी यही घटित हुआ था। उन्होंने विवाह करके अपना निजी घर-परिवार नहीं बसाया, किन्तु यह मानना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं होगा कि पन्त जी अपरिवारी थे। पारिवारिकता के उनके संस्कार अतिशय सुदृढ़ थे और उन्होंने उनकी मानसिकता के निर्माण में बहुत बड़ा योगदान भी किया था।

केवल इतना ही नहीं है कि पन्त जी के जीवन में न कोई पत्नी आयी और न कोई सन्तान। संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध बच्चे का माँ के साथ होता है। निजी तौर पर पन्त जी को इस सम्बन्ध का सम्पर्क और सुख भी प्राप्त नहीं हुआ था। जन्म के कुछ ही घण्टों बाद उनकी माँ उनसे छिन गयी थीं। मातृ-स्नेह, पत्नी-प्रेम तथा सन्तान विषयक वात्सल्य से असम्पर्कित व्यक्ति का आत्मसीमित तथा रुक्ष हो जाना ही अधिक स्वाभाविक है, किन्तु पन्त जी की चेतना किसी सामान्य जन की चेतना नहीं थी। उनके स्वभाव में एक जन्मजात दिव्यता थी, जिसने उन्हें कुण्ठा और हृदयहीनता का शिकार नहीं होने दिया। उन्हें बहुत जल्दी ही इस बात की प्रतीति हो गयी थी कि उनका जन्म किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है। अपने सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि "अल्मोड़ा में जब हिन्दी-अनुराग की बाढ़ आयी तब मैं छठीं कक्षा में था। मेरे मन के भीतर दो मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं—एक तो जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण काम करने की इच्छा, जिसे कीर्ति से अधिक आत्मतोष की ही आकांक्षा कहना ठीक होगा। दूसरा, कौसानी में पिताजी के निकट स्नेह-सम्पर्क में रहने के कारण साधु-सन्तों के प्रति श्रद्धा और आस्था, जो धीरे-धीरे दर्शन-शास्त्र तथा अध्यात्म प्रेम में बदल गयी।"[2]

मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण में दो तत्त्वों का प्रमुख हाथ मानते हे उनमें से एक है—आनुवंशिकता, जिसे सहज-संस्कार कहना अधिक उचित है, दूसरा वातावरण। मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले दूसरे तत्त्व के अन्तर्गत पारिवारिक वातावरण सबसे बड़ी भूमिका अदा करता है। यह संयोग की ही बात है कि पन्त जी ने अपने पूर्वोद्धृत कथन में जहाँ अपनी मानसिकता के निर्माण के सम्बन्ध में अपने सहज संस्कार की बात कही है, वहीं अपने पिता के निकट स्नेह-सम्पर्क की भी चर्चा की है। उनके जन्म के बाद शीघ्र ही उनकी माता का निधन हो गया, इस कारण पन्त जी को अपने पिता का स्नेह अतिरिक्त मात्रा में प्राप्त हुआ। अपने प्रति पिता के विशेष स्नेह की चर्चा पन्त जी ने अपने लेखन में अनेक स्थलों पर की है। "किरणवीणा" में संकलित अपनी रचना "पुरुषोत्तम राम" में उन्होंने लिखा है—

> "वैसे मैं सम्पन्न घराने का बालक था,
> घर से भी सम्पन्न अधिक था हृदय पिता का,
> कमी न थी कुछ मुझे, राज-प्रासाद तुल्य ही,
> पितु-गृह-स्नेह, सुरुचि, सुख, संम्भद् शान्ति पूर्ण थी।"[3]

पिता का देहावसान हो जाने पर पन्त जी को कितना गहरा आघात पहुँचा था, इसका पता हमें "पुरुषोत्तम राम" की ही इन पंक्तियों से मिलता है—

> "वृद्ध पिता का स्वर्गवास भी तभी हुआ था,
> मैं जिस वट की आशीः छाया में रहता वह
> सहसा अन्तर्धान हो गया-मेरे जीवन के-
> किशोर मन के स्वप्नों को धूलिसात् कर।
> जगत् रिक्त निस्सार, चित्त हो उठा हतप्रभ!
> अन्धकार पर्याप्त नहीं पर्याय हृदय की
> दारुण स्थिति का, रोम-रोम करता था रोदन!"[4]

अपने मातृहीन पुत्र गुसाईंदत्त (पन्त जी) के प्रति पिता श्री गंगादत्त का स्नेह कितना गहन और सावधान था, इसका परिचय सुश्री शान्ति जोशी के इस कथन से मिलता है—"बरामदे के एक छोर पर घर में काम करने के लिए गंगादत्त पन्त के ऑफ़िस की मेज़ तथा आलमारी है और दूसरे छोर पर उनके छोटे बेटे गुसाईंदत्त की छोटी-सी डेस्क। बेटे को यथासम्भव आँखों के पास रखने का यह एक बहाना है। पिता नहीं चाहते कि उसे माता का अभाव खटके।"[5]

सुश्री शान्ति जोशी के साथ भेंटवार्ता में पन्त जी ने बड़े उल्लास के साथ अपने पिता के व्यक्तित्व का वर्णन किया था। उन्होंने कहा था—"मेरे पिता जी बहुत गौर वर्ण, लम्बी-चौड़ी आकृति के थे; उनके मुख पर सौजन्य के साथ ही तेज रहता था। कौसानी के समस्त जीवन को वे अपने उदार, उज्ज्वल व्यक्तित्व से प्रभावित रखते थे, आस-पास और दूर-दूर के सभी व्यक्तियों में उनकी बडी मान्यता थी। वह निर्भीक स्वतन्त्र विचार के धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे।... दान और आत्मत्याग की मात्रा भी उनमें विशेष रूप से पायी जाती थी। गाँव भर के गरीब लोगों को निःशुल्क दवा बाँटा करते थे। आयुर्वेद में उनकी अच्छी अन्तर्दृष्टि थी। दवा के अतिरिक्त वह उन्हें कंबल, वस्त्र तथा गल्ला भी मुफ्त जब-तब दिया करते थे। उनकी दुकान की आधी से अधिक चीज़ें गरीब निर्धन लोगों में उधार चली जाती थीं, जिसकी क्षतिपूर्ति पिता जी प्रतिवर्ष स्वयं किया करते थे।........उनके अल्मोड़ा के तिमंज़िले मकान में करीब सात कमरे थे। मैंने तथा मेरे भाइयों ने अपना अल्मोड़ा का विद्यार्थी-जीवन इसी घर में बिताया। पिता जी के अनेक मित्र और सम्बन्धी उस मकान में रहते थे। पिता जी उनसे किराया नहीं लेते थे। अपनी इस प्रकार की उदारता और सहज मानवीय सौजन्य के कारण वे कुमाऊँ भर में लोकप्रिय थे और सभी उनके नाम तथा यश से परिचित थे। वह बड़े ही कर्मठ थे। मैंने उन्हें कभी ख़ाली बैठे नहीं देखा। वह चाय के दफ्तर तथा अपने व्यवसाय सम्बन्धी कार्य से अतिरिक्त समय निकालकर धर्मग्रंथों—गीता, भागवत, रामायण आदि पौराणिक ग्रंथों का अध्ययन करते रहते थे। वह सादगी-पसन्द उन्नत-विचारों के व्यक्ति थे। अपनी सन्तान के प्रति उन्हें अपार ममत्त्व था।"[6]

सुश्री शान्ति जोशी ने इस प्रसंग में लिखा है—"प्रशान्त, उदार, कर्मठ तथा धर्मप्राण पिता के व्यक्तित्व का पन्त पर छुटपन में गहरा प्रभाव पड़ा जो अब भी अक्षुण्ण है। वे उनके सदैव ही आदर्श रहेंगे। पिता-सा ही आत्मस्थ, स्वाभिमानी, निर्भीक, निश्छल और सहृदय बनने के वे आकांक्षी हैं। पन्त जी का कहना है कि गंगादत्त जी अपने निष्कलुष पवित्र चरित्र के कारण जीवित हिमशिखर से लगते थे।...........बच्चे उनसे दूर ही रहते थे। यद्यपि उन्होंने किसी बच्चे को न कभी टोका और न मारा ही। घर में सभी एक प्रकार से स्वतंत्र थे—किसी बात की कोई रोक-टोक नहीं थी। किन्तु बच्चे से लेकर सयाने तक सचेत थे कि वे गंगादत्त जी की दृष्टि में कोई अनुचित काम न कर बैठें। पन्त का अपने पिता के प्रति पूर्ण सम्मान और प्रेम का भाव था। पिता, पिता ही नहीं आदर्श स्वरूप

थ। उन्होंने न केवल दिखावे के लिए वरन् मन से उस आचरण को अपनाना चाहा है जो गंगादत्त जी की सन्तान के योग्य हो। पिता के स्वभाव एवं व्यक्तित्व का वर्णन वह सगर्व करते हैं।"[7]

पन्त जी ने किसी पाठशाला के शिक्षक की तरह किसी स्थान पर इस बात का उपदेश नहीं दिया है कि बच्चों और नवयुवकों को अपने पिता का आदर करना चाहिये और ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे उनके पिता की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचे। किन्तु अपने पिता के उदात्त व्यक्तित्व मे उनकी निष्ठा और अपने आचरण को अपने पिता के आदर्शों के अनुरूप बनाये रखने के उनके जीवनव्यापी प्रयास से उनकी इस धारणा का स्पष्ट परिचय हमें मिलता है कि पन्त जी पारिवारिक सम्बन्धों को कितना महत्त्व देते थे। सचमुच ही यदि पन्त जी को अपने उदार पिता के गहन स्नेह की छाया प्राप्त न हुई हाती, तो उनका मातृहीन बचपन उस रूप में व्यतीत न हुआ होता, जिस रूप मे वह हुआ।

पिता और परिवार के दूसरे व्यक्तियों से पन्त जी को जितना गहरा स्नेह, आत्मीयता और पोषण प्राप्त हुआ, उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि जन्म के तत्काल बाद ही माँ को खो देने से पन्त जी को स्नेह-प्राप्ति के सम्बन्ध मे जितनी हानि हुई, उससे अधिक ही उन्हें लाभ भी हुआ। पिता से पन्त जी को कितना प्यार मिला, इसकी चर्चा करते हुए सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"साधु-सन्तों की सेवा, अभ्यागतों का सत्कार, अपने काम में एकाग्रता तथा गुसाईंदत्त (पन्त जी) का दुलार यही उनकी दिनचर्या थी। पन्त को उन्होंने दस-साढ़े-दस साल की उम्र तक अपने ही पास सुलाया और इधर-उधर कही भी नही जाने दिया। यदि वे कभी किसी और के पास सो जाते तो गोद में उठाकर अपने पास सुला लेते। रात को बेटे के बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। सम्भवत वह बेटे को कुछ दिनों तक और अपने पास रखते, किन्तु उसी के हितार्थ, उसे शिक्षा देने के लिए छाती पर पत्थर रखकर उन्हें उसे अल्मोड़ा भेजना पड़ा।"[8]

माँ के न रहने पर पन्त जी को पिता का अतिरिक्त प्यार तो प्राप्त हुआ ही, उनकी दादी ने भी अपने आँचल में अन्तर का सम्पूर्ण स्नेह भरकर पन्त जी को उसमें समेट लिया। अपनी दादी के सम्बन्ध में पन्त जी का कहना है—"वह अत्यन्त गोरी, सुन्दर और जीवनप्रिय थीं। खाने और गाने का तो उन्हें बड़ा शौक़ था। उनके साथ मैं बागेश्वर आदि स्थानों की तीर्थ-यात्रा के लिए भी गया हूँ। दादी जी का—जिन्हें हम "आमा" कहते थे, अपना अलग कमरा था। वह

प्रायः ही अपने हाथ में माला लेकर जप किया करती थीं और छोटी उम्र के बच्चों से बड़ा स्नेह रखतीं। हम बच्चों को देखकर वह जप करना भूल जाती थी और उनका पोपला मुँह चौड़ी हँसी के कारण और भी झुर्रियों से भर जाता। .. ....दादी जी को मीठी चीजें बहुत प्रिय थीं। जब वह खाना बनातीं तो हम सब बच्चे उन्हें घेरकर बैठ जाते और उन्हें हमें खिलाने में बड़ी प्रसन्नता होती थी।"[9]

पन्त जी की दादी की चर्चा करते हुए सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"नवनीत-सी कोमल, सरल, गोरी दादी देवकी तो साँझ की आरती बालक (पन्त) को गोद में लेकर ही करतीं और बालक पन्त ने सर्वप्रथम गुनगुनाना या गाना दादी का ही अनुकरण करके सीखा था। "अँधेरा होने को है—कहीं अकेला पड़ गया तो डर जायेगा........." और दादी आँचल से आँसू पोंछ लेतीं। आरती हो जाने पर बालक का सिर अपनी गोद में रखकर उसे थपथपाते हुए दन्त-कथायें सुनातीं तथा देवी-देवताओं के गीत गातीं।"[10]

परिवार से पन्त जी को कितना स्नेह मिला इसका विवरण सुश्री शान्ति जोशी ने इन शब्दों में किया है—"बड़े सरल, सुखद और मुग्धकारी थे कौसानी के दिन। पिता की आँखों का तारा, बुआ के सूने नभ का चन्दा, दादी का सर्वस्व। उस पर मातृहीन और सबसे छोटा। सभी का लाड़ला बन गया। बड़ी-बड़ी भोली आँखें जो अधिकतर नीलाकाश में खोकर चाँद-सितारे खोजने लगतीं, गोरा रंग, गदबदा बदन, स्मित अधर, मुलायम सुनहले बाल, सभी को तो मोह लेते थे। उसके रेशमी बालों पर बुआ और बहनों को गर्व है। कितने मुलायम है। जिधर चाहो मोड़ दो।"[11]

सुश्री शान्ति जोशी के अनुसार—"पन्त जी का लालन-पालन उनकी जयन्ती बुआ ने किया था। सवेरे से शाम तक उनका एक मात्र काम बालक (पन्त) को देखना, खिलाना, सुलाना, नहलाना होता था। बुआ के पति ने संसार को मायामोह समझकर संन्यास ले लिया था। बेसहारा-सी अपने भाई की छत्रछाया में आ गयी थीं। अपने एकाकीपन से जूझ ही रही थीं कि चन्दा-सा बेटा मिल गया। बुआ ने बहुत स्नेह, समय और संरक्षण दिया है अपने इस राजदुलारे को। भाई का बेटा बुआ का अपना ही बेटा था। भाई ने अपने बेटे के लिए धाय नियुक्त कर दी थी, पर बुआ स्वयं ही बच्चे की देखभाल करती थीं। बुआ ने लाड़ के मारे बेटे को सिर चढ़ा रखा था। बुआ बेटे को दुखी नहीं देख सकती थीं। बुआ नहीं चाहती थी कि उनका बेटा दूसरे बच्चों के साथ खेलकर चोट खाये। वह स्वयं बच्चा बन उसके साथ खेलतीं। बुआ के साथ आँख-मिचौनी खेलना पन्त जी को सदा याद रहा।"[12]

आज से कुछ समय पहले तक घर के सेवक भी परिवार के सदस्य हो हुआ करते थे। "बिस्ना" नामक सेवक पन्त जी के परिवार का ही एक सदस्य था। बचपन में मातृहीन बालक पन्त की उसने भी अद्‌भुत परिचर्या की थी। उसके सम्बन्ध में पन्त जी की जीवन-कथा में सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"बिस्ना बड़े ही स्नेही स्वभाव का था। बुआ के बराबर ही गुसाईंदत्त को चाहता था। पन्त की आँखें आज भी उसकी याद में सजल हो जाती हैं। बिस्ना जानता था कि उसके छोटे लला को सफ़ाई पसन्द है—उसे साफ़-सुथरा रखने मे वह बुआ का हाथ बँटाता।"[13]

"कौसानी में गंगादत्त जी का परिवार बहुत बड़ा था। बूढ़ी माँ, दो छोटे भाई, भाइयों का परिवार, परित्यक्ता बहन, दूसरी बहन के पति, चार बेटे, चार बेटियाँ, बड़ी और मँझली बहू—ये घर के स्थायी सदस्य थे। इनके अतिरिक्त सात-आठ प्राणी और भी रहते थे। छोटे तीन चाचा तथा उनका परिवार, दूसरी चचेरी बहनें, चचेरे भाई आदि भी साल का अधिकांश समय कौसानी में ही बिताते थे। बड़े साले जनार्दन जोशी तथा छोटे साले मथुरादत्त भी छुट्टियों में आ जाते। अन्य रिश्तेदार तथा इष्ट मित्र भी आते रहते थे। पिता गंगादत्त, जयन्ती बुआ, तथा सेवक बिस्ना के अतिरिक्त इन सभी परिवारीजनों का स्नेह भी पन्त जी को अपने बचपन में मिला और उन्हीं के बीच उनका विकास हुआ।"[14]

पन्त जी के साहित्य में सम्मिलित परिवार और पत्नी-पुत्र वाले व्यक्तिगत परिवार की तुलनात्मक समीक्षा हमें कहीं नहीं मिलती, किन्तु अपने आत्मकथात्मक लेखन तथा भेंटवार्ताओं में उन्होंने अपने परिवारीजनों की चर्चा जितने भावोच्छ्‌वास के साथ की है; उसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी निष्ठा सम्मिलित परिवार में थी। अन्यथा अवसर मिलते ही अपने परिवारीजनों को इतने स्नेह के साथ स्मरण करने का आग्रह पन्त जी में न होता। माता-पिता और परिवारीजनों के स्नेह के अभाव में व्यक्ति के स्वभाव में विकृति आ जाने की कितनी सम्भावना रहती है, पन्त जी इस तथ्य से अच्छी तरह से परिचित थे। अपनी कहानी "पानवाला" में उन्होंने कहानी के नायक पीताम्बर के स्वभाव में उत्पन्न होने वाले अटपटेपन का कारण उसके जीवन में स्नेह की छाया का अभाव ही बताया है। उन्होंने लिखा है—"उसके स्वभाव में आत्मसम्मान प्रमुख और इच्छाएँ गौण हो गयी थीं। किसी के सामने झुकना, किसी के रौब में आना उससे न हो सकता था। माँ को वह खो ही चुका था, जिसके हाथों का स्नेह-स्पर्श उसके अभिमान और हठीले स्वभाव के तीखे कोनों को कोमल-चिकना

बना सकता अभिमान केवल स्नेह के सामने झुक सकता है उसे सहिष्णु साथी की ज़रूरत होती है। पर अपने भले-बुरे के ज्ञान से अनभिज्ञ उस ग़रीब के लड़के को ऐसा कुछ भी न मिल सकने के कारण उसका अतिरिक्त अभिमान आत्मनिर्माण करने के बदले आत्मसंहारक बन गया। पीताम्बर उच्छृंखल, स्वतंत्र तबियत का हो गया। आत्महीनता के पीड़ाजनक ज्ञान से बचने के लिए वह धनी युवकों से मित्रता स्थापित कर झूठा सन्तोष ग्रहण करने लगा। जीवनोपाय के लिए कोई हुनर, कोई उद्योग सीखने की ओर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया, जिससे पीछे उसे सच्चा सन्तोष मिल सकता।"[15]

पारिवारिक सम्बन्धों में पन्त जी की निष्ठा का एक दूसरा उदाहरण भी उनकी "पानवाला" कहानी में ही मिलता है। पीताम्बर ने पहले एक पान वाले की दुकान में पान लगाने की नौकरी कर ली थी। वहाँ उसने पाँच रुपये की चोरी कर ली, जिसके परिणामस्वरूप उसे पुलिस के हवाले किया जा रहा था। पीताम्बर का बड़ा भाई स्वयं बहुत ग़रीब था और पीताम्बर से नाराज़ रहता था; क्योंकि पीताम्बर कोई काम तो करता ही नहीं था; अपने ग़रीब भाई की जेब पर भी हाथ साफ़ कर लिया करता था। किन्तु जब बड़े भाई को पता चला कि पुलिस पीताम्बर को पकड़ने जा रही है, तो अपने दैन्य और भाई के प्रति नाराज़गी के बावजूद उसका भ्रातृ-स्नेह उदासीन नहीं रह सका। पन्त जी ने लिखा है—"दुकान का मालिक पीताम्बर को पुलिस के हवाले करने जा रहा था। उसके बड़े भाई ने बीच-बचाव कर हाथ जोड़कर, गिड़गिड़ाकर तम्बोली के रुपये दिये और पीताम्बर को धिक्कार कर उस पर गालियों की बौछार कर अन्त में लोगों के समझाने पर तरस खाकर उसके लिए निजी पान की दुकान खोल दी।"[16]

अपने बिगड़े हुए छोटे भाई को बड़े भाई ने धिक्कारा, गालियाँ दीं; किन्तु साथ ही उसने हाथ जोड़कर, गिड़गिड़ा कर, तम्बोली के रुपये भरकर अपने छोटे भाई को पुलिस की चंगुल से छुड़ाया और उसके लिए एक पान की दुकान भी खुलवा दी। पन्त जी की परिवार-निष्ठा ने ही उनसे यह चरित्र-चित्रण करवाया है। स्नेह-सम्बन्धों से वंचित मनुष्य की मनोवृत्ति निरर्थकता-बोध से पीड़ित होकर उसे किस ओर ले जाती है, पीताम्बर की कथा में उसका परिचय पन्त जी ने इस प्रकार दिया है—"व्यक्ति के जिस क्षुद्र रूप को उसने जीवन और संसार का स्वरूप समझ लिया था, वह अवश्य ही निस्सार एवं दुःखप्रद है। व्यक्ति के विशद रूप का, उसके सामाजिक, दैशिक, विश्व-व्यक्तित्व का

चिरन्तन स्वरूप उसे अपने यहाँ कहीं देखने को नहीं मिला। जीवन की समग्रता से कटकर वह अलग हो गया और पेड़ की डाली से विच्छिन्न पुष्प की तरह मुरझाने और सूखने लगा।[17]

पन्त जी की कहानी "पानवाला" उनके उस समाज-दर्शन का परिचय देने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसकी प्रखर चेतना उनके व्यक्तित्व ओर साहित्य का प्रेरणा-उत्स थी। सामूहिकता और वैयक्तिकता के एकत्वपूर्ण सामंजस्य की आवश्यकता को ही उनकी यह कहानी रेखांकित करती है।

पारिवारिक स्नेह के अभाव में बालक की अवस्था कितनी दयनीय हो जाती है और उसका सहज विकास अवरुद्ध होकर लोक-जीवन से पराङ्मुख हो जाता है, इसका अत्यन्त मार्मिक चित्रण पन्त जी ने अपने काव्य-संकलन "पतझर एक भाव क्रान्ति" की "शिवोऽहम्" शीर्षक रचना में किया है। पन्त जी अपने किसी मित्र के घर अतिथि थे। मित्र का घर पत्नी-पुत्रों तथा सुख-वैभव से सम्पन्न था। किन्तु उनका अपनी पूर्व पत्नी से भी एक बेटा था, जो घर के अन्य बच्चों से और उनके खेलकूद से अलग रहकर एक कमरे में दुबका हुआ "शिवोऽहम्" मन्त्र का जाप करता रहता था। पन्त जी ने लिखा है—

> "समझ गया मैं! उसकी सौतेली माँ थी,
> जो क्रोध भरी नागिन सी फुफकारा करती थी।
> कटा-कटा अनुभव करता वह; और मित्र भी,
> पत्नी की मुट्ठी में, ताने कसते रहते।
> उसे मूर्ख कह बात-बात में हँसी उड़ाते।
> मैं क्या करता? दशरथ ने भी स्वयं राम को
> वन भेजा जब, कुटिल विमाता के कहने पर,
> ये तो साधारण जन थे, इनका अनजाने
> क्रूर काम के वश में होना स्वाभाविक था।
> बच्चे भी अवसर पाकर; भाई की पूजा
> करते रहते कभी लात से घूँसों से भी।"[18]

पन्त जी ने स्नेह-वंचित उस बालक की व्यथा को समझा और उसे अपने स्नेह का सम्बल दिया। उसी रचना में उन्होंने आगे लिखा है—

> "मैं उसको उपहार भेजता रहा बराबर,
> लिखता रहा—तटस्थ रहो सम्प्रति निज स्थिति से।
> घर का कलह किसी को नहीं सहायक होता।

तुम भावी जग के प्रतिनिधि हो! पढ़-लिखकर तुम
भू—विकास—ध्वज वाहक होगे।"[19]

विमाता और विमाता से प्रभावित पिता के क्रूर व्यवहार से किसी बालक मे कितनी कुंठा उत्पन्न हो सकती है, इसका चित्रण करके पन्त जी ने पारिवारिक स्नेह के महत्त्व की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। पन्त जी की दृष्टि में आत्मीयता और स्नेह का केन्द्र होने के कारण ही परिवार का महत्त्व है। जिस परिवार से हमें स्नेह और आत्मीयता न मिले, उसे अपना परिवार मानना एक विडम्बना ही हो सकती है। रक्त-सम्बन्ध की दृष्टि से किसी पराये व्यक्ति अथवा परिवार से भी यदि किसी को स्नेह और आत्मीयता मिलती है, तो वह पराया व्यक्ति और परिवार भी आत्मीय बनकर जीवनी-शक्ति का पोषक और प्रेरक बन जाता है। पन्त जी ने अपनी इस रचना की अंतिम पक्तियों में यह संकेत किया है कि उनकी स्नेह-प्रेरणा पाकर उनके मित्र का वह पुत्र दिन-दिन प्रगति कर रहा है और निश्चय ही वह आगे चलकर "जन-भू-जीवन-अभिभावक होगा।"

पन्त जी को अपने बचपन में अपने निकट के और कुछ दूर के अपने सम्बन्धियों से भी जितना स्नेह और वात्सल्य मिला, उसने न केवल मातृ-स्नेह के अभाव की पूर्ति की, बल्कि उसने उन्हें वात्सल्य-प्रवण भी बना दिया। परिवारीजनों के स्नेह-स्पर्श ने ही उनके भीतर कोमलता और आर्द्रता के भाव को पुष्ट किया।

पन्त जी के व्यक्तित्व की एक बहुत विशेष बात यह है कि उनके परिवार में प्रकृति भी सम्मिलित हो गयी थी। अपनी जन्मस्थली कौसानी के प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति पन्त जी को जितना अनुराग था, उसे देखते हुए यह लगता है कि प्रकृति उनके लिए एक आत्मीय सजीव सत्ता थी। अपने काव्य-जीवन के पूर्वार्द्ध में पन्त जी प्रकृति के ही कवि थे। पन्त जी का प्रकृति-चित्रण-परक काव्य एक द्रष्टा के द्वारा देखी गयी प्रकृति के सौन्दर्य का निस्संग काव्य नहीं है। प्रकृति से प्रेम पन्त जी का जन्मजात संस्कार था। आत्मीयता पाने और प्रदान करने की वृत्ति बचपन से ही पन्त जी में इतनी अधिक थी कि उसकी सम्पूर्ण तृप्ति स्नेहाकुल परिवारीजनों के व्यवहार से ही नहीं हो पाती थी, उसने अपने लिए परिवार के अतिरिक्त प्रकृति में भी तृप्ति ढूँढ़ी। पन्त जी के जीवन और काव्य में प्रकृति का कितना बड़ा योगदान रहा है, इसकी चर्चा पन्त जी ने अत्यन्त उच्छल भाव से अनेक बार की है। पन्त जी ने लिखा है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी

जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घण्टो एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखों को मूँदकर लेटता था तो वह दृश्य-पट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज मे सुदूर तक फैली एक-के-ऊपर एक उठी ये हरित-नील–धूमिल कूर्मांचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमाचल को धारण किये हुए हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुए हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबोकर कुछ काल के लिए भुला सकती हैं, और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना पर्वत की ही तरह, निश्चल रूप से अवस्थित है।"[20]

पन्त जी ने जहाँ-कहीं अपने जीवन और काव्य के सम्बन्ध में कुछ कहा हे, वहाँ हर अवसर पर प्रकृति, विशेष रूप से कौसानी की पर्वतीय प्रकृति, के प्रभाव और प्रेरणा की बात उन्होंने बड़े उल्लास के साथ दोहराई है। उनकी जीवन-लेखिका सुश्री शान्ति जोशी ने प्रकृति से उनके लगाव की चर्चा इस प्रकार की है–"पन्त जी की माँ ने वसन्त ऋतु में उन्हें अपनी मूर्छितावस्था में जन्म दिया और उसी अवस्था में सदैव के लिए उन्होंने आँखें मूँद लीं। माँ अपने बालक को एक बार देख भी न पाये, प्यार न कर पाये, अपने आँचल का दूध न पिला सके–विधना के इस निर्मम आघात को जैसे कौसानी की ममतामयी समदृष्टि प्रकृति सह न सकी। बालक के लिए दयार्द्र होकर वह मूर्तिमती हो उठी। उसने उसे अपने विशाल स्नेहिल अंक का प्रश्रय ही नहीं दिया वरन् वह सब भी दिया जो एक स्नेहशील धात्री दे सकती है। पन्त के लिए प्रकृति ही माता, पिता, भाई, सखा, शिक्षक, प्रेमिका एवं सभी कुछ बन गयी।"[21]

पन्त जी ने स्थूलदेहधारिणी अपनी माँ का स्नेह सम्पर्क नहीं पाया, किन्तु बचपन में प्रकृति ने उन्हें माँ का स्नेह दिया और आगे चलकर मातृ-वात्सल्य की उनकी कामना सम्पूर्ण सृष्टि की धारणकर्त्री चैतन्यमयी जननी की दिव्य प्रीति पाकर पूर्णतया तृप्त हो गयी। उन्होंने लिखा है–

"माँ, तुम मेरी रक्त शिराओं में गाती हो,
सुनता मैं संगीत तुम्हारा हृत्स्पन्दन में,
नयनों में दिक् शोभा नासा में सुगन्ध बन,

प्राणो मे आनन्द-छन्द नित बरसाती हो।
तुम मुझ में ही रहतीं, अनुभव होता प्रतिक्षण,
तुम्हीं इन्द्रियों की बहुमुख गति करतीं धारण।
ज्ञात रहस्य मुझे अब, क्यों एकाकी जीवन,
निज करुणा में मुझे वर लिया तुमने गोपन।
नहीं जानता माँ, तुम कब कैसे आती हो,
बन जीवन-प्रेरणा नित्य नव मुस्काती हो।''[22]

मातृ-प्रेम में पन्त जी की यह निष्ठा उनके सामान्य जीवन-व्यवहार में भी देखने को मिलती थी। वे मातृत्व के कारण ही नारी को पूजनीय तथा त्यागमयी मानते थे। उनका कहना था—''मेरी माँ ने न रहकर मुझे मातृत्व के महत्त्व को सिखला दिया है। मुझे जन्म देने में ही तो मेरी माँ नहीं रही। मेरे बराबर स्त्रियो और लड़कियों का प्रशंसक और समर्थक तुम्हें कोई नहीं मिलेगा।''[23]

''पतझर : एक भाव क्रान्ति'' नामक काव्य-संकलन की ''प्रार्थना-रूप'' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में भी उनका यही भाव व्यक्त हुआ है—

''प्रसव वेदना सह जब जननी
हृदय स्वप्न निज मूर्त बनाकर,
स्तन्य दान दे उसे पालती,
पगपग नव शिशु पर न्यौछावर,
नहीं प्रार्थना इससे बढ़कर।''[24]

मातृ-पितृ-वात्सल्य के प्रति पन्त जी के आदर-भाव का वर्णन करते हुए सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—''जब कभी पन्त माता-पिता को अपने बच्चों के लिए नगण्य-सा भी त्याग तथा उनके लिए तनिक-सा भी चिन्तित होते देखते है, तो उनकी आँखें सजल हो जाती हैं। बड़े आश्चर्य और स्नेह से वे माता-पिता की प्रशंसा करने लगते हैं—''वे लोग कितने अच्छे हैं। अपने बच्चों का कितना ध्यान रखते हैं।''........उन्हें कौन समझाये कि अपत्य-प्रेम में यह बहुत ही सामान्य बात है। (पन्त जी की दृष्टि में) माँ का अपनी सन्तान के लिए त्याग, उसके लिए जीना, अपनी सुख-सुविधाओं को भूल जाना महानता का ही द्योतक है। जो मातृत्व का तिरस्कार करते हैं, वे पन्त के लिए ''हृदयहीन हैं'', ''छोटे हैं'', उनका ''खर्व व्यक्तित्व है''। यदि स्त्री सचमुच ही अच्छी माँ है, तो लगता है वे उसके कई अपराधों को क्षमा कर सकते हैं और जब उन्हें किसी स्त्री के

बारे में पता चलता है कि वह परिवार-वृद्धि की स्थिति में है तो वे उसके लिए अत्यन्त सदय हो उठते हैं—उनकी भावनाएँ सजल हो जाती हैं। "कुछ अच्छी चीज़ बनाकर उसे खिला दो", "कुछ अच्छा ला दो", "जो भी वह कहे, उसे चुपचाप सुन लेना", "आहत मत करना" आदि। एक बार अपनी एक परिचिता, जो शीघ्र ही माँ बनने जा रही थी, की आकाशीय गप्पों पर धीमे से मैंने एक अति सामान्य और हल्की सी बात कह दी, जो कि संभवतः उसकी समझ में भी न आयी होगी क्योंकि वह अपनी ही धुन में थी।.........पन्त उस समय वहीं पर थे, ध्वन्यात्मक अर्थ समझने में नितान्त असफल। बाद को जब अपनी बात का अर्थ समझाया तो दिनों तक उन्हें बुरा लगता रहा—"जब वह ऐसी स्थिति में है, तब उसे हर्गिज़ आहत नहीं करना चाहिये था। अपने आप कह रही थी, तुम प्रशंसा कर न सकीं तो चुप ही रहतीं। जानती हो, वह सुकोमल स्थिति में है। इस स्थिति में स्त्री अत्यधिक भाव-प्रवण हो जाती है, उसे हर बात जल्दी छूती है और बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ने का डर रहता है।" एक बार मैंने किसी अन्य को यह कहने पर टोक दिया कि उसके पति के पास कम-से-कम सौ कमीज़ें तो है ही। बाद में मैंने यह बात पन्त जी को बताई तो वे खिन्न हो गये, बोले—"तुम्हे ऐसा नहीं करना था। उसकी सुकोमल स्थिति का ध्यान करके चुप रहतीं। टोकने की तो किसी भी स्थिति में आवश्यकता ही नहीं थी। झूठ बोलने में उसे मन ही मन स्वयं ही कितना संकोच हो रहा होगा। किन्तु मनुष्य-स्वभाव की लाचारी। हीन ग्रन्थि के कारण झूठ बोली होगी। मैं होता, उल्टा उसकी बात का समर्थन कर देता। बेचारी, तुमने उसे व्यर्थ में टोका। बहुत ग़लत काम किया।"[25]

"सत्यकाम" शीर्षक अपने कथा-काव्य में पन्त जी ने कुँवारे मातृत्व को भी सम्मान दिया है। उस काव्य के नायक जाबाल (सत्यकाम) की माता जबाला अविवाहित स्थिति में ही माँ बन गयी थी। उसके कुँवारे मातृत्व के प्रति पन्त जी ने प्रकृति की सहानुभूति का चित्रण करते हुए जबाला के शब्दों में लिखा है—

"तभी स्वतंत्र उगी वन-भू ने मुझे देखकर
बोझिल जघनों की कोमल नैसर्गिक स्थिति में
सम्वेदना मुझे दी, वृक्षों की छाया में
पत्रों के आस्तरण बिछा, मृदु मर्मर ध्वनि में
मर्म खोल शाश्वत प्रजनन-प्रिय मातृ-प्रकृति का
दुग्धकोष बन गये कृष्णमुख पीन गौर स्तन,
करवट लेता जीवन-अंकुर उदर-तल्प में-

× × ×

तुम क्या आये, सृष्टि खेलने लगी गोद में
आकर मेरे! सूना जग भर गया! जी उठी,
मैं शाश्वत बन, तुम में ले नव जन्म और बँध
जीवन-क्रम में अमर, मृत्युभय पर पाकर जय।"[26]

जबाला का पुत्र जाबाल बड़ा होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से गोतम ऋषि के आश्रम में पहुँचकर कहता है—

"पुत्र जबाला का जाबाल मुझे कहते हैं,
गोत्र नहीं मैं जान सका माता से अपना।"
दबी हँसी की तरल लहर दौड़ी छात्रों में,
हाथ उठाकर गुरु ने तुरत अभय मुद्रा में,
शान्ति शान्ति कह स्नेह-दृष्टि फिर फेरी बटु पर।
"माँ कहती, उसकी षोडश वर्षों की स्मृति अब
धुँधली पड़ मिट गयी, सदा ही ऋषि मुनियों की
परिचर्या में बीता जीवन—ज्ञान न उसको
कब, कैसे"—"आवश्यक नहीं" कहा ऋषिवर ने
शान्त भाव से, "बटुक सत्यभाषी हो तुम जो
ब्राह्मण का गुण। उच्च गोत्र दीपक तुम सम्भव,
दीक्षा के अधिकारी लगते" साधु—साधु कह,
करतल ध्वनि सँग जय जयकार किया सुज्ञों ने।"[27]

किसी भी स्नेह-वंचित बालक को देखकर पन्त जी के भीतर वात्सल्य-भावना जाग्रत् हो जाती थी। उनका एक काव्य-संकलन "शशि की तरी" है जिसमें एक अनाथ बालिका के सम्बन्ध में लिखे गये स्मृति-गीतों को संग्रहीत किया गया है। जिस बालिका की स्मृति में ये गीत लिखे गये हैं, उसका नाम अनुपमा था। उसे पन्त जी ने स्वराज-भवन, इलाहाबाद के बाल-भवन में देखा था। "शशि की तरी" की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है—"अनुपमा में न जाने ऐसे कौन-से विशिष्ट एवं उच्च संस्कार थे कि उसे देखते ही मेरा हृदय उसके प्रति गहरे वात्सल्य-भाव से भर गया और दिन-प्रतिदिन उसके प्रति मेरे मन का आकर्षण बढ़ता ही गया। यह सब कुछ ही दिनों के भीतर पूर्ण रूप से घटित हो गया।... ...मैंने अपनी ओर से उसे "स्तुति" नाम दिया था। अनुपमा बचपन से ही कुछ

थी।...........उसके घुटने की हड्डी कुछ बढ़ी हुई थी।......दुर्भाग्यवश
ा सफल आपरेशन होने के बाद ऐनेस्थीज़िया के प्रभाव से न उबर
के कारण फिर उसकी स्मृति कभी नहीं लौट सकी। चौथे दिन रात्रि के
जे मुझे अस्पताल से फ़ोन द्वारा सूचना मिली कि वह स्वर्ग की कली
देहलीला समाप्त कर चली गयी है।

"अनुपमा के इस प्रकार अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से चले जाने के
मेरे हृदय को जो आघात लगा उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना असम्भव है।
ा ने मेरे हृदय में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया है। उसने अदृश्य
मेरे स्वप्नों के संसार का ही रूपान्तर कर दिया है। उसी की स्नेह-मधुर
में मैंने ये गीत सँजोये हैं।"[28]

अनुपमा को देखकर पन्त जी के मन में आकुल वात्सल्य किस तीव्रता से
था, इसका परिचय उनकी ये काव्य-पंक्तियाँ देती हैं—

"बाल-भवन में तुम्हें देखकर आज अनुपमे,
आत्मपराजित अनुभव करता मैं निज मन में,
कैसे तुम्हें उबारूँ? मार्ग न मुझे सूझता!
तुम्हें गोद लेने को आतुर तब से मेरा
हृदय तड़पता, तुम निरीह सुकुमार बालिका,
हिम-निपात-असि-हत प्राणों की कलिका कोमल!
तुम हो कुछ अस्वस्थ, चिकित्सक कहते मुझसे,
एक पैर की हड्डी में सूजन है सम्भव,
मैं इसका उपचार कराऊँगा, निष्ठा से
पालन-पोषण का दायित्व सम्हाल तुम्हारा
सार्थक समझूँगा अपना जीवन, प्रिय दुहिते!
तुमसे सुन्दर कन्या मुझको नहीं चाहिये!
तुम सुन्दर बन सको हृदय से—पा अनुकूल
परिस्थिति, रुचिकर शिक्षा-दीक्षा, उन्नत संस्कृत
शील सौम्य संस्कार ग्रहण कर सको निरन्तर,
मन का ही सौन्दर्य चाहता हूँ मैं तुमसे।"[29]

पन्त जी के इस भाव को केवल उनकी उदार करुणा का परिचय
पन्त जी के साथ अन्याय होगा। उनकी ये गीत-पंक्तियाँ उनके विह्वल
का परिचय देती हैं। "प्रिय दुहिते!" यह सम्बोधन उनके हृदय की

× × ×

तुम क्या आये, सृष्टि खेलने लगी गोद में
आकर मेरे! सूना जग भर गया! जी उठी,
मैं शाश्वत बन, तुम में ले नव जन्म और बँध
जीवन-क्रम में अमर, मृत्युभय पर पाकर जय।"[26]

जबाला का पुत्र जाबाल बड़ा होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से गोतम ऋषि के आश्रम में पहुँचकर कहता है—

"पुत्र जबाला का जाबाल मुझे कहते हैं,
गोत्र नहीं मैं जान सका माता से अपना।"
दबी हँसी की तरल लहर दौड़ी छात्रों में,
हाथ उठाकर गुरु ने तुरत अभय मुद्रा में,
शान्ति शान्ति कह स्नेह-दृष्टि फिर फेरी बटु पर।
"माँ कहती, उसकी षोडश वर्षों की स्मृति अब
धुँधली पड़ मिट गयी, सदा ही ऋषि मुनियों की
परिचर्या में बीता जीवन—ज्ञान न उसको
कब, कैसे"—"आवश्यक नहीं" कहा ऋषिवर ने
शान्त भाव से, "बटुक सत्यभाषी हो तुम जो
ब्राह्मण का गुण। उच्च गोत्र दीपक तुम सम्भव,
दीक्षा के अधिकारी लगते" साधु—साधु कह,
करतल ध्वनि सँग जय जयकार किया सुज्ञों ने।"[27]

किसी भी स्नेह-वंचित बालक को देखकर पन्त जी के भीतर वात्सल्य-भावना जाग्रत् हो जाती थी। उनका एक काव्य-संकलन "शशि की तरी" है जिसमें एक अनाथ बालिका के सम्बन्ध में लिखे गये स्मृति-गीतों को संग्रहीत किया गया है। जिस बालिका की स्मृति में ये गीत लिखे गये हैं, उसका नाम अनुपमा था। उसे पन्त जी ने स्वराज-भवन, इलाहाबाद के बाल-भवन में देखा था। "शशि की तरी" की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है—"अनुपमा में न जाने ऐसे कौन-से विशिष्ट एवं उच्च संस्कार थे कि उसे देखते ही मेरा हृदय उसके प्रति गहरे वात्सल्य-भाव से भर गया और दिन-प्रतिदिन उसके प्रति मेरे मन का आकर्षण बढता ही गया। यह सब कुछ ही दिनों के भीतर पूर्ण रूप से घटित हो गया।... .मैंने अपनी ओर से उसे "स्तुति" नाम दिया था। अनुपमा बचपन से ही कुछ

य थी।...........उसके घुटने की हड्डी कुछ बढ़ी हुई थी।......दुर्भाग्यवश
का सफल आपरेशन होने के बाद ऐनिस्थीज़िया के प्रभाव से न उबर
के कारण फिर उसकी स्मृति कभी नहीं लौट सकी। चौथे दिन रात्रि के
बजे मुझे अस्पताल से फ़ोन द्वारा सूचना मिली कि वह स्वर्ग की कली
देहलीला समाप्त कर चली गयी है।

"अनुपमा के इस प्रकार अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से चले जाने के
मेरे हृदय को जो आघात लगा उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना असम्भव है।
ा ने मेरे हृदय में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया है। उसने अदृश्य
मेरे स्वप्नों के संसार का ही रूपान्तर कर दिया है। उसी की स्नेह-मधुर
मे मैंने ये गीत सँजोये हैं।"[28]

अनुपमा को देखकर पन्त जी के मन में आकुल वात्सल्य किस तीव्रता से
था, इसका परिचय उनकी ये काव्य-पंक्तियाँ देती हैं—

> "बाल-भवन में तुम्हें देखकर आज अनुपमे,
> आत्मपराजित अनुभव करता मैं निज मन में,
> कैसे तुम्हें उबारूँ? मार्ग न मुझे सूझता!
> तुम्हें गोद लेने को आतुर तब से मेरा
> हृदय तड़पता, तुम निरीह सुकुमार बालिका,
> हिम-निपात-असि-हत प्राणों की कलिका कोमल!
> तुम हो कुछ अस्वस्थ, चिकित्सक कहते मुझसे,
> एक पैर की हड्डी में सूजन है सम्भव,
> मैं इसका उपचार कराऊँगा, निष्ठा से
> पालन-पोषण का दायित्व सम्हाल तुम्हारा
> सार्थक समझूँगा अपना जीवन, प्रिय दुहिते!
> तुमसे सुन्दर कन्या मुझको नहीं चाहिये!
> तुम सुन्दर बन सको हृदय से—पा अनुकूल
> परिस्थिति, रुचिकर शिक्षा-दीक्षा, उन्नत संस्कृत
> शील सौम्य संस्कार ग्रहण कर सको निरन्तर,
> मन का ही सौन्दर्य चाहता हूँ मैं तुमसे।"[29]

पन्त जी के इस भाव को केवल उनकी उदार करुणा का परिचय मानना
जी के साथ अन्याय होगा। उनकी ये गीत-पंक्तियाँ उनके विह्वल वात्सल्य
परिचय देती हैं। "प्रिय दुहिते!" यह सम्बोधन उनके हृदय की जितनी

गहराई से निकला है, उतनी गहराई से वह इन पंक्तियों के पाठक के मन को भी उन्मथित कर देता है। पन्त जी का यह उदात्त वात्सल्य अपनी शुक्रजन्य सन्तान के प्रति उमड़ने वाला नैसर्गिक पशु-संस्कार न होकर उनके भागवत-मानस की, उनके दिव्य वात्सल्य की झलक देने के साथ ही इस तथ्य को भी प्रतिपादित करता है कि अनुकूल परिस्थिति और रुचिकर शिक्षा-दीक्षा पाकर ही बालक उन्नत, सुसंस्कृत, सुशील तथा सौम्य बन सकता है, जिसके मिलने की सम्भावना सामान्यतः पारिवारिक परिवेश में ही होती है।

सन्दर्भ-संकेत

1. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 12, प्र. सं. 1970
2. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 82, प्र सं. 1970
3. किरणवीणा : सु. पन्त, पुरुषोत्तम राम, पृ. 197, प्र. सं. 1967
4. वही पृ. 197
5. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 20, प्र. सं. 1970
6. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 26-27
7. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 27
8. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 28
9. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 29-30
10. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 40
11. वही
12. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 40-41
13. वही, पृ. 42-43
14. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 32
15. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, पाँच कहानियाँ, पान वाला, पृ. 6
16. सु. पन्त ग्रंथावली, खण्ड 6, पाँच कहानियाँ, पानवाला, पृ. 7
17. वही, पृ. 9

18. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भावक्रान्ति–शिवोऽहम्, पृ. 399
19. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भावक्रान्ति, पृ. 399
20. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 263, प्र. सं. 1979
21. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 1-2
22. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भावक्रान्ति, अनन्य तन्मया, पृ. 432
23. सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 4
24. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भावक्रान्ति, प्रार्थनारूप कविता, पृष्ठ 455, प्रथम संस्करण 1979
25 सु. पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 45
26 सु. पन्त : ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम-जबाला, पृ. 320-321
27. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम-जबाला, पृ. 324, प्र. सं. 1979
28. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, शशि की तरी की भूमिका, पृ. 29
29. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, शंखध्वनि–अनुपमा नामक कविता, पृ 28, प्र. सं. 1979

तृतीय अध्याय
पन्त जी की दाम्पत्य-दृष्टि

दाम्पत्य-जीवन के विकास की पृष्ठभूमि

परिवार समाज की आत्मीय लघु इकाई है तो विवाह परिवार की आधारशिला। सामाजिक संस्था के रूप में परिवार तभी अस्तित्व में आया जब मानव-समाज ने विवाह की पद्धति को अपनाया। विवाह-प्रथा के प्रचलन से पहले मनुष्य झुण्डों मे रहते थे। झुण्ड के किसी भी पुरुष का काम-सम्बन्ध झुण्ड की किसी भी स्त्री के साथ हो सकता था, कोई किसी का पति या कोई किसी की पत्नी नहीं थी। सन्तानें प्रत्यक्षतः माँ की होती थीं। उनका पिता कौन है, इसके जानने की न कोई सम्भावना थी और न कोई आवश्यकता। झुण्ड के परिवेश में और उसकी सहायता से स्त्री सन्तान का पालन करती थी और सन्तान अपनी माँ के बाद झुण्ड की होती थी। सभ्यता के विकास-क्रम में गिरोह के रूप में संगठित जीवन की स्थिति जब अपर्याप्त प्रतीत हुई, तभी मनुष्य ने सामाजिक संस्था के रूप मे विवाह की कल्पना की।

मानव-शिशु की जन्मकालिक असहायता, उसके विकास की मंद गति और उसके विकास को पाशविक विकास-सीमा से आगे ले जाने की मानवीय आकांक्षा ने ही विवाह से निर्धारित पारिवारिक संगठन को जन्म दिया। परिवार मानव की काम-वृत्ति के परितोष के साधन के रूप में विकसित नहीं हुआ। उसकी सुविधा तो झुण्ड जीवन में अधिक थी। पशु से ही विकसित होकर मनुष्य अस्तित्व में आया—ऐसा जीव-विज्ञानी मानते हैं। जो ऐसा न भी मानते हों, वे यह जानते ओर मानते हैं कि मानवता का विकास एक क्रमिक सांस्कृतिक प्रक्रिया से हुआ हे। मानव और मानवीय संस्थाएँ आज जैसी हैं, वैसी ही अपने आदिम रूप मे नहीं थीं। अपनी विकास-प्रक्रिया में मनुष्य जब अपनी पाशविक प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण कर मानवता के सोपान पर पहुँचा, तब तक उसकी सत्ता जितनी

जैविक थी उससे अधिक मनोवैज्ञानिक हो गयी थी। अपनी प्रसिद्ध काव्य-कृति "सत्यकाम" में पन्त जी ने मानव-विकास की इस प्रक्रिया का संकेत इन पंक्तियों में किया है—

> "नये चरण थे जीवन के, भू सद्यः सुन्दर,
> पशु-पक्षी पुष्पों के जग से ऊपर उठकर
> अगणित शतियों की संकट-स्थिति तिर जल-स्थल की
> जीवन, मानस जीवी बन, चलता धरती पर,
> पशु चारी से, कृषि जीवी,
> आश्रम वासी बन।"[1]

जैसे-तैसे क्षुधा-काम की तृप्ति कर लेना और सन्तति-स्नेह को पशु-सामान्य नैसर्गिक परिधि तक ही सीमित रखना मानवता को वांछनीय और अलम् नही रहा, क्योंकि गुणात्मक विकास की ललक उसके भीतर उत्पन्न हो चुकी थी। झुण्ड-जीवन उसकी विकसित मानवीय आकांक्षा को परितृप्ति देने में असफल प्रतीत होने लगा। अब उसे ऐन्द्रिक तृप्ति के साथ-साथ मनस्तृप्ति की भी आकांक्षा होने लगी थी, जिसके लिए सम्बन्धों को कुछ अधिक स्थिरता और गहराई देने की आवश्यकता सामने आयी। पारस्परिक सम्बन्धों को मनस्तुष्टि के अनुरूप अपेक्षित स्थिरता और गहराई देने की मानवीय आवश्यकता ने ही विवाह-संस्था को जन्म दिया और फिर उसी को केन्द्र बनाकर परिवार अस्तित्व में आया।

जीव-जगत् में हमें दो प्रकार के जीव दिखाई देते हैं—एक वे जो झुण्ड में रहते हैं और दूसरे वे जो जोड़ा बनाकर रहते हैं। मनुष्य आदिम स्थिति में झुण्ड मे ही रहता था। जोड़ा बनाकर रहने की प्रवृत्ति उसने अपनी आवश्यकता और आकांक्षा के अनुरूप कालांतर में अपनायी। अभी भी बहुत सी आदिम जातियों मे झुण्ड-जीवन की सामाजिक संरचना वर्तमान है, किन्तु आज की सामान्य मानव-चेतना, सभ्यता की दृष्टि से उन्हें अविकसित मानती है। निश्चय ही आरम्भ में जब मनुष्य ने जोड़े में रहने की प्रवृत्ति अपनायी होगी, उस समय जोड़े का चुनाव किन्हीं सामाजिक और नैतिक मूल्यों और विधानों के आधार पर नही होता होगा। परिस्थिति और पसन्द के आधार पर एक व्यक्ति अपने लिए दूसरा साथी चुनकर युग्म-जीवन आरम्भ कर देता होगा। युग्म-जीवन मानवीय तुष्टि और सुविधा की दृष्टि से अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ, इसी कारण वह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी और धीरे-धीरे सभ्य सामाजिक संरचना का आधार बन

गयी क्रमिक रूप से विवाह और परिवार सम्बन्धी व्यवहार संहिताएं और मर्यादाए बनती गयीं और संसार के विभिन्न समाजों में उन्हें वह रूप प्राप्त हो गया, जिनका प्रचलन हमें आज दिखाई देता है। पहले जीवन की गति को प्रकृति की प्रेरणाएँ संचालित और नियन्त्रित करती थीं। धीरे-धीरे हृदय और बुद्धि के हस्तक्षेप से धार्मिक और नैतिक मूल्यों का उदय हुआ। इस नैतिक विकास की प्रक्रिया की ओर पन्त जी ने "सत्यकाम" की इन पंक्तियों में संकेत किया है—

> "महाश्चर्य-सी लगतीं नैसर्गिक घटनाएँ,
> नवयौवना प्रकृति का नग्न विवश आकर्षण
> प्रेरित करता मनुजों के इन्द्रिय-कर्मों को
> हृदय बुद्धि के हस्तक्षेप बिना, अनजाने,
> नैतिक धार्मिक मूल्य शनैः ये जन्म ले रहे
> मन की अन्ध गुहा के तम में उन दीपों से
> आध्यात्मिकता आलोक झाँकता वातायन से।"[2]

परिवार-जीवन पर आधारित सामाजिक संरचना के नैतिक मानदण्ड आज की अपेक्षा पहले कुछ शिथिल रहे होंगे, पर धीरे-धीरे उनकी स्थिरता और दृढ़ता बढ़ती गयी और उनका विकास सुचिन्तित और व्यापक शास्त्रीय विधानों में ढल गया। विभिन्न समाजों में विवाह और वैवाहिक जीवन सम्बन्धी स्थिरता और सुदृढ़ता के मानदण्डों में आज भी थोड़ी बहुत भिन्नता पायी जाती है। एक ही देश और काल के किसी समाज में भी स्तर-भेद से उन मानदण्डों में शिथिलता और सुदृढ़ता का भेद हमें देखने को मिलता है। मान्यता की दृष्टि से उच्च माने जाने वाले सामाजिक वर्गों में वैवाहिक मर्यादाएँ मात्रा और गुण दोनों की दृष्टि से कुछ अधिक और उच्चतर होती हैं और उनके परिपालन में अधिक दृढ़ता बरती जाती है। मान्यता की दृष्टि से कुछ निम्न स्तर के माने जाने वाले सामाजिक वर्गों में उन मर्यादाओं में से कुछ का प्रचलन लगभग नहीं के बराबर होता है और शेष कुछ कम दृढ़ता के साथ व्यवहृत होती हैं, किन्तु प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक संहिता का निर्माण बड़े और ऊँचे मूल्यों के आधार पर ही करता है और वही उस समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करती है।

संतति के पालन-पोषण और मानवीय अपेक्षा के अनुरूप उसके सभ्य और सुसस्कृत विकास के निमित्त केवल माता की सावधानी और प्रयास ही पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए, इसलिए उसमें पिता का अन्तःप्रेरित और परिपूर्ण सहयोग भी अपेक्षित हुआ। पिता के इस आन्तरिक और परिपूर्ण सहयोग को सुनिश्चित

करने के लिए स्वाभाविक रूप में ऐसी मर्यादाओं का भी विकास हुआ जिनके आधार पर पिता सन्तान के सम्बन्ध में आश्वस्त रह सके कि वह उसकी अपनी ही कृति है और उसका विकास उसका अपना ही विकास है। इस आश्वासन की सिद्धि के लिए ही पति-पत्नी में एकनिष्ठा और स्त्रियों में पातिव्रत्य के आदर्श की स्थापना हुई। इसी बीच दुनियाँ के अधिकांश समाज मातृ-सत्तात्मकता की स्थिति से आगे बढ़कर पितृ-सत्तात्मक हो गये। ऐसा होने में पुरुषों की किसी नारी-प्रतिकूल दुर्भावना अथवा दुरभिसंधि का हाथ नहीं था। यह परिवर्तन प्राकृतिक प्रेरणाओं के आधार पर ही हुआ। जिन प्राकृतिक प्रेरणाओं ने समाज की मातृसत्तात्मकता को क्षीण करके पितृसत्तात्मकता को बढ़ावा दिया, उन्हीं के चलते अधिकांश समाजों में और उसकी इकाई रूप परिवारों में नारी की अपेक्षा पुरुष का वर्चस्व बढ़ गया। परिवार के साथ-साथ घर का विकास हुआ और पुरुष गृहस्थ अथवा गृहपति और नारी गृहिणी बन गयी।

विवाह पर आधारित परिवार और उसके स्थूल केन्द्र के रूप में गृह के अस्तित्व में आने के बाद गृह-कार्यों की मात्रा और विविधता में भी वृद्धि हुई और शिशु के पालन-पोषण के मुख्य कार्य के साथ-साथ आंतरिक गृह-चर्या से सम्बन्धित कार्यों के निर्वाह का दायित्व भी मुख्यतः गृहिणी का ही हो गया। जीविकार्जन, संपत्ति की वृद्धि और उसकी सुरक्षा आदि से सम्बन्धित कार्य जो मुख्यतः गृह की सीमा के बाहर सम्पन्न होते थे, उनका भार पुरुष के ऊपर आया। जो पुरुष जितना ही समर्थ और सक्षम था और अपने परिवार के लिए अधिक-से-अधिक सुख, सुविधा और सुरक्षा के साधन अपने अधिकार की परिधि मे ला सकता था, उसकी पत्नी को उसी मात्रा में गृह-सीमा के भीतर ही अधिक-से-अधिक बने रहने की सुविधा प्राप्त हुई। जिस परिवार-युग्म के पुरुष जीवन के साधन अधिकृत करने और अर्जित करने में कम समर्थ थे उनकी पत्नियों को बाहर जाकर जीवन-साधनों के जुटाने में सहयोगी बनने की आवश्यकता होती थी। धीरे-धीरे इसी के आधार पर श्रेष्ठता और हीनता की वर्ग-भावना का विकास हुआ और यह मर्यादा बन गयी कि श्रेष्ठवर्गीय परिवार की स्त्री जहाँ तक सम्भव हो गृह-सीमित ही रहे। गृह-सीमा के बाहर के कार्य करना अथवा बाहर के कामों में पुरुष का हाथ बँटाना अपेक्षाकृत हीन वर्ग की स्त्रियो की विवशता थी और इस कारण यथासम्भव गृह-सीमा के बाहर न जाने की मर्यादा उनके सम्बन्ध में उतनी दृढ़ता से पालनीय नहीं बनायी गयी। मानव-परिवार और पारिवारिक मर्यादाओं के विकास की यही पृष्ठभूमि है, जिसका परिचय

गयी। क्रमिक रूप से विवाह और परिवार सम्बन्धी व्यवहार-संहिताएँ और मर्यादाएँ बनती गयीं और संसार के विभिन्न समाजों में उन्हें वह रूप प्राप्त हो गया, जिनका प्रचलन हमें आज दिखाई देता है। पहले जीवन की गति को प्रकृति की प्रेरणाएँ संचालित और नियन्त्रित करती थीं। धीरे-धीरे हृदय और बुद्धि के हस्तक्षेप से धार्मिक और नैतिक मूल्यों का उदय हुआ। इस नैतिक विकास की प्रक्रिया की ओर पन्त जी ने "सत्यकाम" की इन पंक्तियों में संकेत किया है—

"महाश्चर्य-सी लगतीं नैसर्गिक घटनाएँ,
नवयौवना प्रकृति का नग्न विवश आकर्षण
प्रेरित करता मनुजों के इन्द्रिय-कर्मों को
हृदय बुद्धि के हस्तक्षेप विना, अनजाने,
नैतिक धार्मिक मूल्य शनैः थे जन्म ले रहे
मन की अन्ध गुहा के तम में उन दीपों से
आध्यात्मिकता आलोक झाँकता वातायन से।"[2]

परिवार-जीवन पर आधारित सामाजिक संरचना के नैतिक मानदण्ड आज की अपेक्षा पहले कुछ शिथिल रहे होंगे, पर धीरे-धीरे उनकी स्थिरता और दृढ़ता बढ़ती गयी और उनका विकास सुचिन्तित और व्यापक शास्त्रीय विधानों में ढल गया। विभिन्न समाजों में विवाह और वैवाहिक जीवन सम्बन्धी स्थिरता और सुदृढ़ता के मानदण्डों में आज भी थोड़ी बहुत भिन्नता पायी जाती है। एक ही देश और काल के किसी समाज में भी स्तर-भेद से उन मानदण्डों में शिथिलता और सुदृढ़ता का भेद हमें देखने को मिलता है। मान्यता की दृष्टि से उच्च माने जाने वाले सामाजिक वर्गों में वैवाहिक मर्यादाएँ मात्रा और गुण दोनों की दृष्टि से कुछ अधिक और उच्चतर होती हैं और उनके परिपालन में अधिक दृढ़ता बरती जाती है। मान्यता की दृष्टि से कुछ निम्न स्तर के माने जाने वाले सामाजिक वर्गों में उन मर्यादाओं में से कुछ का प्रचलन लगभग नहीं के बराबर होता है और शेष कुछ कम दृढ़ता के साथ व्यवहृत होती हैं, किन्तु प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक संहिता का निर्माण बड़े और ऊँचे मूल्यों के आधार पर ही करता है और वही उस समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करती है।

संतति के पालन-पोषण और मानवीय अपेक्षा के अनुरूप उसके सभ्य और सुसंस्कृत विकास के निमित्त केवल माता की सावधानी और प्रयास ही पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए, इसलिए उसमें पिता का अन्तःप्रेरित और परिपूर्ण सहयोग भी अपेक्षित हुआ। पिता के इस आन्तरिक और परिपूर्ण सहयोग को सुनिश्चित

करने के लिए स्वाभाविक रूप में ऐसी मर्यादाओं का भी विकास हुआ जिनके आधार पर पिता सन्तान के सम्बन्ध में आश्वस्त रह सके कि वह उसकी अपनी ही कृति है और उसका विकास उसका अपना ही विकास है। इस आश्वासन की सिद्धि के लिए ही पति-पत्नी में एकनिष्ठा और स्त्रियों में पातिव्रत्य के आदर्श की स्थापना हुई। इसी बीच दुनियाँ के अधिकांश समाज मातृ-सत्तात्मकता की स्थिति से आगे बढ़कर पितृ-सत्तात्मक हो गये। ऐसा होने में पुरुषों की किसी नारी-प्रतिकूल दुर्भावना अथवा दुरभिसंधि का हाथ नहीं था। यह परिवर्तन प्राकृतिक प्ररणाओं के आधार पर ही हुआ। जिन प्राकृतिक प्रेरणाओं ने समाज की मातृसत्तात्मकता को क्षीण करके पितृसत्तात्मकता को बढ़ावा दिया, उन्हीं के चलते अधिकांश समाजों में और उसकी इकाई रूप परिवारों में नारी की अपेक्षा पुरुष का वर्चस्व बढ़ गया। परिवार के साथ-साथ घर का विकास हुआ और पुरुष गृहस्थ अथवा गृहपति और नारी गृहिणी बन गयी।

विवाह पर आधारित परिवार और उसके स्थूल केन्द्र के रूप में गृह के अस्तित्व में आने के बाद गृह-कार्यों की मात्रा और विविधता में भी वृद्धि हुई और शिशु के पालन-पोषण के मुख्य कार्य के साथ-साथ आंतरिक गृह-चर्या से सम्बन्धित कार्यों के निर्वाह का दायित्व भी मुख्यतः गृहिणी का ही हो गया। जीविकार्जन, संपत्ति की वृद्धि और उसकी सुरक्षा आदि से सम्बन्धित कार्य जो मुख्यतः गृह की सीमा के बाहर सम्पन्न होते थे, उनका भार पुरुष के ऊपर आया। जो पुरुष जितना ही समर्थ और सक्षम था और अपने परिवार के लिए अधिक-से-अधिक सुख, सुविधा और सुरक्षा के साधन अपने अधिकार की परिधि मे ला सकता था, उसकी पत्नी को उसी मात्रा में गृह-सीमा के भीतर ही अधिक-से-अधिक बने रहने की सुविधा प्राप्त हुई। जिस परिवार-युग्म के पुरुष जीवन के साधन अधिकृत करने और अर्जित करने में कम समर्थ थे उनकी पत्नियों को बाहर जाकर जीवन-साधनों के जुटाने में सहयोगी बनने की आवश्यकता होती थी। धीरे-धीरे इसी के आधार पर श्रेष्ठता और हीनता की वर्ग-भावना का विकास हुआ और यह मर्यादा बन गयी कि श्रेष्ठवर्गीय परिवार की स्त्री जहाँ तक सम्भव हो गृह-सीमित ही रहे। गृह-सीमा के बाहर के कार्य करना अथवा बाहर के कामों में पुरुष का हाथ बँटाना अपेक्षाकृत हीन वर्ग की स्त्रियो की विवशता थी और इस कारण यथासम्भव गृह-सीमा के बाहर न जाने की मर्यादा उनके सम्बन्ध में उतनी दृढ़ता से पालनीय नहीं बनायी गयी। मानव-परिवार और पारिवारिक मर्यादाओं के विकास की यही पृष्ठभूमि है, जिसका परिचय

यहाँ अतिशय संक्षिप्त संकलन में प्रस्तुत किया गया है।

अपने संकुचित रूप में परिवार पति, पत्नी और सन्तानों तक ही सीमित माना जाता है, किन्तु स्वाभाविक रूप से परिवार के एक व्यापक रूप की धारणा भी मानव-स्वभाव में प्रतिष्ठित हुई, जिसमें बाबा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मामा-मामी, मौसा-मौसी, भाई-भाभी, सास-ससुर, जेठ-जिठानी, देवर-देवरानी आदि अनेक पारिवारिक संबंधों को स्थान प्राप्त हुआ। भारतीय समाज, विशेषतया हिन्दू समाज, में इस तरह के सम्बन्धों की संख्या और प्रतिष्ठा कुछ अधिक मात्रा में हमें देखने को मिलती है। इन सारे सम्बन्धों के केन्द्र में विवाह नाम की ही संस्था है। विवाह-प्रथा का प्रचलन यदि न हुआ होता, तो इन सम्बन्धों के विकास की सम्भावना भी न बनती। पन्त जी के व्यापक परिवार से सम्बन्धित दृष्टिकोण का परिचय पहले दिया जा चुका है। उनकी दाम्पत्य-दृष्टि के अन्तर्गत अब विवाह तथा दाम्पत्य--भाव के स्वरूप के सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पन्त जी का विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण

पन्त जी ने विवाह नहीं किया था, इस आधार पर यह मानना कि पन्त जी सामाजिक संस्था के रूप में विवाह में निष्ठा नहीं रखते थे, उचित नही होगा। विवाह पर आधारित विविध पारिवारिक सम्बन्धों में उनकी जिस निष्ठा का परिचय पहले दिया जा चुका है, वह प्रकारान्तर से विवाह में उनकी निष्ठा को भी प्रकट करती है। विवाह करना उचित नहीं है अथवा जीवन में उसकी आवश्यकता नहीं है, विचार की किसी ऐसी प्रेरणा के प्रभाव में वे अविवाहित रहे, बात ऐसी नहीं है। पन्त जी ने कई स्थलों पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उनका विवाह न करना उनके द्वारा मान्य किसी आदर्श का अनुसरण नहीं था।

पन्त जी की जीवनी-लेखिका सुश्री शान्ति जोशी ने इस सम्बन्ध में उनसे सीधी जिज्ञासा की थी, जिसके उत्तर में उन्होंने कहा था--"मैं यह नहीं कहता कि अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर भी मैं अविवाहित रहता। हो सकता है कि युवावस्था में मुझे अनुकूल परिस्थतियाँ मिलतीं तो मैं गृहस्थ-जीवन व्यतीत करता दीखता। पहले तो इक्कीस, विशेषकर छब्बीस साल की आयु से मेरा जीवन संघर्षरत हो गया। इकतीस से चालीस वर्ष तक मैं कालाकाँकर में रहा, वहाँ, जहाँ साँप और बन्दर मेरे संगी-साथी थे। गंगातट की इस वनस्थली में स्त्रीरूप दुर्लभ ही था।......आर्थिक विषमता तथा मेरी संवेदनशील प्रकृति और राष्ट्रीय

चतना ने मुझे इतना अधिक घेर रखा था कि कभी इस ओर ध्यान सम्पूर्णता से गया ही नहीं हुआ। जब तक सुख-समृद्धि से घिरा था, प्राकृतिक गोद में छिपा रहा था। बाह्य परिस्थितियों, समाज, स्त्री-पुरुष का प्रश्न ही नहीं उठा। सन् 26 में जब भिखारी हो गया तो स्वप्न में भी विवाहित जीवन की कल्पना नहीं कर पाया। मैं बौद्धिक रूप से सदैव जागरूक रहा हूँ।। जीवन की घटनाओं को यथावत् बौद्धिक दृढ़ता से सहा भी है। बुद्धि ने परिस्थिति के प्रति इतना सचेत और संत्रस्त कर दिया था कि परिवार का विचार मन में उठा ही नहीं। दूसरे के परिवार को ही मैंने अपना परिवार माना है, उनके साथ सुख-दुःख का भागी बना हूँ, कभी किसी प्रकार की छोटी असामाजिक भावना मेरे मन में उठी भी नहीं। दूसरों का प्यार, आदर, स्नेह, सत्कार मैंने सदैव अपनी चारित्रिक दृढ़ता से ही प्राप्त किया है। यह मेरे स्वभाव तथा आत्मसम्मान की माँग थी।......यदि मुझमें तनिक भी चारित्रिक दुर्बलता होती तो क्या इतने लोग मुझ पर अपनी पत्नियों के या पुत्रियों के संरक्षण का भार डालते?"[3]

विवाह और परिवार के सम्बन्ध में पन्त जी के इस कथन का बहुत महत्व है। सुश्री शान्ति जोशी से पन्त जी ने यह बात सन् 1956 में कही थी जब वह अपने विकास की, वय और बुद्धि, दोनों की दृष्टि से, प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुके थे तथा अपने चेतना-काव्य के अधिकांश का सृजन भी कर चुके थे। पन्त जी कहते हैं कि यदि परिस्थितियाँ विवाह के अनुकूल होतीं तो वे अविवाहित न रहते और गृहस्थ जीवन व्यतीत करते। इससे विवाह नामक सामाजिक संस्था में उनकी निष्ठा प्रकट होती है। इस कथन में कहीं उनकी निराशा की क्षीण ध्वनि भी हमें सुनाई देती है, क्योंकि वे यह कहते हैं कि जीवन की घटनाओं को मैंने यथावत् बौद्धिक दृढ़ता से सहा भी है। दृढ़ता से सहन करने की बात किसी अप्रिय स्थिति के सम्बन्ध में ही उठ सकती है। जीवन भर अविवाहित रहने की स्थिति यदि पन्त जी को प्रिय प्रतीत हुई होती तो सहन करने की चर्चा वे न करते।

पन्त जी के उपर्युक्त कथन से पन्त जी की दाम्पत्य-सीमित परिवार-निष्ठा का परिचय भी हमें मिलता है। "बुद्धि ने परिस्थिति के बारे में इतना सचेत और सत्रस्त कर दिया था कि परिवार का विचार मन में उठा ही नहीं"—पन्त जी के इस कथन में उनकी यह आन्तरिक मान्यता भी व्यक्त होती है कि परिवार का वास्तविक रूप विवाह के द्वारा घर बसाने से ही सम्पन्न होता है। पन्त जी ने जिस समय यह बात कही उस समय भी उनके अनेक पारिवारिक सम्बन्धी

वर्तमान थे और उनके प्रति उनके मन में गहरी आत्मीयता का भाव भी था, जो कभी निश्शेष नहीं हुआ। किन्तु इन शब्दों के माध्यम से पन्त जी की प्रौढ़ अन्तश्चेतना यह स्वीकार करती हुई दिखाई देती है कि विवाह न करने की स्थिति में, पत्नी और सन्तान के अभाव में, वास्तविक परिवार का लाभ मनुष्य को नहीं मिलता। अपने इस कथन में पन्त जी ने यह भी व्यक्त किया है कि मनुष्य को परिवार की आकांक्षा होती है और मनुष्य अपनी इस आकांक्षा को किसी-न-किसी रूप में पूरी करता है। पन्त जी अपनी इस आकांक्षा और आवश्यकता की पूर्ति, दूसरों के परिवार को अपना परिवार मानकर करने की बात कहते हैं।

तीसरी एक महत्त्वपूर्ण बात पन्त जी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होती है कि किसी पति अथवा पत्नी की पारस्परिक एकनिष्ठता को खण्डित करने का प्रयास करना उनकी दृष्टि में असामाजिक आचरण है और चारित्रिक दुर्बलता को प्रकट करता है। अपने परवर्ती काव्य में नारी के सम्बन्ध में प्रीति-मुक्ति की बात बार-बार दोहराने के बाद भी पन्त जी यही कहते हैं कि किसी पति और पत्नी के प्रणय-भाव के बीच किसी दूसरे व्यक्ति को आने का प्रयास नही करना चाहिये। ऐसा करने से समाज और चरित्र की मर्यादा खण्डित होती है। लोगों ने उन पर विश्वास करते हुए अपनी पत्नियों और पुत्रियों का उन्हे सरक्षक बनाया, इस बात के कहने में पन्त जी की गर्वमिश्रित आत्मतुष्टि का भाव प्रकट हुआ है।

सुश्री शान्ति जोशी ने इसी प्रसंग में पन्त जी की एक और बात भी उद्धृत की है—"उचित परिस्थितियाँ मिलने पर क्या करता, नहीं कह सकता। सम्भवतः गृहस्थ का जीवन होता। स्नेह के रूप में अपने-परायों से जो कुछ भी सोहार्द मिल सका, उसी से मैंने सन्तोष कर लिया।"[4]

अपने-परायों से पन्त जी को जो कुछ मिला वह स्नेह था, प्रणय नहीं, अपनी सन्तान के प्रति विह्वल रति या वात्सल्य नहीं। अपने-परायों से प्राप्त स्नेह से पन्त जी को सहज रूप से सन्तोष नहीं हुआ—सन्तोष करना पड़ा। दाम्पत्य और उससे प्राप्त सन्तान-प्रेम मनुष्य को जो तृप्ति दे सकता है, उसकी यथावत् पूर्ति अन्य जनों के स्नेह से नहीं हो सकती—इस तथ्य की झलक हमें पन्त जी के इस कथन में स्पष्ट दिखाई देती है।

पति-पत्नी वाला परिवार निसर्गदत्त वस्तु नहीं होती। पत्नी के अतिरिक्त किसी और परिवारीजन का चुनाव करने में मनुष्य स्वतंत्र नहीं होता। जन्म लेते

ही हमारे माता-पिता से सम्बन्धित स्वजन हमारे भी पारिवारिक सम्बन्धी बन जाते हैं। हमारे मानने-न-मानने से उन संबंधों की सत्ता खण्डित नहीं होती और पारस्परिक असम्पर्क और उदासीनता के बावजूद कोई यह नहीं कहता कि वे हमारे सम्बन्धी नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि उन्हें अपना पारिवारिक सम्बन्धी मानने के लिए हम विवश होते हैं।

पति-पत्नी के सम्बन्ध में ऐसी कोई विवशता नहीं होती। विवाह करने के लिए परिवार वाले और मित्रगण आग्रह करते हैं और दबाव डालते हैं, किन्तु फिर भी विवाह करना—न करना, अन्ततः मनुष्य की अपनी इच्छा की बात होती है। किससे विवाह करना है, यह भी कोई आत्यंतिक विवशता की बात नहीं होती। जिन समाजों में पूर्णतया चैतन्य प्राप्त करने से पहले ही बच्चों के विवाह कर दिये जाते हैं, उनमें पति और पत्नी के चयन के सम्बन्ध में विवशता का तत्त्व अवश्य आ जाता है, लेकिन विवाह सम्बन्धी यह कोई सार्वभौम और सर्वकालीन व्यवस्था नहीं है। जहाँ बाल-विवाह की प्रथा है, वहाँ भी वह पिछले कालों में नहीं थी, और नये चिन्तन के प्रभाव में वह प्रथा अब क्षीण होने लगी है और जल्दी ही समाप्त हो जाने वाली है। मोटे तौर पर सिद्धांत रूप में यह बात कही जा सकती है कि पति-पत्नी के चयन में मनुष्य की अपनी रुचि अथवा उसके परिजनों की रुचि आधार होती है, कोई जन्मजात विवशता नहीं। अनक प्रकार के सम्बन्धियों से जुड़ी सम्मिलित पारिवारिक-चेतना दाम्पत्य पर आधारित पारिवारिक चेतना के तात्त्विक स्वरूप का सामाजिक प्रसार मात्र है, इस कारण उन संबंधों के निर्वाह के संबंध में उतने तीव्र सामाजिक एवं नैतिक आग्रह की स्थिति हमें किसी भी समाज में नहीं मिलती जितने तीव्र आग्रह के साथ विश्वास-सिद्ध दाम्पत्य-सम्बन्ध के निर्वाह के सम्बन्ध में विभिन्न समाजो मे विधान बनाये गये हैं।

संस्कृत का "विवाह" शब्द तो स्वयं "निर्वाह" शब्द का ही समरूप है—दोनों में केवल उपसर्ग प्रयोग सम्बन्धी भेद है, किन्तु इस उपसर्ग-भिन्नता से इन दोनों शब्दों के अर्थों में कोई तात्त्विक भिन्नता नहीं आती। संसार के प्रायः सभी सभ्य समाजों में विवाह सम्बन्धी यही आदर्श प्रतिष्ठित रहा है और अभी भी बहुत हद तक प्रतिष्ठित है कि विवाह-सम्बन्ध एक बार स्थापित हो जाने पर, जहाँ तक हो सके, स्थिर रहना चाहिये। रोज़-रोज़ बदलने वाला सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्ध नहीं माना जाता है। विभिन्न समाजों में और एक ही समाज के विभिन्न कालों के वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिरता से सम्बन्धित आदर्श की दृढ़ता मे

थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य पाया जाता है, किन्तु उससे वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिरता का मान्य सामाजिक आदर्श खण्डित न होकर पुष्ट ही होता है। सनातन हिन्दू-मर्यादा में तो विवाह एक ही जन्म का नहीं अनेक जन्मों का सम्बन्ध माना जाता रहा है और "हिन्दू कोड बिल" के पारित होने से पूर्व उच्चवर्गीय हिन्दू समाज में विवाह का बन्धन सर्वथा अविच्छेद्य था।

पन्त जी के विचारों का अध्ययन करने के बाद यह बात सुनिश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि वे विवाह-सम्बन्ध की अविच्छेद्यता के प्राचीन हिन्दू-आदर्श में सम्पूर्ण निष्ठा रखते थे, किन्तु विवाह-सम्बन्ध के निर्वाह में वे पूर्ण विश्वास रखते थे, यह बात बिना किसी संकोच के कही जा सकती है। पन्त जी के विश्वास की पुष्टि सुश्री शान्ति जोशी के इन शब्दों से होती है–"कई परिवारों में उन्होंने पारस्परिक समझौता करवाया है–उन्हें अदालत में जाने से बचाया है। कुछ घरों में दाम्पत्य मनोमालिन्य को दूर करने में भी सहायक सिद्ध हुए हैं। अब भी अक्सर ऐसे पति या पत्नियाँ आ जाती हैं, जिनके जीवन को वे टूटने से बचाने में अधिकतर सफल हो जाते हैं। पन्त का कहना है कि पति-पत्नी के बीच मनोमालिन्य अदूरदर्शिता का चिह्न है। यह मानव-स्वभावजन्य दुर्बलता का परिणाम है–न कि कोई अक्षम्य अपराध है। यदि दो-व्यक्ति एक-दूसरे को अपना लेते हैं, परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि वे उसकी अखण्डता की रक्षा न कर सकें। आवश्यकता केवल इस बात की है कि वे एक-दूसरे को समझें, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु रहें। दाम्पत्य-सम्बन्ध की अक्षुण्णता के पन्त जी समर्थक हैं। उनका कहना है कि इसका विनाश वासना-बुद्धि ही कर सकती है न कि सद्बुद्धि।"[5]

सुश्री शान्ति जोशी ने पन्त जी को उद्धृत करते हुए यह बात कही है कि उनके मत से "परिणय-सूत्र में बँध जाने के बाद उसकी अखण्डता की रक्षा होनी ही चाहिये।" सुश्री शान्ति जोशी ने अपनी ओर से भी पन्त जी की मान्यता के सम्बन्ध में यह निर्णय दिया है कि–"दाम्पत्य-सम्बन्ध की अक्षुण्णता के पन्त समर्थक हैं।" पति-पत्नी के बीच कभी-कभी मनोमालिन्य मानव स्वभावजन्य है जो दुर्बलता और अदूरदर्शिता के कारण हो सकता है; किन्तु पति या पत्नी को उसे दूसरे का अक्षम्य अपराध नहीं मानना चाहिये। उन्हें एक-दूसरे को समझने का प्रयास करना चाहिये और एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखना चाहिये। पन्त जी की मान्यता के अनुसार सद्बुद्धिशील व्यक्तियों का विवाह-सम्बन्ध अखण्डनीय ही होगा। विवाह-सम्बन्ध के तोड़ने वाले वही लोग हो सकते हैं

जिनका मानसिक विकास वासना-बुद्धि से ऊपर नहीं जा सका है।

सुश्री शान्ति जोशी ने यह भी लिखा है कि—"साथ ही पन्त जी यह दृढ़तापूर्वक मानते थे कि विवाहित पुरुष का यह धर्म है कि वह अपने परिवार के दायित्व को ठीक प्रकार से निभाये। 15 अप्रैल सन् 1970 को उनके पास एक व्यक्ति आया जो अपने परिवार से ऊब गया था और संन्यास लेना चाहता था पन्त जी ने उसे कई प्रकार से प्रबोधते हुए कहा—"दुनियाँ में खुशी तभी मिलती है जब आप अपने को अर्पित कर देते हैं, अन्यथा दुनियाँ में है ही क्या? यदि बीवी है, बच्चे हैं तो उन्हें छोड़ना या उनके प्रति निर्मम होना पाप है। भगवान् या आपकी आत्मा आपको कभी क्षमा नहीं करेगी। जीवन के दो मार्ग हैं—गृहस्थ और लोक-सेवा। दोनों साथ-साथ चल सकते हैं, संन्यास का कोई अर्थ नहीं है। अपने आपको समझाइये। जिसके बीबी-बच्चे हों उसके लिए दुःख का कोई कारण नही है। आप उन्हें प्यार दीजिये, वे आपको देंगे। आप अपने को अकेला मत समझिये। आपका जीवन आपके बीबी-बच्चों के साथ है। भगवान् का कार्य कही बालू या आसमान में नहीं होता। बच्चे भगवान् के हैं, पत्नी भगवान् की है। उन्ही के भीतर से, उन्हीं के माध्यम से भगवान् का कार्य कीजिये।"[6]

पन्त जी की दृष्टि में जीवन के दो ही मार्ग हैं—गृहस्थ और लोकसेवा। उनकी दृष्टि में संन्यास का कोई अर्थ नहीं है। वे यह भी मानते हैं कि गृहस्थी और लोकसेवा दोनों साथ-साथ भी चल सकते हैं। पन्त जी की दृष्टि में विवाह की सार्थकता अपने को अर्पित कर देने में है। बीबी और बच्चों को छोड़ना या उनके प्रति निर्मोह होना पन्त जी के विचार से पाप है। परिवार-निष्ठा को पन्त जी भागवत-निष्ठा के समान ही महत्त्व देते हैं। पन्त जी के इस कथन से यह भी प्रकट होता है कि जिनके बीबी-बच्चे हैं उनके लिए दुःख का कोई कारण नही है। प्यार देना और पाना मनुष्य का मौलिक स्वभाव है और उसकी पूर्ति की सहज सुविधा हमें बीबी-बच्चों से प्राप्त होती है।

पन्त जी का शैशव और किशोरावस्था जिस पारिवारिक परिवेश में बीते थे और अपने आरम्भिक जीवन में उन्होंने जो अध्ययन-मनन किया था उसका यह स्वाभाविक परिणाम हुआ था कि उनके भीतर पातिव्रत्य के आदर्श के प्रति गहन निष्ठा का भाव जाग्रत् हुआ था। किशोरावस्था में लिखे गये अपने "हार" नामक उपन्यास में उन्होंने उसकी नायिका विजया के चरित्र में पातिव्रत्य के परम्परागत उच्च आदर्श को चित्रित किया है। विजया का चरित्र अंध समर्पण का है। वह सनातन हिन्दू-मर्यादा के अनुरूप निश्चल भाव से पातिव्रत्य-धर्म का

निवाह करता है। अपने पति के दूसरी स्त्री में अनुरक्त होते हुए भी वह पति-सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मानती है। पन्त जी ने उसका चित्रण जिस रूप में किया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में विजया का सहिष्णु और समर्पित पातिव्रत्य गहरे आदर की वस्तु थी। सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"मध्ययुगीन नारी की स्थिति को अपने आगामी काव्य में ह्रासोन्मुखी कहकर भर्त्सना करने वाले लेखक ने विजया को उन्हीं गुणो से युक्त दिखाया है।................पातिव्रत्य के आदर्श को आज भी पन्त श्रेष्ठ मानते हैं। इसके अभाव ने ही नारी को नारी के अतिरिक्त और सब कुछ बना दिया है।"[7]

शान्ति जोशी के इस कथन से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि पातिव्रत्य में पन्त जी की निष्ठा आजीवन बनी रही। पातिव्रत्य के आदर्श को खण्डित करने वाली नारी पन्त जी के विचार से और चाहे जो बन जाय नारी नही रह जाती। यह ठीक है कि आगे चलकर पन्त जी ने उन मध्ययुगीन आदर्शों की बहुत विगर्हणा की है जिसमें स्त्री को पुरुष की दासी समझा गया और हर प्रकार का अत्याचार सहन करते हुए भी पति-सेवा को ही अपना धर्म मानने पर बल दिया गया है। पन्त जी के अनुसार—"अपने पातिव्रत्य-धर्म की रक्षा के लिए ही इसे (नारी को) पुरुष के अत्याचारों, उसकी पर-स्त्रीलिप्सा का सशक्त विरोध करना है।"[8] किन्तु "हार" की नायिका विजया पति के पद-प्रहार को भी अपना सौभाग्य मानती है और पति के दोष में अपना ही दोष देखने का प्रयास करती है।

एक-दूसरे से प्रेम करने वाले और एक-दूसरे में निष्ठा रखने वाले पति-पत्नी के सुखद जीवन का चित्रण पन्त जी ने अपनी "दम्पति" कहानी में अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से किया है। अपनी साधारण आर्थिक स्थिति और सादे जीवन में भी इस कहानी में चित्रित पति-पत्नी एक-दूसरे को पाकर चरम तृप्ति का अनुभव करते हैं और उन दोनों को एक-दूसरे तक सीमित अपना जीवन हर तरह से परिपूर्ण मालूम पड़ता है। उनके सम्बन्ध में पन्त जी ने लिखा है—"जिस प्रकार गाँव के साधारण संसार में पिता के सात्त्विक गृह में पली हुई पार्वती के मन में पति के घर के लिए कोई विशेष कल्पना न थी, केवल ब्याह का अनिर्वचनीय भाव और पति मिलने का लालसाहीन, अज्ञात गुप्त सुख ही सब कुछ था; उसी तरह पार्वती के पति के लिए भी स्त्री की सुन्दरता और गुणों का अधिक मूल्य नहीं था, केवल किसी स्त्री के अपनी पत्नी होने के भाव में ही

सबसे अधिक मोहिनी थी।................दूसरी अपनी बन गयी है, कैसा मधुर रहस्य है। दूर एक दम समीप आ गया! नहीं, दूर-पास का भेद भी नहीं रह गया, कल्पना ने सत्य का आसन ग्रहण कर लिया, अपने ही साथ, एक ही आसन! उसे छिपाकर, कल्पना ही रखकर, उसकी मनोहरता को चारों ओर से घेरकर उसकी रक्षा करनी चाहिये। पत्नी के प्रति उनके अस्पष्ट भावों का ऐसा ही कुछ अर्थ था।"[9]

वृद्धावस्था प्राप्त कर लेने और आर्थिक दृष्टि से और भी विपन्न हो जाने के बाद भी इस कहानी के दम्पति का जीवन रसमय बना रहता है। उस स्थिति का चित्रण पन्त जी ने अपनी कहानी में इस प्रकार किया है—"पेंशन के बाद छोटी-सी आर्थिक दशा में और भी कमी आ जाने के कारण बूढ़ी पार्वती पर घर के प्रबंध का भार और भी बढ़ गया है। वह स्वयं पानी खींचती, बर्तन माँजती है। उसके सिर पर वात का गोला निकल आया है। कभी मैंने उसे खिन्न, विरक्त, ऊबा-खीझा नहीं पाया। कष्टों के प्रति यह पुरुषार्थवादी विरक्ति उसकी श्लाघनीय है। अब भी स्वामी का मुस्कराते मुख से स्वागत करती है। वह आधार है, स्वामी चित्र; वह रूप, रेखा, रंग है, स्वामी मूर्ति। वह गृहस्थ की अस्थि का ढाँचा है, स्वामी मांस-पिण्ड; वह निद्रा है स्वामी स्वप्न; वह चेतना है स्वामी अनुभूति।"[10]

पन्त जी की कैशोर दाम्पत्य-निष्ठा उसे सदा के लिए खण्डित हुआ नही देख सकती। उनके उपन्यास "हार" का नायक निमेष बीच में दाम्पत्य-मर्यादा के बाहर जाकर अपनी पत्नी के अतिरिक्त एक अन्य स्त्री से प्रेम करता है ओर अपनी पत्नी की अवहेलना ही नहीं, उसके साथ दुर्व्यवहार भी करता है, किन्तु अन्त में पन्त जी उसे पश्चात्ताप करते हुए दिखाते हैं। निमेष कहता है—"मे महापापी हूँ। दुष्ट आततायी! मैंने दूसरी स्त्री पर मोहित होकर अपना सर्वनाश किया, अपना सब कुछ खोया। अपनी स्त्री को कितना कष्ट दिया।" और फिर विजया से कहता है—"विजया, मुझे माफ़ कर दो प्रेयसि। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। हाय! मेरे पापों का फल मुझे मिल चुका है। मुझे क्षमा करो प्रिय।"[11]

दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में पन्त जी की आदर्शवादी किशोर कल्पना उनकी अपनी प्रणय-आकांक्षा के रूप में अनेक काव्य-रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। "गुंजन" में इस तरह की कई कविताएँ हमें संकलित मिलती हैं। सन् 1927 मे लिखी उनकी एक लम्बी कविता का शीर्षक ही "भावी पत्नी के प्रति" है। भावी दाम्पत्य के प्रति उनकी पुलकपूर्ण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति उस रचना में

निवाह करती है। अपने पति के दूसरी स्त्री में अनुरक्त होते हुए भी वह पति-सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मानती है। पन्त जी ने उसका चित्रण जिस रूप में किया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि मे विजया का सहिष्णु और समर्पित पातिव्रत्य गहरे आदर की वस्तु थी। सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"मध्ययुगीन नारी की स्थिति को अपने आगामी काव्य में ह्रासोन्मुखी कहकर भर्त्सना करने वाले लेखक ने विजया को उन्हीं गुणो से युक्त दिखाया है।...............पातिव्रत्य के आदर्श को आज भी पन्त श्रेष्ठ मानते हैं। इसके अभाव ने ही नारी को नारी के अतिरिक्त और सब कुछ बना दिया है।"[7]

शान्ति जोशी के इस कथन से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि पातिव्रत्य में पन्त जी की निष्ठा आजीवन बनी रही। पातिव्रत्य के आदर्श को खण्डित करने वाली नारी पन्त जी के विचार से और चाहे जो बन जाय नारी नही रह जाती। यह ठीक है कि आगे चलकर पन्त जी ने उन मध्ययुगीन आदर्शों की बहुत विगर्हणा की है जिसमें स्त्री को पुरुष की दासी समझा गया और हर प्रकार का अत्याचार सहन करते हुए भी पति-सेवा को ही अपना धर्म मानने पर बल दिया गया है। पन्त जी के अनुसार—"अपने पातिव्रत्य-धर्म की रक्षा के लिए ही इसे (नारी को) पुरुष के अत्याचारों, उसकी पर-स्त्रीलिप्सा का सशक्त विरोध करना है।"[8] किन्तु "हार" की नायिका विजया पति के पद-प्रहार को भी अपना सौभाग्य मानती है और पति के दोष में अपना ही दोष देखने का प्रयास करती है।

एक-दूसरे से प्रेम करने वाले और एक-दूसरे में निष्ठा रखने वाले पति-पत्नी के सुखद जीवन का चित्रण पन्त जी ने अपनी "दम्पति" कहानी में अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से किया है। अपनी साधारण आर्थिक स्थिति और सादे जीवन में भी इस कहानी में चित्रित पति-पत्नी एक-दूसरे को पाकर चरम तृप्ति का अनुभव करते हैं और उन दोनों को एक-दूसरे तक सीमित अपना जीवन हर तरह से परिपूर्ण मालूम पड़ता है। उनके सम्बन्ध में पन्त जी ने लिखा है—"जिस प्रकार गाँव के साधारण संसार में पिता के सात्त्विक गृह में पली हुई पार्वती के मन में पति के घर के लिए कोई विशेष कल्पना न थी, केवल ब्याह का अनिर्वचनीय भाव और पति मिलने का लालसाहीन, अज्ञात गुप्त सुख ही सब कुछ था; उसी तरह पार्वती के पति के लिए भी स्त्री की सुन्दरता और गुणों का अधिक मूल्य नहीं था, केवल किसी स्त्री के अपनी पत्नी होने के भाव में ही

सबसे अधिक मोहिनी थी।................दूसरी अपनी बन गयी है, कैसा मधुर रहस्य है। दूर एक दम समीप आ गया! नहीं, दूर-पास का भेद भी नहीं रह गया, कल्पना ने सत्य का आसन ग्रहण कर लिया, अपने ही साथ, एक ही आसन। उसे छिपाकर, कल्पना ही रखकर, उसकी मनोहरता को चारों ओर से घेरकर उसकी रक्षा करनी चाहिये। पत्नी के प्रति उनके अस्पष्ट भावों का ऐसा ही कुछ अर्थ था।"[9]

वृद्धावस्था प्राप्त कर लेने और आर्थिक दृष्टि से और भी विपन्न हो जाने के बाद भी इस कहानी के दम्पति का जीवन रसमय बना रहता है। उस स्थिति का चित्रण पन्त जी ने अपनी कहानी में इस प्रकार किया है—"पेंशन के बाद छोटी-सी आर्थिक दशा में और भी कमी आ जाने के कारण बूढ़ी पार्वती पर घर के प्रबंध का भार और भी बढ़ गया है। वह स्वयं पानी खींचती, बर्तन माँजती है। उसके सिर पर वात का गोला निकल आया है। कभी मैंने उसे खिन्न, विरक्त, ऊबा-खीझा नहीं पाया। कष्टों के प्रति यह पुरुषार्थवादी विरक्ति उसकी श्लाघनीय है। अब भी स्वामी का मुस्कराते मुख से स्वागत करती है। वह आधार है, स्वामी चित्र; वह रूप, रेखा, रंग है, स्वामी मूर्ति। वह गृहस्थ की अस्थि का ढाँचा है, स्वामी मांस-पिण्ड; वह निद्रा है स्वामी स्वप्न; वह चेतना है स्वामी अनुभूति।"[10]

पन्त जी की कैशोर दाम्पत्य-निष्ठा उसे सदा के लिए खण्डित हुआ नही देख सकती। उनके उपन्यास "हार" का नायक निमेष बीच में दाम्पत्य-मर्यादा के बाहर जाकर अपनी पत्नी के अतिरिक्त एक अन्य स्त्री से प्रेम करता है और अपनी पत्नी की अवहेलना ही नहीं, उसके साथ दुर्व्यवहार भी करता है, किन्तु अन्त में पन्त जी उसे पश्चात्ताप करते हुए दिखाते हैं। निमेष कहता है—"मै महापापी हूँ। दुष्ट आततायी! मैंने दूसरी स्त्री पर मोहित होकर अपना सर्वनाश किया, अपना सब कुछ खोया। अपनी स्त्री को कितना कष्ट दिया।" और फिर विजया से कहता है—"विजया, मुझे माफ़ कर दो प्रेयसि। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। हाय! मेरे पापों का फल मुझे मिल चुका है। मुझे क्षमा करो प्रिय।"[11]

दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में पन्त जी की आदर्शवादी किशोर कल्पना उनकी अपनी प्रणय-आकांक्षा के रूप में अनेक काव्य-रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। "गुंजन" में इस तरह की कई कविताएँ हमें संकलित मिलती हैं। सन् 1927 मे लिखी उनकी एक लम्बी कविता का शीर्षक ही "भावी पत्नी के प्रति" है। भावी दाम्पत्य के प्रति उनकी पुलकपूर्ण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति उस रचना मे

हुई है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"प्रिये, प्राणों की प्राण!
न जाने किस गृह में अन्जान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान!
नवल कलिकाओं की-सी वाण,
बाल-रति-सी अनुपम, असमान—
न जाने कौन कहाँ, अनजान,
हृदय की पलकों में गतिहीन
स्वप्न संसृति-सी सुषमाकार
बाल भावुकता बीच नवीन
परी-सी धरती रूप अपार
झूलती उर में आज किशोरि!
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान,
लाज से लिपटी उषा समान
प्रिये प्राणों की प्राण!"[12]

ध्यान देने की बात है कि पन्त जी ने अपनी इस कविता का शीर्षक "भावी प्रिया के पति" न रखकर "भावी पत्नी के प्रति" रखा है, जिससे उनकी तत्कालीन दाम्पत्य-निष्ठा की झलक हमें मिलती है।

उनकी कल्पना में वह भावी पत्नी कभी-कभी वास्तविक पत्नी के रूप में भी प्रकट होती थी और वे अपनी कविताओं में उससे बातें करते दिखाई देते हैं। सन् 1932 में लिखित "गुंजन" का यह गीत इस तरह के सम्भाषण का गीत है—

"आज रहने दो यह गृह-काज,
प्राण रहने दो यह गृह-काज!
आज चंचल-चंचल मन-प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन-भार,
आज दो प्राणों का दिन-मान
आज संसार नहीं संसार!
आज क्या प्रिये! सुहाती लाज!
आज रहने दो सब गृहकाज!"[13]

इन पंक्तियों से हमें पन्त जी के उस सुकोमल स्वप्नशील भाव का पता चलता है जो उनकी आन्तरिक चेतना में दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में प्रबल रूप में प्रकट हुआ था। पन्त जी की अपनी प्रणय-भावना के सम्बन्ध में पन्त जी की डा॰ शान्ति जोशी ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—"पन्त मानते हैं कि तैंतीस-चौंतीस वर्ष की आयु के बाद ही उनके भीतर यौवन ने जन्म लिया किन्तु यह यौवन उद्दाम वासना का यौवन नहीं बन सका। वैचारिक, आन्तरिक मंथन, सृजनोन्मेष का आवेश तथा बाह्य परिस्थितियों के संघर्षण में यौवन का ज्वार कब उठा और शान्त हो गया वे स्वयं नहीं बता पायेंगे।"[14]

आंतरिक मंथन, साहित्यसर्जन और परिस्थितियों के संघर्षण से पन्त जी के यौवन का ज्वार तो अवश्य समाप्त हो गया, किन्तु नारी की शक्ति और महिमा के सम्बन्ध में उनका विश्वास निरन्तर दृढ़ से दृढ़तर होता गया। उनकी रचनाओं मे नारी-माहात्म्य संबंधित उक्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में हमें मिलती हैं। उन उक्तियों की प्रतिनिधि के रूप में उनके "पौ फटने से पहले" शीर्षक काव्य-संकलन की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

"तुम ईश्वर को भी अतिक्रम कर आतीं,
मनुज सत्य बन श्री शोभा मंगल बरसातीं।
जग जननी तुम प्राण सखी बन
सँजो रही जन का घर-आँगन,
अनघ-विद्ध सित भाव देह धर
भू रज को अपनातीं!
नव जीवन की दे अभिलाषा
बदल दुःख-सुख की परिभाषा
देह-प्रीति पर भाव-प्रीति की
विजय-ध्वजा फहरातीं।"[15]

नारी की शक्ति के कुंठित होने से विश्व-विकास में बाधा पड़ती है, पन्त जी के इस विचार का निदर्शन हम इन पंक्तियों में देखते हैं—

"कैसे हो भू-जीवन कुसुमित
विश्व सभ्यता संस्कृत विकसित,
जब शोभा मंगल प्रहर्ष का स्रोत
हृदय ही हो निरुद्ध-
चैतन्य ज्योति रस वंचित!

कवि की रस सित प्रज्ञा कहना
आ अदम्य, अविजेय शक्ति,
तुम भूमि कम्पवत्
भाव जगत् कर मन्थित,
जीवन में होगी अभिव्यंजित,
भू विरोध कर प्रशमित!
गुह्य, प्रचण्ड, अबाध वेग से
तुम अन्तर में बहती!''[16]

विवाह माता-पिता एवं अभिभावकों के निर्णय के आधार पर होना चाहिये या युगल के पारस्परिक प्रेम के आधार पर—पन्त जी के साहित्य में इस सम्बन्ध म कोई ऐसा निर्णय हमें नहीं मिलता जो उनकी समस्त रचनाओं में यथावत् अभिव्यक्ति पाता रहा हो। अपने उपन्यास ''हार'' और अपनी कहानियों में उन्होंने जिन दम्पतियों का चित्रण किया है उनमें से किसी का विवाह प्रेम-विवाह नहीं था। उन कहानियों में प्रेम का उदय विवाह के बाद होता हुआ दिखाया गया है और उसकी स्थिरता भी चित्रित की गयी है। ''हार'' का पात्र निमेष विवाह के बाद अपनी विवाहिता पत्नी की ओर से कुछ समय के लिए विरक्त होकर आशा नाम की एक दूसरी युवती के प्रेम-पाश में फँसता है, किन्तु जैसा पहले दिखाया जा चुका है, वह बाद में अपनी भूल को पहचानता है और अपनी पत्नी से क्षमा-याचना करते हुए फिर उसी का बन जाता है।

''हार'' की पात्री आशा पहले भविष्य से प्रेम करती है किन्तु बाद में निमेष से परिचित होने पर वह उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। वह कहती है—''भविष्य मेरे कौन लगते हैं? उनमें क्या रूप-गुण हैं जो मैं उन्हें अपना तन, मन, यौवन अर्पण कर दूँ। वे मेरे कोई नहीं हैं, मैं उन्हें प्यार नहीं करती। मैं उन्हे जब चाहती थी तब चाहती थी। अब मैं उन्हें नहीं चाहती। जब तक मनुष्य को कोई उत्तम वस्तु नहीं मिलती तब तक वह एक सामान्य चीज़ में ही सन्तुष्ट रहता है। किन्तु पहली के प्राप्त होने पर दूसरी का मूल्य घट जाता है। काँच मणि के सामने नहीं ठहर सकता। काक कादम्बरी का उपमान नहीं हो सकता। साधारणजल की तुलना गंगा-वारि से नहीं हो सकती। मैं आज तक उन्हें (निमेष को) न पहचान सकी थी। उन्हें अच्छी तरह देखने का अवसर मुझे नहीं मिला था। इसीलिए मैं भविष्य में भूली थी। भविष्य मेरे योग्य नहीं हैं। मैं उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती।''[17]

किन्तु विवाहित निमेष के प्रति आशा का यह प्रेम-भाव स्थायी सिद्ध नही होता। आगे चलकर जब वह यह देखती है कि निमेष अपनी पत्नी विजया मे अनुरक्त हो गये हैं, तो वह एक बार फिर भविष्य की ओर प्रत्यावर्तित होती हे। भविष्य तब तक संन्यासी-जीवन अपना चुका था और उसकी सांसारिक प्रेम-भावना ईश्वरीय प्रेम की ओर उन्मुख हो चुकी थी। वह आशा को न तो प्रिया के रूप मे स्वीकार करने को प्रस्तुत होता है, और न ही पत्नी के रूप में। इसके बाद आशा भविष्य के आश्रम में एक आश्रमवासिनी के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती है। पन्त जी की आरम्भिक समाज-चेतना विवाह के बाहर के प्रेम को अपनी पूर्ण स्वीकृति देती नहीं दिखायी देती किन्तु उनकी परवर्ती समाज-चेतना केवल प्रेम के आधार पर स्वीकृत नर-नारी के देह-सम्बन्ध को स्वीकार करती दिखाई देती है।

उनकी प्रौढ़तम कृति "सत्यकाम" में हम देखते हैं कि वन-कन्या जबाला युवा ऋषि गौतम के प्रति विवाह के बिना ही पूर्ण आत्मसमर्पण करती है ओर सत्यकाम की माँ बन जाती है। अपने इस कुँवारे मातृत्व को लेकर उसके मन मे न कोई निराशा है न ग्लानि। मातृत्व का गौरव उसे अपने जीवन की सम्पूर्णता सार्थकता प्रदान करता हुआ दिखाई देता है। उसका विवाह कभी नहीं होता, फिर भी उसका हृदय अपने प्रेमास्पद के प्रति प्रेम और श्रद्धा से निरन्तर प्लावित रहता है।

जबाला का पुत्र सत्यकाम भी, ज्ञान-साधना में संलग्न होते हुए भी अपने आश्रम के निकट निवास करने वाली कन्या ऋचा के प्रति अभिभूत भाव से आकृष्ट होता है और दोनों एक-दूसरे को गहन भाव से प्यार करने लगते है। ऋचा एक निर्मलहृदय पर्वत-बाला है जिसे पन्त जी ने निर्बन्ध एवं निष्कलुष मासल-जीवन के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। वह सत्यकाम का आवाहन करती है कि वह उसके अंगों को मुक्त भाव से स्पर्श करे। वह कहती है—

"छूओ मेरा करतल, निर्मल सरसी जल यह,
ये अंगुलियाँ चंचल लहरें, पकड़ो इनको!
ये फूलों के माखन के मोदक, बच्चों की
लघु गेंदें, मेषों के त्वचू कोमल शावों से
किसलय चोली से चिपके जो! शुभ्र स्वर्ण के
गोलक ये, खेलो इनसे! सम्पूर्ण तुम्हारी
हूँ मैं! ये मृदु मुकुलित बाँहें, इन्हें गले का

कवि की रस सित प्रज्ञा कहता
ओ अदम्य, अविजय शक्ति,
तुम भूमि कम्पवत्
भाव जगत् कर मन्थित,
जीवन में होगी अभिव्यंजित,
भू विरोध कर प्रशमित!
गुह्य, प्रचण्ड, अबाध वेग से
तुम अन्तर में बहती!"[16]

विवाह माता-पिता एवं अभिभावकों के निर्णय के आधार पर होना चाहिये या युगल के पारस्परिक प्रेम के आधार पर—पन्त जी के साहित्य में इस सम्बन्ध मे कोई ऐसा निर्णय हमें नहीं मिलता जो उनकी समस्त रचनाओं में यथावत् अभिव्यक्ति पाता रहा हो। अपने उपन्यास "हार" और अपनी कहानियो मे उन्होंने जिन दम्पतियों का चित्रण किया है उनमें से किसी का विवाह प्रेम-विवाह नहीं था। उन कहानियों में प्रेम का उदय विवाह के बाद होता हुआ दिखाया गया है और उसकी स्थिरता भी चित्रित की गयी है। "हार" का पात्र निमेष विवाह के बाद अपनी विवाहिता पत्नी की ओर से कुछ समय के लिए विरक्त होकर आशा नाम की एक दूसरी युवती के प्रेम-पाश में फँसता है, किन्तु जैसा पहले दिखाया जा चुका है, वह बाद में अपनी भूल को पहचानता है और अपनी पत्नी से क्षमा-याचना करते हुए फिर उसी का बन जाता है।

"हार" की पात्री आशा पहले भविष्य से प्रेम करती है किन्तु बाद में निमेष से परिचित होने पर वह उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। वह कहती हे—"भविष्य मेरे कौन लगते हैं? उनमें क्या रूप-गुण हैं जो मैं उन्हें अपना तन, मन, यौवन अर्पण कर दूँ। वे मेरे कोई नहीं हैं, मैं उन्हें प्यार नहीं करती। मैं उन्हें जब चाहती थी तब चाहती थी। अब मैं उन्हें नहीं चाहती। जब तक मनुष्य को कोई उत्तम वस्तु नहीं मिलती तब तक वह एक सामान्य चीज़ में ही सन्तुष्ट रहता है। किन्तु पहली के प्राप्त होने पर दूसरी का मूल्य घट जाता है। कॉच मणि के सामने नहीं ठहर सकता। काक कादम्बरी का उपमान नहीं हो सकता। साधारणजल की तुलना गंगा-वारि से नहीं हो सकती। मैं आज तक उन्हें (निमेष को) न पहचान सकी थी। उन्हें अच्छी तरह देखने का अवसर मुझे नहीं मिला था। इसीलिए मैं भविष्य में भूली थी। भविष्य मेरे योग्य नहीं हैं। मैं उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती।"[17]

किन्तु विवाहित निमेष के प्रति आशा का यह प्रेम-भाव स्थायी सिद्ध नहीं होता। आगे चलकर जब वह यह देखती है कि निमेष अपनी पत्नी विजया में अनुरक्त हो गये हैं, तो वह एक बार फिर भविष्य की ओर प्रत्यावर्तित होती है। भविष्य तब तक संन्यासी-जीवन अपना चुका था और उसकी सांसारिक प्रेम-भावना ईश्वरीय प्रेम की ओर उन्मुख हो चुकी थी। वह आशा को न तो प्रिया के रूप मे स्वीकार करने को प्रस्तुत होता है, और न ही पत्नी के रूप में। इसके बाद आशा भविष्य के आश्रम में एक आश्रमवासिनी के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती है। पन्त जी की आरम्भिक समाज-चेतना विवाह के बाहर के प्रेम का अपनी पूर्ण स्वीकृति देती नहीं दिखायी देती किन्तु उनकी परवर्ती समाज-चेतना केवल प्रेम के आधार पर स्वीकृत नर-नारी के देह-सम्बन्ध को स्वीकार करती दिखाई देती है।

उनकी प्रौढ़तम कृति "सत्यकाम" में हम देखते हैं कि वन-कन्या जबाला युवा ऋषि गौतम के प्रति विवाह के बिना ही पूर्ण आत्मसमर्पण करती है और सत्यकाम की माँ बन जाती है। अपने इस कुँवारे मातृत्व को लेकर उसके मन मे न कोई निराशा है न ग्लानि। मातृत्व का गौरव उसे अपने जीवन की सम्पूर्णता सार्थकता प्रदान करता हुआ दिखाई देता है। उसका विवाह कभी नहीं होता, फिर भी उसका हृदय अपने प्रेमास्पद के प्रति प्रेम और श्रद्धा से निरन्तर प्लावित रहता है।

जबाला का पुत्र सत्यकाम भी, ज्ञान-साधना में संलग्न होते हुए भी अपने आश्रम के निकट निवास करने वाली कन्या ऋचा के प्रति अभिभूत भाव से आकृष्ट होता है और दोनों एक-दूसरे को गहन भाव से प्यार करने लगते हैं। ऋचा एक निर्मलहृदय पर्वत-बाला है जिसे पन्त जी ने निर्बन्ध एवं निष्कलुष मांसल-जीवन के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। वह सत्यकाम का आवाहन करती है कि वह उसके अंगों को मुक्त भाव से स्पर्श करे। वह कहती है—

> "छूओ मेरा करतल, निर्मल सरसी जल यह,
> ये अंगुलियाँ चंचल लहरें, पकड़ो इनको!
> ये फूलों के माखन के मोदक, बच्चों की
> लघु गेंदें, मेषों के त्वच् कोमल शावों से
> किसलय चोली से चिपके जो! शुभ्र स्वर्ण के
> गोलक ये, खेलो इनसे! सम्पूर्ण तुम्हारी
> हूँ मैं! ये मृदु मुकुलित बाँहें, इन्हें गले का

इन पर अपना अश्रुल आनन रखकर देखो!
प्यार करो मुझको, मेरे मस्तक पर अपने
अधर चाँप कर पावन कर दो मेरा तन मन।"[18]

अपने अंगों को स्पर्श करने की अनुमति देते हुए वह यह भी कहती है—

"माँ कहती, स्त्री की मर्यादा की वेदी है
अधोभाग में, वहाँ प्रवेश निषिद्ध सभी का।
तापस, तुम सर्वत्र विचरने को स्वतंत्र हो,
उस वेदी पर यज्ञ करो, हवि दो देवों को।"[19]

इस प्रकार निषेध-मुक्त सर्वत्र विचरण करने का आवाहन पाकर भी सत्यकाम कहता है—

"धन्यवाद! यह भले निषेध-मुक्त होना हो,
मुझे नहीं करना प्रवेश उस वर्जित स्थल में!
कौन करेगा ऐसे निभृत निगूढ़ प्रान्त में
अनधिकार घुसने का साहस,? स्वर्गद्वार वह:
माँ का मन्दिर! उसकी अक्षय पावनता की
रक्षा करना प्रथम धर्म है मानवता का।"[20]

ब्रह्म-ज्ञान के यज्ञ में लगा हुआ सत्यकाम ऋचा के आमंत्रण को प्रारम्भ में अस्वीकृत कर देता है किन्तु ऋचा के आकर्षण से अपने को मुक्त नहीं कर पाता और ऋचा से बराबर मिलता रहता है। ऋचा एक दिन कहती है—

"मैं तन से स्त्री, तन से ही तुम पुरुष कहाते,
क्या न एक ही भीतर से हम दोनों, बोलो?
तापस, यह एकता प्रतिष्ठित कर जीवन में
आओ, संस्कृति का नव स्वर्ग बसायें भू-पर।"[21]

ऋचा के इस आमंत्रण को सत्यकाम और अधिक नहीं टाल सका और उसने ऋचा को अपनी बाँहों के बंधन में बाँध लिया। ऋचा की माँ ने अपनी युवती कन्या को यती की बाँहों में बँध, आत्मसमर्पण को उद्यत देखा तो वह विक्षुब्ध हो गयी। उसने अपनी कन्या को कोसा और अपने पति को समझाया कि वे शीघ्र ही ऋचा को किसी नृप के सेवक से ब्याह कर दूर भेज दें। उसे ऋषि के तपोभंग के लांछन का भय था और साथ ही यह भय भी था कि अपनी

...न्न स्थिति के सम्बन्ध में ऋषि के मन में आत्मबोध जगने पर वह कहीं उन्...
...ाप न दे दे। परिणाम यह होता है कि ऋचा का विवाह शीघ्र ही किसी अन्...
...ात्त से हो जाता है। ऋचा उस विवाह का विरोध करती नहीं दिखाई गयी है
...न उस स्थिति को सहज भाव से स्वीकार कर लेती है और अपने भाई ऋभु के
...ध्यम से ऋषि के पास सन्देश भेजती है—

> "तापस, तुमको मैं अपने सम्पूर्ण हृदय का
> प्यार भेजती हूँ अखण्ड! मैं सदा तुम्हारी,
> सदा तुम्हारी बनी रहूँगी,—मर्म प्रीति की छाया सी
> प्राणों से लिपटी, रस-तन्मय रख हृदय तुम्हारा!
> मुझे भूलना मत, विश्वास बनाये रखना।
> मैं स्थापित पति के गृह जाती, जो पति मुझको
> मिले पिता से, मेरे मन ने चुना न जिनको।
> यही नियति थी यदि मेरी, तो मुझे व्यर्थ ही
> विधि ने प्रथम मिलाया तुमसे! मेरे उर के
> छिपे सत्य को मूर्त रूप में दिखा तुम्हारे
> रस-उदात्त व्यक्तित्व मुकुर में निश्छल बिम्बित।
>
> × × ×
>
> संकट-स्थिति ने सोई बुद्धि जगाकर मेरी
> मुझे बाध्य कर दिया सोचने को जीवन पर।
> लगता भू-पथ सरल नहीं, कण्टकित जटिल है!
> पर आशा आस्था का उत्स हृदय में जो अब
> तुमसे मिलकर उदय हो चुका, वह न कभी भी
> सूख सकेगा मेरे भीतर, सच मानें यह
> हृदय समर्पित कर देने के बाद मुझे अब
> छीन नहीं सकते ब्रह्मा भी तुमसे, प्रिय ऋषि।"[22]

इस प्रकार निष्कलुष और नैसर्गिक नारीत्व की प्रतीक ऋचा को पन्त जी ने सहज रूप से एक अन्य व्यक्ति के साथ परिणीत हो जाने पर भी ऋषि सत्यकाम के प्रति हृदय से सदा के लिए समर्पित दिखाया है। "सत्यकाम" में चित्रित नर-नारी के प्रणय की स्थितियाँ पन्त जी की इस मान्यता का संकेत करती हैं कि नारी का प्रेम विवाह का बंदी बनकर रहे, यह आवश्यक नहीं है। उनके भावी आदर्श समाज में नारी अपने प्रेम-भाव के वितरण के सम्बन्ध में

सर्वथा स्वतन्त्र होगी। नारी की उस मुक्तावस्था की झलक हमें ऋचा के इन शब्दों में मिलती है—

> "मैं जब अपने बारे में सोचा करती हूँ,
> लगता, तब मैं नहीं, ब्रह्म की कला-सृष्टि यह!
> वन के इस एकान्त शान्त परिवेश प्रान्त में
> लीन हो गयी मेरी सत्ता, निखिल अस्मिता,
> मैं अब केवल फूल, सुरभि, मधुकर, वन-पिक हूँ,
> ऋतुओं का परिवर्तन हूँ, भंगिमा गगन की"।[23]

दाम्पत्य-भावना और विवाह-बन्धन के सम्बन्ध में पन्त जी ने अपने दूसरे प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य "लोकायतन" में भी विचार किया है। "लोकायतन" का पात्र "कवि" कहता है—

> "ऊर्ध्व चेतना भावी समदिग्गति
> मुझे नहीं इसमें किंचित् संशय,
> प्रेम सत्य—संचरण मनुज मन का,
> लँगड़ाहट—भर काम—व्यर्थ निशि भय!
> कुछ तार्किक सैद्धान्तिक कुंठित जन
> मिथ्या नैतिक मानों से पीड़ित
> रस प्रकाश को प्राण-तमस बतला,
> उसे करेंगे द्वेष-अन्ध लांछित।"[24]

कवि की यह बात सुनकर आज के लोकमत के प्रतिनिधि के रूप में "लोकायतन" का दूसरा पात्र हरि कहता है—

> "कहा व्यथित हरि ने—देवों को ही
> स्वर्ग सुलभ हो, मुझे न वह स्वीकृत,
> परम्पराओं को निर्वासित कर
> भू पर होगा स्वर्ग नहीं निर्मित!
> उच्छृंखलता, अनय, असंगति ही
> नरक द्वार के अधोमुखी लक्षण
> विकसित मर्यादाओं पर निर्भर
> स्वर्ग, पूर्ण स्वर—संगति संयोजन!
> प्रीति मुक्ति का जाने कब भू-मन

समझ सकेगा कवि कल्पित आशय,
जनन-मुक्ति का वर पा अब तुमसे
मचने को जन मन में मूल्य-प्रलय।
प्रकृति जात शिशु को आश्रय देकर
तुम विरुद्ध कर चुके क्रुद्ध जन मत,
अब सुन्दर-आस्था के कुल-कृमि से
स्वर्ग कल्पना नरक कुंड परिणत।
प्रजनन का अधिकार उन्हें देकर
तुमने दारुण किया लोक पातक,
भर न सकेगा सती धरा-उर व्रण,
कला केन्द्र के हित भी यह घातक!
वमन करेगी धरा कोख कल्मष,
कुल कलंक उपजेंगे नित संकर
वर्ग चयन-गत कुल संस्कारों का
भू-जीवन होगा जघन्य खण्डहर।''[25]

''लोकायतन'' के कला केन्द्र में अविवाहित सुन्दर और आस्था को जनन-मुक्ति प्रदान कर कवि (वंशी) ने जो नयी व्यवस्था की थी, उसके प्रति हरि का उपर्युक्त कथन अभी तक के विकसित दाम्पत्य-विधान का प्रबल समर्थन करता है। विवाह-बन्धन में बँधे बिना सन्तान को जन्म देने की व्यवस्था वर्तमान समाज स्वीकार नहीं कर सकता और अभी तक जीवन की जो व्यापक स्थितियाँ हमारे चारों ओर हैं, उनमें उसे स्वीकार करना सम्भवतः उचित भी नहीं होगा। ''लोकायतन'' का कवि (वंशी) किसी सर्वथा नवीन भू-संस्कृति का स्वप्न अपने मन में सँजोये हुए है, जिसमें प्रीति-मुक्ति के साथ-साथ जनन-मुक्ति की व्यवस्था भी हो पायेगी और उससे सामाजिक संरचना का विधान खण्डित नहीं होगा। हरि की बात सुनकर कवि कहता है—

''बोला कवि, हरि, क्या तुम इस कारण
छोड़ रहे हो कला-पीठ प्रांगण?
केन्द्र नव्य भू-संस्कृति का रस-भग
जन्म धरा पर लेगा नव-जीवन!
जो तुम कहते, वह न ध्येय मेरा,
जन उसको करते ऐसा चित्रित,

मुझे इष्ट जो वह अतिशय उससे
जिसे मनुज कर सका अभी अर्जित
सर्व प्रीति स्वीकृति से जीवन के
मन के होंगे मूल्य ऊर्ध्व विकसित,
बदल प्रयोजन जायेगा जग का,
भेद-भाव होंगे भू—के मज्जित

× × ×

तुम कहते हो तो सुन्दर-आस्था
दोनों प्राणिग्रहण कर लें विधिवत्,
संभव, मेरे चिन्तन में त्रुटि हो,
किन्तु सत्य जनमत से कहीं महत्
मुझे ज्ञात शिशु शुभ्र प्राणय-संतति,
प्रेम हुआ जन-भू पर अभ्यागत
माँ बनने की इच्छुक थी आस्था—
हुआ सोचकर ही कुछ मैं सहमत।"[26]

"लोकायतन" का हर पाठक यह आसानी से समझ सकता है कि उस काव्य का पात्र वंशी, जो भविष्य-द्रष्टा कवि भी है, पन्त जी के अपने व्यक्तित्व का प्रतिनिधि पात्र है। कवि और हरि दोनों के व्यक्तित्वों का परिचय देते हुए पन्त जी ने अपनी इस रचना में कहा है—

"गत भू-जीवन ही के पट में हरि
नव प्रकाश का करता मूल्यांकन,
आहत था कवि, रस समग्रता में
कर पाता हरि, चिति को नहीं ग्रहण।
स्वर्ण किरण को कहना नरक-तिमिर
दृष्टि-दोष यह भू-मन का निश्चय
काम अचेतन अन्धवृत्ति जग में,
प्रेम भागवत ज्योति—नहीं संशय।
कवि चाहता धरा—मन में बोना
रस प्रकाश की नव सौन्दर्य किरण,
रश्मि स्पर्श से जग उठते मन में,
अंधकार के अंकुर बन चेतन।"[27]

जैसा पिछले अध्यायों में निदर्शित किया गया है, पन्त जी वर्तमान युग की वज्ञानिक क्षमता के विकसित रूप के आधार पर यह मानने लगे थे कि समाज की पिछली व्यवस्था में नवयुग के अनुरूप कुछ हेर-फेर करके आज के लिए वांछित सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्मित नहीं किया जा सकता। उनके विचार से युग की नयी परिस्थितियाँ विगत सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों के सम्पूर्ण विध्वंस की अपेक्षा रखती हैं। उस सम्पूर्ण विध्वंस के बाद ही नये समन्वित जीवन के मूल्य स्थापित हो सकेंगे। पुरातन के विध्वंस का आह्वान उन्होंने अपनी रचनाओं में पग-पग पर किया है। पन्त जी ने पुरातन जीवन-मूल्यों के सम्पूर्ण ध्वंस की आवश्यकता के संकेत तो दिये हैं किन्तु वह विध्वंस किस प्रक्रिया से सम्पन्न होगा, इसके विस्तृत विवरण प्रस्तुत नहीं किये हैं और न उस भावी नये जीवन की स्पष्ट और विस्तृत रूपरेखा ही प्रस्तुत की है जो विध्वंस के बाद उदित होगा। उनके काव्य में उस भावी जीवन की आकांक्षा और दिशा की ही आग्रहपूर्ण अभिव्यंजना हुई है, उसके स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या हमें नहीं मिलती। कार्लमार्क्स ने भी एक ऐसे भावी जीवन की कल्पना की थी जो किसी भी नियमन की अपेक्षा नहीं रखेगा, सर्वथा अराजक होगा। सम्भव है जब योगी अरविन्द और पन्त जी के स्वप्न का दिव्य जीवन धरती पर उतर आयेगा तब विवाह जैसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रहेगी। वर्तमान स्थिति के लिए तो ''लोकायतन'' के कवि वंशी का यह कथन ही विवाह के सम्बन्ध में पन्त जी का निर्णय प्रतीत होता है—

> ''सामाजिक स्वीकृति विवाह बंधन, भू—विकास स्थिति क्रम में आवश्यक ॥
> किन्तु न वह रस शुद्ध कामना का शुभ्र प्रीति परिणति का परिचायक ॥[28]

काम और प्रेम

पन्त जी के हृदय में दाम्पत्य-निष्ठा तथा नारी-महिमा के जो सुदृढ़ संस्कार बद्धमूल थे, उन्होंने उन्हें असंयमित काम-भावना का उपासक कभी नहीं बनने दिया। एक तो उनके व्यक्तित्व की बनावट ही ऐसी थी कि, जैसा उन्होंने स्वय बताया है, तैंतीस-चौंतीस वर्ष की आयु के बाद ही उनके भीतर यौवन ने जन्म लिया और जन्म लेने के बाद भी उनका यौवन उद्दाम वासना का यौवन नहीं बन सका। उनका यौवन उद्दाम वासना का यौवन नहीं बना, इसका कारण पन्त जी ने अपने वैचारिक, आन्तरिक मन्थन, सृजनोन्मेष तथा बाह्य परिस्थितियों का संघर्षण बताया है किन्तु उनकी चेतना के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए ऐसा

मुझे इष्ट जो वह अतिशय उससे
जिसे मनुज कर सका अभी अर्जित
सर्व प्रीति स्वीकृति से जीवन के
मन के होंगे मूल्य ऊर्ध्व विकसित,
बदल प्रयोजन जायेगा जग का,
भेद-भाव होंगे भू—के मज्जित

× × ×

तुम कहते हो तो सुन्दर-आस्था
दोनों प्राणिग्रहण कर लें विधिवत्,
संभव, मेरे चिन्तन में त्रुटि हो,
किन्तु सत्य जनमत से कहीं महत्
मुझे ज्ञात शिशु शुभ्र प्राणय-संतति,
प्रेम हुआ जन-भू पर अभ्यागत
माँ बनने की इच्छुक थी आस्था—
हुआ सोचकर ही कुछ मैं सहमत।"[26]

"लोकायतन" का हर पाठक यह आसानी से समझ सकता है कि उस काव्य का पात्र वंशी, जो भविष्य-द्रष्टा कवि भी है, पन्त जी के अपने व्यक्तित्व का प्रतिनिधि पात्र है। कवि और हरि दोनों के व्यक्तित्वों का परिचय देते हुए पन्त जी ने अपनी इस रचना में कहा है—

"गत भू-जीवन ही के पट में हरि
नव प्रकाश का करता मूल्यांकन,
आहत था कवि, रस समग्रता में
कर पाता हरि, चिति को नहीं ग्रहण।
स्वर्ण किरण को कहना नरक-तिमिर
दृष्टि-दोष यह भू-मन का निश्चय
काम अचेतन अन्धवृत्ति जग में,
प्रेम भागवत ज्योति—नहीं संशय।
कवि चाहता धरा—मन में बोना
रस प्रकाश की नव सौन्दर्य किरण,
रश्मि स्पर्श से जग उठते मन में,
अंधकार के अंकुर बन चेतन।"[27]

जैसा पिछले अध्यायों में निदर्शित किया गया है, पन्त जी वर्तमान युग की वैज्ञानिक क्षमता के विकसित रूप के आधार पर यह मानने लगे थे कि समाज की पिछली व्यवस्था में नवयुग के अनुरूप कुछ हेर-फेर करके आज के लिए वांछित सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्मित नहीं किया जा सकता। उनके विचार से युग की नयी परिस्थितियाँ विगत सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों के सम्पूर्ण विध्वंस की अपेक्षा रखती हैं। उस सम्पूर्ण विध्वंस के बाद ही नये समन्वित जीवन के मूल्य स्थापित हो सकेंगे। पुरातन के विध्वंस का आह्वान उन्होंने अपनी रचनाओं में पग-पग पर किया है। पन्त जी ने पुरातन जीवन-मूल्यों के सम्पूर्ण ध्वंस की आवश्यकता के संकेत तो दिये हैं किन्तु वह विध्वंस किस प्रक्रिया से सम्पन्न होगा, इसके विस्तृत विवरण प्रस्तुत नहीं किये हैं और न उस भावी नये जीवन की स्पष्ट और विस्तृत रूपरेखा ही प्रस्तुत की है जो विध्वंस के बाद उदित होगा। उनके काव्य में उस भावी जीवन की आकांक्षा और दिशा की ही आग्रहपूर्ण अभिव्यंजना हुई है, उसके स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या हमें नहीं मिलती। कार्लमार्क्स ने भी एक ऐसे भावी जीवन की कल्पना की थी जो किसी भी नियमन की अपेक्षा नहीं रखेगा, सर्वथा अराजक होगा। सम्भव है जब योगी अरविन्द और पन्त जी के स्वप्न का दिव्य जीवन धरती पर उतर आयेगा तब विवाह जैसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रहेगी। वर्तमान स्थिति के लिए तो "लोकायतन" के कवि वंशी का यह कथन ही विवाह के सम्बन्ध में पन्त जी का निर्णय प्रतीत होता है—

> "सामाजिक स्वीकृति विवाह बंधन, भू—विकास स्थिति क्रम में आवश्यक ॥
> किन्तु न वह रस शुद्ध कामना का शुभ्र प्रीति परिणति का परिचायक ॥[28]

काम और प्रेम

पन्त जी के हृदय में दाम्पत्य-निष्ठा तथा नारी-महिमा के जो सुदृढ़ संस्कार बद्धमूल थे, उन्होंने उन्हें असंयमित काम-भावना का उपासक कभी नहीं बनने दिया। एक तो उनके व्यक्तित्व की बनावट ही ऐसी थी कि, जैसा उन्होंने स्वय बताया है, तैंतीस-चौंतीस वर्ष की आयु के बाद ही उनके भीतर यौवन ने जन्म लिया और जन्म लेने के बाद भी उनका यौवन उद्दाम वासना का यौवन नहीं बन सका। उनका यौवन उद्दाम वासना का यौवन नहीं बना, इसका कारण पन्त जी ने अपने वैचारिक, आन्तरिक मन्थन, सृजनोन्मेष तथा बाह्य परिस्थितियों का संघर्षण बताया है किन्तु उनकी चेतना के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए ऐसा

कहा जा सकता है कि उनके द्वारा बताये हुए बाधक तत्त्वों के न रहने पर भी उनके भीतर काम-वासना का उद्दाम रूप कभी प्रकट न होता। संयम और त्याग की शिक्षा उन्हें अपने कुटुम्ब के सदस्यों, विशेषतया अपने पिता के आचरण से प्राप्त हुई थी। उन्हें आरम्भ से ही इस बात की प्रतीति हो गयी थी कि उनका जन्म किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए हुआ है। ऐसी स्थिति में काम-वासना के प्रवेग में बह जाना उनके लिए किसी भी स्थिति में सम्भव न होता। कैशोर काल में लिखा गया उनका उपन्यास "हार" प्रेम-कथा होते हुए भी तत्त्वतः लोककल्याण की कथा का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसमें काम-वासना-जनित सुख की तुलना में इन्द्रिय-सुख के उन्नयन को अधिक महत्त्व दिया गया है और व्यक्तिगत प्रेम-भावना को विश्व-प्रेम की भावना में परिणत होता हुआ दिखाया गया है। अपने कुटुम्ब के धार्मिक संस्कारों और अपने जन्म-स्थान के दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित उनकी चेतना एक ऐसे उदात्त भाव से जुड़ गयी थी जिसमें निजी आकांक्षाओं की पूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया था।

सच बात तो यह है कि पन्त जी ने कामवृत्ति के संयम का आदर्श न केवल अपने लिए ही अपनाया था बल्कि वे उसे सभी व्यक्तियों के लिए आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। पन्त जी का विश्वास था कि यह सम्पूर्ण सृष्टि एक व्यापक राग-तत्त्व से संचालित और अनुप्रेरित है जो हर तरह के जीवन-सम्बन्धों में अपने को अभिव्यक्त करती है। नर-नारी के बीच का आकर्षण भी पन्त जी के निकट उसी व्यापक तत्त्व का संचरण था। पन्त जी की रागवृत्ति का परिचय देते हुए सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"सामान्य अर्थ में पन्त प्रेमी जीव नहीं ही रहे हैं। सात्त्विक स्नेह एवं अनुराग को उन्होंने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है, "अनुराग ही जीवन है, वही ईश्वर की सृष्टि का संचालक है।" सहज अनुराग का ही उनके भीतर "बहता अन्तः प्रीति स्रोत निश्छल।" वे कामना करते हैं कि "मुक्त सुरभि-सा प्रेम बसे उर में।" प्रेम एवं अनुराग का सन्देश देने वाले पन्त का कहना है—"मनुष्य में अनुराग-भावना आत्मा का प्रकाश है। विश्व में एक ही सृजन-शक्ति है : आकर्षण; उसका अभाव ही विकर्षण है। मनुष्य-मनुष्य में, स्त्री-पुरुष में परस्पर आकर्षण होना स्वाभाविक है। यह काम-भावना मात्र नहीं है। फ्रायड ने उपचेतन-अचेतन के निम्न स्तरों पर ही प्रेम को समझा है और उसे काम की संज्ञा दी है। मैं उसे विश्व की मूलशक्ति के संचरण के रूप में मानता हूँ, जिसका उच्च भाव ही भक्ति है। काम अपने आप में बुरा नहीं है यदि उसका विकास सृजनात्मक, लोक-रचनात्मक

शक्ति के रूप में हो सके। भारतीय संस्कृति ने प्रेम के संचरण को काम मे सीमित करना अनुचित माना है। हमारा सम्पूर्ण भारतीय मनोविज्ञान उसी पर आधारित है।"[29]

पन्त जी की प्रेम सम्बन्धी इस धारणा का समर्थन उनकी ये पंक्तियाँ करती हैं–

"निखिल शक्तियों में जगती की
प्रेम शक्ति ही निश्चय अविजित
नम्र लोक जीवन रचना रत
मंगलमयी सृजन रस संस्कृत।"[30]

पन्त जी अनुराग-भावना को केवल देह की वस्तु न मानकर आत्मा का प्रकाश मानते हैं और नर-नारी के बीच के आकर्षण को भी वे तभी स्वीकार करने की बात करते हैं, जब उसका विकास किसी व्यक्तिगत उद्दाम आकाक्षा की तृप्ति के रूप में न होकर लोकरचनात्मक शक्ति के रूप में हो। पन्त जी काम को यौन काम की सीमा में स्वीकार नहीं करते। वे उसे तभी स्वीकृति देते हें जब काम मंगलमय प्रेम की वृत्ति बनकर प्रकट हो। फ्रायड के संकीर्ण कामविज्ञान की ओर संकेत करते हुए पन्त जी इन पंक्तियों में इस संभावना का सकेत करते हैं कि प्रेम की भूमि से नीची रह जाने वाली कामवृत्ति अकल्याण का पथ अपनाती है–

"प्रकृति पुरुष की शुभ्र प्रीति का पावक,
सावधान, बन जाय न विष जन–भू हित।"[31]

रागतत्त्व को सम्पूर्ण मानव-चेतना की प्रवृत्ति न मानकर उसे केवल देह-भोग की आकांक्षा तक सीमित मानना पन्त जी को किसी तरह स्वीकार नहीं हे। रागवृत्ति सम्बन्धी अपनी धारणा को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है–

"प्राण चेतना अपने ही मौलिक नियमों से
संचालित करती मानव की रागवृत्ति को,
सजातीयता प्राणों की आकर्षित करती,
युग्मों के हृदयों को गोपन प्रणय पंथ पर।
प्रेम चयन कर, संग्रह कर होता कृतार्थ नित,
अन्ध समर्पण मात्र नहीं वह आवेगों का,
अवचेतन परिचालित करता उसकी गतिविधि

स्तम्भित इच्छाएं विमुक्त कर पिण्ड द्रवित कर
कुण्ठाओं को मिटा, रुद्ध ग्रन्थियाँ खोल शत
गुह्य वासनाओं की, आत्मदमन से गुम्फित
निश्चेतन मन का रहस्य चिर दुरवगाह्य है।"[32]

पन्त जी की ये पंक्तियाँ उनके "रजतशिखर" शीर्षक काव्य-रूपक से ली गयी हैं। इन पंक्तियों से पहले उस रूपक की पात्री ने, जिसे पन्त जी ने कोई नाम न देकर केवल युवती ही कहा है, यह प्रश्न किया है—

"किन्तु प्रेम कैसे होता है?
क्यों बँध जाते युगल हृदय अज्ञात सूत्र में?"[33]

रूपक के सुखव्रत नामक एक पात्र ने युवती के इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए ऊपर की पंक्तियाँ कहीं हैं। उसके इस कथन को सुनकर रूपक का नायक प्रश्न करता है—

"तब क्यों शुक की भाँति रटें हम अवचेतन के
उपभेदों को, उच्छृंखलता से प्रेरित हो,
यदि उन पर अधिकार नहीं है चेतन मन का?"[34]

वह आगे कहता है—

"बहुत सुन चुका अधः प्राण सन्देश तुम्हारा,
निश्चय ही अब नरक द्वार खुलने वाला है।
निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू-मन
भटक रहा है, नैतिक मूल्यों का प्रकाश खो!
अधः पतन में मुक्ति नहीं है! ऊर्ध्व गमन ही
मुक्ति द्वार है! मोह मुक्त हो गया आज मन!
रंग पंख वासना प्रणय का मोहक गुण्टन
मुख पर डाले, प्रकट हुई थी मेरे सम्मुख
मधुर रूप धर स्त्री का, निज छाया-सा अस्थिर,
यौवन के स्वप्नों का खोल गवाक्ष अर्ध-स्मित!
नारी की पावन शोभा को देख न पाया,
केवल निज इच्छाओं के मोहक वेष्टन से
रहा खेलता, छाया को उर से चिपका कर!"[35]

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के अन्तर्गत कामवृत्ति के जिस स्वरूप का विवरण दिया गया है, पन्त जी अपने काव्यरूपक "रजतशिखर" के माध्यम से उसके सम्बन्ध में अपनी असहमति प्रकट करते हुए वासना तथा प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हैं और उसी प्रेम को अपनी स्वीकृति देते हैं जो नारी की शोभा को पावन रूप में देख सके। अधोमुख कामवृत्ति के स्थान पर पन्त जी ऊर्ध्वमुख रागवृत्ति के उपासक हैं। स्वाभाविक है कि पन्त जी दाम्पत्य-जीवन को केवल काम-वासना की तृप्ति का साधन नहीं मानते। परिवार की सार्थकता रागवृत्ति के प्रसार में है, प्यार पाने और देने में है—

"पति-पत्नी का सदाचार भी नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम निरत दम्पति जीवन यदि, भोग मात्र का परिणय साधन।
प्राणों के जीवन से ऊँचा है समाज का जीवन निश्चय
अंग लालसा में, सामाजिक सृजन शक्ति का होता अपचय।"[36]

अन्यत्र भी वे कहते हैं—

"पुरुष स्त्री उर का सित सौहार्द,
प्रेम की विकसित सार्थक रीति!
स्नेह का देती तुमको हाथ
सखे, मैं खोल मुक्त उर-द्वार,
अतल निस्सीम प्रणय पाथोधि
सुहृद् स्त्री पुरुष कर सकें पार।"[37]

अपने उपन्यास और कहानियों में दाम्पत्य नैतिकता का परम्परागत चित्रण करने वाले पन्त जी ने आगे चलकर बहुत तीव्रता के साथ अनुभव किया कि हमारे समाज में नारी की स्थिति, जो अत्यन्त दुर्बल और प्रभावहीन है, उसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि उसके तन की पवित्रता को समाज ने आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। समाज उसे एक मानव-व्यक्तित्व न मानकर केवल हाड-मांस की पुतली भर मानता है और दाम्पत्य-नैतिकता के चरम आदर्श का रूप नारी के लिए केवल इस रूप में निर्धारित किया गया है कि वह अपने पति के अतिरिक्त किसी भी दूसरे पुरुष को नारी रूप में अपने शरीर के स्पर्श की सुविधा न प्रदान करे। इस पूर्व वाक्य में "नारी रूप में" यह शब्द—युग्म इसलिए जोडा गया है कि माता-पिता, भाई-बहन जैसे स्नेह सम्बन्धों में नारी के तन-स्पर्श सम्बन्धी वर्जना नहीं है। कामाकांक्षा से प्रेरित होकर स्त्री किसी पर-पुरुष का

स्पर्श न करे, हमारे वर्तमान समाज में प्रचलित यौन-नैतिकता का विधान केवल यहीं तक सीमित नहीं है। विधान यह है कि कामाकांक्षा से प्रेरित कोई पुरुष यदि स्त्री की स्वेच्छा के बिल्कुल विपरीत बलप्रयोग द्वारा भी उसे स्पर्श कर ले तो यौन-नैतिकता का आदर्श खण्डित हो जाता है और ऐसी स्त्री पति अथवा पिता–किसी के घर में भी शरण पाने की अधिकारिणी नहीं रह जाती। इस सम्बन्ध में बलात्कार के अत्याचार से प्रताड़ित नारी को समाज की ओर से दया और सहानुभूति मिलने के स्थान पर घृणा और लांछना प्राप्त होती है। तन की पवित्रता के इस क्रूर विधान ने नारी को छुई-मुई का निर्बल रूप दे दिया है। उसे हर क्षण शंकित और भयभीत रहना पड़ता है कि कहीं उसके ऊपर दूषित तनस्पर्श का आरोप न लग जाये।

नारी की इस दुरवस्था को पन्त जी ने अतिशय तीव्रता के साथ अनुभव किया था और इस व्यवस्था में निहित नारी के प्रति अन्याय के विरोध का भाव उनके भीतर बड़े तीव्र वेग के साथ उत्पन्न हुआ था। अपने साहित्य में नारी-व्यक्तित्व को केवल देह-सीमित मानकर उसकी भावना और चेतना के दूसरे सभी पक्षों के तिरस्कार का पन्त जी ने स्थान-स्थान पर अत्यन्त सबल शब्दों में विरोध किया है। आज की संत्रस्त नारी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा है–

"स्वार्थ क्रूर स्वर्णिम जग पिंजर,
बंदी तुम, जीवन मन जर्जर,
पग-पग पर शंकित निज प्रति उर,
रूढ़ि रीति तम से, चिर त्रासित,
सरल धान की सी बाली तुम
स्वयमपि श्री शोभा शाली तुम,
निठुर क्षुधातुर, वन्य धरा पर
भाव लता भव-झंझा ताड़ित,
पशु बल का भू पर संघर्षण
संस्कृत हो नर, दूर अभी क्षण।
अन्धकार चलता धरती पर
जगजीवन लगता अभिशापित।"[38]

उनकी "पतिता" शीर्षक निम्नोद्धृत कविता नारी के दैहिक कलंक की करुण गाथा का बहुत ही स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करती है–

"रोता हाय मारकर माधव, वृद्ध पड़ोसी जो चिर परिचित
"क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये बहू को, नीच कलंकित!
फूटा करम धरम भी लूटा" शीश हिला रोते सब परिजन,
"हा अभागिनी, हा कलंकिनी!" खिसक रहे गा-गाकर पुरजन।
सिसक रही सहमी कोने में अबला साँसों की सी ढेरी,
कोस रहीं घेरे पड़ोसिनें, आँख चुराती घर की चेरी।
इतने में घर आता केशव, "हा बेटा!" कर दारुण रोदन,
माथा लेते पीट कुटुम्बी, छिन्न लता सा कँप उठता तन"[39]

सन्तोष की बात है कि उस तथाकथित पतिता का पति केशव चिंत
व्यक्ति है। वह कहता है—

"सब सुन चुका।" चीखता केशव, बन्द करो यह रोना धोना,
उठो मालती, लील जायेगा तुमको घर का काला कोना।
मन से होते मनुज कलंकित, रज की देह सदा से दूषित
प्रेम पतित पावन है, तुमको रहने दूँगा मैं न कलंकित।"[40]

केशव की बात बहुत हद तक पन्त जी की अपनी ही बात है। कलं
ी हो सकता है। जब तक मन कलंकित न हो, तन के कलंक क
नहीं हो सकता और कलंकित तन भी प्रेम के स्पर्श से पावन हो
स सम्बन्ध में पन्त जी की कुछ उक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही है

"वधू तुम्हें रचना भू-गृह, तन मन कर अर्पित,
भू अघ से सन कर ही होगी तुम अकलंकित,
सित पवित्रता वह्नि हृदय की ज्योति आन्तरिक
धिक् उनको, जो उसको त्वक् सीमित रखते धिक्।"[41]

"तुम हो पूर्ण प्रकृति, बर्बर सभ्यता ने तुम्हें,
बना दिया अब नग्न विकृति!
अखिल शील, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द, सत्य की
तुम केवल अस्वीकृति।"[42]

पन्त जी बार-बार आह्वान करते हैं कि समाज नारी के चेतन
मय रूप को पहचाने और देह की कारा से उसे मुक्त कर जीवन के
विकास में उसे अपनी सहज भूमिका निभाने का अवसर दे।

अपने एक गीत मे वे कहते ह

"स्त्री गंगा है! नाले भी मिल जायें उसमे,
वह पवित्र, निर्मल ही रहती! माँ है वह।
नया सन्तुलन आज चाहिये स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों मे--
काम-द्वेष से मुक्त हो मनुज, मुक्त हो धरा,
स्त्री व्यतीत कर सके मुक्त जीवन! पुरुषों की
तप्त लालसा के दर्शन से संरक्षित हो,
रचे नया मानव-अंतस् वह, क्षुद्र वासना
शुद्ध प्रीति रस में परिणत हो।"[13]

"सत्यकाम" में भी यही बात प्रकारान्तर से कही गयी है--

"मुक्त करे स्त्री को, नारी को मुक्त करे नर,
महामंत्रबल यह, सामूहिक योग इसी से
सिद्ध धरा पर होगा! मनुज प्रकृति का जिससे
दिव्यीकरण स्वतः ही सम्भव हो जायेगा

× × ×

स्त्री न कभी होती अपवित्र चराचर की माँ,
अनघविद्ध स्त्री की पवित्रता सृष्टि चक्र में।

× × ×

कितना संस्कृत हो जायेगा, जन-भू-जीवन
स्त्री जब विचर सकेगी निर्भय, मुक्त धरा पर,
मानव तब निश्चय ही मानव बन जायेगा।
स्त्री तब श्री शोभा प्रतीक नव मांसल जग में
आनन्दित कर नर-उर को सौन्दर्य स्पर्श से
तृप्त करेगी जन-जन को, रस सूक्ष्म कला से
प्राणिक आवेगों को संस्कृत अंतर्मुख कर!
शील संयमित आत्म संतुलित होगी स्वयमपि
स्त्री तब नयी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर।"[14]

दैहिक कलंक के भय से नारी की असमर्थता और असहायता दे
जी के मन का विक्षोभ नारी-मुक्ति की बार-बार माँग करता है,
पूर्वोद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट है पन्त जी की अभीप्सित नारी-मुक्ति मे
और असंयम के लिए कोई स्थान नहीं है। पन्त जी नारी को दैहिक

बंधन से इसलिए मुक्त करना चाहते थे कि उसकी स्नेहपूर्ण व्यापक सक्रियता जीवन के विकास में अपना अपेक्षित योगदान दे। नारी-मुक्ति से संबंधित उनका स्वर कहीं-कहीं ऐसा भी हो गया है जिससे कुछ ऐसी ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि मानों पन्त जी नारी को परिवार और दाम्पत्य की सीमा से बाहर आकर सर्वथा मुक्त भाव से लोक-निर्माण का कार्य करने के लिए आमंत्रित कर रहे हों—

"पत्नी नहीं प्रिया तुम, भावी की रस-पावन,
सती नहीं प्रेमिका, आत्म शोभा की दर्पण!
बद्ध सरोवर नहीं, मुक्त सरिता जल निर्मल,
अन्तर्पुलिनों में वह यौवन गाता कलकल!
रुद्ध हो गयी स्त्री मन से हो सकी न विकसित,
ममता-तम में जलती दीपशिखा—सी कम्पित!

× × ×

असती वह, जो परिजन पति पुत्रों में सीमित,
सती वही जो विश्व यज्ञ—ज्वाला को अर्पित!"[45]

नारी की दैहिक पवित्रता को चरम मूल्य मानकर समाज ने सचमुच ही उसे पंगु बना दिया है और उसकी स्नेहमय सक्रियता को परिवार और गृह की परिधि में सीमित कर दिया है। सच्चाई तो यह है कि परिवार और गृह की परिधि में भी उसके संचरण पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। पति के अतिरिक्त उसे अपने परिवार के भी किसी अन्य पुरुष के साथ एकान्त में नहीं रहना चाहिये, ऐसा विधान बहुत सीमा तक आज की पढ़ी-लिखी और चेतना-सम्पन्न नारी पर भी आरोपित किया जाता है। शास्त्र उसे "नित्य रक्षणीया" मानता है। "नित्य रक्षणीया" बन जाने से नारी की सम्पोषण और संरक्षण प्रदान करने की नैसर्गिक क्षमता पूर्णतया कुंठित हो गयी है और समाज की शक्ति माने जाने के स्थान पर वह अनेक अर्थों में समाज का बोझ बन गयी है।

सामाजिक विकास की वर्तमान स्थिति में भी नारी-मर्यादा के चरम मूल्य के रूप में दैहिक पवित्रता की रक्षा के बंधन से उसे बहुत हद तक मुक्त किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। मन के संयम और पवित्रता के मूल्य का अस्वीकार पन्त जी के चिन्तन में हमें कहीं नहीं दिखाई देता। जैसा पहले कहा जा चुका है, पन्त जी मानवीय राग-वृत्ति को केवल कामभावना तक ही सीमित नहीं मानते। मानवीय रागवृत्ति सर्जना, संरक्षण और सम्पोषण की प्रकृति-प्रदत्त

सामाजिक शक्ति है दैहिक पवित्रता के आदर्श की वन्दिनी नारी की रागवृत्ति अतिशय संकुचित दायरे में बँधकर बहुत कुछ प्रभावहीन हो गयी है। पन्त जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है--

"नैतिक त्वच् सीमाओं में बँधकर
सामन्ती स्थितियों से अनुप्राणित,
युग्म-प्रीति रति कक्ष-कूप कवलित
बन न सकी सित रस प्रहर्ष विकसित!
नर-नारी की शुभ्र प्रीति ही में
भगवत् गुण हो सकते अभिव्यंजित
प्रीति-नींव पर ही श्री शोभा का
सौध सांस्कृतिक हो सकता निर्मित

× × ×

धिक् वह सदाचरण जो स्त्री-नर को
सदा परस्पर रखता भय शंकित,
बौनी नीति विवश करती मन को
भाव अनुर्वर जीवन यापन हित!"[46]

नारी की शक्ति और प्रभाव में पन्त जी की निष्ठा का परिचय पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। उस निष्ठा से प्रेरित पन्त जी बार-बार यह आह्वान करते हैं कि नारी संकुचित गृह-सीमा से बाहर आकर अपनी संपोषिणी शक्ति का व्यापक प्रसार करे--

"भू-गृहिणी तुम रहीं स्नेह-गृह में संरक्षित
जग के सम्मुख तुमको होना आज उपस्थित
मुक्त हृदय से मिलो, भाव हों अन्तर्दीपित,
स्वस्थ आत्मविश्वास चाहिये तुम्हें अपरिमित।"[47]

अपने आह्वान के स्वर को और ऊँचा उठाकर पन्त जी कहते हैं--

"अतिक्रम कर श्री सीता, राधा, सावित्री को,
अग्नि परीक्षा, विरह वेदना, दास्य भाव को
स्वर्णिम पिंजर के गुण्ठन से मुक्त, अनाहत
नयी प्रीति की बन प्रतीक तुम उतरो भू पर।"[48]

अपने भूत-अध्यात्म-मिश्रित दर्शन से पन्त जी ने नैतिकता के जो नये सिद्धान्त निकाले हैं उनके अनुसार भी दाम्पत्य-जीवन की महिमा अक्षुण्ण बनी

रहती है। पन्त जी युग्म जीवन को ऊर्ध्वदृष्टि-वैरागी जीवन से श्रेष्ठ मानते हैं। उन्होंने लिखा है—

"यदि हम प्राण-भावना के धरातल से अन्तश्चेतन के शिखर की ओर देखे, तो रति-काम की अन्तःशुद्ध स्थिति ही पार्वती-परमेश्वर का रूप है, जो अन्तःप्रेम में सम्पृक्त है; और उन्हीं का बहिरन्तर सन्तुलित सांस्कृतिक रूप कृषि-युग की परिस्थितियों के अनुरूप श्री सीता-राम तथा राधाकृष्ण का युगल रूप अपने यहाँ है। स्त्री-पुरुषों के बीच रागात्मक सामंजस्य संस्कृति का मूल उपादान है। वैरागियों के दमन से युग्मेच्छा का सन्तुलित उन्नयन, संस्कृति की दृष्टि से, अधिक लोकोपयोगी एवं सौन्दर्य-उर्वर है। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा अवश्य ही अत्यन्त धैर्य, शील, सहिष्णुता तथा जागरूकता से ही पृथ्वी पर सम्भव है। आध्यात्मिक-लौकिक मूल्यों को परस्पर विरोधी पृथक् मूल्यों में विच्छिन्न करने का ही कारण है कि मानव--राग-भावना का अभी विकास या परिष्कार नहीं हो सका है। इसलिए न तो हमारा गृहजीवन और सामाजिक जीवन ही सस्कृति की दृष्टि से पूर्ण बन सका है, न हमारे आश्रमों, तपोवनों तथा तीर्थ-स्थलो का जीवन ही वास्तविक अर्थ में भागवत जीवन बन सका है। दोनों ही एकांगी, स्वर्ग (पुण्य)--भीरु तथा धरा (पाप)—भीत होकर पंगु, निष्क्रिय या अर्द्ध-सक्रिय, अपूर्ण तथा अक्षम ही रह गये हैं; न हमारे दिव्य जीवन की ही धारणा पूर्णता प्राप्त कर सकी है न लौकिक जीवन की ही। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमे समग्र लोक-जीवन को ही रागात्मक विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना होगा।"[9]

शिशु सम्बन्धी दृष्टि

पन्त जी की दाम्पत्य-दृष्टि के आकलन और विवेचन का आरम्भ करते हुए यह कहा गया है कि मानव-शिशु के मानवोचित संरक्षण, सम्पोषण ओर विकास की अपेक्षा से ही मानव ने झुण्ड-जीवन को छोड़कर युग्म-जीवन को अपनाया और उस युग्म-जीवन को स्थायित्व तथा व्यापक सामाजिक सहमति की शक्ति प्रदान करने के लिए विवाह-प्रथा का प्रचलन हुआ। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए पन्त जी की दाम्पत्य-दृष्टि का विवेचन अधूरा ही रह जायेगा यदि इस प्रसंग में पन्त जी की शिशु-निष्ठा की चर्चा न की जाये। पन्त जी सारी सृष्टि के मूल में रागतत्त्व का संचरण देखते हैं। उस रागतत्त्व का केन्द्र-बिन्दु शिशु है। पन्त जी के विचार से यदि शिशु न होता तो सारी सृष्टि ही व्यर्थ हो जाती। अपने अनेक गीतों में उन्होंने शिशु की दिव्यता का उल्लेख किया है—

"सृष्टि व्यर्थ होती शिशुओं के बिना, न संशय,

देख मधुर मुख, मातृप्रकृति हो उठती, तन्मय।

× × ×

आओ शिशुओं में पायें ईश्वर के दर्शन,
और नहीं वह भू पर कहीं, सत्य यह गोपन।"[50]

"शिशु ईश्वर के प्रतिनिधि पावन,
उनके सम्मुख नत मेरा मन
वे अज्ञात भविष्य पथिक रे
शिशु से रहित व्यर्थ सूना भव"[51]

× × ×

"ईश्वर ने शिशु के मुख में होने को बिम्बित
सुभग कलात्मक सृष्टि रची सुर नर मुनि भावन।
शैशव के पद-चिह्नों से जन भू-रज अंकित—
जान सका अब—जग क्यों इतना लगता पावन।"[52]

× × ×

"शैशव की कर सृष्टि विधाता निज सार्थकता करता अनुभव,
उसमें भी अवतरित कर तुम्हें, मिला सृजन को था नव गौरव!
रवि, शशि अब भी उगते, जग का अन्धकार करने आलोकित
सुते, स्नेह ही की लौ से पर, मानव का उर होता दीपित।"[53]

पन्त जी के काव्य से शिशु की महिमा का संकेत करने वाली ऐसी कितनी ही पंक्तियों का संकलन किया जा सकता है। स्वयं आजीवन अविवाहित रहने वाले पन्त जी के हृदय में गहन वात्सल्य के भाव निरन्तर तरंगित होते रहते थे। सामान्य मनुष्यों का वात्सल्य-भाव अपने लिए औरस सन्तान की तलाश करता है। सन्तान न होने पर एक-दूसरे को प्राणों से भी अधिक चाहने वाले पति-पत्नी का जीवन भी नीरस प्रतीत होने लगता है और सन्तान-प्राप्ति की आकांक्षा से अपनी पत्नी को बहुत प्यार करने वाले पुरुष भी दूसरा विवाह करते दिखाई देते हैं। पन्त जी जिस राग-मुक्ति की बात करते हैं, उसका सम्बन्ध केवल नर-नारी के बीच उत्पन्न होने वाले राग-मात्र से नहीं है। राग-मुक्ति के अन्तर्गत वे वात्सल्य-भाव को भी अपने और पराये के भेद-भाव से मुक्त करना चाहते थे। स्वयं उनके व्यक्तित्व में हमें वात्सल्यवृत्ति का निज-पर-मुक्त-स्वरूप देखने को मिलता है। पन्त जी की कुटुम्ब-दृष्टि के विवेचन में हम यह चर्चा कर चुके है कि प्रयाग के बाल-भवन की एक अनाथ बालिका अनुपमा के प्रति उनके मन में

कितना गहन वात्सल्य प्रकट हुआ था। वे उसे गोद लेना चाहते थे, किन्तु दुर्भाग्यवश हड्डी की एक बीमारी के निराकरण के लिए किये जाने वाले आपरेशन में उसकी मृत्यु हो गयी थी। उस मृत्यु से पन्त जी कितने मर्माहत हुए थे, उसकी निदर्शक उनकी कुछ काव्य-पंक्तियाँ इस प्रसंग की पूर्व-चर्चा में उद्धृत की जा चुकी हैं।

उसके बाद पन्त जी ने स्वयं तो किसी दूसरे बच्चे को गोद लेने की बात नहीं सोची, किन्तु जब उनकी जीवनी-लेखिका और ममेरी बहन सुश्री शान्ति जोशी ने सुमिता नाम की एक दुधमुँहीं बच्ची को गोद लिया तो पन्त जी का सारा वात्सल्य उसमें केन्द्रित हो गया। सुश्री शान्ति जोशी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"पन्त जी ने बच्ची को पहली बार देखा और ऐसे मोहासक्त हो गये कि कल्पनातीत है। फिर उन्होंने बच्ची के न जाने कितने नाम सुझाये लेकिन वे भाये नहीं। यों ही नाम याद करने के क्रम में सुमिता नाम याद आया, शब्द-कोश देखा और प्रसन्न होकर कहा—"सुमिता नाम रखूँगी।" जब कुल-नाम देने की बात आयी तो पन्त ने मुझसे कहा—"कुल-नाम मत दो, तुम "जोशी" नाम दोगी तो मुझे बुरा लगेगा और "पन्त" नाम में तुम्हें बुरा लगेगा। वैसे यह बेटी भगवान् ने मुझे ही दी है। उसने (विधाता ने) कहा—"धिक्कार है तेरा जीवन यदि तूने बच्चे की सेवा नहीं की। मेरे अपूर्ण जीवन को भगवान् ने पूर्ण बना दिया है।"[54] अपनी "आस्था" में संकलित अपने एक गीत में भी अपने जीवन की इस चरितार्थता की चर्चा पन्त जी ने की है, जिसका बोध उन्हें सुमिता को प्राप्त करने पर हुआ था। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "तुमको पाकर मैं प्रिय सुमिते, आज गोद में,
> अनुभव करता हूँ, चरितार्थ हुआ अब जीवन।
> भूख प्यार की मेरी, तूने तृप्त पूर्णतः
> कर दी : तू जो कुछ भी, चाहेगी जीवन में,
> तुझे नहीं रोकूँगा! सदा समर्थन उसका
> किया करूँगा! तुझे निकट से, निरख-परख कर
> समझ सकूँगा मैं, मनुष्य की गहन प्रकृति को।"[55]

सुमिता के प्रति पन्त जी के आकुल स्नेह की चर्चा करते हुए शान्ति जोशी ने आगे लिखा है—"वे व्यस्त हो गये उसे "पन्त" कुल-नाम आदि देने में। सुमिता "दद्दू" (पन्त जी) की ही बेटी है, दद्दू का उसके प्रति अशेष प्यार, रात-दिन उसी की चिन्ता—उसे चोट न लग जाय, ठंड न लग जाय, धूप या लू न लग जाय, उसकी सुकोमल भावनाएँ मुरझा न जायें। एक घंटे को भी बाहर जाना

तो सुमिता के लिए दो हज़ार आदेश दे जाते। उसकी बोतल उबालना, दूध बनाना उनका सहज अधिकार था—इस बारे में वे दूसरे पर विश्वास कर भी नही सकते थे।..........सुमिता का दो मिनट के लिए भी रोना वे सह नहीं पाते है। जो भी उसे देख रहा हो उस पर बिगड़ जाते हैं। सुमिता जब तक डेढ़-दो साल की नहीं हो गयी, उन्होंने घर की आफ़त कर दी। न स्वयं दिन-रात चैन लिया न हमे लेने दिया।......सुमिता ने पन्त के घर के व्यक्तित्व को आमूल परिवर्तित कर दिया है। अभी तक घर में एक दीवार थी—भेद-भाव की, मेरे-तुम्हारे की। पन्त का कमरा, उनकी आल्मारी, बक्सा, अटैची, चारपाई, तौलिया, साबुन सभी कुछ छुआछूत के पोषक थे। कभी बड़ा विचित्र भी लगता था। पर सुमिता के कारण अब एक ही परिवार है, जो अब तक सराय या होटल था, वह घर बन गया है। पन्त के ही शब्दों में—

> "जब से तुम मेरे घर आयीं, जीवन के प्रति
> बदल गयी मेरी सारी धारणा-भावना।
> घर का भी ज्यों मानचित्र ही सँवर गया हो।"[56]

जिस प्रकार पन्त जी ने बिना इस बात की चिन्ता किये हुए कि उसके जननी-जनक कौन थे, अनुपमा को अपनाने की बात सोची थी और सुमिता को अपना लिया था, उसी तरह वे चाहते थे कि शिशुओं को लेकर अपने-पराये की दृष्टि न अपनायी जाये। उनकी दृष्टि में सभी शिशु जगन्माता की सन्तान होते है और सभी को उन्हें अपना आत्मीय मानना चाहिये। यह ठीक है कि संसार भर के बच्चों को प्रेम का व्यवहार प्रदान नहीं किया जा सकता है। शिशु रूप में लालन-पालन उन्हीं विशिष्ट शिशुओं का ही किया जा सकता है जो हमारी आत्मीयता के निकट सम्पर्क में और हमारी गृहसीमा के भीतर रहें। पर इस आत्मीयता को प्रत्यक्ष दैहिक सम्बन्ध की भावना से मुक्त होना चाहिये। संकुचित सन्तति-प्रेम और मुक्त शिशु-प्रेम की तुलनात्मक स्थिति का अत्यन्त प्रभावशाली चित्र उन्होंने अपने प्रबन्ध-काव्य "सत्यकाम" में प्रस्तुत किया है। जैसा पूर्व पृष्ठों में लिखा जा चुका है, सत्यकाम की प्रिया ऋचा का विवाह उसके माता-पिता कहीं अन्यत्र कर देते हैं। ज्ञान-यज्ञ की साधना में संलग्न सत्यकाम का मन फिर भी ऋचा के आकर्षण में बँधा रहता है। एक दिन जब वह ध्यान में बैठा हुआ था, उसकी मानस-दृष्टि के सम्मुख ऋचा प्रकट हुई और "उसने अपने आँचल मे लिपटे नव शिशु" को सत्यकाम की गोदी में रख दिया और—

> "बोली ऋचा उसी अपनत्व भरी वाणी में
> सत्यकाम के पद छू, "आशीर्वाद दीजिये"

सत्यकाम का हृदय कहीं कुठित निर्मम हो
अपने ही भीतर खिंच गया अकारण जैसे।
एक शब्द भी नहीं कंठ से निकला उसके।
कठिन मुखाकृति रुद्ध कण्ठ निस्तब्ध मनस्थिति
देख निठुर प्रेमी को—वह खिलखिला उठी द्रुत।
सत्यकाम को गोपन धक्का लगा कहीं पर।

× × ×

सत्यकाम पाषाण शिलावत् रहा अविचलित,
उसने इसको अभिनय त्रिया चरित्र समझकर
नहीं विशेष महत्त्व दिया, प्रत्युत विरक्त हो,
वह भीतर से खिंच अपने में डूब सा गया।"[57]

शिशु के प्रति सत्यकाम की विरक्ति को देखकर ऋचा व्यंग्य भरे तीखे स्वर में तापस से बोली—

"तुम भी क्या तापस साधारण जन से ही हो?
धन्य तुम्हें हे आत्मा के आराधक, साधक!
अभी आत्म-पर पाशों ही में बँधे हुए हो?
द्वेष भाव से कुण्ठित, क्षुद्र अहंता-पीड़ित।
एक निरीह सरल शिशु को तुम मुक्त हृदय का
प्यार नहीं दे सके? स्वर्ग की एक किरण का
नये जगत्-पथ के यात्री का, विश्व-अतिथि का
अभिवादन कर सके न शुद्ध हृदय से अपने।
यही कि वह मेरे प्रिय पति का स्वर्ग दाय है।

× × ×

आत्म मोह से अन्धे तापस, अभी तुम्हारे
चक्षु नहीं खुल सके हृदयके, अहम् पिण्ड तुम!
आत्म परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाये,
विश्व-प्रेम की धारा से वंचित उर का मरु!
नहीं जानते क्या, ईश्वर का प्रतिनिधि होता
भोला निश्छल शिशु—पावनता से भी पावन!
छोड़ो छिछले आत्मवाद को, हृदयहीन जो!
जगन्मातृ के शिशुओं का जीवन सुखमय हो,

धरा धाम को उनके रहने योग्य बनाओ
शिशुओं की सेवा कर तुम सदेह ईश्वर की,
विश्वात्मा की सेवा कर पाओगे नि· ·!
धिक् उस ईश्वर को जो जग जीवन से वंचित!
शिशुओं को जिसने न प्यार हो किया कभी भी
वह आत्मा की गहराई को छू सकता क्या ? [58]

"सत्यकाम" का यह प्रसंग जहाँ पन्त जी के उदार एवं मुक्त शिशु-प्रेम की भावना का परिचय देता है, वहीं तापस (सत्यकाम) की प्रतिक्रिया के रूप मे वात्सल्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति को भी संकेतित करता है। उदार मानवता के संस्पर्श से रहित पशु-जीवों का वात्सल्य-प्रेम अपनी ही सन्तति के प्रति होता है। दूसरे के बच्चों के लिए वह मात्र सहानुभूति के रूप में प्रकट होता है। सामान्य मानव बहुत सीमा तक अभी वात्सल्य की उस नैसर्गिक भावना से ही बँधे हुए हमे दिखाई देते हैं, जो केवल अपनी औरस सन्तान के प्रति होती है। सामान्य शिशु-प्रेम को अपने औरस शिशु के प्रेम की तीव्रता दे पाना सबके लिए सम्भव हो सकेगा, ऐसी कल्पना करना अभी स्वप्न देखने के समान ही है। "उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श प्रस्तुत करने वाला ऋषि भी जानता था कि पूरी वसुधा को कुटुम्ब मानना सबके लिए सम्भव नहीं हो सकता। ऐसा केवल उदारचरित वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं। मेरे विनम्र विचार से सन्तति-प्रेम एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है, सांस्कृतिक प्रवृत्ति नहीं। निसर्ग ने अपने मूल लक्ष्यों की पूर्ति मे किसी के लिए कोई विकल्प नहीं छोड़ा है। शिशु को प्यार करना और उसे सम्पोषण प्रदान करना प्रकृत जननी की प्रायः विवशता है। स्त्री के साथ दाम्पत्य-बंधन में बाँधकर समाज ने पुरुष के शिशु-प्रेम को भी नैसर्गिकता का आयाम देने का प्रयास किया है। पुरुष का शिशु के प्रति नैसर्गिक प्रेम तभी सामान्य-सिद्ध रह सकता है जब उसके साथ उस शिशु को जन्म देने में अपने दायित्व का संदेहरहित ज्ञान भी उसे हो। सांस्कृतिक आदर्श नैसर्गिक प्रवृत्ति से ऊँचे होते हैं, किन्तु नैसर्गिक प्रवृत्ति का सर्वथा तिरस्कार करके कोई सांस्कृतिक आदर्श न ही स्थापित हो सकता है और न ही स्थिर रह सकता है। पन्त जी का शिशु की महिमा का गान दाम्पत्य-व्यवस्था की पुष्टि ही करता है, यद्यपि वे शिशु-प्रेम को आत्म-पर के भेदभाव से ऊपर रखना चाहते हैं।

सन्दर्भ संकेत

1 सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 7, सत्यकाम—जिज्ञासा, पृ. 315
2 सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 7, सत्यकाम—जबाला, पृ. 316
3 सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 357-358
4 सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 357
5 सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 358
6 सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग दो, शान्ति जोशी, पृ. 669 प्र. सं. 1977
7. सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 107
8. वही
9 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 6, पाँच कहानियाँ, दम्पति कहानी, पृ. 21
10. वही पृ. 26
11 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 1, हार उपन्यास, पृ. 55-56
12 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 1, गुंजन, भावी पत्नी के प्रति कविता, पृ.250
13. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 1, गुंजन, गीत संख्या 25, पृ. 255
14 सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग 1, शांति जोशी, पृ. 358
15 सु. पंत : ग्रंथावली, खण्ड4, पौ फटने से पहले, गीत सं. चौवन, पृ. 362
16 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 4, पौ फटने से पहले, कविता सं. 50, पृ. 363
17 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 1, हार, पृ. 38
18 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम, प्राण ब्रह्म, पृ. 363-364
19. सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 7 सत्यकाम, पृ. 364
20. वही पृ. 364
21. वही पृ. 367
22 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम, पृ. 369 और 70
23 सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम, पृ. 367
24. सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 5, लोकायतन, पृ. 336-37
25 सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 5, लोकायतन—अन्तर्विरोध, पृ. 337-338
26 सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 5, लोकायतन—अन्तर्विरोध, पृ. 338-339
27 सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 5, लोकायतन—अन्तर्विरोध, पृ. 336
28. सु. पंत ग्रंथावली, खण्ड 5, लोकायतन—अन्तर्विरोध, पृ. 339

29. सु. पंत : जीवन और साहित्य भाग 1, शान्ति जोशी, पृ. 358-359
30. वही पृ. 359
31. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—पूर्व स्मृति : आस्था, पृ. 33, प्र. सं. 1979
32. रजत शिखर सु. पन्त—रजतशिखर, पृ. 22, नौवीं आवृत्ति, 1972
33. रजत शिखर सु. पन्त—रजतशिखर, पृ. 22, नौवीं आवृत्ति, 1982
34. रजत शिखर सु. पन्त—रजतशिखर, पृ. 22, नौवीं आवृत्ति, 1982
35. रजत शिखर सु. पन्त—रजतशिखर, पृ. 23-24, नौवीं आवृत्ति, 1982
36. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि—परकीया कविता, पृ. 330
37. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, पृ. 184
38. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 4, पौ फटने से पहले, कविता सं. 53, पृ. 361
39. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 2, स्वर्णधूलि-पतिता कविता, पृ. 329-30
40. वही
41. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 4, पौ फटने से पहले, कविता सं. 51, पृ. 360-361
42. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 4, गीत—हंस, कविता सं. 29, पृ. 509
43. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, कविता सं. 93, पृ. 198-99
44. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम—प्राणब्रह्म, पृ. 354
45. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 4, गीतहंस—गीत सं. 6, पृ. 484
46. सु. पं. ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—अन्तर्विरोध, पृ. 339-40
47. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, समाधिता, कविता सं. चौहत्तर, पृ. 185
48. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, आस्था, कविता सं. 28, पृ. 233
49. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 6, चिदम्बरा, चरणचिह्न, पृ. 318
50. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत, गीत सं. 31, पृ. 462
51. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, गीत अगीत, गीत सं० 32, पृ 462
52. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, शशि की तरी, गीत सं. 31, पृ. 111-12
53. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, शशि की तरी, गीत सं. 19, पृ. 104
54. सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग-2, शान्ति जोशी, पृ. 630-631
55. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, आस्था, गीत संख्या 58, पृ. 260
56. सु. पंत : जीवन और साहित्य, भाग 2, शान्ति जोशी, पृ. 631
57. सु. पंत ग्रंथावली खण्ड 7, सत्यकाम, आत्म ब्रह्म, पृ. 391-392
58. वही, पृ. 393-94

चतुर्थ अध्याय

पन्त जी की राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पन्त जी ने अपनी आरम्भिक पहचान प्रकृति के कवि के रूप में बनाई। बचपन में प्रकृति के प्रति उनका आकर्षण अद्वितीय सौंदर्य और सरल आनन्द का था किन्तु अनुभव की परिपक्वता के साथ वह श्रद्धा, विश्वास और जीवन-सत्य से युक्त होकर मानव-कल्याणकारी बन गया। उनके सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व का आकलन करने के बाद कहा जा सकता है कि वे मूलतः संस्कृति के कवि थे। अल्मोड़ा के निर्मल प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनका गहन आकर्षण उनकी सांस्कृतिक अभिरुचि का ही आरम्भिक निदर्शन था। यह मानना संगत नहीं है कि उनके प्राकृतिक काव्य और बाद के सांस्कृतिक काव्य में कोई तत्त्वगत भेद है। वह उदात्त और व्यापक सांस्कृतिक चेतना, जो उनके परवर्ती काव्य में बहुत प्रचुरता और प्रखरता के साथ प्रकट हुई है, पन्त जी की उसी सौन्दर्य-दृष्टि का विकास है जिसने उनके भोले बचपन को प्राकृतिक सौन्दर्य में रमाया था और उनके आरम्भिक काव्योन्मेष में प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण के रूप में प्रकट हुआ था। उसी सौन्दर्य-दृष्टि ने आगे चलकर जीवन की समग्रता को आत्मसात् किया। वह सौन्दर्य-दृष्टि सर्वथा बदल नहीं गयी, बल्कि अधिक गहरी, व्यापक और अर्थपूर्ण हो गयी। पन्त जी ने स्वयं लिखा है—

"पल्लव-काल की रचनाओं तक मेरी अन्तर्दृष्टि काव्य-चेतना के उन मूल स्रोतों तक नहीं पहुँची थी जिनका सान्निध्य पाने के लिए मेरे हृदय में गोपन द्वन्द्व चला करता था। काव्य के बाह्य मूल्यों का यत्किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मेरा कवि तब स्वतंत्रचेता नहीं बन सका था, जिसके लिए मुझे आने वाले वर्षों में अविरत संघर्ष करना पड़ा। काव्य-चेतना के संस्कार के साथ ही मेरे भीतर आत्मपरिष्कार तथा सामाजिक अभ्युदय की प्रवृत्तियाँ अल्मोड़े में किशोरावस्था से ही जाग्रत् हो चुकी थीं। काव्य-सृजन के साथ आत्मोन्नयन पर तथा सामाजिक उत्थान की समस्याओं पर मेरा मन सामानान्तर रूप से अपने मानसिक, बौद्धिक

विकास के अनुरूप बराबर सोच-विचार करता रहा है। जब मैं "पल्लव" की रचनाएँ लिखकर काव्य-बोध तथा कला-शिल्प में परिपक्वता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था, उन्हीं दिनों गांधी जी के नेतृत्व में देश की स्वतंत्रता का आन्दोलन गम्भीर तथा व्यापक रूप धारण कर हमारी पीढ़ी का ध्यान अपनी आर आकर्षित कर रहा था।"[1]

उसी क्रम में पन्त जी ने आगे लिखा है—"मैंने देश के आन्दोलन मे बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न ही भाई की तरह मैंने कभी कारावास ही झेला, पर हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पक्ष रहा है उससे मैं निरंतर जूझता रहा हूँ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने उसका ऋण भी चुकाया है। कॉलेज छोड़ने के लिए मुझे बाहर से भाई ने भले ही बाध्य किया हो, पर राष्ट्रीय जागरण का अंग बनने के लिए मेरा मन भीतर से सदेव उत्सुक रहता था। भाई ने बाहर की राख भर हटा दी, भीतर की सोई आग जग उठी।"[2]

पन्त जी के उपर्युक्त आत्म-कथन इस बात को संकेतित करते हैं कि प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनके आकर्षण और सांस्कृतिक सौन्दर्य के प्रति उनके परवर्ती आकर्षण की अन्तवर्ती चेतना एक ही थी। उनका प्रकृति—प्रेम ही अपने सहज विकास में संस्कृति-प्रेम बन गया और उस संस्कृति—प्रेम ने ही उन्हे आजीवन सांस्कृतिक काव्य-रचना में प्रवृत्त रखा। पन्त जी की संस्कृति आत्मोन्नयन ओर सामाजिक अभ्युदय दोनों को परस्पर अभिन्न और एक-दूसरे का पूरक मानती है। आत्मोन्नयन के मानवीय प्रयास के विविध पक्षों को लेकर पन्त जी ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनकी चर्चा तत्त्व—दर्शन, धर्म और नीति के प्रसंगो मे पहले की जा चुकी है। सामाजिक अभ्युदय के पारिवारिक पक्ष के सम्बन्ध मे उनके विचारों का परिचय भी पिछले पृष्ठों में दिया गया है। सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि अपने व्यापक आयाम में राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि बन जाती है। पन्त जी ने आत्मोन्नयन को जीवन का ऊर्ध्व-संचरण और सामाजिक अभ्युदय को समतल-संचरण कहकर भी निर्दिष्ट किया है। राजनीति और अर्थनीति को उन्होंने जीवन के समतल-सचंरण का अंग माना है। अपनी अनेक गद्य तथा पद्य रचनाओं में उन्होंने जीवन के सम्पूर्ण विकास के लिए ऊर्ध्व तथा समतल दोनो सचरणों की समन्वित आवश्यकता पर बल दिया है। आत्मोन्नयन और सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि में एकत्व का अभाव पन्त जी के विचार से संसार के चिन्तन का एक बहुत बड़ा दोष रहा है और उसने जीवन के विकास की गति को बहुत

सीमा तक दिग्भ्रमित किया है। जैसा अनेक प्रसंगों में पहले कहा जा चुका है, सम्पूर्ण जीवन के तात्त्विक एकत्व में पन्त जी की गहरी निष्ठा थी। इस निष्ठा का रूप हमें उनकी चेतना में क्रमशः अधिक से अधिक दृढ़ता प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है। उनकी "ज्योत्स्ना" नामक नाटिका में उसकी नायिका ज्योत्स्ना पन्त जी की इस निष्ठा को अभिव्यक्त करते हुए कहती है—

"असंख्य कोटि के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त वन-उपवन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। जिस प्रकार यह बाहर से एक है उसी प्रकार उसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित है। मानव-जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गयी है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियंत्रित करना होगा। अनियन्त्रित प्रकृति विकृति मात्र है। एक बार मैं समस्त मानव-समाज को महासागर की असंख्य तरंगों की तरह एक ही भावोच्छ्वास से आन्दोलित-उद्वेलित, एक ही नृत्य-लय में उठते-गिरते, और एक ही मानव-प्रेम में राग से मुखरित-उल्लसित देख पाती।"[3]

ज्योत्स्ना का उपर्युक्त कथन पन्त जी की आन्तरिक निष्ठा और आकांक्षा की ही अभिव्यक्ति है। पन्त जी पारस्परिक विद्वेष और विनाश की भावना रखने वाले खण्डों में बँटे जीवन को संकुचित राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि का परिणाम मानते थे। उनके विचार से सांस्कृतिक चेतना से रहित राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि केवल विषमता, वर्ग-विद्वेष और विनाशक संघर्ष को ही जन्म दे सकती है। समग्र जीवन की एकता की चेतना से अन्वित सांस्कृतिक दृष्टि से परिचालित राजनीति और अर्थनीति ही जीवन को कल्याण की दिशा में आगे बढ़ा सकती है, ऐसा पन्त जी का विश्वास था। उन्होंने लिखा है—"ग्राम्या" के प्रणयन तथा सन् 1942 के आन्दोलन के बाद मेरी विचारधारा में फिर एक परिवर्तन आने लगा था और मेरा मन साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन—ग्रन्थो मे अधिक रमने लगा था। सांस्कृतिक केन्द्र (अल्मोड़े का उदय शंकर कला केन्द्र) के कलात्मक वातावरण में मेरा सौन्दर्यप्रिय जीवन-द्रष्टा मेरे भीतर जगने लगा। मुझे प्रतीत होने लगा कि एक पूर्ण विकसित समाज में मनुष्य को अवश्य ही सौन्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिये, किन्तु सौन्दर्य और संस्कृति का व्यापक रूप क्या हो और पूर्ण विकसित समाज की स्थापना कब, कैसे किस रूप मे

विकसित हो सकेगी जिसमें सौन्दर्य आत्मोन्नयन तथा लोक-जीवन की प्रगति का साधन बन सके, यह द्वन्द्व मेरे भीतर निरन्तर चलता रहता था। मार्क्स के अध्ययन के बाद सम्पन्न लोक-जीवन का स्वप्न मेरी विचारधारा का अंग बन गया था किन्तु वह स्वप्न केवल राजनीतिक—आर्थिक सुविधाओं की वृद्धि तथा भौतिक उपकरणों के विकास द्वारा ही पूर्ण होगा, इस पर से मेरा विश्वास उठने लगा था। बाह्य रूप से एक सुव्यवस्थित तथा समृद्ध तंत्र में रहने पर भी यदि मानव-जीवन भीतर से उन्नत न हो सके और यदि उसमें उच्चतम मानवीय गुणो का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियों से जूझने के लिए यंत्र मात्र बन जाय और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर बाह्य व्यवस्था तथा संतुलन स्थापित करना पड़े तो ऐसा समाज या तंत्र और जिसके भी योग्य हो मनुष्य के रहने योग्य नहीं कहा जा सकता। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न और मानसिक—आत्मिक दृष्टि से रिक्त अकिंचन मनुष्य संभवतः मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही हो सकता। आज के राजनीतिक आन्दोलनों की एकांगिता की पूर्ति तथा सर्वांगीण विकास की परिपूर्णता के लिए मुझे युग—जीवन के अनुरूप एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण की भी अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हुई है।"[4]

पन्त जी का उपर्युक्त कथन उनकी सांस्कृतिक दृष्टि तथा राजनीति ओर अर्थनीति के उनके वांछित रूप के परिचय की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। उनके इस कथन में सूत्रात्मक संक्षेप के बावजूद एक समग्रता ओर परिपूर्णता है। इस दृष्टि से इस उक्ति का थोड़ा विश्लेषण यहाँ अपेक्षित है। "मेरा सौन्दर्यप्रिय जीवन-द्रष्टा मेरे भीतर फिर जगने लगा"—इस उक्ति से इस बात की परिपुष्टि होती है कि पन्त जी जीवन में सौन्दर्य की स्थापना के आकांक्षी थे। उनके विचार से एक पूर्ण विकसित समाज में मनुष्य को अवश्य ही सान्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिये। उस विकसित समाज में लोक—जीवन का सम्पन्न होना भी आवश्यक होगा, किन्तु बाह्य रूप से सुव्यवस्थित तथा समृद्ध होने पर भी मानव—जीवन यदि भीतर से उन्नत न हो सके और उसमे उच्चतम मानवीय गुणों का विकास न हो सके तो उसके फलस्वरूप समतल शक्तियों में पारस्परिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होगी और मानवीयता के नष्ट हो जाने की सम्भावना बनेगी। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न और मानसिक—आत्मिक दृष्टि से रिक्त मनुष्य प्रायः अकिंचन ही होगा और वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं रह जायेगा। आज के युग-जीवन के अनुरूप एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण के अभाव में राजनीतिक तथा आर्थिक गतिविधियाँ एकांगी ही बनी रहेंगी ओर

उनके द्वारा सर्वांगीण विकास की परिपूर्णता का लक्ष्य कभी प्राप्त नहीं किया जा सकेगा। अपने चिन्तन के इन्हीं बिन्दुओं को पन्त जी ने अपनी महत्तम काव्य-कृति "लोकायतन" के प्रथम सर्ग "पूर्वस्मृतिः आस्था" की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है—

"बँधे प्रीति के स्वर्ण सूत्र में भू-मन,
एक बने जग, बहु देशों में खण्डित,
देश जातियों से निखरे मानवता,
विविध धर्म संस्कृति हों विश्व समन्वित।
× × × × ×
इह-पर के, नर-ईश्वर के छोरों पर
स्वर्ण-सेतु, शत रत्न-ज्योति स्मित निर्मित,
लोक-मुक्ति ही मुक्ति, कर्म अब पूजन
भव गति में विज्ञान—ज्ञान संयोजित।
× × × × ×
देश जाति के ऊपर उठ जन मन को
मानवता करनी धरती पर स्थापित,
मनुज प्रीति कर व्यक्ति मुक्ति हित अर्जित,
लोक साम्य रख विश्व ऐक्य के आश्रित!
× × × × ×
यही तत्त्वतः भव-यात्रा, मानव को
स्वर्ग बह्नि लानी भूतल पर निश्चित
जन समाज के सामूहिक जीवन की
यज्ञ वेदिका पर कर उसे प्रतिष्ठित।"[5]

पन्त जी के जीवन-परिचय और दूसरे प्रसंगों में भी इस बात का संकेत अनेक बार किया गया है कि पन्त जी आरम्भ से ही अन्तर्मुख और अध्ययनशील रहे हैं। दर्शन और साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने विज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति और अर्थनीति सम्बन्धी ग्रन्थों का भी प्रचुरता तथा गम्भीरता के साथ अध्ययन किया था। मानव-जीवन के समग्र और परिपूर्ण विकास का जो स्वप्न उनकी उर्वर चेतना में प्रकट हुआ, उसके सर्वथा अनुरूप उन्हें अपने युग की कोई विचारधारा प्रतीत नहीं हुई। इस सम्बन्ध में उनका अपना साक्ष्य इस प्रकार है—

"पल्लव" के प्रकाशन के बाद सन् 1926 से 30 तक और उसके बाद

भी मुझे इतने सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभव होने लगे कि मुझे लिखना प्रायः एक प्रकार से स्थगित करना पड़ा और मैं पुनः शान्त, स्थिर मानसिक स्थिति प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगा जो अनुभवात्मक से अधिक सृजनशील हो।..
मुझे सब प्रकार की विचारधाराएँ तथा जीवन-दर्शन, जिनके सम्पर्क में मैं आ सका, अपर्याप्त तथा अपूर्ण प्रतीत हुए और हृदय भीतर-ही-भीतर एक अधिक सर्वांगीण दर्शन अथवा चैतन्य की उपलब्धि की आशा से आनन्दित, जागरूक तथा अन्तःसक्रिय रहने लगा।.......इन्हीं दिनों मेरी मित्रता श्री पी. सी. जोशी स घनिष्ठ होती गयी। मेरे भावाक्रान्त मन को उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से बडी सान्त्वना मिलती। उनके विचारों द्वारा मेरे मन में मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास की रूपरेखाएँ धीरे-धीरे अंकुरित होने लगी।

...मेरा मन उन दिनों ईसा की उदात्त प्रेम-चेतना में निमग्न रहता था जिसे मैंने ईश्वर-प्रेम तथा विश्व-प्रेम के रूप में ग्रहण किया था। मेरा विश्व-प्रेम का क्षितिज जोशी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सम्भावनाओं से तब विस्तृत तथा वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था।......

"........इस प्रकार 25 से 30 वर्ष तक के इस अध्ययन-मनन के युग मे जहाँ एक ओर मेरे मन में भीतर की ओर जाने अथवा प्रवेश करने के लिए एक सोपान अथवा सेतु बन गया, वहीं बाहर की ओर भटकने अथवा विचरने को एक पथ या पगडण्डी भी बन गयी थी जिनके सार्थक समन्वित उपयोग से पीछे मुझे अपने मूल्यांकन सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में सहायता मिली। इसके उपरान्त अपनी अस्वस्थता के कारण विश्राम की आवश्यकता पड़ने पर कुँवर सुरेश सिंह के आग्रह पर मैं सन् 1931 में कालाकाँकर चला गया। कालाकाँकर में मेरी युवावस्था के सर्वश्रेष्ठ वर्ष सन् 1930 से 40 तक वानप्रस्थ स्थिति में ज्ञान-साधना में बीते।........उन दिनों मेरे मन में जो संघर्ष चल रहा था उसका आभास थोड़ा बहुत "गुंजन" तथा "ज्योत्स्ना" के रूप में मिलता है।"[6]

"गुंजन" के उनके एक गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी तत्कालीन मानसिक अवस्था का बहुत स्पष्ट निदर्शन कराती हैं—

"मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्शों का
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन!

जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे;
चाहिये विश्व को नव जीवन
मैं आकुल रे उन्मन-उन्मन!"[7]

इस प्रसंग में उनके "गुंजन" संकलन के ही एक दूसरे प्रसिद्ध गीत की पक्तियाँ भी उद्धरणीय हैं—

"तप रे मधुर - मधुर मन!
विश्व - वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर - विधुर मन!
अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन!"[8]

पन्त जी के पूर्वोद्धृत गद्यात्मक-कथ्य तथा पद्य-पंक्तियों से जीवन-रचना के उनके स्वप्न का निर्माण कैसे और किस प्रकार हुआ, इसकी स्पष्ट झाँकी हमें मिलती ह। आन्तरिक अनुभूतियों के साथ-साथ बाह्य जीवन की परिस्थितियों को लेकर पन्त जी की चेतना में कितनी आकुलता और ऊहापोह थी, इसकी कल्पना उनकी "गुजन"-काल तक की कविताओं को पढ़कर शायद ही कोई सहृदय अथवा आलोचक कर सका होगा। उनका सामाजिक चिन्तन विश्व-प्रेम के व्यापक और उदात्त भाव से प्रेरित था। विश्वव्यापी स्तर पर जीवन के ऊर्ध्व और समतल संचरण दोनों के समन्वित विकास का लक्ष्य पूरा हो सके, इसके लिए किस तरह की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था अपेक्षित है, इसके कोई विस्तृत विवरण पन्त जी के साहित्य में नही मिलते। पन्त जी मूलतः कवि थे। उनका प्रकृत क्षेत्र सामाजिक चिन्तन नही था। इस कारण किसी तर्कसंगत और विशद राजतंत्र के स्वरूप तथा उसके अनुरूप आर्थिक व्यवस्था के सर्वांगीण निरूपण उनकी रचनाओं में नहीं मिलते। राजनीति ओर अर्थनीति से सम्बन्धित कुछ दिशा-संकेत ही उनकी रचनाओं में ढूँढ़े जा सकने हे। अर्थनीति के सम्बन्ध में तो कुछ स्पष्ट और व्यावहारिक संकेत हमें उनकी रचनाओ

म मिल भी जाते हैं, किन्तु राजनीति सम्बन्धी उनकी विचार-दृष्टि हमें प्रायः सूक्ष्म दार्शनिक संकेतों के रूप में ही देखने को मिलती है।

"ज्योत्स्ना" नामक नाट्य-कृति में पन्त जी ने अपने विश्व-जीवन के स्वप्न को अवतरित करने की चेष्टा की है। उस समय उनके मन में जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा लोक-जीवन-सम्बन्धी धारणाएँ थीं तथा जो मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक आदर्श उन्हें आकृष्ट करते थे, उन्हें पन्त जी ने अपने उस नाट्य-रूपक में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। "ज्योत्स्ना" में सन्ध्या नाम की पात्री छाया नाम की दूसरी पात्री से कहती है—

"सुन, आज वसन्त पूर्णिमा है। आज इन्दु अपने शासन की बागडोर बहू ज्योत्स्ना को देने वाला है।......आज के संसार में आदर्श साम्राज्य स्थापित होगा। ज्योत्स्ना के जीवन का ध्येय विलास नहीं, प्रेम है। वह अपने साम्राज्य मे स्नेह, सहानुभूति, सौन्दर्य आदि उन्नत भावनाओं का प्रचार करेगी।........पशुवृत्तियो से मनुष्य को ऊँचे उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनायेगी।........संसार कभी से आदर्श स्थिति के स्वप्न देखता आ रहा है। मनुष्य अपनी उर्वर बुद्धि के अनेक विचारों, हृदय की मनोरम भावनाओं-कल्पनाओं से निर्मित, सब प्रकार से पूर्ण आदर्श परिस्थितियों के लोक में रहना चाहता है। समय-समय पर उसने जीवन की पूर्णता को अनेक रूप दे डाले हैं। ज्ञान-विज्ञान के बल से उसने अनेक मानसिक भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अब वह आदर्श स्थिति का उपभोग करना चाहता है।"[9]

इसी कृति में इन्दु के प्रति कही हुई ज्योत्स्ना की उक्ति भी पन्त जी की जीवन-व्यवस्था सम्बन्धी धारणा को अभिव्यक्त करती है। ज्योत्स्ना कहती है—"मै देख रही हूँ नाथ! मर्त्यलोक से मानवीय भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन ह, एकदम दुर्लभ हो गये हैं; पशु-बल, घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये हैं। 'विश्व का विशाल आँगन राष्ट्रवादों की व्योमचुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखरों पर दिन-रात विनाश के बादल धुआँधार मँडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़कर ससार की सभ्यता ने मनुष्य-जाति के लिए संहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्र की होगी।"[10]

ज्योत्स्ना की बात का समर्थन करता हुआ इन्दु कहता है—"मनुष्य जाति के भाग्य का रथचक्र इस समय जडवाद के गहरे पंक में धँस गया है।.......

शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षितों के बीच बढ़ते हुए भेद-भावों की दुरत खाई मानव-सभ्यता को निगल जाने को मुँह बाये हुए हैं। मनुष्य के आत्मज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादों के मरु में लुप्त हो गया है।''[11]

''ज्योत्स्ना'' से उद्धृत ये उक्तियाँ इस तथ्य को पुष्ट करती हैं कि पन्त जी का सामाजिक चिन्तन उनके सांस्कृतिक चिन्तन की ही छाया है। वे आदर्श साम्राज्य से यह आशा करते हैं कि वह स्नेह, सहानुभूति, सौन्दर्य आदि भावनाओं का प्रचार करे; पशुवृत्तियों से मनुष्य को ऊँचे उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनाये और प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व की स्थापना करे। पन्त जी चाहते थे कि विश्व का विशाल आँगन राष्ट्रवाद की व्योम-चुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त न हो और संकीर्ण राष्ट्रवाद ने अर्थ और शक्ति के लोभ में मानव-अस्तित्व और सभ्यता के उन्मूलन के लिए जो विपुल संहारशक्ति जुटा रखी है, उससे संसार का त्राण हो। वे यह भी चाहते थे कि मानवसभ्यता जड़वाद के पंक से उबरे और शासक-शासित, धनी-निर्धन तथा शिक्षित-अशिक्षितों के बीच की खाई पट जाय और मनुष्य का आत्मज्ञान भौतिक वाद-विवादों में लुप्त न होकर भौतिक व्यवस्था की दिशा को प्रकाशित करे। पन्त जी के विचारानुसार ''विगत युगों में शासक और शासितों में सामंजस्य नहीं रहा क्योंकि वह सत्य और सदाचार का नहीं, शक्ति और स्वत्वाधिकार के शासन का युग था। राजतंत्र, प्रजातंत्र, लोकतंत्र आदि सभी प्रकार के शासन सत्य एवं सदाचार के अभाव से केन्द्र-भ्रष्ट एवं लक्ष्यहीन हो गये थे।''[12]

अपने ''लोकायतन'' महाकाव्य के ''कलाद्वार'' शीर्षक सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में भू-जीवन के नवनिर्माण सम्बन्धी पन्त जी की आकांक्षा इन शब्दों में व्यक्त हुई है—

> ''राजनीतिक आर्थिक अवरोध, किये भू-जीवन को म्रियमाण
> मिटा राष्ट्रों का स्पर्धा द्वेष, धरा-मन का करना निर्माण।[13]
>
> × × × ×
>
> राजनीतिक-आर्थिक उत्थान, न केवल मानवता का ध्येय,
> पूर्ण हो भौतिक बाह्य विधान, चेतनात्मक आन्तरिक विधेय!
>
> × × × ×
>
> विपुल वैज्ञानिक आविष्कार, दार्शनिक सामाजिक सिद्धान्त,
> समन्वय के सांस्कृतिक प्रयत्न मिटा सकते न जगत का ध्वान्त!

डोलता चेतन में भूकम्प उमड़ता अवचेतन में ज्वार
प्रथम बदले भीतरी मनुष्य, बाहरी बदले तब संसार।··
×　　×　　×　　×
राजनीतिक स्वार्थों से मुक्त घृणित आर्थिक स्पर्धाएँ त्याग
जाति वर्णों के बन्धन खोल, निकट आयें खण्डित भू-भाग।[15]
×　　×　　×　　×
राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष, मिटें भू से विध्वंसक युद्ध,
सांस्कृतिक मुक्ति जगत् की आज किये बौने (अभि) नेता रुद्ध,
बहिर्मुख अन्धप्रगति न उपाय अपेक्षित जग हो अन्तःशुद्ध।[16]

शासन कैसा होना चाहिये, इसका संकेत पन्त जी ने "ज्योत्स्ना" ही के एक अन्य पात्र मि. नीलरतन की उक्ति के माध्यम से इस प्रकार किया है—"राजतंत्र हो अथवा प्रजातंत्र, मानव-सत्य के नियमों से परिचालित होने पर ही ये मनुष्य-जाति की सुख-समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमों का आविष्कार नहीं करना है, उसे केवल सत्य की जिस शासन-प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर उसे पहचान भर लेना है। गत युग अपने को बाह्य सामंजस्य देने की चेष्टा करता रहा जबकि उसे आन्तरिक सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी।"[17]

सत्य की जिस शासन-प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर उसे पहचान लेने की बात पन्त जी ने कही है, किन्तु उस सत्य की शासन-प्रणाली का स्पष्ट और विस्तृत परिचय उन्होंने अपनी ओर से कहीं नही दिया है। जैसा पहले भी संकेतित किया जा चुका है, पन्त जी धरती पर जिस प्रकार की जीवन-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, उसकी सम्भावना उन्हे किसी प्रचलित जीवन-दर्शन में पूर्णतया नहीं दिखाई दी। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व से पन्त जी बहुत गहराई से प्रभावित हुए थे और उनकी प्रशस्ति मे उन्होंने अनेक रचनाएँ लिखी हैं। मानव-जीवन को एक स्वस्थ दिशा देने की दृष्टि से उन्होंने गांधी-दर्शन की उपयोगिता और उसकी भूमिका को भी स्वीकृति प्रदान की है, किन्तु जीवन-व्यवस्था संबंधी उनकी आकांक्षा की सम्पूर्ण तृप्ति उन्हें गांधी जी के दर्शन में भी नहीं मिल पायी। वे लिखते हैं—"गांधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की सम्भावनाएँ थीं। स्वामी विवेकानन्द के ओजस्वी विचारों में जो एक उन्नत आध्यात्मिक जीवन तथा

व्यक्तित्व की कल्पना मिलती है, उसकी पूर्ति गांधी-दर्शन तथा उनका व्यक्तित्व करता था, किन्तु युग की पलकों में जो एक विश्व-लोक-संस्कृति (रवीन्द्र नाथ के अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति नहीं) तथा भू-मानवता का स्वप्न उद्भासित हो रहा था; दर्शन की ऊर्ध्व रीढ़ के साथ, नैतिक सदाचार से ऊपर, जो एक सहज रस तथा सौन्दर्य की परिष्कृत मांसलता के स्पर्श की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसकी सम्भावना जागरण तथा सुधारवादी आन्दोलन होने के कारण तब मुझे मात्र गांधीवाद के ही सहारे सम्पन्न होती नहीं दीखती थी। गांधीवाद का आधार मुख्यतः दार्शनिक अथच आध्यात्मिक आदर्शवाद रहा है; उसमें वैज्ञानिक यथार्थवाद का परिपाक नहीं ही मिलता है। अपने इस ऊहापोह में मुझे तात्त्विक चिन्तन से लेकर भौतिक दर्शन तथा जैव–मनोविज्ञान तक एक अन्योन्याश्रित सगति तथा एकता का आभास तो मिलता था, जैसा कि मेरी 'युगवाणी''–''ग्राम्या'' की रचनाओं से भी प्रकट होता है, पर उस एकता तथा सामंजस्य का व्यापक स्पष्ट चित्र तब मेरी कल्पना में नहीं उतर पाया था। उदयशंकर-संस्कृति–केन्द्र के कलात्मक वातावरण में श्री अरविन्द की ''द लाइफ डिवाइन'' का प्रथम भाग पढ़ने पर अपनी अनेक शंकाओं का उत्तर मुझे स्वतः ही मिलने लगा और विश्व तथा मन के आन्तरिक विधान सम्बन्धी मेरा ज्ञान स्पष्ट होने लगा।.........अपने अनेक विश्वासों का मुझे श्री अरविन्द-दर्शन में समर्थन मिलने से मेरे मन में मानव-जीवन के भविष्य के सम्बन्ध में एक नयी आशा तथा प्रेरणा का संचार होने लगा।.......गांधी जी के संसर्ग में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्मविश्वास मिला है और श्री अरविन्द के संपर्क से मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका, ऐसा मेरा अनुभव है।''[18] इसी प्रसग में पन्त जी ने आगे भी लिखा है–''मैंने अपने युग की सभी प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं से अपने प्रयोजन के तत्त्वों को ग्रहण करने एवं आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। जीवन-यथार्थ की प्रथम प्रेरणा मुझे गांधीवाद से मिली किन्तु उसकी सामूहिक वैश्व परिणति के लिए इस विज्ञान के यन्त्र-युग में जिस आर्थिक पीठिका की आवश्यकता थी, वह मुझे इसमें नहीं मिल सकने के कारण मेरे मन ने समाजवादी अर्थव्यवस्था के जीवन-यथार्थ को अधिक पूर्ण तथा वैज्ञानिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया। ''ग्राम्या'' में मैंने ''महात्मा जी के प्रति'' रचना में अपनी इसी दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है।''[19]

पन्त जी के मानस में भू-मानवता का जो स्वप्न उद्भासित हो रहा था,

उसम दशन की ऊर्ध्व रीढ़ क साथ एक सहज रस तथा सौन्दर्य की परिष्कृत मासलता के स्पर्श की आवश्यकता उन्हें प्रतीत हो रही थी। सहज रस तथा सान्दर्य की परिष्कृत मांसलता को पन्त जी ने मात्र नैतिक सदाचार से ऊपर की वस्तु के रूप में देखा है। उस स्वप्न के साकार होने की सम्भावना उन्हें मात्र गाधीवाद के ही सहारे नहीं दीखती थी क्योंकि गांधीवाद जागरण तथा सुधारवाद का आन्दोलन था, उसमें वैज्ञानिक यथार्थवाद का परिपाक नहीं था। श्री अरविन्द की "द लाइफ डिवाइन" के प्रथम भाग के पढ़ने पर विश्व तथा मन के आन्तरिक विधान सम्बन्धी उनका ज्ञान स्पष्ट होने लगा था और उससे प्रेरित साहित्य की सर्जना भी उन्होंने प्रभूत मात्रा में की।

'सहज रस तथा सौन्दर्य की परिष्कृत मांसलता' के स्पर्श वाले भू-जीवन के स्वप्न को साकार करने के लिए साहित्य-रचना के साथ-साथ उन्होंने एक व्यावहारिक प्रयास करने की योजना भी बनाई। उन्होंने स्वयं लिखा है—"सन् 1942 में "भारत छोड़ो" आन्दोलन के फलस्वरूप विदेशी सरकार के दमन ने छोटे-बड़े कस्बों तथा शहर में जो वीभत्स रूप ग्रहण किया, उससे मेरा चित्त अत्यंत क्षुब्ध तथा अशान्त हो उठा। राजनीतिक संघर्ष के साथ ही मनुष्य की मानस-रचना के लिए, या उसके भीतर के सोये हुए मनुष्य को जगाने के लिए, आज के युग में एक समान्तर सांस्कृतिक आन्दोलन की भी उतनी ही आवश्यकता है, ये विचार फिर-फिर मेरे मन में उठने लगे। अपनी इस प्रेरणा के वशीभूत होकर मैंने सन् 1942 में "लोकायतन" नाम से एक व्यापक संस्कृतिपीठ की योजना बनाई, जिसमें रंगमंच को सांस्कृतिक प्रेरणा का माध्यम बनाने का विचार प्रस्तुत किया गया था, किन्तु उस नैराश्य तथा औदास्य के वातावरण में उसे मूर्त रूप देने में अपने को असमर्थ पाकर मैं फिर अल्मोड़ा उदयशंकर-संस्कृति-केन्द्र मे चला गया।"[20]

स्वस्थ मानस-संस्कार की किसी सक्रिय व्यवस्था से विरहित राजनीतिक चिन्तन और प्रयास पन्त जी को अपर्याप्त मालूम पड़ते थे और इसीलिए समाज के राजनीतिक-आर्थिक संचरणों को वे एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना से अन्वित करना चाहते थे। हम देखते हैं कि राजनीति और अर्थनीति सम्बन्धी उनकी सभी उक्तियाँ बार-बार इसी बात को दोहराती हैं कि मानवता के उदात्त मानस-संस्कारो से जोड़े बिना राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन न केवल मानव-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहते हैं बल्कि भीतरी-बाहरी विक्षोभ, सघर्ष ओर युद्ध की संभावनाएँ उत्पन्न करते हैं। उच्च मानस-संस्कार के अभाव वाली

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ तथा घटनाएँ पन्त जी के मन को गहरा आघात पहुँचाती थीं और उन्हें देख-देखकर वे बहुत व्याकुल रहा करते थे। उनकी इस मानसिक स्थिति का निदर्शन कराते हुए सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"सन् 1942 तथा सन् 1962 में चीन तथा सन् 1965 में पाकिस्तान के आक्रमण ने उनकी रातें चिन्ताग्रस्त कर दी थीं। रात-रात भर वह निश्चिन्ततापूर्वक नहीं सो पाये।" वह कहते थे—"लेटता हूँ तो इस शान्तिकामी देश की पीठ पर छुरा भोंके जाने की बात याद आ जाती है।" सवेरे उठने पर कहते—"न जाने इस निरुपाय, निहत्थे, खोखले आदर्शवादी देश का क्या होगा।"......देश की राजनीति और शासन-पद्धति एवं जनता की दशा पन्त जी को पर्याप्त विचलित कर देती है।........"ऐसे में कौन सुखी रह सकता है?" पन्त का अन्तर्जगत् सदैव देश-कल्याण, राष्ट्रीय जागरण, संस्कृति और सभ्यता एवं मानवता के मांगल्य के लिए जागरूक रहता है। उनका जीवन दो विश्व-युद्धों तथा भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का भाव-व्यथित दर्शक रहा है। उन युद्धों ने तथा वर्तमान विश्व-स्थिति ने ज्ञात-अज्ञात रूप से उनके विचारों, आदर्शों तथा मान्यताओं को प्रभावित किया है। गांधी जी के व्यक्तित्व तथा उनकी अहिंसात्मक विजय ने भारत की स्वातंत्र्य-क्रान्ति, जो विश्व-इतिहास में अद्वितीय उदाहरण रही है; तथा दो विश्व-युद्धों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की प्रगति के साथ नये विश्व-ध्वंसक युद्ध की तैयारी ने पन्त के मनुष्य-प्रेमी तथा लोक-मंगलकामी सात्त्विक सरल हृदय को गहनतापूर्वक प्रभावित कर आशा-निराशा के आवेगों से मन्थित किया है।.......पन्त जी अपने देश की गतिविधियों के प्रति सदैव जाग्रत् रहे हैं। नवम्बर, 1966 में गोहत्या-विरोध-आन्दोलन ने उन्हें बड़ा उद्वेलित किया। पन्त जी ने किसी भी प्राणी की अकारण हत्या को अस्वीकार किया है, चाहे वह गाय हो या मनुष्य। प्राणी तो सभी समान हैं।"[21]

अपने युग-जीवन के विक्षोभ और अशान्ति के कारणों का उल्लेख करते हुए अपने एक लेख में पन्त जी लिखते हैं—"राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र में आज जो प्रणालियाँ विश्व के विभिन्न देशों में कार्य कर रही हैं, उनमें भी अविराम रूप से परस्पर संघर्ष चल रहा है। अविकसित तथा अर्द्धविकसित देशों में तो वैषम्य तथा विरोध वर्तमान है ही, जो सम्पन्न तथा सशक्त देश हैं उनके भीतर भी अनेक प्रकार की विषम स्थितियों तथा साम्राज्यवादी प्रसारकामी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण जनसाधारण में असन्तोष तथा मतभेद के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। विज्ञान ने मनुष्य को आज जो अनेक प्रकार के उत्पादन के साधन दिये हैं, उनसे

मनुष्य की क्षमता पिछले युगों से कहीं अधिक बढ़ गयी है और बहुत हद तक मनुष्य उस क्षमता का आज विश्व-जीवन तथा जनमंगल के उन्नयन के लिए विवेकपूर्ण एवं समुचित उपयोग नहीं कर पा रहा है। वह दूसरे छोटे-मोटे राज्यो पर अपनी महत्ता तथा आर्थिक-सैनिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वहाँ की शान्तिप्रिय जनता पर दुर्धर्ष अस्त्र-शस्त्रों के बल पर आक्रमण कर रहा है। वैसे भी विश्व के बड़े राष्ट्रों में आपस में आज दुर्निवार व्यावसायिक होड़ चल रही है, जिससे भी उनका आपस का वैमनस्य बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त भी आज इतिहास ने मनुष्य के कंधों पर युग-युग से पीड़ित, शोषित, निरक्षर तथा दरिद्र जन-नारायण के जीवन को मानवीय सुख-सुविधाओं के धरातल पर उठाने का महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंप दिया है और सभी प्रकार के सम्पन्न-विपन्न देशों की राजनीतिक-आर्थिक जीवन-प्रणाली में अबाधगति से परिवर्तन तथा विकास सम्बन्धी आन्दोलन जन्म ले रहे हैं।"[22]

उन्होंने अन्यत्र लिखा है—"विश्व-जीवन के असंतोष का कारण यदि किसी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में सन्निहित होता तो साम्यवाद के द्वारा वह कभी का तिरोहित हो जाता। किन्तु विश्व में साम्यवाद की स्थापना के बाद भी अशान्ति तथा असन्तोष मानव-जीवन को परिक्लान्त बनाये हुए हैं। वस्तुतः यह सकट मानवता के मौलिक प्रतिमानों का संकट है, मौलिक मूल्यों का संकट है। जब तक मनुष्य भीतर से नहीं सुधरता, राजनीतिक और आर्थिक पद्धतियाँ उसकी अशान्ति को दूर न कर सकेंगी और जब वह अन्दर से सुधर जायेगा, वह प्रत्येक राजनीतिक एवं आर्थिक पद्धति को अपने अनुकूल बना लेगा। गड़बडी ऊपर नहीं है, वह कहीं भीतर है, वह जीवन के मौलिक प्रतिमानों में है।"[23]

पन्त जी की विचारणा थी कि राजनीतिक प्रयोग के परिणाम क्षणजीवी होते हैं। इससे अधिक श्रेष्ठ तथा टिकाऊ वह प्रयोग हैं जो मनुष्य को भीतर से जगाने के लिए किया जाता है। इसीलिए राजनीति एवं अर्थनीति की अपेक्षा वह संस्कृति को अधिक आवश्यक समझते थे। उन्होंने आशा व्यक्त की है कि यदि मनुष्य अन्दर से ही जाग्रत् हो जाये तो किसी बाह्य क्रान्ति की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सारी समस्याएँ स्वतः ही सुलझ जायेंगी। "युगवाणी" की अपनी एक कविता में वे कहते हैं—

"क्रान्ति पालतू पशु—सी होगी शान्त,
तर्क बुद्धि के वाद लगेंगे भ्रान्त।
राजनीति औ' अर्थ शास्त्र होंगे संघर्ष-परास्त।

धर्म, नीति, आचार--रुँधेगी सबकी क्षीण पुकार।
जीवन के स्वर में हो प्रकट महान्
फूटेगा जीवन-रहस्य का गान,
क्षुधा, तृषा औ' स्पृहा काम से ऊपर
जाति, वर्ग औ' देश, राष्ट्र से उठकर
जीवित स्वर में व्यापक जीवन गान
सद्य करेगा मानव का कल्याण।"[24]

अपनी उपर्युक्त पंक्तियों में पन्त जी यह संकेत कर रहे हैं कि व्यापक जीवन-गान में जन-जीवन के महान् स्वर फूटेंगे तब क्षुधा, तृषा और काम की स्पृहाएँ तथा जाति, वर्ग, देश और राष्ट्र की संकुचित धारणाएँ उस गान का अंग बनकर व्यापक बन जायेंगी। समन्वय की दृष्टि से रहित राजनीतिज्ञों, अर्थविज्ञों तथा दर्शनज्ञों को संबोधित करते हुए पन्त जी ने अन्यत्र भी लिखा है--

"हे राजनीतिविद्, अर्थविज्ञ!
रच शत-शत वाद, विवाद, तंत्र
परतंत्र किया तुमने मानव,
तुम बना सके न उसे स्वतंत्र!
हे दर्शनज्ञ, शत तर्कों से
सच्छास्त्रों से पा गहन ज्ञान,
तुम भी न दे सके मानव को
उसकी मानवता का प्रमाण।"[25]

पन्त जी की ये पंक्तियाँ उनके इस विश्वास की स्पष्ट घोषणा करती हैं कि जीवन के समग्र एकत्व की चेतना से रहित राजनीति, अर्थनीति और दर्शनशास्त्र मानव को स्वतंत्र बनाने के स्थान पर अनेक प्रकार के वादों और तन्त्रों की कारा में उसे जकड़ देते हैं और मनुष्य को उसकी सम्पूर्ण मानवता का ज्ञान नहीं दे पाते। जीवन के समग्र और तात्त्विक एकत्व का बोध ही मनुष्य को पूर्ण बना सकता है। मनुष्य को जब वह पूर्णता प्राप्त हो जायेगी तब हमारे समतल जीवन की अनेक समस्याएँ अपने आप समाधान पा जायेंगी। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया है कि--

"व्यक्ति पूर्ण बन, जग-जीवन में भर सकता है नूतन प्राण
विकसित मनुष्यत्व कर सकता, पशुता से जन का कल्याण।"[26]

पन्त जी के विचार से आज के युग-जीवन की समस्यायें मूलतः राजनीतिक

आर आर्थिक नहीं हैं। ''ग्राम्या'' की अपनी एक रचना में वह स्पष्ट रूप स कहते हैं—

> ''राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख,
> अर्थसाम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुःख।
> आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
> खण्ड मनुजता को युग-युग की, होना है नव निर्मित।''[27]

पन्त जी का राजनीतिक, आर्थिक चिन्तन बार-बार उनकी इस सुविचारित धारणा को दोहराता दिखाई देता है कि मानव-जीवन की समस्याओं का कारण बाह्य तथा आभ्यंतर मानव-संचरणों का असमन्वित रहना है। इसके कारण ही हमारे युग की अधिकांश समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और उनके समन्वय से ही उनका समाधान हो सकता है। उन्होंने लिखा है—''लोक-कल्याण के लिए बाह्य (सम्प्रति राजनीतिक-आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक-आध्यात्मिक) दोनो ही गतियों का संगठन आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों में सन्तुलन होना चाहिये। जहाँ एक ओर असंख्य नंगे-भूखों का उद्धार करना ज़रूरी है वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीति-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त होकर मामनव-चेतना को युग-उपकरणों के अनुरूप विकसित लोक-जीवन-निर्माण करने मे संलग्न होना है।''[28]

बाह्य तथा आभ्यंतर संचरणों के समन्वित स्वरूप का अभाव ही पन्त जी को गांधीबाद तथा मार्क्सवाद में दिखाई देता है और उनमें से किसी को भी वे पूर्णतः स्वीकार नहीं कर पाते। वह गांधी जी की अहिंसा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना एवं साधन और साध्य की एकता आदि बातों को तो मानते थे किन्तु गाधीवाद से यन्त्रों का जो विरोध ध्वनित होता है; उससे नर-नारी पर कठोर नैतिकता के निर्वाह का जो कठिन दायित्व आता है एवं उसके साथ यतीवाद की जो अनेक व्याप्तियाँ लिपटी हुई हैं, वह पन्त जी को स्वीकार्य नहीं थीं। इसी प्रकार मार्क्स का भी वह केवल सांस्कृतिक पक्ष ही स्वीकार करते थे। विज्ञान की सहायता से मनुष्य-जाति को जो सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हो रही हैं, उनके वे समर्थक थे तथा मनुष्य के नैतिक उत्थान के साथ-साथ वह उसकी भौतिक समृद्धि का भी विकास चाहते थे। पन्त जी कहते हैं—''गांधीवाद तथा मार्क्सवाद का मुख्य भेद साधन का भेद है। लक्ष्य दोनों का विभिन्न शब्दों में व्यापक लोकहित है। गांधीवाद युग के अधिक निकट होने के कारण युगीन पृष्ठभूमि की दृष्टि से अधिक आधुनिक है। मार्क्सवाद साधन के सम्बन्ध में निश्चय ही पिछड़ा हुआ है।''[29]

पन्त जी ने मार्क्सवादी दर्शन के सामाजिक पक्ष को ही अपने विचारों का क्षेत्र बनाया है। रक्त-क्रान्ति के स्थान पर उन्होंने ऐसी क्रान्ति का समर्थन किया है जो भौतिक साधनों द्वारा मानव की आध्यात्मिक चेतना को विकसित कर सके। उनके विचार से रक्त-क्रान्ति समाज के सांस्कृतिक विकास के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। उनका कहना है—"बहिर्मुखी समतल संचरण मार्क्सवाद का क्षेत्र है। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रान्ति तथा वर्ग-युद्ध के पक्ष को मैं मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ।"[30]

"साठ वर्ष और अन्य निबंध" में संकलित अपनी "जीवन-कथा" में वे कहते हैं—"मानव-कल्याण अथवा लोकमंगल का जो व्यापक आधार मुझे इस युग की जन-साम्य तथा लोकसंगठन की भावना तथा अर्थशास्त्र सम्बन्धी कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि में देखने को मिला, उसका शिखर मुझे भारतीय अध्यात्म के उन मानवतावादी प्रेम, जीवन-सौन्दर्य तथा आनन्द आदि के सांस्कृतिक मूल्यों में मिला जिनके बिना मेरी मन की आँखों के सम्मुख विश्व-जीवन तथा लोक-मानवता का परिपूर्ण चित्र ही उतर नहीं पाता था। इसी से सन् 1940 के बाद मेरी रचनाओं में लोक-मानव के राजनीतिक-आर्थिक उन्नयन के साथ ही उसके सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास के प्रति भी आग्रह मिलता है। "स्वर्ण-किरण" की "इन्द्रधनुष" आदि कविताएँ मेरी इन्हीं मान्यताओं पर आधारित भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। "लोकायतन" की कल्पना भी मानव-सत्य के प्रति इसी समग्र (इंटीग्रल) दृष्टि से प्रेरित है। उसमें मैंने व्यापक सांस्कृतिक जीवन, लोक-ऐक्य तथा विश्वशान्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है और एक सन्तुलित लोक-समता पर आधारित राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न जीवन-व्यवस्था के ढाँचे में मानव-आत्मा के आनन्द, सौन्दर्य के साथ ही इस धरती के जीवन के प्रति प्रेम तथा हृदय की पवित्रता को प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया है।"[31]

इस सम्बन्ध में "लोकायतन" की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—

"भेद नहीं कुछ मानव मानव में
एक मांस रज, एक हृदय स्पन्दन,
त्रिविध प्रकृति गुण एक ऊष्ण शोणित,
मनुजों में नित मनुज एक चिद् घन।
ऐसी अन्तःशासनसत्ता का

स्वप्न देखता युग कवि आशान्वित
स्वतः आत्मशासित हों जिसमें जन
रचना—शोभा—मंगल प्रति अर्पित।

× × ×

शिव नित शिवतर में होता विकसित,
श्री सुन्दरता बनती सुन्दरतम,
सत्य महत्तर बन कृतार्थ होता
निखिल सृष्टि में स्वर्णिम संगति क्रम।[32]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी का सारा राजनीतिक-आर्थिक चिन्तन एक सांस्कृतिक लक्ष्य की ओर उन्मुख है। संसार में प्रचलित भौतिकतावादी राजनीति और अर्थनीति के कुछ स्वस्थ आयामों को अपना समर्थन देते हुए भी वे अपने युग के किसी राजनीतिक वाद को सम्पूर्णतः स्वीकार नहीं कर पाते। "उत्तरा" की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—

"अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्वमानवता अथवा लोक-मानवता का युग मानता हूँ, और वर्गयुद्ध को इस युग के विराट् संघर्ष का एक राजनीतिक चरण मात्र। राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है। एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज़ कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ। ये परस्पर संघर्ष-निरत तथा शक्ति-लोलुप होने पर भी इस युग के अभावों को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करते हैं, अपनी सीमाओं के भीतर इनका उपचार भी खोजते हैं और बहिरन्तर के दैन्य से पीड़ित, पिछले युगों की अस्थि-कंकाल-रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रखकर सुख-भोग-कामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं।"[33]

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए इसी क्रम में वे कहते है—"राजनीति और अर्थनीति मनुष्य के बहिर्जीवन के सेवक हैं—आवश्यकता यह है कि बहिर्जीवन के साथ मनुष्य के अन्तर्जीवन का भी संगठन किया जाय और इस अन्तः-संगठन की बाधाएँ मुख्यतः मानसिक हैं और जो मनुष्य में मध्यकालीन मृत आदर्शों के लिए मोह उत्पन्न करती हैं, जो अन्धविश्वासों का समर्थन करती हैं एवं रूढ़ियों और जीर्ण-शीर्ण नैतिकता को बल पहुँचाती हैं।"[34]

पन्त जी की दृष्टि में अकेला अर्थसाम्य जीवन की विषमताओं को नहीं

मिटा सकता—हमें आन्तरिक उपचार एवं विगत युगों के क्षुद्र अहम् का परिष्कार करना होगा। राजनीतिक-आर्थिक संगठन, सामाजिक योजनाएँ, यन्त्रों का प्रयोग आदि मानवता की रक्षा और उन्नति करने में तभी सहायक होंगे जब मनुष्य भीतर से भी विस्तृत तथा विकसित होगा और यन्त्रों को बृहत् संस्कृति के लिए नियोजित किया जायेगा। मनुष्य को पूर्णतर मनुष्य में, खण्ड-मानवता का विश्व-मानवता में, घृणा को प्रेम में तथा सामाजिक शैथिल्य और निष्क्रियता का सामूहिक सक्रिय जीवन में बदलना होगा।

जैसा इस अध्याय के आरम्भ में संकेत किया गया है, पन्त जी के राजनीतिक-आर्थिक विचारों में हमें आर्थिक दृष्टि सम्बन्धी कुछ ठोस तथा व्यावहारिक मन्तव्य उनकी रचनाओं में मिलते हैं। वर्तमान जीवन में जो विक्षोभ और द्वन्द्व की स्थिति दिखायी देती है, उसका कारण मुद्रागत कृत्रिम अर्थशास्त्र है, जिसने मानव-समाज को उत्पादक और उपभोक्ता में वर्ग-विभक्त कर दिया है। किसी भी युग में, चाहे वह साम्यवादी युग ही क्यों न हो, जब तक मुद्रा का माध्यम बना रहेगा, तब तक कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। अधिकार-लालसा और द्वन्द्व का अन्त उत्पादक श्रम में प्रत्येक व्यक्ति के लग जाने से होगा, अन्यथा ऐतिहासिक विडम्बनाओं (सामंतवाद, पूँजीवाद, यन्त्रवाद, प्रगतिवाद) की पुनरावृत्ति होती रहेगी। मनुष्य-मनुष्य के बीच में अविश्वाससूचक निर्जीव माध्यम (मुद्रा) रखकर उससे किसी सजीव (सांस्कृतिक अथवा आन्तरिक) निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। पन्त जी की चेतना में सम्पूर्ण विश्व और मानवता के सजीव सांस्कृतिक संयोजन और आन्तरिक एकत्व की आवश्यकता का तीव्र बोध निरन्तर जाग्रत् रहता था। इस कारण वे ऐसा मानते थे कि जब तक मनुष्य मात्र में आन्तरिक ऐक्य और सौहार्द की स्थापना नहीं हो जाती तब तक आर्थिक दृष्टि से आज के युग में व्याप्त वर्ग-वैषम्य के मिट जाने पर भी मानवता को अपने कल्याण का मार्ग नहीं मिल पायेगा। "ग्राम्या" की उनकी ये काव्य-पंक्तियाँ उनकी इस मान्यता का संकेत करती हैं—

"विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य-युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।
जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों में स्वयं प्रवर्तित,
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।

× × × ×

नव प्रकाश में तमस् युगों का होगा स्वयं निमज्जित,

प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी शनैः पराजित।"[35]

फिर भी पन्त जी की रचनाओं में यह स्वर बार-बार गूँजता है कि जीवन-विकास का एक बहुत बड़ा बाधक तत्त्व धनिक और श्रमिक के बीच की खाई है। उन्होंने लिखा है--

"यह सच है जिस अर्थ-भित्ति पर विश्व-सभ्यता
आज खड़ी है, बाधक है वह जन विकास की,
उसमें दीर्घ अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन
भू-मंगल हित! धनिक श्रमिक के बीच भयंकर
जो शोणित पंकिल खाई है वर्ग-भेद की,
उसे पाटना है इस युग को आत्म त्याग से
सहिष्णुता, शिक्षा समत्व से, और नहीं तो,
सत्याग्रह से, शत-शत निर्भय बलिदानों से।
जिससे भू का रक्त-क्षीण शोणित विपण्ण मुख
फिर प्रसन्न, जीवन मांसल हो, युग शोभन हो।"[36]

पन्त जी धनिक और श्रमिक के बीच की खाई को पाटना तो चाहते हैं किन्तु इसके लिए वे जिन साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं, वे साधन मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष से भिन्न हैं। रक्त-क्रान्ति अथवा हिंसक वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वे आत्म-त्याग, सहिष्णुता, शिक्षा, सत्याग्रह जैसे साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं।

पन्त जी के व्यावहारिक आर्थिक चिन्तन का एक बिन्दु यह भी है कि वे स्वस्थ मानवीय विकास के लिए शरीर-श्रम को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते थे जितना मानसिक श्रम को। इस विचार की प्रेरणा सम्भवतः उन्हें गांधी जी के चिन्तन से मिली है। शरीर का श्रम करने वालों को समाज में जो नीची दृष्टि से देखा जाता है, उसे पन्त जी अत्यन्त अनुचित मानते हैं। समाज के जीवन में श्रमिक का महत्त्व बतलाते हुए वे लिखते हैं--

"वह पवित्र है : वह जग के कर्दम से पोषित,
वह निर्माता : श्रेणि, वर्ग, धन-बल से शोषित।
मूढ़, अशिक्षित, सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व उपेक्षित, शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित।
दैन्य कष्ट कुण्ठित, सुन्दर है उसका आनन
गन्दे गात वसन हों, पावन श्रम का जीवन।"[37]

श्रमिकों के महत्त्व और महिमा की द्योतक उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना जब हम धनिक वर्ग के सम्बन्ध में लिखी उनकी निम्नोद्धृत पंक्तियों से करते है तो उससे केवल धनिक वर्ग की तुलना में श्रमिक वर्ग के सामाजिक योगदान के महत्त्व की अधिकता ही प्रखर नहीं होती, धनिक वर्ग के सम्बन्ध में उनका यह विचार भी उजागर होता है कि धन की अधिकता मानव के स्वस्थ और नैतिक व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाती हैं–

"वे नृशंस हैं : वे जन के श्रम-बल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित।
शय्या की क्रीड़ा–कन्दुक है जिनको नारी,
अहंमन्य वे, मूढ़, अर्थबल के व्यभिचारी।
सुरांगना, सम्पदा, सुराओं से संसेवित।
नर पशु वे; भू भार; मनुजता जिनसे लज्जित।"[38]

पन्त जी की उपर्युक्त पंक्तियों में भी गांधी जी के विचारों की झलक हमे दिखाई देती है जो यह मानते थे कि नैतिक साधनों से बहुत अधिक धन अर्जित नही किया जा सकता। जहाँ कहीं भी समृद्धि का अतिरेक दिखाई देता है वहाँ हमे यही सोचना चाहिये कि उसके अर्जन में किसी-न-किसी प्रकार का अनुचित साधन अवश्य प्रयुक्त हुआ है। अतिरिक्त धन का एक दोष यह भी है कि वह मनुष्य को अहंकार, अत्याचार और व्यभिचार की प्रेरणा देता है। जहाँ अतिरिक्त सम्पन्नता अवांछनीय है वहीं आर्थिक विपन्नता भी समाज की दुर्बलता है। वे लिखते हैं–

"दरिद्रता पापों की जननी, मिटें जनों के पाप, ताप, भय,
सुन्दर हों अधिवास, वसन, तन, पशु पर फिर मानव की हो जय!
व्यक्ति नहीं, जग की परिपाटी दोषी जन के दुःख-क्लेश की,
जन का श्रम जन में बँट जाये, प्रजा सुखी हो देश-देश की

× × × ×

यह क्या संभव नहीं व्यवस्था में जग की कुछ हो परिवर्तन?
कर्म और गुण के समान ही सकल आय-व्यय का हो वितरण!

× × × ×

मिलकर जन निर्माण करें, जग मिलकर भोग करें जीवन का

जन विमुक्त हों जन-शोषण से हो समाज अधिकारी धन का।"[39]

उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में ऐसी आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता बताई गयी है जिसमें आय और व्यय का वितरण मनुष्यों के कर्म और गुण के अनुपात में हो। "हो समाज अधिकारी धन का"—पन्त जी के इन शब्दों से मार्क्सवाद के उस सिद्धान्त का समर्थन होता है जिसमें पूँजी को व्यक्तिगत स्वत्व की वस्तु न मानकर समाज की वस्तु मानने का विधान है। "मिलकर जन-निर्माण करें जग, मिलकर भोग करें जीवन का" कहकर सम्भवतः पन्त जी ने सहकारिता के आर्थिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। इन पंक्तियों में एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह भी है कि मनुष्यों के दुःख-क्लेश का कारण स्वयं मनुष्य नहीं होते, बल्कि जग की परिपाटी ही उनके दुःख-क्लेश का कारण होती है। यहाँ पन्त जी उस परम्परागत मान्यता का विरोध करते दिखायी देते हैं जिसके अनुसार मनुष्य के दुःख-क्लेश का कारण उसके इस जीवन अथवा विगत जीवन के कर्मों का विपाक होता है।

जीवनोपाय के समुचित वितरण, रचनाशक्ति की मुक्ति और आर्थिक-समत्व की स्थापना की आकांक्षा पन्त जी की इन पंक्तियों से भी अभिव्यक्त होती है—

"अगर मुक्त हो सकती रचना-शक्ति जनों की,
समुचित वितरण हो पाता जीवनोपाय का,
सामाजिक सन्तुलन ग्रहण कर लेता भू-श्रम
बँट जाता यन्त्रों का बल आर्थिक-समत्व में,
स्वार्थ, लोभ, अन्याय, द्वेष, स्पर्धा उठ जाते
भू-व्यापी जन रक्तपात टल जाता युग का,
मानव के संयुक्त कर्म से स्वर्णिम चेतन
युग-प्रभात हँस उठता भू-तम को निरस्त कर।"[40]

जैसा पहले संकेत किया जा चुका है गांधी जी के आर्थिक चिन्तन में यन्त्रों का तथा बड़े उद्योगों का जो विरोध पाया जाता है, पन्त जी उससे सहमत नहीं थे। पर वे, गांधी जी के अनुरूप, कुटीर-उद्योगों तथा सरल और सुलभ साधनों की सहायता से सम्पन्न होने वाली हाथ की कारीगरी को स्वस्थ जीवन-विकास के लिए उपादेय मानते थे। कुटीर-उद्योगों के विकास से जहाँ एक ओर बेकारी की समस्या का समाधान हो सकता है, वहीं दूसरी ओर स्वामी और सेवक का विभेद भी बहुत सीमा तक मिट जाता है। वे लिखते हैं—

"सरल संयमित जिनका जीवन श्रम पर निर्भर।
गृह धन्धों, उद्योगों से तकुओं, चरखों से
बुनते संस्कृत आत्मतुष्ट जन जीवन-पट जो,
लोक-जागरण के इनके सात्त्विक प्रयत्न ये
रजत किरीट बनेंगे निश्चय मानवता के,
रक्त-मुक्त चिर शान्ति क्रान्ति के अग्रदूत बन।"[41]

"लोकायतन" नामक अपने बृहत् काव्य में भी पन्त जी ने अनेक स्थलों पर तकली, चरखे तथा श्रम को अत्यन्त महत्त्व दिया है—

"तकली-चरखे लेकर स्त्रीजन सूत कातती गा ऋतु वर्णन
नव-जीवन-पट बुनतीं, धुनतीं नये विचारों से पिछड़ा मन

× × ×

यन्त्र-जर्जरित जग में जन को अपनाना कर—पद का उद्यम
विभव भोग से, लोक—स्वास्थ्य हित श्रेयस्कर वैभव पर संयम।
पर—श्रम का उपभोग करे नर इससे सुखकर स्वयं करे श्रम,
जीवन विमुख रहे मन, मति—भ्रम, इन्द्रिय सुख रत रहे—नरक तम।

× × ×

मूल्य समय का समझें भू-जन, जगे अलस का जड़ खँडहर तन।
जीवन-रुचि का परिष्कार हो, शोभा का घर हो भू-आँगन,[42]

अन्यत्र उन्होंने लिखा है—

"यान्त्रिक उद्योग अपेक्षित भारत को, किन्तु समान्तर
गृह-धंधों की उन्नति से श्रम-रत रहते नारी-नर।
इस कृषि—ऊर्जित भू का हो औद्योगीकरण विकेन्द्रित
सात्त्विक सुन्दर जन-जीवन मन हो अन्तर्मुख केन्द्रित।"[43]

× × ×

"खादी के पट में लपेट मैं जन को
सन्धि-पत्र दूँगा, श्रम-मूल्य समन्वित,
विक्रय-स्पर्धा रहित यन्त्र युग का श्रम
खादी-सा ही हो पावन, जन-आदृत।
सन्धि-नियम होंगे, भू पर सह-जीवन
रचना-श्रम का वरण, लोक-क्षय वर्जन,

मगल उर पात्रो मे भर दूंगा मैं
धरा-दुग्ध का शुभ्र अहिंसा माखन।''[44]

किन्तु पन्त जी को दुःख था कि लोग आज श्रम के महत्त्व को भूलक यन्त्रों के दास बनते जा रहे हैं और इसीलिए देश उन्नति नहीं कर पा रहा हे सब येन-केन-प्रकारेण अपना स्वार्थ साधने में लगे रहते हैं। पन्त जी ने इस स्थिति का बहुत यथार्थ चित्रण अपने ''लोकायतन'' में किया है--

देखा वंशी ने हत-दृग दारिद्र्य आक्षितिज फैला,
नगरों की माँ ग्राम्या का आँचल कर्दम से मैला।
दारिद्र्य मनों के भीतर, दारिद्र्य जनों में बाहर
त्वच रक्त मांस मज्जा में दारिद्र्य घुसा अति दुस्तर।

× × ×

भारी उद्योग खड़े कर कर्तव्य न पूरा होता,
ज्यों देश अनाथालय हो जन-मन भीतर से रोता।
भू-भाग और भी जग में संगठित जहाँ जन-जीवन,
श्री सुन्दर वहाँ धरा-मुख, प्रिय मूल्यवान जीवन-क्षण।''[45]

पन्त जी की इन उद्धृत काव्य-पंक्तियों से यह ध्वनि निकलती है कि वर्तमान जन-जीवन यन्त्रों के अनियन्त्रित प्रयोग के कारण अमानवीय होता जा रहा है। कुटीर-उद्योग तथा श्रम से संचालित धन्धे मनुष्य को जीविका का साधन तो देते ही हैं, साथ ही वे स्पर्धा और विक्षोभ से मुक्त आत्मतुष्टि भी प्रदान करते हैं। पन्त जी रचनात्मक श्रम की आवश्यकता पर बल देते हैं, संघर्ष को जन्म देने वाली और मानवमूल्यों को क्षति पहुँचाने वाली विक्रय-स्पर्धा (मार्केट इकॉनमी) की उन्होंने विगर्हणा की है।

विदेशी शासन के अन्तर्गत तो देश की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था राष्ट्रीय हितों के लिए विघातक थी ही, स्वतंत्रता के बाद भी देश में, और विशेषतया देश के कर्णधारों में, जो वृत्तियाँ उदित हुई हैं, वे पन्त जी के मन मे निराशा उत्पन्न करती हैं। स्वतंत्रता--संघर्ष के दौरान भारतीय जनता यह सोचा करती थी कि विदेशी शासन की समाप्ति के बाद उनके भौतिक कष्टों का निवारण हो जायेगा और उन्हें समुन्नत जीवन जीने का अवसर मिलेगा; किन्तु स्वाधीनता के बाद भारतीय जीवन में जो विषम स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनका क्षोभकारी विवरण पन्त जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है--

हिमकिरीटिनी की यह कैसी आज दुदशा!
हुए दो दशक अब स्वाधीन बने जन-भू को,
भारी उद्योगों के सँग गृह-उद्योगों की,
कृषि-फल की कर घोर उपेक्षा नेताओं ने
कृषि प्रधान जन-प्राण धरा की भारी क्षति की।
शिक्षा का गत ढाँचा, शासन की भाषा भी
बाह्यारोपित रही, मानसिक दास्य भाव जो।
प्रान्त मोह में बँटे, राष्ट्र प्रति दृग मूंदे जन।
क्या कारण कटु अनाचार, रिश्वतख़ोरी का,
काले क्रय विक्रय का, दूषित विकृत खाद्य का?
(अंतिम पाप कहीं संभव क्या किसी देश में!)
शतियों के नैतिक शोषण का फल यह निश्चय।
स्वार्थलिप्त, मोहान्ध, देशद्रोही बौद्धिक अब
स्वत्वों प्रति जाग्रत्, कर्त्तव्यों के प्रति निष्क्रिय,
जन साधारण भेड़ों से भयत्रस्त, अशिक्षित—
युग जीवन के प्रति अबोध, भू-भार ढो रहे।"[46]

पन्त जी के मत से शासक का उद्देश्य मात्र शासन करना नहीं होना चाहिये, उसे तो अनाचार, अविद्या, क्षुधा, तृषा, दारिद्र्य को दूर करने के लिए अनवरत संघर्षरत रहना चाहिये। प्रजातन्त्र का अर्थ यह नहीं कि स्वार्थ-सिद्धि के लिए अराजकता तथा वैमनस्य फैलायें या अपने को जनता का सेवक कहलानेवाले व्यक्ति उच्चवेतन-भोगी बनकर सम्राटों का-सा जीवन व्यतीत करें। इन वर्तमान शासकों के शरीर पर "गांधी जी का वल्कल", "जन-श्रम-प्रतीक खादी" शोभा नही देती। यह सफ़ेद खादी भी उनके काले कर्मों को ढाँपने में अब असमर्थ सिद्ध हो रही है—

"सत् शासन का अर्थ न यह, जनता के सेवक
सम्राटों से रहें, उच्च वेतन भोगी बन।
निखिल देश की सुख-सुविधाओं को अधिकृत कर
राज्य करें जीवन-मृत हड्डी के ढाँचों पर।
घोर विषमता के पाटों से मर्दित जन की
चूर्ण पसलियों का संगीत सुनें बहरे बन।
मूर्तिमान दारिद्र्य दुःख की नरक धरा पर

मंगल उर पात्रों में भर दूंगा मैं
धरा-दुग्ध का शुभ्र अहिंसा माखन।"[44]

किन्तु पन्त जी को दुःख था कि लोग आज श्रम के महत्त्व को भूलकर यन्त्रों के दास बनते जा रहे हैं और इसीलिए देश उन्नति नहीं कर पा रहा है। सब येन-केन-प्रकारेण अपना स्वार्थ साधने में लगे रहते हैं। पन्त जी ने इस स्थिति का बहुत यथार्थ चित्रण अपने "लोकायतन" में किया है—

देखा वंशी ने हत-दृग दारिद्र्य आक्षितिज फैला,
नगरों की माँ ग्राम्या का आँचल कर्दम से मैला।
दारिद्र्य मनों के भीतर, दारिद्र्य जनों में बाहर
त्वच रक्त मांस मज्जा में दारिद्र्य घुसा अति दुस्तर।

× × ×

भारी उद्योग खड़े कर कर्तव्य न पूरा होता,
ज्यों देश अनाथालय हो जन-मन भीतर से रोता।
भू-भाग और भी जग में संगठित जहाँ जन-जीवन,
श्री सुन्दर वहाँ धरा-मुख, प्रिय मूल्यवान जीवन-क्षण।"[45]

पन्त जी की इन उद्धृत काव्य-पंक्तियों से यह ध्वनि निकलती है कि वर्तमान जन-जीवन यन्त्रों के अनियन्त्रित प्रयोग के कारण अमानवीय होता जा रहा है। कुटीर-उद्योग तथा श्रम से संचालित धन्धे मनुष्य को जीविका का साधन तो देते ही हैं, साथ ही वे स्पर्धा और विक्षोभ से मुक्त आत्मतुष्टि भी प्रदान करते हैं। पन्त जी रचनात्मक श्रम की आवश्यकता पर बल देते हैं, संघर्ष को जन्म देने वाली और मानवमूल्यों को क्षति पहुँचाने वाली विक्रय-स्पर्धा (मार्केट इकॉनमी) की उन्होंने विगर्हणा की है।

विदेशी शासन के अन्तर्गत तो देश की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था राष्ट्रीय हितों के लिए विघातक थी ही, स्वतंत्रता के बाद भी देश में, और विशेषतया देश के कर्णधारों में, जो वृत्तियाँ उदित हुई हैं, वे पन्त जी के मन में निराशा उत्पन्न करती हैं। स्वतंत्रता--संघर्ष के दौरान भारतीय जनता यह सोचा करती थी कि विदेशी शासन की समाप्ति के बाद उनके भौतिक कष्टों का निवारण हो जायेगा और उन्हें समुन्नत जीवन जीने का अवसर मिलेगा; किन्तु स्वाधीनता के बाद भारतीय जीवन में जो विषम स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनका क्षोभकारी विवरण पन्त जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

हिमकिरीटिनी की यह कैसी आज दुदशा।
हुए दो दशक अब स्वाधीन बने जन-भू को,
भारी उद्योगों के सँग गृह-उद्योगों की,
कृषि-फल की कर घोर उपेक्षा नेताओं ने
कृषि प्रधान जन-प्राण धरा की भारी क्षति की।
शिक्षा का गत ढाँचा, शासन की भाषा भी
बाह्यारोपित रही, मानसिक दास्य भाव जो।
प्रान्त मोह में बँटे, राष्ट्र प्रति दृग मूँदे जन।
क्या कारण कटु अनाचार, रिश्वतख़ोरी का,
काले क्रय विक्रय का, दूषित विकृत खाद्य का?
(अंतिम पाप कहीं संभव क्या किसी देश में!)
शतियों के नैतिक शोषण का फल यह निश्चय।
स्वार्थलिप्त, मोहान्ध, देशद्रोही बौद्धिक अब
स्वत्वों प्रति जाग्रत्, कर्त्तव्यों के प्रति निष्क्रिय,
जन साधारण भेड़ों से भयत्रस्त, अशिक्षित—
युग जीवन के प्रति अबोध, भू-भार ढो रहे।"[46]

पन्त जी के मत से शासक का उद्देश्य मात्र शासन करना नहीं होना चाहिये, उसे तो अनाचार, अविद्या, क्षुधा, तृषा, दारिद्र्य को दूर करने के लिए अनवरत संघर्षरत रहना चाहिये। प्रजातन्त्र का अर्थ यह नहीं कि स्वार्थ-सिद्धि क लिए अराजकता तथा वैमनस्य फैलायें या अपने को जनता का सेवक कहलानेवाले व्यक्ति उच्चवेतन-भोगी बनकर सम्राटों का-सा जीवन व्यतीत करें। इन वर्तमान शासकों के शरीर पर "गांधी जी का वल्कल", "जन-श्रम-प्रतीक खादी" शोभा नही देती। यह सफ़ेद खादी भी उनके काले कर्मों को ढाँपने में अब असमर्थ सिद्ध हो रही है—

"सत् शासन का अर्थ न यह, जनता के सेवक
सम्राटों से रहें, उच्च वेतन भोगी बन।
निखिल देश की सुख-सुविधाओं को अधिकृत कर
राज्य करें जीवन-मृत हड्डी के ढाँचों पर।
घोर विषमता के पाटों से मर्दित जन की
चूर्ण पसलियों का संगीत सुनें बहरे बन।
मूर्तिमान दारिद्र्य दुःख की नरक धरा पर

क्या ऐसा ऐश्वय सुहाता सत् शासक का?
अच्छा हो, जन-श्रम प्रतीक पावन खादी के
वस्त्र छोड़ दें वे, जो गांधी के वल्कल थे।
शासक गण के काले कर्मों को खादी की
शुभ्र छटा भी ढँकने में असमर्थ आज है।''[47]

× × ×

''कुम्भकर्ण से सोये आज हमारे शासक
सुख सम्पत्ति सुलभ सुविधाओं की शय्या पर
शक्ति मोह, पद मद की स्वप्न-भरी निद्रा में
अनाचार सन्तापों की गहरी छाया में।''[48]

× × ×

''नेतागण पद—अर्जन में रत
पद-गौरव ही उनका भारत,
उन्हें चाहिये केवल जन-मत,
उनकी क्षमता कोरे भाषण—
भू-श्रम करने को असंख्य जन।

× × ×

''राजनीति के पण्डित साधक
सबसे बड़े प्रगति के बाधक,
वे निज-निज दल के आराधक
सभी मात्र पद-मद के लोभी
कौन करे जन कष्ट निवारण।''[49]

अपने ''संक्रान्ति'' शीर्षक काव्य-संग्रह में भी वर्तमान भारत की अवस्था का पन्त जी ने चित्रण किया है—

''शान्ति न शंकित—जन के मन में,
जीवन कटु आर्थिक संघर्षण,
राजनीति के दाँव-पेंच से
उद्वेलित जन सागर प्रतिक्षण।
पूँजीवादी सुविधाओं से
संचालित युग जीवन-दर्शन,
मध्य वर्ग की आकांक्षाएँ

टकरातीं रहतीं नित भीषण।
अभी भूत-विज्ञान-शक्ति
बन सकी नहीं जन-सुख का साधन,
गृह उद्योगों, कृषि में उसको
लाना मौलिक युग परिवर्तन।"[50]

पन्त जी ने अपनी अनेक रचनाओं में विश्व के, और विशेष रूप से भारत वर्ष के, राजनीतिक और आर्थिक जीवन में व्याप्त दुरवस्था, असगति और दिशाहीनता का वर्णन बड़े विक्षोभ के साथ किया है। उनकी निराशा यह देखकर और भी अधिक बढ़ जाती है कि जिन लोगों ने अपने हाथों में समाज के विकास का दायित्व ले रखा है, वे स्वयं सामाजिक विकास की स्वस्थ-भावना से प्रेरित न होकर व्यक्तिगत और वर्गीय स्वार्थों की सिद्धि में लगे हुए है, उन्हे सामान्य जन-जीवन की समस्याओं के समाधान में कोई रुचि नहीं है। यह सब देखकर पन्त जी विक्षुब्ध और दुःखी तो होते हैं किन्तु मानवता क भावी कल्याण और भारतवर्ष की समग्र समुन्नति की भावी सम्भावना में उनकी निष्ठा हमें खण्डित होती हुई नहीं दिखाई देती। भविष्य के प्रति आशान्वित पन्त जी कहते हैं—

"देख रहा मैं मनः-क्षितिज में युग स्वर्णोदय
मानव भावी का, अभिनव किरणों से दीपित,
विंश शती का जन सुख-मांसल उत्तर यौवन
निखर रहा निज भौतिक आध्यात्मिक वैभव में।
धीरे-धीरे अर्थ-व्यवस्था में धरणी के
युगवांछित सन्तुलन आ रहा, भौतिक सत्ता
मानवीय बन, नव चेतन आकार धर रही।
पूँजीवादी लोक साम्यवादी देशों के
वातायन खुल रहे भाव विनिमय के व्यापक,
हृदय द्वार खुल रहे, विचारों से नव मुकुलित
भू-जीवन के आवागमन हेतु दिग् विस्तृत।
नवयुग के आर्थिक नैतिक विधान के युगपत्
नव निर्मित हो जाने पर, नव मानवता की
स्वर्ण चेतना-ध्वजा उड़ रही गिरि-शिखरों पर,
सागर के उल्लसित वक्ष, प्रहसित अम्बर में।"[51]

× × ×

आर शान्ति युग कामी जन-भू-रचना के हित
जब प्रयुक्त होगी अणुशक्ति, धरा-जीवन का
मुख ही तब पहचान न पायेगा युग मानव।
नये-नये परिवेशों, अभ्यासों में ढलकर
हृदय प्राण मन सभी बदल जायेंगे जन के।[52]

× × ×

स्फुरित हो रहा मनोदृगों के सम्मुख वह युग
जब भौतिक सुविधा सम्पन्न प्रसन्न धरा पर
पूर्ण सांस्कृतिक शोभा में कुसुमित नव मानव
विचरेगा श्री-सौम्य, कला-वैभव से सुरभित,[53]

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित अपनी काव्य-रचनाओं के संकलन "आधुनिक कवि : भाग 2" की "पर्यालोचन" शीर्षक भूमिका में पन्त जी ने वर्तमान युग में चल रहे राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष की सूत्रात्मक विवेचना करते हुए मानवता के भावी स्वस्थ विकास की सम्भावना में जो विश्वास प्रकट किया है और उस विकास में साहित्य के योगदान की जिस भूमिका का सकेत किया है, वे अभी तक यथावत् सत्य बने हुए हैं। उसी को उद्धृत करते हुए उनकी राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि की चर्चा यहाँ समाप्त की जा रही है–

"नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियो, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यन्त्रो पर जिस वर्ग-विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जन-साधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन-समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने ससार को जो विविध ज्ञान-विज्ञान, कला-यन्त्रों का अद्भुत कौशल दिया है, उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गयी है। आज, जबकि संसार में इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फ़ासिज्म है—शायद अन्त भी हो जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्ट-पेषण के समान

है। मनुष्य-स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानवजाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही हैं, दूसरी ओर मनुष्य की विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यन्त स्वल्प हो और अन्धकार की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किन्तु एक कलाकार और स्वप्नद्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।"[54]

सन्दर्भ-संकेत



1. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध, विकाससूत्र और अन्तःसंघर्ष, पृ. 26-27
2. वही, पृ. 27
3. ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ. 24, चतुर्थ आवृत्ति, 1978
4. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—नवमानवता का स्वप्न, पृष्ठ 44
5. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली खण्ड 5—लोकायतन-पूर्व स्मृति : आस्था, पृष्ठ 25, 30, 31, 32
6. साठ वर्ष और अन्य निबंध—प्रभाव और बाह्य संघर्ष, पृष्ठ 31-32
7. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1-गुंजन, कविता सं. 10, पृ. 245
8. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1-गुंजन, कविता सं. 1, पृ. 239
9. ज्योत्स्ना, सु. पन्त, पृ. 13, चतुर्थ आवृत्ति, 1978
10. ज्योत्स्ना- सु. पन्त, पृ. 24, चतुर्थ आवृत्ति, 1978
11. — वही —
12. ज्योत्स्ना- सु. पन्त, पृ. 67, चतुर्थ आवृत्ति, 1978
13. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5—लोकायतन—कलाद्वार, पृ. 148
14. वही, पृ. 244
15. वही, पृ. 242
16. वही, पृ. 158
17. ज्योत्स्ना पृ. 68, चतुर्थ आवृत्ति, 1978

18. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध, नव मानवता का स्वप्न, पृ. 44
19. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ. 79-80, प्र. सं. 1965
20. साठ वर्ष और अन्य निबंध—प्रभाव और बाह्य संघर्ष, पृ. 41
21. सु. पन्त : जीवन और साहित्य भाग 1—शान्ति जोशी, पृ. 40(
22. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—आज की कला और संस्कृति व
    में अशान्ति के मूल कारण—लेख, पृ. 121-122
23. आधुनिक कवि : भाग दो—पर्यालोचन, पृ. 9, प्र. सं. 1941
24. युगवाणी—उन्मेष कविता, पृ. 41 पाँचवाँ संस्करण
25. वही—कवि कविता, पृ. 38, पाँचवाँ संस्करण
26. युगवाणी—समाजवाद-गांधीवाद कविता, पृ. 29, प्र. सं.
27. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, ग्राम्या-संस्कृति का प्रश्न, पृ. 169
28. युगवाणी—दृष्टिपात (भूमिका), पृ. 10, पाँचवाँ सं.
29. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरी सबसे प्रिय रचना, पृ. 197
30. उत्तरा—प्रस्तावना, पृ. 10
31. साठ वर्ष और अन्य निबंध—जीवन-कथा, पृ. 56-57
32. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकयतन—ज्योतिद्वार, पृ. 388
33. उत्तरा—प्रस्तावना—सु. पन्त, पृ. 10 चतुर्थ आवृत्ति 1980
34. वही
35. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, ग्राम्या-संस्कृति का प्रश्न, पृ. 169
36. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3, रजतशिखर-उत्तरशती, पृ. 128-12
37. युगवाणी—श्रमजीवी कविता, पृ. 31, पाँचवाँ संस्करण
38. युगवाणी—धनपति कविता, पृ. 30, पाँचवाँ संस्करण
39. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, ग्राम्या-सन्ध्या के बाद कविता, पृ. 1
40. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3—रजतशिखर में संकलित फूलों का
    काव्यरूपक, पृ. 118
41. वही, सौवर्ण में संकलित सौवर्ण काव्य-रूपक, पृ. 268
42. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन—ग्राम-शिविर, पृ. 50-51
43. वही, संस्कृति-द्वार—संक्रमण, पृ. 92
44. वही, पूर्वस्मृति : आस्था, पृ. 25
45. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, संस्कृति-द्वार-संक्रमण,
    89-91

46 किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 211-212
47. किरणवीणा—पुरुषोत्तम राम, पृ. 221
48. वही, पृ. 224
49. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 4, पतझर : एक भाव क्रान्ति—गम्भीर प्रश्न, पृ. 448
50. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 7, संक्रान्ति—गीत संख्या छः, पृ. 525
51 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 3—रजतशिखर—उत्तरशती, पृ.135-136
52. वही—खण्ड 4, पतझर : एक भाव क्रान्ति—विज्ञान और कविता, पृ. 392
53. — वही —
54 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग दो—पर्यालोचन, पृ. 274, प्र. सं.

कला-खण्ड

प्रथम अध्याय
पन्त जी का कला-चिन्तन

पन्त जी के राजनीतिक एवम् आर्थिक दृष्टिकोण के परिचायक पिछले अध्याय के अन्त में पन्त जी का यह कथन उद्धृत किया गया है कि "मनुष्य-स्वभाव की सीमाएँ एक ओर वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप मे मानव-जाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही हैं, दूसरी ओर मनुष्य की विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है।" इस कथन से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए जिस सांस्कृतिक प्रयोग की आवश्यकता है, उसका एक अतिशय समर्थ साधन कला है, जिसकी सबसे समर्थ विधा साहित्य है।

हिन्दी-साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में कुछ समय पूर्व तक इस बात को लेकर विवाद चला करता था कि साहित्य कला का ही अंग है, अथवा कला की अन्तर्गति के बाहर उसकी अपनी कोई स्वतंत्र स्थिति है। इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों तथा साहित्यिकों के मतों का उल्लेख केवल पिष्टपेषण होगा, और उसके विस्तृत विवरण की यहाँ अपेक्षा भी नहीं है। प्राचीन भारतीय चिन्तन संभवतः कला को साहित्य के समान महनीय वस्तु नहीं मानता था और इसी कारण साहित्य की मूल-जाति के रूप में कला की चर्चा करने की अपेक्षा उसे प्रतीत नहीं हुई। हिन्दी के कई आधुनिक सम्मान्य आलोचकों और विद्वानों ने भी उसी दृष्टिकोण को मान्यता प्रदान की और साहित्य को कला से पृथक् रखते हुए ही अपने अभिमत व्यक्त किये। किन्तु पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन साहित्य को कला के रूप में ही स्वीकार करता है और अब यही दृष्टिकोण भारतीय साहित्यिक चिन्तन के क्षेत्र में भी लगभग सर्वस्वीकृत हो गया है। सच बात तो यह है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में कला को बहुत सीमा तक अभ्यासजन्य दक्षता का परिचय ही माना जाता था और उसके अन्तर्गत घुड़सवारी, पाकविद्या, केशसज्जा

तथा तैरने से सम्बन्धित दक्षताओं को भी कलात्मक कृतित्व की वस्तु मानने का प्रचलन था। किन्तु पाश्चात्य कला-चिन्तन कला को सामान्य दक्षता के आधार पर प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु न मानकर उसे मानवीय सौन्दर्य-चेतना की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानता है। कला के इस व्यापक और उदात्त स्वरूप को स्वीकार कर लेने के बाद साहित्य को कला के अन्तर्गत मानना ही संगत और उचित प्रतीत होता है।

पन्त जी भी साहित्य को कला के अन्तर्गत मानने के ही पक्षपाती थे। अपने अनेक अभिभाषणों, निबन्धों, वार्ताओं तथा भूमिकाओं में उन्होंने साहित्य को कला के अन्तर्गत मानते हुए ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। सचेत रूप से शास्त्रीय सावधानी की दृष्टि सर्वत्र न अपनाने के कारण पन्त जी की रचनाओ मे हमें ऐसी कुछ उक्तियाँ देखने को मिल जाती हैं, जिनमें उन्होंने कला और साहित्य का उल्लेख पृथक् रूप से किया है, किन्तु उनके आधार पर यह कहना ठीक नहीं होगा कि पन्त जी साहित्य को कला का एक प्रकार नहीं मानते थे। "कला का प्रयोजन" शीर्षक उनके निबन्ध का पहला ही वाक्य इस प्रकार है—"हमारे युग का संघर्ष आज केवल राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में ही प्रतिफलित नहीं हो रहा है, वह साहित्य, कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुका है।"[1]

उनके एक दूसरे निबन्ध में भी जिसका शीर्षक "आज की कला और संस्कृति के क्षेत्र में अशान्ति के मूल कारण" है, इस तरह का वाक्य हमें मिलता है—"आज निश्चय ही साहित्य, संस्कृति तथा कला के कन्धों पर राजनीति तथा अर्थशास्त्र से भी महान् दायित्व आ पड़ा है।"[2]

साहित्य और कला का पृथकता से उल्लेख करने वाले ऐसे दूसरे वाक्य और उक्तियाँ भी पन्त जी की रचनाओं से संकलित की जा सकती हैं, पर कला ओर साहित्य सम्बन्धी पन्त जी के अभिमतों का समग्रता के साथ अध्ययन करने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वे कला और साहित्य में कोई तात्त्विक अन्तर न मानकर साहित्य को कला का ही अंग मानते थे। अपने प्रसिद्ध काव्य-संग्रह "पल्लव" की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"राजा-महाराजाओ ने स्वयं अपने हाथों से संगीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा।"[3] अपने इस वाक्य में पन्त जी ने स्पष्ट रूप से काव्य को कला कहा है और संगीत, शिल्प तथा चित्र जैसी ललित कलाओं के साथ उसका उल्लेख किया है। "कला का प्रयोजन" शीर्षक अपने निबन्ध में भी पन्त जी ने स्वान्त.

सुखाय और बहुजनहिताय की चर्चा करते हुए लिखा है—"हमारा युग रघुनाथ-गाथा तो एकदम भूल ही गया है। वह स्वान्तःसुखाय से भी बुरी तरह उलझ रहा है। प्रश्न यह है कि यदि तुलसीदास जी रघुनाथ-गाथा को स्वान्तःसुखाय लिख गये हैं, तो क्या उसने बहुजनहिताय के अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं किया? क्या उनकी कला स्वान्तःसुखाय होने पर भी बहुजनहिताय नहीं रही?"[4]

कला के प्रयोजन के प्रसंग में तुलसीदास का उदाहरण देना और यह कहना कि 'क्या उनकी कला स्वान्तःसुखाय होने पर भी बहुजनहिताय नही रही?' इस बात का स्पष्ट संकेत देता है कि पन्त जी साहित्य को कला का अग मानकर उसकी चर्चा किया करते थे। प्रायः वे साहित्य आदि के स्वरूप और गुणों का विवरण देते हुए पहले कला के स्वरूप और प्रकृति का विवरण प्रस्तुत करते थे। कला के प्रयोजन की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि "धीरे-धीरे युग-जीवन के प्रवाह में एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकेगी कि मनुष्य की बाहरी और भीतरी परिस्थितियों में अथवा मनुष्य के बाह्य और अन्तर्जगत् में एक-दूसरे के सम्बन्ध में सन्तुलन पैदा हो जायेगा, हमारी स्वान्तःसुखाय और बहुजनहिताय की धारणाएँ एक दूसरे के सन्निकट आकर अविच्छिन्न रूप से परस्पर संयुक्त हो जायेंगी और आज के व्यक्ति और समाज का संघर्ष हमारे नवीन युग की पूर्ण-काम रामगाथा में अति मंजुल भाषा-निबन्ध-रचना के रूप में गुम्फित होकर नवीन युग का निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व बन जायेगा।"[5]

इस प्रकार कला के प्रयोजन की चर्चा में बार-बार तुलसीदास की उक्तियो का स्मरण करना और उनके 'अति मंजुल भाषा-निबन्ध' का उल्लेख करना पन्त जी की धारणा में कला और साहित्य की प्रकृति की एकरूपता को ही संकेतित करता है।

अपने देश के चिन्तन की परम्पराओं को पन्त जी पूरा सम्मान देते थे, किन्तु उनका दृष्टिकोण रूढ़िवादी नहीं था। नये संदर्भों में नयी मान्यताओं को स्वीकार करने में उन्हें कभी संकोच नहीं होता था। उन्होंने लिखा है—"साहित्यिक मान्यताएँ अपने आप ही किसी काल्पनिक कारण से नहीं बदला करती है या आसमान से नहीं टपकती हैं। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जगत् की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों एवम् आन्दोलनों से होता है। उक्त स्थितियो में आया हुआ परिवर्तन साहित्यके मूल्य, माप या मान में अनिवार्य रूप से परिवर्तन ला देता है।"[6]

जैसा हम उनकी विचार-धारा के दूसरे आयामों के परिचय में पहले देख

चुके हैं, पन्त जी सम्पूर्ण भू-जीवन और निखिल मानवता की हित-साधना की बात किया करते थे। उनकी इसी विश्वव्यापी भावना के अनुरूप उनका साहित्यिक चिन्तन भी सम्पूर्ण विश्व की कलाप्रवृत्तियों और साहित्यिक गतिविधियों से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। अपने इसी व्यापक और उदार दृष्टिकोण के कारण उन्होंने कला के स्वरूप सम्बन्धी नये दृष्टिकोण को मान्यता प्रदान की और साहित्य को उसके अन्तर्गत स्थान दिया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए पन्त जी के साहित्य सम्बन्धी विचारों की चर्चा में पहले उनके कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

कला का स्वरूप

पन्त जी ने मनुष्य के विराट् जीवन को कला तथा कलाकार के ऊपर संस्थित माना है।[7] उनकी इस मान्यता से हमें कला के सम्बन्ध में उनके इस दृष्टिकोण का पता चलता है कि कला जीवन की उपासना है। उनकी दृष्टि म कला-साधना जीवन-साधना का ही एक अंग है और उसकी इस प्रकृति के कारण ही पन्त जी की कला-साधना में गहरी निष्ठा थी। ''युगवाणी'' की ''नवदृष्टि'' शीर्षक अपनी रचना में उन्होंने कहा है—

> ''बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम,
> जीवन संघर्षण देता सुख, लगता ललाम।
> सुन्दर, शिव, सत्य कला के कल्पित माप-मान,
> बन गये स्थूल, जग जीवन से हो एक प्राण।
> मानव-स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
> करता अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर।''[8]

इन काव्य-पंक्तियों में निहित अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए ''आधुनिक कवि : भाग 2'' की ''पर्यालोचन'' शीर्षक भूमिका में पन्त जी ने लिखा है—''जगत् के रूप नाम'' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित भविष्य के मानव-संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं, तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। ''युगवाणी'' में यह बात कई तरह से व्यक्त की गयी है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य-कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है।''[9]

इन उद्धृत पंक्तियों में कला और जीवन के परस्पर अभिन्न सम्बन्ध का संकेत करते हुए पन्त जी ने जहाँ एक ओर कला को जीवन की अनुवर्तिनी

मानते हुए जीवन की तुलना में उसकी स्थिति को गौण बताया है, वहीं वे यह महत्त्वपूर्ण बात भी कहते हैं कि विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। उनकी इस मान्यता को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि कला जीवन-विकास की अग्र-चेतना और पथदर्शिका भी है। जीवन और कला के सम्बन्ध को रेखांकित करते हुए ही उन्होंने अपने "लोकायतन" में ये पंक्तियाँ लिखी हैं—

"अमर शिल्पी तू कले, प्रवीण,
मुक्त शाश्वत का ले आह्लाद,
चेतना की दे गहरी नींव,
पुनः गढ़ नव जन-भू प्रासाद!"[10]

अपनी इन पंक्तियों में पन्त जी ने कला को अमर शिल्पी और प्रवीण कहा है और उससे अपेक्षा की है कि वह मुक्त शाश्वत के आह्लाद से मानव-चेतना को अन्वित कर उस गहरी नींव की स्थापना करे जिस पर नवीन जन-भू का प्रासाद निर्मित हो सके। पन्त जी की दृष्टि में कला का कितना ऊँचा स्थान था और उसकी जीवन-निर्मात्री शक्ति में उनकी कितनी गहरी आस्था थी, इसका स्पष्ट संकेत हमें उनके इस कथन से प्राप्त होता है। कला और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध और तात्त्विक एकत्व की अपनी धारणा के अनुरूप वे कला को उपर्युक्त रूप में सम्बोधित करने के बाद ही साहित्य को भी "गिरा" नाम से सम्बोधित करते हैं—

"गिरे, रच शुभ्र भावना सेतु,
लाँघ भू-मन समुद्र, उस पार
उतरती रस-सित चिन्मय ज्योति
मर्त्य तम को जो करती प्यार।
कला के लिए कला का राग
वरद कवि वाणी का व्यभिचार,
लोक-जीवन के भीतर पैठ
स्वर्ग-शोभा में उसे सँवार।"[11]

"गिरा" को सम्बोधित करते हुए पन्त जी की ये पंक्तियाँ कला के स्वरूप और उद्देश्य का भी कथन करती हैं। कलाकार की चेतना में विश्व-विधात्री चिन्मय ज्योति रूखे दर्शन के रूप में प्रकट न होकर रससिक्त रूप में अवतरित

होती है और उसके इस अवतरण का कारण यह है कि वह मर्त्य तम को प्यार करती है। वह चिन्मय ज्योति कलाकार को लोक-जीवन के भीतर पैठकर उसे स्वर्गिक शोभा से सँवारने की प्रेरणा देती है। यहाँ भी यह ध्यान देने की बात है कि "गिरा" सम्बोधन से साहित्य को स्मरण करते हुए भी पन्त जी कहते हैं कि "कला के लिए कला का राग वरद कवि वाणी का व्यभिचार" है। उनकी इस व्यजना से भी कला और साहित्य को परस्पर अभिन्न मानने की उनकी धारणा प्रकट होती है। कला के स्वरूप के संबंध में पन्त जी की धारणा कितनी उदात्त थी, इसका निदर्शन "लोकायतन" की उसी प्रसंग की इन पंक्तियों से होता है–

"लोकमंगल–सुख प्रेरित मात्र,
सन्त ऋषि योगी भी अकृतार्थ
कला के यदि न नम्र वे छात्र।"[12]

पन्त जी की कला-निष्ठा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि वे सन्तों, ऋषियों और योगियों को भी अकृतार्थ मानते हैं, यदि वे कला के नम्र छात्र न हों।

लेकिन पन्त जी के कला और साहित्य-चिन्तन के प्रसंग में इस तथ्य को निरन्तर स्मरण में बनाये रखने की आवश्यकता है कि वे कला और काव्य की महिमा को जीवन की तुलना में कम ही मानते हैं। पाश्चात्य कला-शास्त्रियो ने कला को सौन्दर्य की अभिव्यक्ति माना है। पन्त जी भी कला के सौन्दर्य-पक्ष को स्वीकार करते हैं। उनकी काव्य-साधना के आरम्भिक चरणों में कला के सौन्दर्य-पक्ष पर ही उनकी दृष्टि प्रमुखता से केन्द्रित दिखाई देती है, किन्तु जैसे-जैसे पन्त जी की चेतना परिष्कार और पूर्णता प्राप्त करती है, सौन्दर्य की अपेक्षा उनके काव्य मे शिवत्व अधिकाधिक प्रमुख होता जाता है। साहित्य के आलोचकों ने उनके परवर्ती काव्य के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त किया है कि उसमें कलात्मकता बहुत क्षीण हो गयी है। अपने परवर्ती काव्य के सम्बन्ध में आलोचकों के इस अभिमत से पन्त जी परिचित थे और कई प्रसंगों में उन्होंने उसके सम्बन्ध मे टिप्पणी भी की है। उन्होंने लिखा है–"मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कुछ कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना मे इस युग में विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिये। जिस युग में विचार का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में "कला का कला के लिए" भी प्रयोग होने लगा था। वह साहित्य में विचार-क्रान्ति का युग नहीं था। ....जागरण-युग

के कवियों में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यन्त सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओ म सामन्त युग के समस्त कला-वैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके है। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवम् साहित्य-स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है, इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं।..........फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युग के अशान्त, संदिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओ की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवम् यथासंभव प्रयोग करना चाहिये। अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ लेकिन सोने को सुगन्धित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिये।"[15]

पन्त जी के उपर्युक्त उद्धरण से कला के सम्बन्ध में पन्त जी के इस विचार का परिचय हमें प्राप्त होता है कि कला का प्रयोग युग की परिस्थितियो के अनुरूप होना चाहिये। विचार-क्रान्ति के युग में सौन्दर्य की तुलना में कला में विचार-चेतना को प्रमुख स्थान मिलना चाहिये और उनके इसी दृष्टिकोण की रचनात्मक परिणति हमें उनकी परवर्ती रचनाओं में देखने को मिलती है।

पन्त जी के व्यक्तित्व के विकास पर जब हम समग्रतः दृष्टिपात करते है तो हमें यह प्रतीत होता है कि आरम्भ में उन्होंने साहित्य-साधना को उतनी गम्भीर वृत्ति के साथ नहीं अपनाया था जितनी गम्भीरता के साथ वे उसे आगे ग्रहण करते दिखाई देते हैं। पहले उनके लिए कला जीवन का शृंगार थी, बाद मे वह उनका जीवन बन गयी। कला अथवा साहित्य सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण मे आने वाले इस विकास का परिचय उन्होंने अपने शब्दों में इस प्रकार दिया है--"मानव-जीवन की बहिरन्तर मान्यताओं का परिचय पाने के बाद मेरे मन मे मानव-भविष्य एवं लोकमंगल के लिए एक आशावादी दृष्टिकोण पैदा हो गया और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मनुष्य के बाह्य और आन्तर विकास को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शान्ति, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य तथा रचना-शक्ति, सब एक ही मानवीय सत्य के पर्याय हैं। मानव का समस्त बोध, साधना, कला तथा कर्म-चेतना के निर्माण के लिए समर्पित होना चाहिये। जीवन-ईश्वर ही केवल मात्र पृथ्वी का ईश्वर है, उसके बिना उसका परात्पर रूप भी केवल शून्यवत् है। विश्व-जीवन के बहिरंतर निर्माण की तुलना में आध्यात्मिक सिद्धियाँ केवल नट के खेल-सी लगती हैं। कला से, उसके माध्यम से, व्यक्त

सत्य का मूल्य मेरे लिए अधिक है। मानवता का वैयक्तिक तथा सामूहिक दृष्टि से बहिरन्तर रूप में परिपूर्ण निर्माण एवं विकास हो सके, तभी वह कला उस समग्र सौन्दर्य की प्रतिनिधि हो सकती है जिसके दर्शन कभी मुझे हिमालय की गोद में हुए थे।"[14]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन का यदि हम विश्लेषण करें तो कला-संबधी उनकी कई मान्यताएँ हमें उसमें अभिव्यक्त हुई दिखाई देती हैं। पन्त जी की इस उक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि उनके विचार से 'जीवन-ईश्वर ही केवल मात्र पृथ्वी का ईश्वर है, उसके बिना उसका परात्पर रूप भी केवल शून्यवत् है।' भारतवर्ष की मायावादी वेदान्त-परम्परा के व्यापक प्रचलन को दृष्टि में रखते हुए जब हम विचार करते हैं तो माया का विस्तार माने जाने वाले जीवन को ही पृथ्वी का एक मात्र ईश्वर मानना अपने आप में एक गहन क्रान्तिकारी विचार है। जीवन के बिना ईश्वर के परात्पर रूप को भी पन्त जी शून्यवत् बताते हैं। "ब्रह्मम् सत्यम् जगत् मिथ्या" के ठीक प्रतिकूल पन्त जी जीवन वाले जगत् को ही सत्य मानते हैं। जीवन और उसके समग्र विकास में पन्त जी की आस्था आगे चलकर उनकी कला-साधना का ही नहीं, उनकी जीवन-साधना का भी अंग बन गयी थी। बल्कि इस बात को इस तरह कहना अधिक उपयुक्त है कि पन्त जी के लिए कला-साधना जीवन-साधना का अंग होने के नाते ही महत्त्वपूर्ण थी।

वे कितने स्पष्ट रूप में यह कहते हैं कि कला के मूल्य की तुलना में कला के माध्यम से व्यक्त होने वाले सत्य का मूल्य उनके लिए अधिक है। पन्त जी के लिए जीवन-साधना सत्य-साधना बन गयी थी और वे कला-साधना को सत्य-साधना के रूप में ही सार्थक मानने लगे थे। इस बात का संकेत तो पहले अनेक प्रसंगों में किया ही जा चुका है कि वे सामूहिक जीवन से कटी हुई व्यक्तिगत जीवन-साधना को अपर्याप्त और निरर्थक मानते थे। इस दृष्टि से पन्त जी के लिए कला-साधना एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना थी। पूर्ण विश्वजीवन का जिससे बहिरंतर निर्माण न हो, ऐसी आध्यात्मिक सिद्धियों को वे केवल नट का खेल मानते हैं। उनके विचार से मानव के समस्त बोध, साधना, कला तथा कर्म-चेष्टा को जीवन-चेतना के निर्माण के लिए समर्पित होना चाहिये। उनकी दृष्टि में शान्ति, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य तथा रचनाशक्ति सब एक ही मानवीय सत्य के पर्याय हैं। जैसा उनके उक्त कथन से स्वतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य का जो स्वरूप हिमालय की गोद में रहते हुए उनकी बाल-चेतना में अबोध प्रतीति के

के कवियों में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यन्त सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओ मे सामन्त युग के समस्त कला-वैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके है। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवम् साहित्य-स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है, इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं।..........फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युग के अशान्त, संदिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओ की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवम् यथासंभव प्रयोग करना चाहिये। अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ लेकिन सोने को सुगन्धित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिये।"[15]

पन्त जी के उपर्युक्त उद्धरण से कला के सम्वन्ध में पन्त जी के इस विचार का परिचय हमें प्राप्त होता है कि कला का प्रयोग युग की परिस्थितियो के अनुरूप होना चाहिये। विचार-क्रान्ति के युग में सौन्दर्य की तुलना में कला मे विचार-चेतना को प्रमुख स्थान मिलना चाहिये और उनके इसी दृष्टिकोण की रचनात्मक परिणति हमें उनकी परवर्ती रचनाओं में देखने को मिलती है।

पन्त जी के व्यक्तित्व के विकास पर जब हम समग्रतः दृष्टिपात करते है तो हमें यह प्रतीत होता है कि आरम्भ में उन्होंने साहित्य-साधना को उतनी गम्भीर वृत्ति के साथ नहीं अपनाया था जितनी गम्भीरता के साथ वे उसे आगे ग्रहण करते दिखाई देते हैं। पहले उनके लिए कला जीवन का शृंगार थी, बाद मे वह उनका जीवन बन गयी। कला अथवा साहित्य सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण मे आने वाले इस विकास का परिचय उन्होंने अपने शब्दों में इस प्रकार दिया है–"मानव-जीवन की बहिरन्तर मान्यताओं का परिचय पाने के बाद मेरे मन मे मानव-भविष्य एवं लोकमंगल के लिए एक आशावादी दृष्टिकोण पैदा हो गया ओर मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मनुष्य के बाह्य और आन्तर विकास को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शान्ति, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य तथा रचना-शक्ति, सब एक ही मानवीय सत्य के पर्याय हैं। मानव का समस्त बोध, साधना, कला तथा कर्म-चेतना के निर्माण के लिए समर्पित होना चाहिये। जीवन-ईश्वर ही केवल मात्र पृथ्वी का ईश्वर है, उसके बिना उसका परात्पर रूप भी केवल शून्यवत् है। विश्व-जीवन के बहिरंतर निर्माण की तुलना में आध्यात्मिक सिद्धियाँ केवल नट के खेल-सी लगती हैं। कला से, उसके माध्यम से, व्यक्त

सत्य का मूल्य मेरे लिए अधिक है। मानवता का वैयक्तिक तथा सामूहिक दृष्टि से बहिरन्तर रूप में परिपूर्ण निर्माण एवं विकास हो सके, तभी वह कला उस समग्र सौन्दर्य की प्रतिनिधि हो सकती है जिसके दर्शन कभी मुझे हिमालय की गोद में हुए थे।"[14]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन का यदि हम विश्लेषण करें तो कला-संबधी उनकी कई मान्यताएँ हमें उसमें अभिव्यक्त हुई दिखाई देती हैं। पन्त जी की इस उक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि उनके विचार से 'जीवन-ईश्वर ही केवल मात्र पृथ्वी का ईश्वर है, उसके बिना उसका परात्पर रूप भी केवल शून्यवत् है।' भारतवर्ष की मायावादी वेदान्त-परम्परा के व्यापक प्रचलन को दृष्टि में रखते हुए जब हम विचार करते हैं तो माया का विस्तार माने जाने वाले जीवन को ही पृथ्वी का एक मात्र ईश्वर मानना अपने आप में एक गहन क्रान्तिकारी विचार है। जीवन के बिना ईश्वर के परात्पर रूप को भी पन्त जी शून्यवत् बताते हैं। "ब्रह्मम् सत्यम् जगत् मिथ्या" के ठीक प्रतिकूल पन्त जी जीवन वाले जगत् को ही सत्य मानते हैं। जीवन और उसके समग्र विकास मे पन्त जी की आस्था आगे चलकर उनकी कला-साधना का ही नहीं, उनकी जीवन-साधना का भी अंग बन गयी थी। बल्कि इस बात को इस तरह कहना अधिक उपयुक्त है कि पन्त जी के लिए कला-साधना जीवन-साधना का अग होने के नाते ही महत्त्वपूर्ण थी।

वे कितने स्पष्ट रूप में यह कहते हैं कि कला के मूल्य की तुलना में कला के माध्यम से व्यक्त होने वाले सत्य का मूल्य उनके लिए अधिक है। पन्त जी के लिए जीवन-साधना सत्य-साधना बन गयी थी और वे कला-साधना को सत्य-साधना के रूप में ही सार्थक मानने लगे थे। इस बात का संकेत तो पहले अनेक प्रसंगों में किया ही जा चुका है कि वे सामूहिक जीवन से कटी हुई व्यक्तिगत जीवन-साधना को अपर्याप्त और निरर्थक मानते थे। इस दृष्टि से पन्त जी के लिए कला-साधना एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना थी। पूर्ण विश्वजीवन का जिससे बहिरंतर निर्माण न हो, ऐसी आध्यात्मिक सिद्धियों को वे केवल नट का खेल मानते हैं। उनके विचार से मानव के समस्त बोध, साधना, कला तथा कर्म-चेष्टा को जीवन-चेतना के निर्माण के लिए समर्पित होना चाहिये। उनकी दृष्टि में शान्ति, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य तथा रचनाशक्ति सब एक ही मानवीय सत्य के पर्याय हैं। जैसा उनके उक्त कथन से स्वतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य का जो स्वरूप हिमालय की गोद में रहते हुए उनकी बाल-चेतना में अबोध प्रतीति के

रूप में प्रकट हुआ करता था, वही अध्ययन तथा अनुभव के प्रकाश में निखर कर उनके परिपूर्ण सौन्दर्य-बोध में ढल गया था।

इस प्रकार पन्त जी के लिए कला ऐसे सौन्दर्य की अभिव्यंजना थी जिसम सामूहिक जीवन और उसके विकास का ऊर्ध्व और समतल संचरण समवेत रूप मे प्रतिफलित हो। पन्त जी के समान ही प्रतिष्ठित, हिन्दी की कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपने समन्वित काव्य-संकलन ''यामा'' की भूमिका में लिखा हे कि ''सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है।'' महादेवी जी के काव्य मे कला-तत्त्व बहुत समृद्ध रूप में पाया जाता है और वे कवयित्री होने के साथ ही चित्रकला की भी साधिका थीं। उनकी दृष्टि में भी कला का साध्य सौन्दर्य न होकर सत्य ही है। इस रूप में हमें इन दोनों महान् काव्य-साधकों की काव्य-दृष्टि अथवा कला-दृष्टि में समानता दिखाई देती है। महादेवी जी के साहित्य में सत्य के स्वरूप की उतनी स्पष्ट और विशद व्याख्या हमें देखने को नहीं मिलती जितनी पन्त जी के साहित्य में हमें मिलती है। पन्त जी के लिए सत्य जीवन का ही सत्य है, जीवन से विरहित सत्य के किसी स्वरूप को वे स्वीकार करते नही दिखाई देते।

पन्त जी की दृष्टि में वह कला सम्पूर्ण और सप्राण कला नहीं है जिसमें मानव-संवेदना का स्वस्थ सौन्दर्य न हो। वे लिखते हैं—''कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नहीं मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं जिनसे वह मर्म को स्पर्श करती हे। ''युगवाणी'' की अनेक पंक्तियाँ ''पल्लव'' की मांसल कल्पना एवं अलंकरणो से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। ''आज असुन्दर लगते सुन्दर'' इस आधे चरण से ही आज के युग-जीवन की विपन्न रेखा आँखों के सामने आ जाती है। क्या यह कला की शक्ति नहीं है? ''बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम'' में समस्त मानव-भविष्य के निर्माण का चित्र खिच जाता है। ''कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुचिर पल्लव लाली'' का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नहीं है। ''इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता''—''पल्लव'' में ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कही नहीं मिलती।.........मैंने अधिकांश उदाहरण ''युगवाणी'' से ही इसलिए दिये हैं क्योंकि उसमें कला का अभाव बताया जाता है। ''युगवाणी'' तथा ''ग्राम्या'' की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है। वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक न्याय की पुकार थी जिसने मुझे ''युगवाणी'' तथा 'ग्राम्या'' लिखने

रूप में प्रकट हुआ करता था, वही अध्ययन तथा अनुभव के प्रकाश में निखर कर उनके परिपूर्ण सौन्दर्य-बोध में ढल गया था।

इस प्रकार पन्त जी के लिए कला ऐसे सौन्दर्य की अभिव्यंजना थी जिसमे सामूहिक जीवन और उसके विकास का ऊर्ध्व और समतल संचरण समवेत रूप मे प्रतिफलित हो। पन्त जी के समान ही प्रतिष्ठित, हिन्दी की कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपने समन्वित काव्य-संकलन "यामा" की भूमिका में लिखा ह कि "सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है।" महादेवी जी के काव्य मे कला-तत्त्व बहुत समृद्ध रूप में पाया जाता है और वे कवयित्री होने के साथ ही चित्रकला की भी साधिका थीं। उनकी दृष्टि में भी कला का साध्य सौन्दर्य न होकर सत्य ही है। इस रूप में हमें इन दोनों महान् काव्य-साधकों की काव्य-दृष्टि अथवा कला-दृष्टि में समानता दिखाई देती है। महादेवी जी के साहित्य में सत्य के स्वरूप की उतनी स्पष्ट और विशद व्याख्या हमें देखने को नहीं मिलती जितनी पन्त जी के साहित्य में हमें मिलती है। पन्त जी के लिए सत्य जीवन का ही सत्य है, जीवन से विरहित सत्य के किसी स्वरूप को वे स्वीकार करते नही दिखाई देते।

पन्त जी की दृष्टि में वह कला सम्पूर्ण और सप्राण कला नहीं है जिसमे मानव-संवेदना का स्वस्थ सौन्दर्य न हो। वे लिखते हैं—"कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नही मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं जिनसे वह मर्म को स्पर्श करती हे। "युगवाणी" की अनेक पंक्तियाँ "पल्लव" की मांसल कल्पना एवं अलंकरणो से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। "आज असुन्दर लगते सुन्दर" इस आधे चरण से ही आज के युग-जीवन की विपन्न रेखा आँखों के सामने आ जाती है। क्या यह कला की शक्ति नहीं है? "बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम" में समस्त मानव-भविष्य के निर्माण का चित्र खिंच जाता है। "कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुचिर पल्लव लाली" का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नहीं है। "इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता"—"पल्लव" में ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं नहीं मिलती।.........मैंने अधिकांश उदाहरण "युगवाणी" से ही इसलिए दिये हैं क्योंकि उसमें कला का अभाव बताया जाता है। "युगवाणी" तथा "ग्राम्या" की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है। वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक न्याय की पुकार थी जिसने मुझे "युगवाणी" तथा "ग्राम्या" लिखने

को बाध्य किया। "स्वर्ण-किरण" और बाद की रचनाओं का कलापक्ष भी भाव-सौन्दर्य-मण्डित, अन्तर्दीप्त एवं मांगल्य-शक्ति-सम्पन्न है।"[15]

पन्त जी के उपर्युक्त उद्धरण में कलातत्त्व काव्य के एक अंग के रूप में भी संकेतित है। सत्य और सौन्दर्य दोनों जीवन के अविच्छेद्य उपादान हैं और मूलतः एक ही हैं। प्रसंगवश पन्त जी ने इन दोनों की चर्चा विवेचन की दृष्टि से कभी-कभी भिन्नतः भी की है, किन्तु इससे उनकी अभिन्नता खंडित नहीं होती। वे "गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न", के समान केवल कहने के लिए ही भिन्न हैं। वास्तव में वे भिन्न नहीं हैं। बात सचमुच बहुत सीधी है। सौन्दर्य जब होगा, जीवन का ही होगा। जीवन की सत्ता अस्वीकृत कर देने पर सौन्दर्य की सत्ता की कल्पना हो ही नहीं सकती। कभी-कभी किसी व्यक्तित्व के वर्णन में आन्तरिक सौन्दर्य की उपेक्षा करते हुए बाहरी सौन्दर्य और अलंकरण का वर्णन ही हमें देखने को मिलता है, पर इस बाह्य सौन्दर्य और अलंकरण का वर्णन उससे अधिक महत्त्वपूर्ण आन्तरिक व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ है, यह चेतना वर्णनकर्ता तथा पाठक अथवा श्रोता के मन में निरन्तर वर्तमान रहती है।

आन्तरिक सौन्दर्य के अभाव में बाह्य सौन्दर्य विडम्बना बन जाता है—इस सत्य की प्रतीति पन्त जी की चेतना में आरम्भ से ही थी; केवल आगे चलकर वह अधिक सचेष्ट, प्रखर तथा प्रेरक बन गयी। वे ऐसा मानते दिखाई देते हैं कि कला का स्वरूप युग की परिस्थितियों के अनुरूप और कलाकार की चेतना के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। जीवन-विकास की गति जब संघर्ष की स्थिति में होती है तब कला और साहित्य में सत्य की खोज और स्थापना का स्थान प्रमुख हो जाता है; सौन्दर्य का स्वर उस स्थिति में कुछ मन्द तथा गौण हो जाता है; और जब जीवन-विकास विगत संघर्ष के फलस्वरूप कुछ समय के लिए थोड़ी स्थिरता पा लेता है तो उस युग की कला में सत्य की तुलना में सौन्दर्य का स्वर प्रमुख हो जाता है।

पन्त जी ने कला को केवल विलास और मनोरंजन का साधन कभी नही माना। उनकी दृष्टि में कला मानव के सांस्कृतिक विकास का साधन थी। इस कारण वे मानवीय दृष्टि से कलाकारों का विशिष्ट विकास आवश्यक मानते थे। साहित्यकारों तथा कलाकारों को सम्बोधित करते हुए अपने एक अभिभाषण के आरम्भ में ही उन्होंने कहा था—

"मैं स्वतंत्र भारत के नवयुवक कलाकारों का स्वागत करता हूँ। मैं उनकी आँखों में सौन्दर्य के स्वप्न, उनके हृदय की धड़कन में संस्कृत भावनाओं का

संगीत और उनके सुन्दर मुखों पर मनुष्यत्व के गौरव की झलक देखना चाहता हूँ। आप बुद्धिजीवी तथा कलाकार हैं। आपका क्षेत्र भीतर का क्षेत्र है। आपको सूक्ष्म का परिचालन करना है। आपको विकसित मस्तिष्क के साथ संस्कृत हृदय की भी आवश्यकता है। विकसित मस्तिष्क से मेरा अभिप्राय युग के प्रति प्रबुद्ध, विश्व-जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक मन से हैं, और संस्कृत हृदय से मेरा प्रयोजन उस हृदय से है जिसमें राग-द्वेष आदि जैसी विरोधी वृत्तियों में मनन तथा साधना द्वारा सन्तुलन आ गया हो तथा जो नवीन सांस्कृतिक चेतना के प्रति उद्‌बुद्ध हो। ऐसा सन्तुलन साधारण लोक-जीवन से ऊँचे ही स्तर पर स्थापित किया जा सकता है और परिस्थितियों की चेतना से ऊपर उठने के लिए एक कला-जीवी सौन्दर्य-स्रष्टा को प्रारम्भ में स्वस्थ अभ्यासों, उन्नत संस्कारो एवम् विकसित रुचियों के प्रभावों की आवश्यकता होती है।''[16]

कलाकारों के सम्बन्ध में आजकल यह सामान्य धारणा फैली हुई है कि कलाकार अपने जीवन में असंतुलित एवम् अस्त-व्यस्त होते हैं। बहुत से कलाकार ओर कला-समीक्षक भी कला की सर्जना के लिए तीव्र रागात्मकता को ही महत्त्व देते हैं और कला के प्रभाव की चरम परिणति भी भावोद्‌वेग के जागरण मे ही मानते हैं। पन्त जी इतना तो मानते थे कि महान् कलाकारों में स्वभावतः ही प्राणशक्ति का अधिक प्रवाह तथा प्रसार देखने को मिलता है, पर वे ऐसा कहने के साथ ही आगे यह भी कहते हैं कि ''एक कलाकार के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि वह किसी मत या वाद के प्रभाव से अथवा तीव्र राग-विराग के कारण विशेष अभ्यासों की सीमाओं के भीतर न बँध जाये। उसे सदैव मुक्त-हृदय, सवेदनशील तथा ग्रहणशील बने रहना चाहिये और अपने प्राणों के आवेष्टन को परिष्कृत कर उसे सौन्दर्य-ग्राही, ऊर्ध्वगामी बनाकर द्वेष-क्रोध आदि की निम्न वृत्तियों से ऊपर उठना चाहिये जिससे उसके प्राणों के प्रवाह में एक संगीत, सामंजस्य, तन्मयता, व्यापकता तथा भिन्न-स्वभावधर्मा मानव-समूह के प्रति सौन्दर्य तथा सहानुभूति का संचार हो सके।''[17]

कलाकार का व्यक्तित्व कैसा होना चाहिये, इसकी चर्चा करने के बाद अपने उसी अभिभाषण में पन्त जी ने कलाकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है—''किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिये—(1) सौन्दर्य-बोध, (2) व्यापक गम्भीर अनुभूति और (3) उपयोगी सत्य। उनका रहस्य-मिश्रण ही कलावस्तु मे लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमें देखना चाहिये कि कलाकार

क सौन्दर्य-दर्शन में कितना मार्जन, ऊर्ध्वप्राणता तथा रहस्य-संकेत है। वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से तो कुण्ठित नहीं और यदि है तो उसका कारण वाह्य उपादानों में है या अन्तर के भावसत्य में। दूसरे, हमें यह देखना चाहिये कि उसकी अनुभूति में कितनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है, उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया है—भीतर के जिस दर्पण में उसने मानव-जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है, वह चेतना कितनी सूक्ष्म, प्रभावशाली तथा अतलस्पर्शी है। तीसरे, हमें विचार करना चाहिये उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक-जीवन की भीतरी-बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है या नहीं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमारे पास तुलसीकृत रामायण है, जो व्यक्ति के अन्तर्तम-विकास मे भी अपने युग की सीमाओं के भीतर सहायता पहुँचाता है तथा लोक-समुदाय को भी बल प्रदान करता है। किन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण मेरी दृष्टि में एक और भी वस्तु है, जिसके पूरक उपर्युक्त तीनों मान हैं, वह है किसी कलाकृति में पाये जाने वाले सांस्कृतिक तत्त्व, अर्थात् जो चेतना, जो प्रकाश, जो संस्कार किसी कलाकृति को पढ़ने पर अज्ञात रूप से आपको प्रभावित कर आपका निर्माण करने में सफल होते हैं, जिन सूक्ष्म उपादानों का एक कलाकृति सक्रिय वितरण करती है।.......हमें सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति सबसे अधिक चैतन्य रहना चाहिये। संस्कृति मानव-चेतना का सार पदार्थ है।.........संस्कृति में हमारी धार्मिक, नैतिक तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों का ही सार-भाग नहीं रहता, उसमें हमारे सामाजिक जीवन में बरते जाने वाले आचार-विचार एवं व्यवहारों के भी सौन्दर्य का समावेश रहता है।"[18]

कला और कलाकारों के सम्बन्ध में पन्त जी के मन में कितना आदरभाव था और उनके प्रति उनके दृष्टिकोण में कितनी गहराई थी, इसका निदर्शन उनकी उपर्युक्त पंक्तियों में हमें मिलता है। किन्तु पन्त जी के लिए वही कला, कला थी और वही कलाकार, कलाकार था जो मानव-जीवन के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में साधक बने। इस प्रकार का कला-सृजन कलाकार नामधारी हर व्यक्ति नहीं कर सकता। आत्म-साधना के माध्यम से जिसने अपने व्यक्तित्व को सांस्कृतिक मानों के साथ एकाकार कर दिया हो, वही सच्चे अर्थों में कलाकार हो सकता है। कला और साहित्य के सांस्कृतिक लक्ष्य को महत्त्व देते हुए ही पन्त जी ने अपने परवर्ती काव्य को स्वयं ही "नव-संस्कृति-काव्य" कहकर उसका परिचय दिया है। मानव-जीवन के सांस्कृतिक विकास में कला की उपयोगिता

और महत्ता को स्वीकार करते हुए ही उन्होंने अपने विशद आधुनिक महाकाव्य "लोकायतन" के दूसरे खण्ड में, जिसे उन्होंने "अन्तश्चैतन्य" कहा है, सबसे पहले "कलाद्वार" नामक सर्ग का समावेश किया है। "लोकायतन" में जिस सांस्कृतिक केन्द्र की कल्पना की गयी है उसमें अन्य प्रकार के सांस्कृतिक आयोजनों के साथ-साथ विभिन्न कलाओं की साधना को भी उपयुक्त महत्त्व दिया गया है। इस सम्बन्ध में "लोकायतन" की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं–

> "सीखते चित्र नृत्य संगीत, शब्द वर्णों के नव स्वरकार,
> आँकती तूलि भाव का रूप, लोक-भू का करने शृंगार।
> मूर्त करते अमूर्त युग-स्वप्न, सूक्ष्म में भर जीवन झंकार,
> शिल्प का करते वे उपयोग धरा-जीवन-सौन्दर्य निखार।
> कला क्या? कहता हरि सोन्मेष, असंगति में संगति भर नव्य
> असुन्दर में सुन्दर की खोज, रूप गढ़ना जन-भू का भव्य।
> खण्ड कुंठित को लय रसपूर्ण, गूढ़ अन्तः स्वर को कर श्रव्य
> हटाना क्षण मुख का कटु धूम, आँक उर में स्वर्गिक भवितव्य
> ध्वनित कर गुहा निहित सित सत्य, श्रेय को शोभांचल में बाँध
> धरा प्राणों का उन्मद छंद, लोक हित स्वर मंगल में साध,
> अचेतन तम का मुख-मद चूम, कला को करना रस संस्कार
> नरक को जगा स्वर्ग में–ऊर्ध्व शिखर में भर समदिक् विस्तार।"[19]

कला की सार्थकता और स्वरूप का परिचय देने की दृष्टि से पन्त जी के "लोकायतन" की ये पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। चित्र, नृत्य, संगीत आदि का काम यही है कि वे लोक-भू का शृंगार करें। पन्त जी के विचार से कला में अमूर्त युग-स्वप्न मूर्त होते हैं और सूक्ष्म में जीवन-झंकार प्रकट होती है। शिल्प का उपयोग धरा-जीवन के सौन्दर्य को निखारना ही है। "लोकायतन" का विवेकवान पात्र हरि उन्मेष के साथ यह कहता है कि असंगति में नव्य संगति भर कर और असुन्दर में सुन्दर की खोज करके जन-भू का सत्य रूप गढ़ना ही कला है। कला जीवन की कुंठा को लय-रस पूर्ण करती है, गूढ़ अन्तःस्वर को श्रव्य बनाती है और क्षण-जीवन के कटु धूम को हटाकर मानवता के हृदय में स्वर्गिक भवितव्य का रूप अंकित करती है। मानव-चेतना के निहित सित-सत्य को ध्वनित कर, श्रेय को सौन्दर्य के अंचल में बाँधकर और धरती के प्राणों के भावोद्वेग को लोकहित के मंगलस्वर में साधकर कला अचेतन के मुख-मद को चूमकर रस-संस्कार की साधना करती है। वह नरक को स्वर्ग का सोपान बनाती है और चेतना के ऊर्ध्व

शिखर में सम्यक् जीवन के सौन्दर्य का विस्तार करती है।

पन्त जी की ये पंक्तियाँ कला के उस रूप का परिचय नहीं देतीं जो आज की व्यावसायिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित होकर रची जाती है। इन पंक्तियों में पन्त जी ने कला के प्रकृत और श्रेष्ठ स्वरूप का परिचय दिया है और जीवन-संस्कार के साधक तत्त्व के रूप में उसकी चर्चा की है। कला का यह श्रेय रूप ही कला का वास्तविक रूप है और अपनी इस सांस्कृतिक श्रेयस्करता के कारण ही कला एक महनीय साधना मानी जाती रही है और भविष्य में भी मानी जाती रहेगी। कला के वास्तविक श्रेयस्कर रूप के सम्बन्ध में इतनी आन्तरिक निष्ठा से युक्त परिचयात्मक प्रशस्ति बहुत कम कलाकारों तथा साहित्यकारों ने की है। यहाँ इस बात को फिर दोहराने को जी चाहता है कि कला को जो आन्तरिक सम्मान पन्त जी ने दिया है और उसके शुभ्र रूप को जिस गहराई से पहचाना है, वह अपने आप में उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक विशिष्ट परिचय है।

पन्त जी ने बहुत स्पष्ट रूप से कहा है कि "कला का अस्तित्व जीवन में लय होकर तदाकार हो जाना है। वस्तुतः बाह्य जीवन का सूक्ष्म रूप ही अन्तर्जीवन है। इस कला का प्रकटीकरण आत्माभिव्यक्ति या आत्मपरिणति में होता है जिससे पूर्ण समन्वय का प्रीतिपाश स्थापित होता है।"[20] पन्त जी को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अन्तर और बाह्य, स्वान्तः और बहुजन तथा कला और जीवन एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। उनका कहना है कि–"हमारे वर्तमान व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी अथवा अन्तर-बाह्य-सम्बन्धी ऊपरी विरोधों के नीचे हमारी चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरों में एक नवीन सन्तुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है, जो आज के विभिन्न दृष्टिकोणों को एक नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामंजस्य में बाँध देगी। जीवन स्वयं एक विराट् कला तथा कलाकार है और एक महान् कलाकार के कुशल करों में "कला कला के लिए" होने पर भी जीवनोपयोगी ही बनी रहेगी और कला जीवन के लिए होते हुए भी कलात्मक अथवा कला के लिए रहेगी।

"कला द्वारा आत्माभिव्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है और लोक-कला की परिणति भी आत्मप्रकटीकरण अथवा आत्माभिव्यक्ति में हो सकती है। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्य-स्रष्टा तथा कला प्रेमी विद्वान् वस्तुवाद तथा आदर्शवाद को एक ही मानव-जीवन के सत्य की दो बाँहों की तरह मानकर वर्तमान युग के विचारों की इस विशृंखलता को सामंजस्य के

व्यापक प्रीतिपाश में बाँध सकोगे।''''

पन्त जी का यह कथन यहाँ यही प्रदर्शित करने के लिए उद्धृत किया गया है कि उनकी दृष्टि में कला और जीवन की सत्ता अभिन्न थी। व्यक्ति और समाज की पारस्परिक अभिन्नता और निर्भरता सम्बन्धी उनकी मान्यता का संकेत उनके तत्त्व-दर्शन तथा समाजदर्शन के प्रसंग में किया जा चुका है। इन पंक्तियों में पन्त जी कला और जीवन की पारस्परिक अभिन्नता और निर्भरता का भी व्याख्यान करते हुए हमें दिखाई देते हैं। उनकी आस्था थी कि आज के व्यक्ति तथा समाज एवं अन्तर-बाह्य-सम्बन्धी ऊपरी विरोधों के नीचे मानवीय चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरों में एक नवीन सन्तुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है जो सम्पूर्ण भू-जीवन को नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामंजस्य में बाँध देगी। पन्त जी की जीवन-व्यापी कला-साधना और कला में उनकी गहन निष्ठा के मूल में हमें उनकी यही आस्था निरन्तर सक्रिय दिखाई देती है। कला की शक्ति और उसके इस महत् उद्देश्य के सम्बन्ध में उनकी निष्ठा कभी भी कुंठित और मन्द नहीं हुई।

"शिल्पी" नामक अपने काव्य-रूपक में भी उन्होंने उसके नायक शिल्पी से कहलाया है—

"ईश्वर! अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ!
युग-विप्लव की पृष्ठभूमि साकार हो गयी,
प्रस्तर के उर में युग-जीवन का समुद्र ही
हिल्लोलित हो उठा शुद्ध जन आवेगों में!

× × × ×

मूर्त हो उठा नव युग का इतिहास वृत्त ही।
सीमा में निस्सीम, अमरता को मृण्मय में
बाँध दिया शाश्वत को क्षण में रहस शिल्प ने।
रूप बढ़ गया है अरूप से, स्थूल सूक्ष्म से।

× × × ×

बिना शिखर के पर्वत कैसा ? वह गौरवमय
शिखर अभी ओझल है तुझ से, आवृत है मन।
उसके बिना प्रभावशून्य है दृश्य-पटी यह।
युग की आत्मा को युग-जीवन के प्रतीक को
मुझे प्रतिष्ठित करना होगा मानव-मन की

युग निर्मम पाषाण शिला पर, कला स्पर्श से।
तभी सफल होगा मेरा यह स्वप्न शिल्प का।"[22]

काव्यरूपक 'शिल्पी' में शिल्पी (पात्र) अपनी कला-साधना के सम्बन्ध में अपना असंतोष इन शब्दों में प्रकट करता है—

"आज कला को अभिनव को कल्पित करना है,
मिट्टी की जड़ता में फूँक सके जो जीवन।
हार गया मैं खोंट खोंट पाषाण शिला को
पर आदर्श नहीं अँट पाता रेखाओं में,
सूक्ष्म सत्य, छाया-सा खिसक दूर हट जाता।"[23]

शिल्पी का यह असन्तोष वास्तव में पन्त जी का उस समय का अपना असन्तोष ही था। पर उनकी काव्य-कला की साधना की पूर्णता पर पहुँची पन्त जी की परवर्ती रचनाओं में हमें अद्भुत दिव्यता और प्रेरक शक्ति दिखाई देती है। पन्त जी के सम्पूर्ण साहित्य में उनकी व्यापक विचारधारा के समान उनके कला-चिन्तन के सम्बन्ध में भी हमें यही सत्य उभर कर सामने आता दिखाई देता है कि जिन प्रतीतियों की अस्फुट झलक हमें उनकी आरम्भिक कृतियो मे देखने को मिलती है, वही क्रमशः उनकी रचनाओं में निरन्तर प्रस्फुट और उद्भासित होती गयी है और यह उनके चिन्तन की आत्मीय सत्यता का प्रकृष्ट प्रमाण है।

सन्दर्भ-संकेत



1. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन (निबन्ध), पृ. 413
2. वही, आज की कला और संस्कृति के क्षेत्र में अशान्ति के मूल कारण, पृ. 422
3. सु. पन्त ग्रंथावली भाग 1, पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 149
4. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन, पृ. 415
5. वही, पृ. 416
6. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मान्यताएँ बदल रही हैं, पृ. 362
7. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, चिदम्बरा चरण-चिह्न, पृ. 309
8. युगवाणी—नवदृष्टि कविता, पृ. 18

व्यापक प्रीतिपाश में बाँध सकेंगे।''

पन्त जी का यह कथन यहाँ यही प्रदर्शित करने के लिए उद्धृत किया गया है कि उनकी दृष्टि में कला और जीवन की सत्ता अभिन्न थी। व्यक्ति और समाज की पारस्परिक अभिन्नता और निर्भरता सम्बन्धी उनकी मान्यता का संकेत उनके तत्त्व-दर्शन तथा समाजदर्शन के प्रसंग में किया जा चुका है। इन पंक्तियों में पन्त जी कला और जीवन की पारस्परिक अभिन्नता और निर्भरता का भी व्याख्यान करते हुए हमें दिखाई देते हैं। उनकी आस्था थी कि आज के व्यक्ति तथा समाज एवं अन्तर-बाह्य-सम्बन्धी ऊपरी विरोधों के नीचे मानवीय चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरों में एक नवीन सन्तुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है जो सम्पूर्ण भू-जीवन को नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामंजस्य में बाँध देगी। पन्त जी की जीवन-व्यापी कला-साधना और कला में उनकी गहन निष्ठा के मूल में हमें उनकी यही आस्था निरन्तर सक्रिय दिखाई देती है। कला की शक्ति और उसके इस महत् उद्देश्य के सम्बन्ध में उनकी निष्ठा कभी भी कुंठित और मन्द नहीं हुई।

''शिल्पी'' नामक अपने काव्य-रूपक में भी उन्होंने उसके नायक शिल्पी से कहलाया है—

> ''ईश्वर! अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ!
> युग-विप्लव की पृष्ठभूमि साकार हो गयी,
> प्रस्तर के उर में युग-जीवन का समुद्र ही
> हिल्लोलित हो उठा शुद्ध जन आवेगों में!
>
> × × × ×
>
> मूर्त हो उठा नव युग का इतिहास वृत्त ही।
> सीमा में निस्सीम, अमरता को मृण्मय में
> बाँध दिया शाश्वत को क्षण में रहस शिल्प ने।
> रूप बढ़ गया है अरूप से, स्थूल सूक्ष्म से।
>
> × × × ×
>
> बिना शिखर के पर्वत कैसा ? वह गौरवमय
> शिखर अभी ओझल है तुझ से, आवृत है मन।
> उसके बिना प्रभावशून्य है दृश्य-पटी यह।
> युग की आत्मा को युग-जीवन के प्रतीक को
> मुझे प्रतिष्ठित करना होगा मानव-मन की

युग निर्मम पाषाण शिला पर, कला स्पर्श से।
तभी सफल होगा मेरा यह स्वप्न शिल्प का।"[22]

काव्यरूपक 'शिल्पी' में शिल्पी (पात्र) अपनी कला-साधना के सम्बन्ध में अपना असंतोष इन शब्दों में प्रकट करता है—

"आज कला को अभिनव को कल्पित करना है,
मिट्टी की जड़ता में फूँक सके जो जीवन।
हार गया मैं खोंट खोंट पाषाण शिला को
पर आदर्श नहीं अँट पाता रेखाओं में,
सूक्ष्म सत्य, छाया-सा खिसक दूर हट जाता।"[23]

शिल्पी का यह असन्तोष वास्तव में पन्त जी का उस समय का अपना असन्तोष ही था। पर उनकी काव्य-कला की साधना की पूर्णता पर पहुँची पन्त जी की परवर्ती रचनाओं में हमें अद्भुत दिव्यता और प्रेरक शक्ति दिखाई देती है। पन्त जी के सम्पूर्ण साहित्य में उनकी व्यापक विचारधारा के समान उनके कला-चिन्तन के सम्बन्ध में भी हमें यही सत्य उभर कर सामने आता दिखाई देता है कि जिन प्रतीतियों की अस्फुट झलक हमें उनकी आरम्भिक कृतियों में देखने को मिलती है, वही क्रमशः उनकी रचनाओं में निरन्तर प्रस्फुट और उद्भासित होती गयी है और यह उनके चिन्तन की आत्मीय सत्यता का प्रकृष्ट प्रमाण है।

सन्दर्भ-संकेत

●

1. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन (निबन्ध), पृ. 413
2. वही, आज की कला और संस्कृति के क्षेत्र में अशान्ति के मूल कारण, पृ. 422
3. सु. पन्त ग्रंथावली भाग 1, पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 149
4. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन, पृ. 415
5. वही, पृ. 416
6. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मान्यताएँ बदल रही हैं, पृ. 362
7. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, चिदम्बरा चरण-चिह्न, पृ. 309
8. युगवाणी—नवदृष्टि कविता, पृ. 18

9. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग 2, पर्यालोचन, पृ. 269
10. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन-कला का द्वार, पृ. 143
11. वही
12. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन, कला का द्वार, पृ. 144
13. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, आधुनिक कवि : भाग दो--पर्यालोचन, पृ. 283-284
14. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मैं और मेरा परिवेश, पृ. 186
15. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, चिदम्बरा--चरणचिह्न (भूमिका), पृ. 309
16. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन, पृ. 417
17. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला और संस्कृति, पृ. 417
18. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला और संस्कृति, पृ. 418
19. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 5, लोकायतन--कलाद्वार, पृ. 162
20. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, कला का प्रयोजन, पृ. 417
21. वही
22. शिल्पी, सु. पन्त--पृ. 14-15-16, प्र. सं. 1952
23. वही, पृ. 17, प्र. सं. 1952

द्वितीय अध्याय

पन्त जी का साहित्य-चिन्तन

पन्त जी का सम्पूर्ण जीवन इस बात का प्रमाण है कि साहित्य के महत्त्व आर शक्ति में उनकी गहन निष्ठा थी और उस निष्ठा ने ही उन्हें आजीवन साहित्य-साधना में निरत रखा। उनकी साहित्य-साधना का अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू तो उनकी साहित्यिक रचनाशीलता ही थी, किन्तु साहित्य के स्वरूप का चिन्तन भी पन्त जी ने बहुत गहराई से किया था और उसके फलस्वरूप प्राप्त अपने साहित्यिक दृष्टिकोण का परिचय भी उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रचुरता के साथ दिया है। यह ठीक है कि पन्त जी औपचारिक रूप में साहित्य-शास्त्री नही थे और न साहित्य की आलोचना को उन्होंने अपने कृतित्व का प्रमुख अंग ही बनाया था, परन्तु अपनी काव्य-रचनाओं की भूमिकाओं में, साहित्यिक आयोजनों के अवसरों पर दिये गये अपने अभिभाषणों में, आकाशवाणी से प्रसारित अपनी बहुसंख्यक वार्ताओं में, अपनी आत्म-परिचायक कृतियों में तथा विभिन्न विषयो पर लिखे गये अपने निबन्धों में उन्होंने साहित्य के सम्बन्ध में अपने मन्तव्यों का प्रचुर उल्लेख किया है। उनकी साहित्यिक दृष्टि का निहित रूप हमें उनकी साहित्यिक कृतियों में भी दिखाई देता है। पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व की चर्चा के प्रसंग में उनके साहित्यिक विचारों की चर्चा का अपना विशिष्ट महत्त्व है और इस ग्रन्थ के प्रस्तुत अध्याय में उन्हीं के आकलन का प्रयास किया जा रहा है। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी उपयुक्त है कि पन्त जी के साहित्य सम्बन्धी विचार हमें उनकी विविध रचनाओं में बिखरे हुए मिलते हैं। अपने साहित्यिक दृष्टिकोण का आख्यान उन्होंने अलग-अलग प्रसंगों में स्फुट रूप से ही किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने साहित्यशास्त्र की अपेक्षाओं के अनुरूप किसी क्रम अथवा व्यवस्था के साथ अपनी साहित्यिक मान्यताओं का निरूपण नही किया है। किन्तु अध्ययन और प्रस्तुतीकरण की सुविधा की दृष्टि से मैंने साहित्य-शास्त्र के कुछ प्रचलित शीर्षकों को स्वीकार करते हुए ही पन्त जी के

साहित्यिक विचारों को संकलित और नियोजित करने का प्रयास किया है।

सुमित्रानन्दन पन्त मूलतः एक साहित्यकार और साहित्यकार के रूप में भी मुख्यतः एक कवि थे। कला के सम्बन्ध में उनकी जिन उक्तियों और मान्यताओं का विवरण विगत पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है, वे भी साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही व्यक्त की गयी हैं। जैसा पहले संकेतित किया जा चुका है वे साहित्य को कला का ही अंग मानते थे। अतः कला के सम्बन्ध मे उन्होंने जो कुछ प्रकट अथवा निहित रूप में अभिव्यक्त किया है वह साहित्य के सम्बन्ध में भी ज्यों-का-त्यों लागू होता है। पन्त जी का कला-चिन्तन उनकी साहित्यिक मान्यताओं को भी प्रायः सम्पूर्णतः प्रकट कर देता है। साहित्य को केन्द्र में रखकर ही पृष्ठभूमि के रूप में पन्त जी ने कला-सम्बन्धी पूर्वोक्त बाते कही हैं। कला के क्षेत्र में उनका विचारणीय विषय वस्तुतः साहित्य ही था और साहित्य के सम्बन्ध में ही उन्होंने अधिक विचार प्रकट किये हैं।

वे एक विराट् साहित्यिक प्रतिभा से युक्त व्यक्तित्व के रूप में आधुनिक भारतीय कला के क्षेत्र में प्रकट हुए थे। हिन्दी के बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण साहित्य की आत्मा, विशेष रूप से काव्य के विकास का इतिहास, उनके कृतित्व मे निहित है। इस शताब्दी के सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य की विकास-प्रक्रिया के एक अग के रूप में पन्त जी की साहित्य-साधना और साहित्यिक चिन्तन का अवलोकन करने से ही उनकी साहित्यिक दृष्टि के स्वरूप एवं उसके विकास की गति को समझ पाना संभव है। पन्त जी के साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने के लिए बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में आ रहे सामाजिक (राजनीतिक-आर्थिक) परिवर्तन तथा तत्कालीन भारतीय समाज के आध्यात्मिक जीवन को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है। समाज में जब युगान्तर आता है तब उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति साहित्य में भी होती है। सामाजिक परिवर्तन की लहर अपने आप में बड़ी शक्तिशाली होती है, उससे जहाँ नव निर्माण के लिए प्रेरणा मिलती है वहीं नव निर्माण के प्रेरक नये माध्यमों का जन्म अथवा पुराने माध्यमों में नये उन्मेषों का प्रादुर्भाव होता है।

पन्त जी भी मानते थे कि साहित्यिक मान्यताएँ अपने आप ही किसी काल्पनिक कारण से नहीं बदला करती हैं या आसमान से नहीं टपकती है, उनका घनिष्ट सम्बन्ध मानव-जगत् की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों एवं आन्दोलनों से होता है। अतएव जिस युग में मानव-समाज मे सांस्कृतिक, वैचारिक तथा जीवन-पद्धतियों से सम्बन्ध रखने वाले परिवर्तन दृष्टिगोचर

होने लगते हैं, उस युग के साहित्य में भी उसका प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है। यदि जन-समाज प्रबुद्ध तथा जाग्रत् हो, तो ये परिवर्तन पहली जीवन-प्रणालियों तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोणों अथवा जीवन-दर्शन में भी प्रकट हो सकते ह, अन्यथा ये युग-द्रष्टा साहित्य-मनीषियों की वाणी के रूप में अभिव्यक्त होकर जन-समाज का ध्यान आकर्षित करते हैं।

पन्त जी के युग का जन-समाज एक सीमा तक प्रबुद्ध तथा जाग्रत् था। इस कारण जीवन के प्रति पुराने दृष्टिकोणों में भी हमें उस युग का परिवर्तन घटित होता हुआ दिखाई देता है, और साथ ही उस काल के युग-द्रष्टा साहित्य-मनीषियों की वाणी के रूप में भी हमें युग-परिवर्तन की झलक दिखाई देती है। उन युग-द्रष्टा साहित्य-मनीषियों में पन्त जी का भी बहुत विशिष्ट स्थान है। इस दृष्टि से पन्त जी के साहित्यिक विचारों का अपना विशेष महत्त्व है।

पन्त जी के समय में समाज तथा राजनीति में एक विद्रोही भावना का जन्म हो चुका था, जिसका प्रवेश कला तथा साहित्य में भी हुआ। साहित्य जीवन के प्रभाव से पृथक् नहीं रह सकता। इसीलिए साहित्यकार पन्त जी ने रूढ़िवादी रीतिकालीन परम्परा से विद्रोह किया, प्राचीन काव्य-भाषा (ब्रजभाषा एवं अवधी) से विद्रोह करके खड़ी बोली को काव्योचित, कोमल तथा प्रवाहपूर्ण बनाया एवं काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य तथा समृद्धि को महत्त्वपूर्ण मानते हुए स्थूल उपयोगिता के स्थान पर सूक्ष्मतर मानदण्डों की स्थापना का प्रशंसनीय प्रयास किया। काव्याभिव्यंजन के प्राचीन आयाम पन्त जी के लोकमंगल की चेतना को पूर्ण वैभव तक नहीं पहुँचा सकते थे। उन्होंने विचारों की स्वतंत्रता, भावों की स्वच्छन्दता, अभिव्यंजना की नव क्षमता तथा नव रूपाभिव्यक्ति को साध्य-सिद्धि के अभीष्ट परिपाक तक पहुँचाया। उनके इस प्रयास में छायावादी काव्य के ही नहीं अपितु काव्यमात्र के रसास्वादन तथा आलोचन के लिए एक नयी दृष्टि का भी समावेश हुआ है। उनका कला-चिन्तन तो बहुत कुछ कला के स्वरूप और कला के उद्देश्य तक ही सीमित है, किन्तु उनका साहित्य-चिन्तन साहित्य के, यदि सभी नहीं तो, बहुसंख्यक आयामों को स्पर्श करता है। पन्त जी जहाँ साहित्य को कला का अंग मानते थे, वहीं यह भी मानते थे कि कलाओं में सबसे अधिक समर्थ और महत्त्वपूर्ण विधा साहित्य ही है। मानव की सजीव संवेदना मानव-जीवन का सनातन सत्य है। जीवन को रस द्वारा सजीवनी शक्ति मिलती है। पन्त जी के विचारानुसार यह सृजनात्मक चेतना जितनी साहित्य में अभिव्यक्त हो सकती है और चिरकाल तक सुरक्षित रह

सकती है, उतनी किसी अन्य कला के माध्यम से संभव नहीं है।

पन्त जी की दृष्टि में साहित्य का स्वरूप

प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्री साहित्य को कला से कुछ भिन्न वस्तु माना करते थे। उन्हें साहित्य की वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत करने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ था, और फिर भी उनमें से किसी की भी दी हुई साहित्य की परिभाषा सर्वमान्य नहीं हुई। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में "वाङ्मय", "साहित्य" और "काव्य" इन तीनों शब्दों को लेकर भी अर्थव्याप्ति सम्बन्धी सन्देह की स्थिति बनी रही। यह सन्देह 'वाङ्मय' शब्द को लेकर उतना नही रहा जितना 'साहित्य' और 'काव्य' के सम्बन्ध में रहा है। "वाङ्मय" एक बहुत व्यापक शब्द है और उसके अन्तर्गत वाणी का वह समस्त व्यापार आ जाता है, जिसमें किसी विशिष्ट अभिप्राय की अभिव्यक्ति हुई हो। शास्त्र, विज्ञान और कला से सम्बन्धित समस्त वाणी का व्यापार वाङ्मय की परिधि में आता है। साहित्य और काव्य दोनों "वाङ्मय" के विस्तार के अन्तर्गत ही आते है। संस्कृत काव्यशास्त्र में "साहित्य" और "काव्य" दोनों ही शब्द प्रायः समानार्थी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु अब "साहित्य"शब्द का प्रयोग कुछ अधिक व्यापक अर्थ में और "काव्य" शब्द का प्रयोग साहित्य की एक विधा-विशेष के नाम के रूप में किया जाने लगा है। साहित्य के अन्तर्गत काव्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी, संस्मरण, यात्राविवरण तथा रिपोर्ताज जेसी विविध विधाएँ आजकल मानी जाती हैं। उनमें से कुछ गद्यात्मक और कुछ पद्यात्मक एवं कुछ प्राचीन तथा कुछ नवीन विधाएँ हैं।

वर्तमान साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में "काव्य" शब्द लगभग उसी अर्थ मे प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में अंग्रेज़ी में "पोएट्री" शब्द का प्रयोग होता है। पन्त जी ने भी "साहित्य" और "काव्य" इन शब्दों के प्रयोग में प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र की अर्थ-सम्बन्धी द्विविधा को यत्र-तत्र आ जाने दिया है। "काव्य" शब्द का प्रयोग प्रायः तो वे "पोएट्री" के सीमित अर्थ में करते हैं, लेकिन अनेक स्थानों पर वे इस शब्द का प्रयोग साहित्य के व्यापक अर्थ में भी करते दिखाई देते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पन्त जी का साहित्य-शास्त्रीय अध्ययन केवल भारतीय काव्य-शास्त्र के अध्ययन तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने पाश्चात्य साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं का भी अध्ययन और मनन किया था और उनका प्रभाव भी उनके साहित्य-चिन्तन पर दिखाई देता है। पाश्चात्य

चिन्तन का पहला प्रभाव तो हमें पन्त जी के ऊपर यही दिखाई देता है कि व साहित्य को कला का एक अवयव मानते हैं और यह कहते हैं कि साहित्य कला का वह रूप है जो शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षक मैथ्यू आर्नल्ड के साहित्य-विवेचन को अपनाते हुए उन्होंने साहित्य के स्वरूप का परिचय इन शब्दों में दिया है कि "साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है।"[1]

साहित्य के व्यापक आयाम का परिचय देते हुए पन्त जी ने लिखा है—"आप केवल पाठ्य-पुस्तकों को रटकर ही साहित्य के अन्तस्तल में नहीं पैठ सकते और न उसका महत्त्व ही समझ सकते हैं। साहित्य की ओर आकर्षित होना और उसका रस ले सकना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य के मर्म को समझने का अर्थ है वास्तव में मानव-जीवन के सत्य को समझना। साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है। उसमें मानव-चेतना की ऊँची-से-ऊँची चोटियों का प्रकाश, मन की लम्बी-चौड़ी घाटियों का छायातप तथा जीवन की आकांक्षाओं का गहरा रहस्यपूर्ण अन्धकार संचित है। उसमें मानव-सभ्यता के युग-युग-व्यापी संघर्ष का प्रच्छन्न इतिहास तथा मनुष्य के आत्म-विजय का दर्शन अनेक प्रकार के आदर्शों, अनुभूतियों, रीति-नीतियों तथा भावनाओं की सजीव संवेदनाओं के रूप में संगृहीत है। यदि साहित्य को पढ़कर हम मनुष्य-जीवन को संचालित करने वाली शक्तियों तथा उनके विकास की दिशा को नहीं समझ सके, तो हम वास्तव में साहित्य के विद्यार्थी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि आप साहित्य को मनुष्य-जीवन के सनातन संघर्ष से कोई विभिन्न वस्तु न समझें, बल्कि उसे जीवन के दर्शन अथवा जीवन के दर्पण के रूप में देखें। उस दर्पण में जहाँ आप आत्मचिन्तन द्वारा अपने मुख को पहचानना सीखें; वहीं अपनी सहानुभूति को व्यापक तथा गम्भीर बनाकर उसके द्वारा अपने विश्व-रूप की अथवा मानव के विश्वदर्शन की भी रूप-रेखा का आभास प्राप्त करना सीखें।"[2]

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में "लिट्रेचर" अर्थात् साहित्य को दो स्थूल भागों में विभाजित किया गया है—ज्ञान का साहित्य (लिट्रेचर ऑफ़ नॉलेज) और शक्ति का साहित्य (लिट्रेचर ऑफ़ पॉवर)। पन्त जी ने साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य चिंतन की इस मान्यता को एक समन्वय में ढाल दिया है। वे कहते हैं—"साहित्य के अध्ययन का अर्थ है "रस द्वारा ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान ही की शक्ति भी है। अतएव आप जब तक ज्ञान द्वारा शक्ति का

संचय नहीं करेंगे, तब तक आप युग-जीवन का संचालन भी नहीं कर सकेंगे तथा मानव-जीवन के शिल्पी भी नहीं बन सकेंगे। आपको मनुष्य के भीतरी जीवन का नेतृत्व करना है, साहित्य का क्षेत्र अन्तर्जीवन का क्षेत्र है।"[3]

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "भावों के वाङ्मय को साहित्य कहा है", किन्तु साहित्य में अगम्भीर तथा विशृंखल भावों की अभिव्यक्ति न होकर उच्च मानवीय चेतना से समर्थित भावों की अभिव्यक्ति ही हुआ करती है। ज्ञान-साधना के बिना काव्य-साधना हो सकती है, पन्त जी यह नहीं मानते। उनके ज्ञान-संवलित साहित्य-साधना के दृष्टिकोण का समर्थन हिन्दी के दूसरे प्रसिद्ध समालोचक बाबू गुलाबराय के इस कथन से भी होता है—"जो हमारे भावों और विचारों को इकट्ठा रखकर, मानवजाति में एक-सूत्रता उत्पन्न कर तथा काव्य के शरीर-स्वरूप शब्द-अर्थ को परस्पर अनुकूलता द्वारा सप्राण बनाकर मानवहित का सम्पादन करे, वही साहित्य है।"[4]

पन्त जी ने साहित्य को सामाजिक पुनर्निर्माण का साधन माना है। उन्होंने लिखा है—"कवि अपनी युग-चेतना को अपनी अनुभूति का अंग बनाकर अपने संस्कारों के अनुकूल गम्भीर चिन्तन का रंग चढ़ाता है। उसका कर्म महान् है—साहित्यकार शान्ति, विश्वप्रेम और मानव-मूल्यों का योद्धा तथा संरक्षक है। उसे जंगल की बर्बरता को मनुष्यता में, विध्वंसक हिंसा को लोक-रचना के प्रेम में तथा पाशविक दानवता को मानवता में परिणत कर धरा-प्रकृति के मुख को संस्कृत बनाना है।"[5]

वे साहित्य अथवा काव्य के सम्बन्ध में यह भी कहते हैं कि—"कवि-वाणी में निस्सन्देह ईश्वरीय संदेश बहता है, उसके हृदय के अजिर में दैवी प्रकाश आँख-मिचौली खेलता है, उसके विषाद-सिक्त हृदय के सौन्दर्य-मधुर स्वप्नों से जीवन-मंगल तथा लोककल्याण की सृष्टि होती है।"[6]

अपने आरम्भिक किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य-संकलन "पल्लव" की "प्रवेश"—शीर्षक अतिचर्चित भूमिका में पन्त जी ने कविता अथवा साहित्य के स्वरूप का परिचय इन शब्दों में दिया है—"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्णरूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।.........कविता विश्व का अन्तरतम संगीत है, उसके आनन्द का रोम-हास है, उसमें हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म-प्रकाश है।"[7]

उसी भूमिका में पन्त जी ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि प्राणी-मात्र के हृदय की गहनतम भावनाओं को कवि अपने हृदय में अनुभव करके निजी अनुभूति से उसका तादात्म्य स्थापित करता है। इसीलिए कविता उसके अपने हृदय का संगीत होते हुए भी विश्व के मानस की भावनाओं को भी व्यक्त करती है। कविता में भावों की अभिव्यक्ति अन्य कलाओं एवं माध्यमों से भिन्न है। भावों का आन्तरिक स्पन्दन जितनी सूक्ष्मता से और स्पष्टता से सम्पूर्ण सौन्दर्य को ध्वनित करता हुआ कविता में व्यक्त होता है, उतना किसी अन्य कला में नहीं।

क्रौंचमिथुन में से एक को किसी बधिक ने मार डाला था। उसी को देखकर आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक में परिणत हो गया था। इस पौराणिक आख्यान को पन्त जी ने अपनी प्रसिद्ध काव्य-पंक्तियों में इस प्रकार प्रकट किया है–

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर नयनों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।"[8]

अपनी प्रारम्भिक कथा-काव्य-कृति "ग्रन्थि" में भी पन्त जी ने काव्य को करुणा की अभिव्यक्ति बताते हुए यह पंक्ति लिखी है–

"अश्रु! दिल की गूढ़ कविता के सरल
औ' सलोने भाव! माला की तरह।"[9]

काव्य के स्वरूप-सम्बन्धी पन्त जी की पूर्वोक्त पंक्तियों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कविता कवि की अपनी निजी और आन्तरिक अनुभूति होते हुए भी उन्हीं क्षणों में उत्पन्न होने वाली वस्तु है जब कवि का सम्पूर्ण जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित रहता है और काव्य-रचना की प्रेरणा कवि की अपनी चेतना के साथ-साथ युग-चेतना से भी जुड़ी रहती है। कवि का अपना हर्ष और विषाद सम्पूर्ण विश्व के हर्ष और विषाद के साथ एकाकार होता है और इस एकाकार की सिद्धि ही कवि की संवेदना को व्यापकता और गहराई प्रदान करती है। हर्ष की अपेक्षा विषाद की गम्भीर और व्यापक भावना काव्य-रचना को प्रेरित करने में कुछ अधिक योगदान देती हुई दिखाई देती है। पन्त जी के लिए कविता केवल किसी व्यक्ति के हृदय की निजी अभिव्यक्ति मात्र न होकर विश्व के साथ एकाकार आत्मा की भावात्मक अभिव्यक्ति थी। श्रेय तथा प्रेय

दोनों प्रकार के विचारों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को उन्होंने काव्य की संज्ञा दी। उनके मत से कविता को कुछ इने-गिने सुरुचि-सम्पन्न लोगों के मनोरंजन का साधन बनकर नहीं रहना चाहिये, उसे तो जातिमात्र के हितार्थ सेवारत रहना चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी काव्य-धारणाओं में हृदय और बुद्धि, शास्त्र और कला तथा श्रेय और प्रेय का अभीष्ट सन्तुलन दृष्टिगोचर होता है।

काव्य की आत्मा क्या है? हमारे यहाँ इस तथ्य के शोध में संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति तथा औचित्य सम्प्रदायों की स्थापना हुई है। पन्त जी ने इस सम्बन्ध में अलग से विचार व्यक्त नहीं किये हैं किन्तु इन तत्त्वों से सम्बन्धित जो उक्तियाँ उनकी रचनाओं मे मिलती हैं, उनसे पता चलता है कि वे अलंकार, रीति, ध्वनि आदि से परिचित होते हुए और उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी रस को ही काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं। रसवादी आचार्यों के अनुरूप ही पन्त जी ने भी भाव को काव्य का प्राण-तत्त्व माना है। उनके विचार से भी काव्य का मूल तत्त्व रस ही है और वही उसका अंगी है, शेष सब उपादान अंग-रूप में उसका उपकार करते हैं।

पन्त जी की दृष्टि में काव्य के हेतु

साहित्य-रचना कितना गम्भीर और महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसका संकेत हमें पन्त जी के आत्मविषयक इस कथन से मिलता है—"अल्मोड़े में अपने छात्र-जीवन के घने साहित्यिक वातावरण में मैंने भी जैसे अनजाने ही किसी अन्तर्प्रवृत्ति के कारण अपने लिए कवि-कर्म को चुन लिया।.........मुझे तब नहीं मालूम था कि कविता करना शब्दों की रचना करना नहीं बल्कि नये युग तथा नयी मानवता की रचना करना है और उसे पुस्तकों के पन्नों पर नहीं, मानव-हृदयों पर अंकित करना है।"[10]

पन्त जी के इन शब्दों से कि—"अनजाने ही किसी अन्तर्प्रवृत्ति के कारण मैंने अपने लिए कवि-कर्म को चुन लिया", साहित्य के हेतु के सम्बन्ध में उनकी यह मान्यता ध्वनित होती है कि साहित्य-रचना साहित्यकार की अन्तर्प्रवृत्ति से जन्म लेती है। इस अन्तर्प्रवृत्ति को ही हमारे प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने "प्रतिभा" का नाम दिया है और "नवनवोन्मेषशालिनी शक्ति" कहकर उसका परिचय दिया है। पन्त जी के स्वभाव में काव्य-प्रतिभा सहज रूप से अनुस्यूत थी और उन्होंने शीघ्र ही कवि-कर्म के महान् दायित्व की प्रकृति को भी पहचान लिया था।

पन्त जी के आरम्भिक काव्योन्मेष ने किस प्रकार अपना रूप निर्मित किया इसकी चर्चा करते हुए पन्त जी ने लिखा है—"उधर सुदूर से कवीन्द्र रवीन्द्र की रजनीगन्धा की भीनी गन्ध नासापुटों में प्रवेश करने लगी थी, तो इधर स्वामी रामकृष्ण परमहंस का वचनामृत तथा स्वामी विवेकानन्द के घन-गम्भीर उदात्त स्वर मन को सोचने को बाध्य करते। मन भीतर-ही-भीतर पूर्व में होने वाले नये सूर्योदय की प्रतीक्षा करता, जिसकी द्वाभा का आलोक स्वप्नों के क्षितिजों से उतरकर प्राणों में अधजगी भाव-चेतना को स्पर्श करता। हिन्दी-काव्य के अन्तरिक्ष का यही उषाकाल, जैसे नवीन आलोक, नवीन सौन्दर्य, नवीन गन्ध-गुंजार लेकर तथा प्रकाश से भी सूक्ष्म नये चैतन्य के प्रकाश से मण्डित होकर छायावाद के नाम से हमारी पीढ़ी के कन्धों पर अवतरित हुआ। और मैं भी अपनी अन्तर-मूक वीणा में उसकी स्वर-साधना में तल्लीन हो गया। न जाने किसके स्पर्श से शब्दों के जगत् में नये शब्दों का जन्म हुआ—काव्य के पद नये छन्दों के नूपुरों से झंकृत हो उठे और मनोजगत् के कुहासे को चीरकर, नये सौन्दर्य-प्रभात की तरह एक नया रश्मिदेही भावलोक कविता के आँगन पर उतर आया।"[11]

"न जाने किसके स्पर्श से शब्दों के जगत् में नये शब्दों का जन्म हुआ"—कहकर पन्त जी जहाँ साहित्य-रचना के मूल में साहित्यकार की जन्मजात प्रतिभा-रूप रचना-शक्ति का संकेत करते हैं, वहीं उस जन्मजात रचनाशक्ति को विकास और समृद्धि देने वाले प्रभावों की चर्चा भी कवीन्द्र रवीन्द्र, स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के विचारों से अपने परिचित और प्रेरित होने की बात कहकर करते हैं। अपने से पहले के और अपने समय के साहित्य तथा साहित्यशास्त्र के अध्ययन-मनन को काव्य का हेतु बताते हुए भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने उसे "व्युत्पत्ति" का नाम दिया है। अपने देश के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों द्वारा काव्य के हेतु के रूप में व्युत्पत्ति की चर्चा साहित्य-रचना के लिए अपेक्षित ज्ञान-गरिमा के महत्त्व को ही निरूपित करती है।

काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा और व्युत्पत्ति के महत्त्व को पन्त जी ने अपनी काव्य-पंक्तियों में भी संकेतित किया है। अपनी "ग्राम्या" की "कवि किसान" शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है—

"जोतो हे कवि! निज प्रतिभा के फल से निष्ठुर मानव अंतर,
चिर जीर्ण विगत की खाद डाल जनभूमि बनाओ सम सुन्दर।"[12]

समर्थ एवं सार्थक काव्य-रचना के लिए साहित्यकार में प्रतिभा की अपेक्षा को स्वीकार करते हुए पन्त जी ने व्युत्पत्ति अर्थात् अध्ययन-मनन की अपेक्षा को बार-बार रेखांकित किया है। "गुंजन" की अपनी एक रचना में उन्होने लिखा है—

"न पिक प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर मनन शकुनि नादान!"[13]

अध्ययन और मनन के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले अनेक कथन पन्त जी की रचनाओं में हमें दृष्टिगत होते हैं। उदाहरणार्थ—

1. "अपने पूर्ववर्ती सभी महान् कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी समर्थन तथा प्रशंसक रहा हूँ।"[14]

2. "पन्द्रह-सोलह साल की उम्र में मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारम्भ कर दिया था। मैं तब आठवीं कक्षा में था। हिन्दी साहित्य में तब जो कुछ भी सुलभ था उसे मैं बड़े चाव से पढ़ता था। मध्य-युग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा बहुत अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती", "जयद्रथ-वध", "रंग में भंग" आदि रचनाओं से प्रभावित होकर मैं हिन्दी में प्रचलित छन्दों की साधना में तल्लीन रहता था।..........मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। श्रीमती नायडू और कवि ठाकुर की अंग्रेज़ी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौन्दर्य तथा रुचि की अधिक परिमार्जित प्रतिध्वनि मिलती है।"[15]

3. "इन्ही कवियों (मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, मुकुटधर पाण्डेय) के अध्ययन तथा मनन से प्रारम्भ में मेरी काव्य-साधना का श्री-गणेश हुआ।"[16]

4. "जिस दूसरे महान् ग्रन्थ ने अपनी पवित्र छाप मेरे हृदय में अंकित की हे वह हे बाइबिल का न्यू टेस्टामेन्ट।......बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदो के अध्ययन ने भी मेरे हृदय में प्रेरणाओं के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है।"[17]

5. "पल्लव"—काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज़ी कवियों से, मुख्यतः शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनिसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ क्योकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। मैं कवीन्द्र रवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ और यदि लिखना एक "अनकॉन्शस—कॉन्शस प्रोसेस" है तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्र-तत्र उपयोग भी

किया है और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।"[18]

अपने अध्ययन-मनन तथा अपने काव्य-सृजन को प्रेरित करने वाले तत्त्वों, ग्रन्थों तथा कवियों की चर्चा करके पन्त जी ने जहाँ अपने आभार-भाव को व्यक्त किया है वहीं उन्होंने काव्य-हेतु के रूप में व्युत्पत्ति के महत्त्व को भी निरूपित किया है। ग्रन्थों के अध्ययन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पन्त जी ने लोकदर्शन की महत्ता को भी स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है–

"स्वभाव से अत्यन्त भावप्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तकों की ओर अधिक नहीं रही। मैंने व्यक्ति के जीवन से, परस्पर के जन-समाज से तथा महान् पुरुषों के दर्शन एवं उनके मानसिक सत्संग से कहीं अधिक सीखा है, जिसे मैं सहज शिक्षा कहता हूँ।"[19]

अपनी काव्य-चेतना को प्रेरित करने तथा उसे स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से पन्त जी ने सर्वाधिक महत्त्व प्रकृति को दिया है। इस तथ्य की निदर्शक उक्तियाँ भी उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर प्राप्त होती हैं–

(क) "इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन-मुखर सहवास से सीखा है।"[20]

(ख) "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है।"[21]

(ग) "प्रकृति के मुख का निरीक्षण कर मेरे भीतर अनेक गहरी अनुभूतियाँ उतरी हैं; संसार के छोटे-मोटे संघर्षों तथा जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों के परे एक व्यापक पुस्तक की तरह खुलकर प्रकृति ने मेरे भीतर अनेक सहानुभूतियों, सान्त्वनाओं, स्नेह और ममत्व की भावनाओं तथा अवाक्, अलौकिक, अपने को भुला देने वाली शक्तियों का स्पर्श अंकित किया है।"[22]

(घ) "मेरे भीतर ऐसे संस्कार अवश्य रहे होंगे जिन्होंने मुझे कवि-कर्म की प्रेरणा दी किन्तु उस प्रेरणा के विकास के लिए स्वप्नों के पालने की रचना पर्वत प्रदेश की दिगन्तव्यापी प्राकृतिक शोभा ही ने की।"[23]

पन्त जी के काव्य-सृजन को प्रेरित करने वाली पहली वस्तु कूर्मांचल प्रदेश की प्राकृतिक शोभा थी, इस बात का उल्लेख पन्त जी ने अपनी काव्य-भूमिकाओं, निबन्धों, वार्ताओं तथा अभिभाषणों में इतनी बार किया है कि यदि उन सबको कहीं एकत्र किया जाय तो उससे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है। व्युत्पत्ति सम्बन्धी भारतीय काव्य-शास्त्र के दृष्टिकोण को पन्त जी ने अपने चिन्तन के आधार पर कुछ मौलिक विस्तार दिया है। शास्त्रीय दृष्टि से "काव्यशास्त्र-निषेवण"

को ही व्युत्पत्ति के रूप में मुख्यता से मान्यता प्रदान की गयी है, किन्तु पन्त जी ने लोक-दर्शन, महात्माओं के संसर्ग तथा प्रकृति-निरीक्षण को भी काव्य में प्रेरक ओर विधायक तत्त्वों के रूप में बहुत महत्त्व दिया है।

जहाँ तक काव्य-हेतु के रूप में शास्त्रों में वर्णित अभ्यास का प्रश्न है, पन्त जी ने उसके महत्त्व को शब्दों में वर्णित करने के स्थान पर काव्य-रचना की प्रवृत्ति को अपने जीवन-व्यवहार में निरन्तर सक्रिय रखकर उसकी पुष्टि की है। मात्र काव्य-रचना के लिए काव्य-रचना करना उनकी साहित्यिक मान्यता के विरुद्ध था। अन्तःस्फूर्ति के अभाव में काव्य-रचना को वे विडम्बना ही मानते थे। काव्य-हेतु के रूप में "अभ्यास" की अपेक्षा का संकेत हमें उनकी इन पंक्तियों में मिलता हैं–

"साहित्य तथा कला का एक बाहरी स्वरूप भी होता है। उसका भी अपना एक जीवन होता है और वह भी परस्पर के आदान-प्रदान, अध्ययन-मनन आदि से घटता-बढ़ता तथा बदलता रहता है। वह स्वरूप लेखकों के व्यक्तित्वों, उनकी शैलियों, साहित्यिक प्रथाओं, प्रचलनों तथा छन्दों-अलंकारों का रूप है, जिसका अध्ययन तथा अभ्यास भी साहित्य-साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस स्वरूप का ज्ञान जैसे साहित्य के स्वरों का, उसके सा–रे–ग–म का ज्ञान है, जिसकी साधना से आप साहित्य की चेतना को भावना का महाप्राण रूप-विधान पहनाते हैं और उसके सौन्दर्य से हृदय को प्रभावित करते हैं। इसे आप साहित्य का गौण अथवा स्थूल स्वरूप कह सकते हैं।"[24]

पन्त जी और साहित्य का प्रयोजन

साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में पन्त जी के विचारों का प्रसंगानुकूल विस्तृत उल्लेख उनके कला-चिन्तन के प्रसंग में किया जा चुका है। उनकी दृष्टि मे साहित्य-रचना एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जो उनके विचार से व्यापक हित-साधना का ही दूसरा नाम है। साहित्य के प्रसंग में रसात्मक प्रतीति को उन्होंने एक आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु उनकी रस-चेतना में माधुर्य के साथ-साथ औज्ज्वल्य, आत्मिक तृप्ति तथा व्यापक आनन्द-विधान को भी समुचित महत्त्व प्रदान किया गया है। उनके काव्य-जीवन के विकास के चरम सोपान पर पहुँच कर उनकी रस-चेतना दिव्य भागवत-चेतना बन गयी थी। अपनी रस-चेतना के इस विकास की उन्होंने बार-बार चर्चा की है और इस चेतना की जागृति को सम्पूर्णता प्रदान करने में योगी अरविन्द के योगदान को

उन्होंने बार-बार स्वीकार किया है। विकास की उस भूमि पर पहुँचकर पन्त जी के लिए काव्य-रचना एक उदात्त आध्यात्मिक साधना बन गयी थी।

पन्त जी के मतानुसार आज की स्थितियों में विश्व-मानवता का प्रतिपादन कवि का सामाजिक धर्म है। "साहित्य में एकसूत्रता", "राष्ट्रभावना" तथा "राष्ट्रीय जागरण और साहित्यकार" आदि अपने निबन्धों में पन्त जी ने साहित्य के प्रयोजन-सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—"मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्त्वों से ओतप्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम से समाज में नवीन मानव-चेतना के आलोक का वितरण करें एवं लोक-जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनने में सहायक हों। हमारे युग के सांस्कृतिक सूत्र हैं—मानव-प्रेम, लोक-जीवन की एकता, जीवन-सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्व-मानवता का निर्माण।........कलाकार के पास हृदय का यौवन होना चाहिये जिसे धरती पर उँड़ेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है।.........सत्ता के सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए हमें व्यक्ति तथा विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिये। ईश्वर को मानने का यह अभिप्राय नहीं कि आप विधिवत् पूजापाठ तथा जप-तप करें। वह तो धर्म का क्षेत्र है। ईश्वर को मानने का व्यावहारिक रूप में एक कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त समझता हूँ कि वह अव्यक्त के, सूक्ष्म के, अन्तश्चेतना के संचरणों से अपने को संयुक्त रखे और उनके प्रकाश, उनके सौन्दर्य तथा शक्तियों का उपयोग कर समाज के अन्तर्जीवन का निर्माण करे। उसके कन्धों पर वास्तविकता तथा विवेक का ही भार न हो, वे स्वप्नों के बोझ से भी झुके रहें।"[25]

साहित्य के प्रयोजन के प्रसंग में पन्त जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन पंक्तियों में उनका यह विचार निहित दिखाई देता है कि कलाकार अथवा साहित्यकार में सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विकसित और व्यापक चेतना होनी चाहिये, जिसके सहारे वह अन्तश्चेतना के अव्यक्त और सूक्ष्म संचरणों से अपने को संयुक्त रखे। अपने युग के सांस्कृतिक सूत्रों के रूप में वे मानव-प्रेम, लोक-जीवन की एकता, जीवन-सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्वमानवता के निर्माण का उल्लेख करते हैं। जिस व्यक्ति की चेतना मे ये सास्कृतिक सूत्र वर्तमान नहीं होंगे वह जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाने वाले साहित्य की सर्जना किस प्रकार कर सकता है? स्वयं अपने साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—"मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना

के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक-आध्यात्मिक अतिरंजनाओ का विरोध कर भौतिकता-आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के पहलुओं के रूप मे ग्रहण कर उन्हें लोक-कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में एक-दूसरे के पूरक के रूप में संयोजित करना चाहा है।''[26]

साहित्य के सांस्कृतिक उद्देश्य को पन्त जी ने अत्यन्त व्यापक और उदात्त रूप में लिया है। उनके विचार से साहित्य को किसी दृष्टि-विशेष अथवा लक्ष्य-विशेष से बँधकर नहीं चलना चाहिये। अन्तर्जगत् के भाव-लोक से बाह्य जगत् के सुख-दुःख, घटनाओं-विरोधों आदि तक प्रसारित सत्यं, शिवं, तथा सुन्दरं की अभिव्यक्ति को पन्त जी ने साहित्य का प्रयोजन माना है। इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति को साध्य मानते हुए इन्हें लोकोत्तरानन्द की, जो काव्य का मूलभूत एवं व्यापक प्रयोजन है, उपलब्धि के साधन के रूप में भी उन्होंने काव्य के इन तत्त्वों को प्रतिपादित किया। उनके काव्य-विषयक विचारों में यद्यपि युग के प्रति उत्तरदायित्व-बोध, संतुलन तथा व्यावहारिकता भी दृष्टिगत होती है तथापि स्वानुभूति के सम्प्रेषण पर पन्त जी ने विशेष बल दिया है। काव्य-प्रयोजन को परिस्थितियो के अनुकूल परिवर्तनशील मानते हुए उन्होंने अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है।

युग की बदलती हुई परिस्थितियों तथा समाज के प्रति बढ़ते हुए उत्तरदायित्वो के संदर्भ में पन्त जी ने लोकोत्तरानन्दमय रसवादी दृष्टिकोण को ही पर्याप्त नहीं समझा। अतः उन्होंने "आधुनिक काव्य के प्रेरणास्रोत" नामक लेख मे अन्तश्चेतना को काव्य के अपरिहार्य आधार के रूप में प्रतिपादित किया है। "काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नहीं है, यद्यपि रसात्मक वाक्य होना, "रमणीयताप्रतिपादक शब्द" होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है। छन्दों की झंकृति, वेशभूषा, शब्दों तथा अलंकारों का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यंजना, कल्पना की सतरंगी उड़ान तथा सौन्दर्यबोध आदि काव्य के बाह्य उपादान मात्र कहे जा सकते हैं। इन सबसे अधिक उपयोगी काव्य की वह अन्तश्चेतना है, जो युग-विशेष के हृदय-मंथन तथा जीवन-संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई, उस नवीन आलोक-दिशा का इंगित देती है, जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।''[27]

उन्होंने हृदय के मार्मिक उद्गारों तक ही काव्य को सीमित नहीं रखा, अपितु जीवन और जगत् के अन्तः तथा बाह्य संघर्ष को व्यक्त करने वाली दृष्टि को भी काव्य के लिए अनिवार्य माना। भाव एवं विचार से संयुक्त एवं

अतः और बहिर्मुखी वृत्ति से समन्वित होने के कारण उन्होंने उसे अन्तश्चेतना की संज्ञा दी है।

कवि को अपनी चेतना का विस्तार करना पड़ता है। वह स्व की संकुचित परिधि से निकलता है और लोक-चेतना में अपने को निमज्जित कर देता है। मानव-समाज के जीवन में साहित्य एवं कला की भूमिका से सम्बन्धित समस्या के प्रति अपने विचार पन्त जी ने "ज्योत्स्ना" नाटिका के तृतीय अंक के अंतिम दृश्य में एल्फ्रेड तथा कुमार के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"विगत युग में हम कला को कला के लिए महत्त्व देते आये हैं। अब हम जानते हैं कि कला सत्य नहीं, जीवन ही सत्य है। कला में जो कुछ सत्य है, वह उसके जीवन की परछायीं होने के कारण। कलाकार या कवि जीवन को विश्व के आविर्भाव रूप में ही सीमित नहीं रखता, वह उसके दर्शन समस्त विश्व में व्याप्त जीवन के सत्य-स्वरूप में करता है। सत्य ज्वाला है, उसके स्पर्श से समस्त भेद-भावों के विरोध भस्म हो जाते हैं। कला अपना अस्तित्व जीवन में लयकर जब तक उससे तदाकार नहीं हो जाती, उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड़ सकते। सर्वोच्च कलाकार वह है जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थिमांस की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें सम्पूर्णता का सौंदर्य प्रदान करता है, उनके हृदय-प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है।..........सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन-प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है। अपने को जीवन के सत्य और सौन्दर्य की प्रतिमा बना लेता है। कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है।"[28]

अपनी इन पंक्तियों में पन्त जी ने कवियों को काव्य में अभिव्यक्ति पाने योग्य व्यक्तित्व का निर्माण करने का परामर्श दिया है।

इसी समाज-दर्शन ने अन्ततः पन्त जी को विश्व-मानवता की ओर प्रेरित किया। इसीलिए उन्होंने काव्य को अपूर्णता से पूर्णता तथा कुरूपता से सुन्दरता की ओर प्रवृत्त करने वाली मूलशक्ति माना है। इसी आशय को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> "ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण,
> वह दर्शन-विज्ञान, मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण।"[29]

"युगान्त" नामक अपने काव्य-संग्रह में कोयल को कलाकार या कवि का

प्रतीक मानकर वे कहते हैं—

"गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन!
पावक-पग धर आये नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!"[30]

पन्त जी चाहते थे कि कवि के शब्द उज्ज्वल अग्निकणों की भाँति व्याकुल जन-हृदय में आशा की ऊष्ण ज्योति जगा दें, सत्य तथा न्यायशीलता के विजयोत्सव में विश्वास के दीपक जला दें। यहाँ उन्होंने कलाकार के सामाजिक दायित्व की बात छेड़ी है। उन्होंने कवि से कहा कि वह उसी प्रकार उच्च स्वर मे और आवाहनपूर्वक गाये जैसे कोई स्वतंत्र पक्षी गाता है—

"गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग के संध्या की छवि!
गा सके खगों-सा मेरा कवि।"[31]

एक अन्य कविता में पन्त जी ने सीधे मानव-हित के निमित्त अपनी काव्य-साधना को जनोपयोगी बनाने की बात कही है—

"जग जीवन में जो चिर महान्, सौन्दर्य पूर्ण औ' सत्य-प्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूँ, नाथ! जिसमें मानव हित हो समान!"[32]

उनका निम्नलिखित कथन भी काव्य-प्रयोजन को ही सूचित करता है—

"साहित्यकार के स्वर की उपयोगिता, महत्ता तथा उत्तरदायित्व इस युग मे जितना अधिक बढ़ गया है उतना शायद इधर मानव-इतिहास के किसी युग में नहीं बढ़ा था। आज उसे धरती के विशृंखल जीवन को छन्द में बाँधना है—मनुष्य की बौद्धिक अनास्थाओं को अतिक्रम कर उसके भीतर नवीन हृदय की रचना करनी है। युग-परिस्थितियों के घोर अन्धकार से प्रकाश खींचकर उसे दुःस्वप्नो से आतंकित मानव के मानस-क्षितिज में नया अरुणोदय लाना है।"[33]

प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से लोकहित की ओर संकेत करती हैं। काव्य-माध्यम द्वारा विश्वमानवता के विकास का प्रतिपादन अथवा बहुजन हित का समर्थन काव्यशास्त्र का चिर-परिचित सिद्धान्त है, किन्तु पन्त जी ने इसे अपनी सांस्कृतिक मान्यता के आलोक में अभिनव रूप प्रदान किया है।

साहित्य के तत्त्व

साहित्य के तत्त्वों का उल्लेख पन्त जी ने अपने "कला और संस्कृति" शीर्षक निबन्ध के कला के गुणों के रूप में किया है, जिसकी चर्चा कला के प्रसंग में पहले की जा चुकी है। उन्होंने किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश अपेक्षित माना है—(1) सौन्दर्य-बोध, (2) व्यापक गम्भीर अनुभूति और (3) उपयोगी सत्य। उसी निबन्ध में उन्होंने आगे यह भी कहा है कि "मेरी दृष्टि में इन गुणों से अधिक महत्त्वपूर्ण एक और वस्तु है जिसका कलाकृति में पाया जाना और भी अधिक आवश्यक है और वह गुण है सांस्कृतिक तत्त्व।" यहाँ पन्त जी के इस कथन को एक बार और उद्धृत करने की आवश्यकता है कि "इन सबसे महत्त्वपूर्ण मेरी दृष्टि में एक और भी वस्तु है जिसके पूरक उपर्युक्त तीनों मान हैं। वह है किसी कलाकृति में पाये जाने वाले सांस्कृतिक तत्त्व।"[34]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन में प्रयुक्त शब्दों की ओर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि अपने निबन्ध में कुछ समय पूर्व उन्होंने कला की जिन विशेषताओं को गुण की संज्ञा दी थी उन्हीं को आगे चलकर उन्होंने "मान" कहा और फिर सांस्कृतिक गुण के लिए उन्होंने "तत्त्व" शब्द का प्रयोग किया। इससे यह प्रतीत होता है कि पन्त जी के कला-विवेचन अथवा काव्य-विवेचन में गुण, मान तथा तत्त्व जैसे शब्द प्रायः पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रसग मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि पन्त जी ने "साहित्य" शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत कम ही किया है। या तो वे कला, कलाकृति जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं अथवा काव्य शब्द का। संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों की तरह वे काव्य शब्द का प्रयोग प्रायः उस व्यापक अर्थ में करते हैं जो साहित्य के समकक्ष है, किन्तु मूलतः कवि होने के कारण उनका कला और साहित्य सम्बन्धी विवेचन कविता के पर्याय के रूप में प्रयुक्त 'काव्य' के गुणों और धर्मों से ही प्रभावित प्रतीत होता है।

कला के गुणों अथवा तत्त्वों के रूप में उन्होंने जिन चार विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनके विचार से स्पष्टतः वे साहित्य तथा कला के तत्त्व भी हे। इन तत्त्वों की थोड़ी व्याख्या, जो उन्होंने अपने "कला और संस्कृति" शीर्षक निबन्ध में प्रस्तुत की है, उसका विवरण भी कला सम्बन्धी विचारों के संदर्भ मे पहले दिया जा चुका है। पाश्चात्य कलाशास्त्रियों ने कला को सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कहा है और इसीलिए कला तथा उसके अंगरूप साहित्य के पाश्चात्य

विवेचन में सौन्दर्य-तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया गया है। पन्त जी ने भी अपने साहित्य-कला--विवेचन में सौन्दर्य-तत्त्व को प्रमुखता दी है। वे सौन्दर्य की स्थापना केवल कला में ही नहीं, जीवन में भी अपेक्षित मानते हैं। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य एक व्यापक वस्तु है जिसमें समस्त जीवन-मूल्य समाहित रहते हैं। सौन्दर्य-मूल्य के सम्बन्ध में उनके इस कथन से कि "सौन्दर्य-मूल्य कला की दृष्टि से भाव-विचार अथवा जीवन-मूल्य की अंतिम परिणति है, और सौन्दर्य से परिचालित होना एक बात है और सौन्दर्य-मूल्य से परिचालित होना दूसरी बात है"[35] सौन्दर्य-मूल्य के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि की व्यापकता और उसके महत्त्व के सम्बन्ध में उनकी निष्ठा की अभिव्यक्ति तो होती ही है, हमें इस बात का संकेत भी मिलता है कि पन्त जी की दृष्टि में केवल "सौन्दर्य", "सौन्दर्य-मूल्य" की तुलना में बहुत कम महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आँख और कान को प्रिय लगना सौन्दर्य का एक बाहरी तथा अपेक्षाकृत संकुचित गुण है जबकि सौन्दर्य-मूल्य चेतना के विकास और व्यवहार की मंगलमयता को भी अपने में अन्तर्भूत रखता है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कला-मूल्यों के रूप में सत्य, शिव और सुन्दर नाम के जिन तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है, पन्त जी ने उन तीनों को सौन्दर्य-मूल्य की संज्ञा में समेट लिया है। पन्त जी के अनुसार सफल लेखन की कसौटी सौन्दर्य-मूल्य की रचना मे उपस्थिति ही मानी जा सकती है।

साहित्य-शास्त्रियों ने कल्पना को भी काव्य के एक तत्त्व के रूप में वर्णित किया है। पन्त जी भी कल्पना के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "कल्पना ही वास्तव में वह अनुभूतिग्राहिणी तथा रूप-विधायिनी शक्ति है जो काव्य का प्राण है। वस्तु के रूप में प्रच्छन्न कवित्व का उद्घाटन उसी की सहायता से सम्भव है। यहाँ तक कि वर्णनात्मक काव्य को सँजोने तथा मार्मिक बनाने में भी उसी का प्रमुख हाथ रहता है। छायावादी युग में कल्पना और अनुभूति के सम्बन्ध में भी बड़ी भ्रान्त धारणाएँ रही हैं—जैसे "बच्चन" की कविताएँ अनुभूति-प्रधान मानी जाती हैं और मेरी कल्पना-प्रधान। मेरी दृष्टि मे हाड़-मांस की सीमाओं में बँधी अनुभूति छोटी अनुभूति है।......कोई भी गम्भीर, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है। किसी भी महान् कवि के कृतित्व में आपको मेरे इस कथन के सत्य का प्रमाण मिल जायेगा। वाल्मीकि या तुलसी-रामायण का राम-रावण-युद्ध या सीता-अपहरण के बाद राम-विलाप का चित्रण वाल्मीकि या तुलसी का व्यक्तिगत अनुभव न होकर मात्र काल्पनिक अनुभूति है।.....उसी प्रकार हेमलेट, इयागो, ओथेलो, मैकबेथ आदि की मनःस्थितियों

तथा चरित्रों का भी शेक्सपियर केवल अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा मानव-जीवन-मन की जटिल प्रवृत्तियों से भरे अन्तराल में प्रवेश कर जीवन के मंच पर मूर्तिमान कर सकने में सफल हो सका है। वे मनःस्थितियाँ उसकी व्यक्तिगत अनुभव की स्थितियाँ नहीं रही हैं।"[36]

उन्होंने कल्पना के महत्त्व को निरूपित करते हुए लिखा है—"मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि 'वीणा' से लेकर "ग्राम्या" तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।"[37]

पन्त जी के इस कथन में "कल्पना" शब्द का व्युत्पत्तिजन्य मौलिक अर्थ ध्वनित होता दिखाई देता है। "कल्प" शब्द निर्माण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कोई जब किसी वस्तु का निर्माण करता है तो वह चेतना, भावना और दक्षता के अपने सभी गुणों का उसमें प्रयोग करता है। उस निर्माण में केवल यथार्थ-दर्शन से ही प्रेरणा नहीं ली जाती बल्कि यथार्थ के श्रेष्ठतर रूप की प्रतीति को भी उसमें सम्मिलित कर लिया जाता है। पन्त जी की दृष्टि में "अनुभूति तथा अभिव्यक्ति को जीवन्त रूप प्रदान करने वाली शक्ति कल्पना है। ज्ञात से अज्ञात की उपलब्धि में कल्पना बड़ी सहायक होती है। कल्पना की आवश्यकता प्रबन्धकार एवं मुक्तककार दोनों प्रकार के कवियों को होती है। घटनाओं में सत्य आत्मा की अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होता है, पर ये घटनाएँ, स्थूल और क्षणिक होने के नाते, लुप्त हो जाने पर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु आत्मा की अनुभूति तब भी चिरन्तन सत्य के रूप में विद्यमान रहती है। घटनाओं के लुप्त हो जाने पर आत्मा की अनुभूति के विषय में जो तथ्य ज्ञात नहीं होते, उनका साक्षात्कार कल्पना के द्वारा ही किया जाता है।"[38]

पन्त जी की कल्पना विचार और यथार्थ से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु न होकर किसी व्यक्ति की समस्त सांस्कृतिक चेतना का समन्वित रूप है। उनके अनुसार यदि काव्य-सृजन का मानवता के प्रति कोई उत्तरदायित्व है और कवि पूरी निष्ठा के साथ उसका निर्वाह करता है तो निश्चय ही कलाकृति में ऐसे तत्त्व होने चाहिये जो मन को प्रभावित करके, हमारी चेतना में गहरे उतरकर, जीवन में वैचारिक एवं भावात्मक सम्पन्नता ला सकें। इस प्रकार विचार और

विवेचन में सौन्दर्य-तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया गया है। पन्त जी ने भी अपने साहित्य-कला--विवेचन में सौन्दर्य-तत्त्व को प्रमुखता दी है। वे सौन्दर्य की स्थापना केवल कला में ही नहीं, जीवन में भी अपेक्षित मानते हैं। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य एक व्यापक वस्तु है जिसमें समस्त जीवन-मूल्य समाहित रहते हैं। सौन्दर्य-मूल्य के सम्बन्ध में उनके इस कथन से कि "सौन्दर्य-मूल्य कला की दृष्टि से भाव-विचार अथवा जीवन-मूल्य की अंतिम परिणति है, और सौन्दर्य से परिचालित होना एक बात है और सौन्दर्य-मूल्य से परिचालित होना दूसरी बात है"[35] सौन्दर्य-मूल्य के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि की व्यापकता और उसके महत्त्व के सम्बन्ध में उनकी निष्ठा की अभिव्यक्ति तो होती ही है, हमें इस बात का संकेत भी मिलता है कि पन्त जी की दृष्टि में केवल "सौन्दर्य", "सौन्दर्य-मूल्य" की तुलना में बहुत कम महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आँख और कान को प्रिय लगना सौन्दर्य का एक बाहरी तथा अपेक्षाकृत संकुचित गुण है जबकि सौन्दर्य-मूल्य चेतना के विकास और व्यवहार की मंगलमयता को भी अपने में अन्तर्भूत रखता है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कला-मूल्यों के रूप में सत्य, शिव और सुन्दर नाम के जिन तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है, पन्त जी ने उन तीनों को सौन्दर्य-मूल्य की संज्ञा में समेट लिया है। पन्त जी के अनुसार सफल लेखन की कसौटी सौन्दर्य-मूल्य की रचना मे उपस्थिति ही मानी जा सकती है।

साहित्य-शास्त्रियों ने कल्पना को भी काव्य के एक तत्त्व के रूप में वर्णित किया है। पन्त जी भी कल्पना के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "कल्पना ही वास्तव में वह अनुभूतिग्राहिणी तथा रूप-विधायिनी शक्ति है जो काव्य का प्राण है। वस्तु के रूप में प्रच्छन्न कवित्व का उद्घाटन उसी की सहायता से सम्भव है। यहाँ तक कि वर्णनात्मक काव्य को सँजोने तथा मार्मिक बनाने में भी उसी का प्रमुख हाथ रहता है। छायावादी युग में कल्पना और अनुभूति के सम्बन्ध में भी बड़ी भ्रान्त धारणाएँ रही हैं—जैसे "बच्चन" की कविताएँ अनुभूति-प्रधान मानी जाती हैं और मेरी कल्पना-प्रधान। मेरी दृष्टि में हाड़-मांस की सीमाओं में बँधी अनुभूति छोटी अनुभूति है।......कोई भी गम्भीर, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है। किसी भी महान् कवि के कृतित्व में आपको मेरे इस कथन के सत्य का प्रमाण मिल जायेगा। वाल्मीकि या तुलसी-रामायण का राम-रावण-युद्ध या सीता-अपहरण के बाद राम-विलाप का चित्रण वाल्मीकि या तुलसी का व्यक्तिगत अनुभव न होकर मात्र काल्पनिक अनुभूति है।.....उसी प्रकार हैमलेट, इयागो, ओथेलो, मैकबेथ आदि की मनःस्थितियों

तथा चरित्रों का भी शेक्सपियर केवल अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा मानव-जीवन-मन की जटिल प्रवृत्तियों से भरे अन्तराल में प्रवेश कर जीवन के मंच पर मूर्तिमान कर सकने में सफल हो सका है। वे मनःस्थितियाँ उसकी व्यक्तिगत अनुभव की स्थितियाँ नहीं रही हैं।"[56]

उन्होंने कल्पना के महत्त्व को निरूपित करते हुए लिखा है—"मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या" तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।"[57]

पन्त जी के इस कथन में "कल्पना" शब्द का व्युत्पत्तिजन्य मौलिक अर्थ ध्वनित होता दिखाई देता है। "कल्प" शब्द निर्माण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कोई जब किसी वस्तु का निर्माण करता है तो वह चेतना, भावना और दक्षता के अपने सभी गुणों का उसमें प्रयोग करता है। उस निर्माण में केवल यथार्थ-दर्शन से ही प्रेरणा नहीं ली जाती बल्कि यथार्थ के श्रेष्ठतर रूप की प्रतीति को भी उसमें सम्मिलित कर लिया जाता है। पन्त जी की दृष्टि में "अनुभूति तथा अभिव्यक्ति को जीवन्त रूप प्रदान करने वाली शक्ति कल्पना है। ज्ञात से अज्ञात की उपलब्धि में कल्पना बड़ी सहायक होती है। कल्पना की आवश्यकता प्रबन्धकार एवं मुक्तककार दोनों प्रकार के कवियों को होती है। घटनाओं मे सत्य आत्मा की अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होता है, पर ये घटनाएँ, स्थूल और क्षणिक होने के नाते, लुप्त हो जाने पर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु आत्मा की अनुभूति तब भी चिरन्तन सत्य के रूप में विद्यमान रहती है। घटनाओं के लुप्त हो जाने पर आत्मा की अनुभूति के विषय में जो तथ्य ज्ञात नहीं होते, उनका साक्षात्कार कल्पना के द्वारा ही किया जाता है।"[58]

पन्त जी की कल्पना विचार और यथार्थ से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु न होकर किसी व्यक्ति की समस्त सांस्कृतिक चेतना का समन्वित रूप है। उनके अनुसार यदि काव्य-सृजन का मानवता के प्रति कोई उत्तरदायित्व है और कवि पूरी निष्ठा के साथ उसका निर्वाह करता है तो निश्चय ही कलाकृति में ऐसे तत्त्व होने चाहिये जो मन को प्रभावित करके, हमारी चेतना में गहरे उतरकर, जीवन में वैचारिक एवं भावात्मक सम्पन्नता ला सकें। इस प्रकार विचार और

भाव जहाँ कला अथवा काव्य के तत्त्व हैं वहीं शैली भी उनका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्रभावकारी अभिव्यंजना शैली-सौन्दर्य की भी अपेक्षा रखती है। (शैली तत्त्व सम्बन्धी पन्त जी के विचारों का कुछ अधिक उल्लेख आगे किया जायेगा) हम पहले कह आये हैं कि पन्त जी ने काव्य की आत्मा के रूप में रस-प्रतीति को ही स्वीकृति प्रदान की है। उनकी दृष्टि में रचना में सौन्दर्य-मूल्य की स्थापना रस-प्रतीति के लिए आवश्यक है और उस सौन्दर्य-मूल्य को सुनियोजित और समन्वित रूप देने में कल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

पन्त जी और साहित्य-शिल्प

साहित्य के प्रसंग में आलोचक उसके दो पक्षों की चर्चा बार-बार करते हे और उन दो पक्षों को भाव-पक्ष और कला-पक्ष की संज्ञा देते हैं। साहित्य की आलोचना को भाव-पक्ष और कला-पक्ष के दो विभागों में बाँटकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति उस मान्यता से प्रेरित है जो साहित्य को कला का अंग नहीं मानती। जैसा पहले संकेतित किया जा चुका है, पन्त जी साहित्य को कला का ही अंग मानते थे। इस कारण वे साहित्य के अभिव्यंजना-पक्ष को साहित्य का कला-पक्ष कहकर वर्णित नहीं करते। उन्होंने साहित्य के तथाकथित कलापक्ष को साहित्य-शिल्प अथवा काव्य-शिल्प कहकर वर्णित किया है। वे साहित्यशिल्प अथवा काव्यशिल्प को कवि की आत्मानुभूति से भिन्न कोई वस्तु न मानकर उसे आत्मानुभूति की अनिवार्य परिणति ही मानते हैं। काव्य में अभिव्यक्त अनुभूति सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वित रूप में ही प्रकट होती है और व्यंजना का सौन्दर्य भी उसका अनिवार्य अंग होता है। इटली के प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे ने यह धारणा व्यक्त की है कि कलाकार की अन्तश्चेतना में कलाकृति अपने पूर्ण अभिव्यक्त रूप मे प्रकट होती है। उसके बाद कलाकार जिस कलाकृति की रचना करता है वह मूल कलाकृति न होकर कवि के मानस में स्फूर्त मूल कलाकृति का अनुकरण मात्र होती है, जो प्रायः मूल को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने में असमर्थ भी रहती है। क्रोचे के अनुसार किसी कलाकृति के मौलिक और पूर्ण रूप का रस-भोग केवल कलाकार ही कर सकता है। बाहरी रचना के रूप में अभिव्यक्त मूल-कलाकृति की अनुकृति ही कलाकार से भिन्न अन्य अनुशीलकों को प्राप्त हो पाती है। पन्त जी ने क्रोचे के कला-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण से प्रकट शब्दों में अपनी सहमति सम्भवतः कहीं भी व्यक्त नहीं की है, किन्तु काव्य के शिल्प-पक्ष को काव्यानुभूति का अभिन्न अंग मानकर उन्होंने क्रोचे के अभिमत को ही अपनाया है।

पन्त जी ने साहित्य को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली कला के रूप में स्वीकार किया है। शाब्दिक माध्यम का रचना-सौन्दर्य ही वस्तुत साहित्य के शिल्प-पक्ष के विवेचन का विषय है। भाषा-विज्ञान की यह वास्तविक और निश्चित मान्यता है कि शाब्दिक अभिव्यक्ति की लघुतम इकाई वाक्य है। पन्त जी अथवा अन्य कोई साहित्य-विवेचक जब शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त कला को साहित्य कहता है तो 'शब्द' से उसका अभिप्राय 'वाक्य' ही होता है। शब्द अध्ययन की दृष्टि से किये गये वाक्य के कृत्रिम विभाजन के फलस्वरूप ही अपना स्वरूप और संज्ञा पा गये हैं। जीवन के वास्तविक व्यवहार में शब्दो की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं है। वाणी का व्यापार, चाहे कितना भी छोटा हो, वह वाक्य रूप में ही प्रकट होता है। व्यवहार में बहुत से वाक्य एक शब्द के भी हुआ करते हैं। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज द्वारा दी गयी काव्य की परिभाषा "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" सर्वाधिक मान्य संभवतः इसीलिए हुई कि वह साहित्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक रूप में संकेतित करती है। शब्द वाक्य के अवयव होते हैं। इस कारण शब्दों के प्रयोग का शिल्प ही साहित्य-शिल्प अथवा काव्य-शिल्प के रूप में प्रकट होता है। साहित्य-शिल्प को साहित्य में प्रयुक्त भाषा का शिल्प भी कहा जा सकता है। हमने पीछे कई बार इस बात का संकेत किया है कि पन्त जी साहित्य अथवा काव्य की आत्मा रस को ही मानते थे। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे काव्य की आत्मा के रूप में वर्णित अन्य तत्त्वों को वे रस-निष्पत्ति के सहायक तत्त्वों के रूप में ही स्वीकार करते हैं। विचारपूर्वक देखा जाये तो अलंकारादि तत्त्व साहित्य-शिल्प के ही अंग हैं और इनकी गणना काव्य की आत्मा के रूप में न होकर काव्य-शिल्प के गुणों के रूप में होनी चाहिये। पन्त जी इन तत्त्वों को काव्य-गुणों के रूप में ही मान्यता प्रदान करते हैं और उनकी सार्थकता इसी रूप में स्वीकार करते हैं कि उनकी सहायता से साहित्य अथवा काव्य की ग्राह्यता और प्रभविष्णुता बढ़ जाती है। अपने काव्य-संकलन "पल्लव" की "प्रवेश"—शीर्षक भूमिका में उन्होंने स्पष्टतः लिखा है—"कविता में भी विशेष अलंकारों से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[30]

उसी भूमिका में उन्होंने यह भी लिखा है कि—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं

के भिन्न चित्र हैं, जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियाँ तरुण-तरंगों में फूट गयी हो, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।"[40]

इस प्रकार पन्त जी अलंकारों को अभिव्यक्ति की विभिन्न आकर्षक और मर्मस्पर्शी दशायें मानते हैं, लेकिन अलंकारों को उन्होंने साध्य नहीं माना है। उनके विचारानुसार जहाँ अलंकार प्रधान होकर साध्य बन जाते हैं, वहाँ भावाभिव्यक्ति के प्रति न्याय नहीं हो पाता। उन्होंने लिखा है—"कविता में विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा, उपमा के लिए; अनुप्रास, अनुप्रास के लिए; श्लेष, अपह्नुति, गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते हैं—जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ—वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभीप्सित स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते हैं, वहाँ बाजे के सब स्वरों के साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्त्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है, काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता-सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[41]

पन्त जी ने पाश्चात्य प्रभाव से आये हुए नवीन अलंकारों, जैसे विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण तथा ध्वन्यर्थ-व्यंजना का भी अपने काव्य में प्रभूत मात्रा में प्रयोग किया है। भाषा की लक्षणाशक्ति को तीव्र करने के लिए पन्त जी ने विशेषण-विपर्यय तथा उसमें मूर्तिमत्ता लाने के लिए मानवीकरण का संयोजन किया है। ध्वन्यर्थ-व्यंजना, व्यंजना-शक्ति की पोषक ही है। जब भावावेश की स्थिति रोके नहीं रुकती तब शब्द-क्रम भंग हो जाता है तथा विशेषणों में भी विपर्यय आ जाता है—

"गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण,
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण।"[42]

यहाँ नेत्रों का कार्य 'गिरा' सम्पादित कर रही है तथा 'गिरा' का कार्य नयन करने लग जाते हैं; कानों का कार्य मन तथा मन का कार्य कान करते हैं। "विशेषण–विपर्यय" में विशेषण अपने विशेष्य से हटकर किसी दूसरे की विशेषता बताने लगता है। "सुरीला हाथ", "तुतलाभय", "उर्मिल गान", "गीला गान", "फेनिल हास" जैसे प्रयोग पन्त जी की रचनाओं में प्रयुक्त विशेषण-विपर्यय के ही उदाहरण हैं।

मानवीकरण का तात्पर्य है किसी मानवेतर वस्तु पर मानवीय रूपों, व्यापारों तथा भावों का आरोपण। पन्त जी के अधिकांश प्रकृति-विषयक गीत प्रकृति-विषयक होने के साथ ही मानव-विषयक भी प्रतीत होते हैं। इसके उदाहरण उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं–

"कहो, तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश कलाप
मधुर मंथर मृदु मौन!
मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
× × × ×
भाव संकुल, बंकिम, भ्रू चाप,
मौन, केवल तुम मौन!
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जल जात,
देह छवि-छाया में दिन-रात,
कहाँ रहतीं तुम कौन?"[43]

यहाँ पन्त जी ने संध्या के ऊपर नारी-रूप का आरोपण किया है। यह नारी अधरों में मधुपालाप बंद किये, स्वर्णिम केश-राशि फैलाये मंथर गति से व्योम से उतर रही है। उतरने की विशेष मुद्रा में उसकी गर्दन तिरछी-सी लगती है। शरीर का वर्ण चम्पा के फूल की गोराई लिए है, नयन अध-खुले हैं और लाज के कारण नीचे झुके हुए हैं।

तथा–

"इन्द्र धनु की सुनकर टंकार

उचक चपला के चचन बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार;
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार।"[44]

यहाँ चमकती चंचला का चित्रण उस चंचल बालक के रूप में किया गया है जो नवीन आवाज़ सुनकर या नवीन वस्तु देखकर पहले उचकते हैं और फिर घर से बाहर दौड़ पड़ते हैं और फिर उन्हें बहला कर ही घर में वापिस लाया जा सकता है।

पश्चिम का मानवीकरण अलंकार बहुत सीमा तक भारतीय सांगरूपक अलंकार के समान मालूम पड़ता है। मानवीकरण और सांगरूपक में यह अन्तर होता है कि सांगरूपक में अप्रस्तुत विधान मानवीय रूपों और व्यापारों का न होकर कोई मानवेतर रूप अथवा व्यापार भी हो सकता है।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना अंग्रेज़ी-काव्य का "अनोमोटोपोइया" अलंकार है। ध्वनि-अर्थ की अभिन्नता इस अलंकार का लक्षण है। पन्त जी ने ध्वन्यर्थ-व्यंजना का सफल प्रयोग किया है–

"एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर,
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य भूमि के मेघाडम्बर!
अये! एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन,
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडगन,
आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुंजगम-सा, इंगित पर करता नर्तन।
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन--आर्त करता गुरु गर्जन।"[45]

यहाँ भुजंगम का नर्तन सामने प्रस्तुत हो जाता है तथा गगन का गर्जन स्पष्ट सुनाई पड़ने लगता है।

रीति और ध्वनि आदि के सम्बन्ध में उनके विचारों का आभास हमें काव्य में शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में उनके द्वारा लिखित इन पंक्तियों से होता है–"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के

भिन्न-भिन्न स्वरूप को प्रकट करते हैं जैसे—"हिलोर" में उठान, "लहर" में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पन, "तरंग" में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, जैसे—"बढ़ो-बढ़ो" कहने का शब्द मिलता है, "वीचि" से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, "ऊर्मि" से मधुर-मुखरित हिलोरों का, "हिल्लोल-कल्लोल" से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।"[46]

अपने इस कथन में पन्त जी ने एक साथ ही आनन्दवर्धन की पर्याय-ध्वनि, कुन्तक की पर्यायवक्रता तथा क्षेमेन्द्र के पदौचित्य का सामासिक शैली में उल्लेख किया है। उनके इस कथन से यह भी प्रकट होता है कि वे ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य आदि के महत्त्व को रस की दृष्टि से ही स्वीकार करते हैं और उन्हें काव्य-भाषा के गुण मानते हैं।

पन्त जी और काव्य-भाषा

काव्य के विषय और उससे जुड़ी हुई अनुभूति के आधार पर अलग-अलग साहित्यकारों की भाषा-शैली में ही परिवर्तन नहीं आता, बल्कि एक ही साहित्यकार की भाषा भी कवि की अपनी भावना और युग की माँगों के अनुसार अपना रूप बदल लिया करती है। पन्त जी ने स्पष्ट रूप से कहा है—"युग के नवीन-संस्कारों के साथ भाषा-सम्बन्धी संस्कार भी बदल जाते हैं। प्राचीन परम्परा के उपासकों ने ब्रजभाषा की अपभ्रंश-प्रवृत्ति अति की सीमा तक पहुँचा दी है। उसमें शब्दों की इतनी विकृति हो गयी है कि उनको लेकर हम नये युग की संस्कृति को कोई रूप नहीं दे सकते। युग की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के बदल जाने पर प्रतिपाद्य विषयक विचारों में परिवर्तन होना सहज ही है।"[47]

प्रायः सभी छायावादी कवियों ने एक नयी, चित्रमयी, लाक्षणिक, अभिव्यंजक तथा संकेत-समृद्ध भाषा के द्वारा अपने नये अनुभव-संवेदन को व्यक्त किया है किन्तु उनमें भी पन्त जी भाषा सम्बन्धी अपने विशिष्ट प्रयोग के लिए अलग ही उल्लेख्य स्थान के अधिकारी हैं। छायावाद के एक हद तक कटु आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि "तीसरे उत्थान के कवियों में सबसे अधिक लाक्षणिक साहस पन्त ने दिखाया है। इसमें संदेह नहीं कि पन्त जी की प्रारम्भिक कविताएँ भाषा सम्बन्धी विशेष सचेतनता का परिचय देती हैं। खड़ी बोली काव्य-भाषा की स्वतंत्र विशेषताओं के निर्माण में पन्त जी का सबसे अधिक योग है।"[48]

पन्त जी को खड़ी बोली अव्यवस्थित रूप में मिली थी। उसे उस समय अपने अवयव-संगठन की परम आवश्यकता थी। हिन्दी-कविता बहुत क्षीण और दुर्बल दीख पड़ती थी। पन्त जी ने भाषा सम्बन्धी नये प्रयोगों के द्वारा खड़ी बोली का रूप सँवारा और उसे स्वस्थ एवं शक्तिशाली रूप प्रदान किया। उन्होंने जहाँ एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों की सहायता ली वहीं वर्ण्यभाव और हिन्दी-भाषा की मूल प्रकृति के अनुरूप शब्दों को नयी भंगिमाएँ और नया रूप भी प्रदान किया।

साहित्य के स्वरूप के परिचय में पन्त जी की यह उक्ति उद्धृत की गयी है कि "साहित्यिक मान्यताएँ अपने आप ही किसी काल्पनिक कारण से नहीं बदला करती हैं।......उनका घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जगत् की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों तथा आन्दोलनों से होता है। उक्त स्थितियों में आया हुआ परिवर्तन साहित्य के मूल्य, माप या भाव में अनिवार्य रूप से परिवर्तन ला देता है।"[49]

युग की स्थितियों में आया हुआ परिवर्तन साहित्य के मूल्य, माप या भाव में ही परिवर्तन उपस्थित नहीं करता वह अभिव्यंजना-शैली को भी नये आयामों से जोड़ता है। पन्त जी ने स्वयं लिखा है—"एक ओर वह (जीवन में युगान्तर) साहित्य में रूप-विधान बदलने लगता है जिसके अन्तर्गत विधा, शैली, शब्द-चयन, सौन्दर्य-बोध, अर्थ-संकेत एवं मान्यताओं में भी अनिवार्यतः बदलाव आने लगता है और दूसरी ओर अन्तर्मन अथवा चेतना का नवीन स्फुरण अथवा विकास कला एवं अभिव्यक्ति के रूप को भी अपने आप बदल देता है। साहित्य मूलतः न अरूप मान्यताओं के ही बल पर चल सकता है और न किसी कला-इंगित के बल पर ही। उसकी पूर्णता तथा परिपक्वता के लिए दोनों का तादात्म्य अनिवार्य सत्य है।"[50]

छायावादी-काव्य भाव तथा भाषा दोनों की दृष्टि से द्विवेदीयुगीन काव्य-परम्परा से इतनी भिन्नता लिए हुए था कि तत्कालीन विद्वानों के लिए, जिनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे संपादक तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक थे, इतना चौंकाने वाला सिद्ध हुआ कि ये साहित्यकार उसकी तीक्ष्ण आलोचना करने लगे। पन्त जी ने उनके द्वारा फैलाये गये आरोपों का खण्डन करने तथा अपनी काव्य-चेतना को व्याख्यायित तथा प्रतिष्ठित करने के निमित्त ही युग के अनुरूप साहित्य की विषयवस्तु, भाववृत्ति तथा अभिव्यंजना में परिवर्तन लाने की अपेक्षा एवं आवश्यकता पर बार-बार बल दिया है।

उनके काव्य-संकलन "पल्लव" की "प्रवेश" शीर्षक भूमिका का विशेष विषय है–भाषा का विवाद। ब्रज बनाम खड़ी बोली काव्यान्दोलन उस समय अत्यन्त उग्र रूप में उठ खड़ा हुआ था। ब्रजभाषा के समर्थन में श्री जगन्नाथ दास "रत्नाकर" की अतिवादी स्थापनाओं का विरोध करते हुए पन्त जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक विवेचन किया और अन्त में निर्णय दिया कि–"खड़ी बोली में मधु-स्नात ज्योत्स्ना नहीं, कार्य-व्यग्र प्रकाश है। सुख-सम्पन्न भारत की हत्तंत्री की झंकार ब्रजभाषा में पहले थी अवश्य, किन्तु भौतिक शान्ति के उस निर्द्वन्द्व राज्यकाल के पश्चात् उसकी कलाकारिता समाप्त हो गयी। वह ऐश्वर्य-संगीत और अमंद-सौरभ में पली थी, किन्तु काल-परिवर्तन के साथ माधुर्य की मेनका-सी वह ब्रजबाला स्वयं फूल से, विरह में झुलसकर काँटा बन गयी।"[51]

पन्त जी के अनुसार काव्य-भाषा का कार्य जीवन और जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन को आकर्षक अभिव्यक्ति प्रदान करना है। उन्होंने सृष्टि के कण-कण को अभिव्यक्त करने की क्षमता को खड़ी बोली में भरने का स्वप्न देखा था। भाव और विचार के अनुसार भाषा का रूप निर्धारित करते हुए उन्होंने स्वाभाविकता को सरलता से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। काव्य-भाषा में शब्द के प्रच्छन्न सौन्दर्य और सामर्थ्य की ओर संकेत करते हुए पन्त जी ने अर्थानुसार शब्दों के लिंग-निर्णय का औचित्य स्थापित किया एवं शब्द-सौन्दर्य के अज्ञात लोकों का भी उद्घाटन किया।

पन्त जी ने भाषा के सम्बन्ध में "पल्लव" की भूमिका में ही कहा है कि "भाषा संसार का एक नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व की हत्तंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।"[52] भाषा के स्वरूप का पन्त जी के द्वारा दिया हुआ यह काव्यात्मक परिचय भाषा को परम्परा से नहीं, अनुभूति से जोड़ने का उनका प्रयास है।

भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा ध्वनि का यथार्थ रूप प्रकट करने में भी समर्थ है, लेकिन यह तभी संभव है जब उसमें असाधारण भावों की यथासंभव पूर्णतम अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य हो। पन्त जी ने इसी सामर्थ्य या आकर्षण को राग की संज्ञा देते हुए उसे काव्य-भाषा के प्राण-तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि–"भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनंत से मिलाती है।.....राग का अर्थ है

पन्त जी को खड़ी बोली अव्यवस्थित रूप में मिली थी। उसे उस समय अपने अवयव-संगठन की परम आवश्यकता थी। हिन्दी-कविता बहुत क्षीण और दुर्बल दीख पड़ती थी। पन्त जी ने भाषा सम्बन्धी नये प्रयोगों के द्वारा खड़ी बोली का रूप सँवारा और उसे स्वस्थ एवं शक्तिशाली रूप प्रदान किया। उन्होंने जहाँ एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों की सहायता ली वहीं वर्ण्यभाव और हिन्दी-भाषा की मूल प्रकृति के अनुरूप शब्दों को नयी भंगिमाएँ और नया रूप भी प्रदान किया।

साहित्य के स्वरूप के परिचय में पन्त जी की यह उक्ति उद्धृत की गयी है कि "साहित्यिक मान्यताएँ अपने आप ही किसी काल्पनिक कारण से नहीं बदला करती हैं।......उनका घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जगत् की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों तथा आन्दोलनों से होता है। उक्त स्थितियों में आया हुआ परिवर्तन साहित्य के मूल्य, माप या भाव में अनिवार्य रूप से परिवर्तन ला देता है।"[49]

युग की स्थितियों में आया हुआ परिवर्तन साहित्य के मूल्य, माप या भाव में ही परिवर्तन उपस्थित नहीं करता वह अभिव्यंजना-शैली को भी नये आयामों से जोड़ता है। पन्त जी ने स्वयं लिखा है—"एक ओर वह (जीवन में युगान्तर) साहित्य में रूप-विधान बदलने लगता है जिसके अन्तर्गत विधा, शैली, शब्द-चयन, सौन्दर्य-बोध, अर्थ-संकेत एवं मान्यताओं में भी अनिवार्यतः बदलाव आने लगता है और दूसरी ओर अन्तर्मन अथवा चेतना का नवीन स्फुरण अथवा विकास कला एवं अभिव्यक्ति के रूप को भी अपने आप बदल देता है। साहित्य मूलतः न अरूप मान्यताओं के ही बल पर चल सकता है और न किसी कला-इंगित के बल पर ही। उसकी पूर्णता तथा परिपक्वता के लिए दोनों का तादात्म्य अनिवार्य सत्य है।"[50]

छायावादी-काव्य भाव तथा भाषा दोनों की दृष्टि से द्विवेदीयुगीन काव्य-परम्परा से इतनी भिन्नता लिए हुए था कि तत्कालीन विद्वानों के लिए, जिनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे संपादक तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक थे, इतना चौंकाने वाला सिद्ध हुआ कि ये साहित्यकार उसकी तीक्ष्ण आलोचना करने लगे। पन्त जी ने उनके द्वारा फैलाये गये आरोपों का खण्डन करने तथा अपनी काव्य-चेतना को व्याख्यायित तथा प्रतिष्ठित करने के निमित्त ही युग के अनुरूप साहित्य की विषयवस्तु, भाववृत्ति तथा अभिव्यंजना में परिवर्तन लाने की अपेक्षा एवं आवश्यकता पर बार-बार बल दिया है।

उनके काव्य-संकलन "पल्लव" की "प्रवेश" शीर्षक भूमिका का विशेष विषय है—भाषा का विवाद। ब्रज बनाम खड़ी बोली काव्यान्दोलन उस समय अत्यन्त उग्र रूप में उठ खड़ा हुआ था। ब्रजभाषा के समर्थन में श्री जगन्नाथ दास "रत्नाकर" की अतिवादी स्थापनाओं का विरोध करते हुए पन्त जी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक विवेचन किया और अन्त में निर्णय दिया कि—"खड़ी बोली में मधु-स्नात ज्योत्स्ना नहीं, कार्य-व्यग्र प्रकाश है। सुख-सम्पन्न भारत की हत्तंत्री की झंकार ब्रजभाषा में पहले थी अवश्य, किन्तु भौतिक शान्ति के उस निर्द्वन्द्व राज्यकाल के पश्चात् उसकी कलाकारिता समाप्त हो गयी। वह ऐश्वर्य-संगीत और अमंद-सौरभ में पली थी, किन्तु काल-परिवर्तन के साथ माधुर्य की मेनका-सी वह ब्रजबाला स्वयं फूल से, विरह में झुलसकर काँटा बन गयी।"[51]

पन्त जी के अनुसार काव्य-भाषा का कार्य जीवन और जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन को आकर्षक अभिव्यक्ति प्रदान करना है। उन्होंने सृष्टि के कण-कण को अभिव्यक्त करने की क्षमता को खड़ी बोली में भरने का स्वप्न देखा था। भाव और विचार के अनुसार भाषा का रूप निर्धारित करते हुए उन्होंने स्वाभाविकता को सरलता से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। काव्य-भाषा में शब्द के प्रच्छन्न सौन्दर्य और सामर्थ्य की ओर संकेत करते हुए पन्त जी ने अर्थानुसार शब्दों के लिंग-निर्णय का औचित्य स्थापित किया एवं शब्द-सौन्दर्य के अज्ञात लोकों का भी उद्घाटन किया।

पन्त जी ने भाषा के सम्बन्ध में "पल्लव" की भूमिका में ही कहा है कि "भाषा संसार का एक नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह विश्व की हतंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।"[52] भाषा के स्वरूप का पन्त जी के द्वारा दिया हुआ यह काव्यात्मक परिचय भाषा को परम्परा से नहीं, अनुभूति से जोड़ने का उनका प्रयास है।

भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा ध्वनि का यथार्थ रूप प्रकट करने में भी समर्थ है, लेकिन यह तभी संभव है जब उसमें असाधारण भावों की यथासंभव पूर्णतम अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य हो। पन्त जी ने इसी सामर्थ्य या आकर्षण को राग की संज्ञा देते हुए उसे काव्य-भाषा के प्राण-तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि—"भाषा का और मुख्यत कविता की भाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनंत से मिलाती है।.....राग का अर्थ है

आकर्षण, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एकभाव हो जाता है।"[53]

पन्त जी की इस उक्ति से उनकी इस मान्यता का संकेत मिलता है कि भाषा शब्द-कोश और व्याकरण के नियमों का निर्जीव अनुसरण न होकर वक्ता अथवा कवि के हृदय से स्फूर्त होने वाली वस्तु है, इस कारण भाषा को ओर विशेषतया काव्य-भाषा को, किन्हीं पूर्व-निर्धारित धारणाओं अथवा मान्यताओं की बन्दिनी बनाकर नहीं रखा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'अपने असाधारण अभिव्यक्ति-कौशल के कारण पाठक के समक्ष भाव या विचार का यथार्थ चित्र, शब्द-चित्र उपस्थित करने' को ही काव्य-भाषा की कसौटी माना है।[54]

शुक्ल जी की इस मान्यता के अनुरूप ही पन्त जी ने काव्य के लिए चित्रभाषा की उपयोगिता पर बल दिया है। उन्होंने लिखा है—"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हो, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र हो, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युत् धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।"[55]

काव्य-भाषा के सम्बन्ध में पन्त जी की पूर्वोद्धृत उक्तियाँ इस बात का स्पष्ट संकेत देती हैं कि उन्होंने काव्य-भाषा के प्रकृत स्वरूप का आविष्कार करने के लिए अतिशय मनोयोग के साथ चिन्तन और विश्लेषण किया था ओर अपने भाषा-प्रयोग को भी उसी के अनुरूप ढालने का प्रयास किया था। काव्य मे भाषाशिल्प को महत्त्व देने और अपनी काव्य-रचनाओं में उसका अतिशय सफल प्रयोग करने की दृष्टि से आधुनिक कवियों में पन्त जी का स्थान अद्वितीय है। उनकी काव्य-भाषा का आदर्श यह है कि उसमें कुछ ऐसी विशेषता होनी चाहिये जो शब्दों में अभिव्यक्त न होने वाले भावों को भी प्रतिध्वनित कर सकने मे समर्थ हो और जो पाठक के मन में काव्य-प्रणेता की अनुभूति का पूर्णतम रूप प्रेषित कर सके।

भाषा की इस सामर्थ्य के अतिरिक्त पन्त जी ने उसके एक अन्य आवश्यक गुण की ओर भी संकेत किया है। उनके विचारानुसार अभिव्यक्ति के लिए जिस तत्त्व की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह है भाव और भाषा का सामंजस्य, जिसे उन्होंने चित्र-राग की संज्ञा दी है। उनका कहना है—"भाव और भाषा का

सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्रराग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक हो गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों, कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जगकर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतंत्रता में कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो। भावनाओं की तरुणता अपने ही आवेश से अधीर हो जैसे शब्दों के चिरालिंगन-पाश में बँध जाने के लिए हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हो, यही भाव और स्वर का मधुर मिलन, सरस सन्धि है।"[56]

इसी बात को पन्त जी ने इस रूप में भी दोहराया है—"कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं, तब भिन्न-भिन्न आकारों में कटी-छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती हैं। ...जिस प्रकार संगीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते हैं, उनकी लँगड़ाहट में गति आ जाती है, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।"[57]

युग की परिस्थितियों के बदलने से मानवीय दृष्टिकोण और भावनाओं में परिवर्तन आता है, और जब कवि या लेखक उस नवीन दृष्टिकोण और युगानुरूप भावनाओं के साथ भाषा का सामंजस्य बिठाने का प्रयास करता है तो भाषा अपने आप ही नये-नये रूप ग्रहण करने लगती है। ऐसा लेखक और कवि कहे जाने वाले हर व्यक्ति के साथ घटित नहीं होता। सच्ची प्रतिभा वाले लेखक और कवि ही सार्थक काव्य अथवा साहित्य का सृजन करते हैं और ये ही साहित्य की भाषा को नये आयाम और सामर्थ्य प्रदान करते हैं। युग की परिस्थितियाँ, प्रेरणाओं एवं अपेक्षाओं के अनुरूप काव्य-भाषा किस तरह नयी भंगिमाओं को अपना लिया करती है, इसका उदाहरण पन्त जी की काव्य-यात्रा में हमें अतिशय स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है।

"वीणा", "पल्लव", "गुंजन" का कवि प्रकृति-प्रेमी तथा आत्मचिंतक है। उसकी काव्य-भाषा भी प्रकृति के समान ही सुकोमल, सरस, रंगीन है तथा कुतूहल और सौन्दर्यपूर्ण किशोर-कल्पनाओं से परिपूर्ण है। उक्त काव्य-रचनाओं में भाव तथा कल्पना के बेजोड़ सूक्ष्म चित्र अंकित हैं। "पल्लव"

की "परिवर्तन" कविता के साथ-साथ कवि की काव्य-धारा में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया तथा "गुंजन" में आत्मचिन्तन का उभार आ गया। ऐसी स्थिति में "वीणा", "पल्लव" के प्रकृति का कवि "युगान्त", "युगवाणी", "ग्राम्या" आदि कृतियों के साथ प्रगतिवादी हो गया। पूर्णतः पन्त जी का यह अपना ही प्रगतिवाद है (तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न)। अपने इस साहित्यिक मोड़ पर पन्त जी की काव्य-भाषा जन-सामान्य का चित्रण करने लगी और इस प्रकार अनलंकृत, यथार्थवादी तथा सामान्य भाषा के समीप जा पहुँची। "ग्राम्या" के निवेदन में स्वयं कवि ने स्वीकार किया है कि "ग्राम्या" में ग्राम्य दोषों का होना स्वाभाविक है।"[58]

उन्होंने अध्यात्मवादी क्षेत्र में पदार्पण करते हुए अपनी काव्य-भाषा में पुन विषय से सम्बन्धित अनेक शब्दों को गूँथकर किसी सीमा तक नूतन परिवर्तन किया। फलतः ऐसी रचनाओं में उनकी भाषा गम्भीर, दार्शनिक तथा तत्सम-शब्दावलीप्रधान होती गयी। "कला और बूढ़ा चाँद" लिखकर पन्त जी ने प्रयोगवादी-कला अथवा नव-लेखन की ओर पदन्यास किया है, जो पन्त जी के काव्य-भाषा-क्षेत्र में नये अभिव्यंजनात्मक मोड़ का सूचक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविवर पन्त जी युग-चेतना के अनुसार प्रकृति से जीवन, जीवन से प्रगति और प्रगति से दार्शनिक चेतना की ओर अभिमुख होते रहे। यहाँ यह एक बार फिर कह देने की आवश्यकता है कि उनके समीक्षकों की यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि पन्त की जीवन-चेतना तथा काव्य-चेतना उनकी काव्य-यात्रा के विभिन्न कालों में कोई सर्वथा नया मोड लेती रही है। उनकी काव्य-यात्रा के विभिन्न पक्ष, जिनको समीक्षकों ने "सोपान" कहकर संकेतित किया है, वे तत्त्वतः एक दूसरे से भिन्न न होकर उनके काव्य-व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू हैं। इसीलिए प्रकृति, जीवन, प्रगति तथा दार्शनिकता की ओर उनके अभिमुख होने की बात ही कही गयी है। इन तत्त्वो के प्रति उनकी अभिमुखता की प्रधानता के आधार पर उनकी काव्य-भाषा मे छायावादी, प्रगतिवादी, अध्यात्मवादी, प्रयोगवादी आदि मोड़ हमें मिलते हैं, किन्तु सूक्ष्म तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी की काव्य-भाषा अपनी विभिन्न भंगिमाओं के बावजूद उनकी अपनी भाषा है जो तत्त्वतः एक धारा के समान अविच्छिन्न बनी रही है। अनुभूति की यथासभव पूर्ण और समर्थ अभिव्यक्ति के लिए भाषा को कैसे नवीन भंगिमाएँ प्रदान करनी पड़ती हैं, इसकी ओर पन्त जी ने इस प्रकार संकेत किया है—"कविता के

स्वरूप में भावों को साँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस और प्रांजल कर लेना पड़ता है।"[59]

जिस हृदय के ताप में पन्त जी ने अपनी भाषा को अपनी विभिन्न रचनाओं के निमित्त गलाया, वह हृदय एक ही था। किसी व्यक्ति के जीवनकाल मे उसका हृदय एक से अधिक नहीं हो सकता, केवल उसकी तात्कालिक अभिमुखता ही बदलती रहती है।

काव्य में छन्द-योजना

पन्त जी ने छन्द के स्वरूप-विवेचन में और भी मनोयोग का परिचय दिया है। उन्होंने काव्य में छन्द की स्थिति, विविध छन्दों और छन्द के अंगों की मार्मिक समीक्षा की है। उनका यह मानना है कि—"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीत है, अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँख-मिचौनी, षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन, सृजन, स्थिति, संहार सब एक अनत छन्द एक अखण्ड संगीत ही में होता है।.......छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत का संगीत समास-संधि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है।..........शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण सस्कृत में वर्ण-वृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ है।......वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई चलती है, तुक का अंकुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है।......संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं।........हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही मे अपना स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्ही के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है।"[60]

पन्त जी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे छन्द को भाषा की प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ मानते हैं, उसे कृत्रिम रूप में भाषा पर आरोपित तत्त्व नहीं मानते। उनके मत से अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है। उन्होंने इस सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि—"हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा—संगीत को यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की

पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है।"[61]

पन्त जी के कथनानुसार छन्दों के द्वारा ही काव्य में प्रयुक्त शब्द अपना विशिष्ट आकर्षण प्राप्त करते हैं। उनका कहना है कि—"छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जाती हैं, तालयुक्त हो जाती हैं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती हैं, राग की असम्बद्ध झंकार एक वृत्त में बँध जाती है, उनमें पूर्णता आ जाती है, छन्दबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण केन्द्र (मैगूनेटिक फील्ड) तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युत् धारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[62]

हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. नगेन्द्र ने पन्त जी के छन्द-विवेचन को बहुत महत्त्व दिया है और इन शब्दों में उसकी प्रशंसा की है—"पन्त जी ने छन्दों के आविर्भाव का कारण और उनका महत्त्व दर्शाते हुए उनके आन्तरिक मूल्य एवं उपयोगिता का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। छन्दों के बहुचर्चित भेद-प्रभेद एवं बाह्याकार की अपेक्षा उनके अन्तर्जगत् में अपनी सहृदयता और सूक्ष्मनिरीक्षण-बुद्धि के द्वारा प्रवेश करके उन्होंने अनेक अज्ञात तथ्यों का उद्घाटन किया है। छन्दों के मनोविज्ञान का यह रहस्योद्घाटन और सरस विश्लेषण हिन्दी में अभूतपूर्व है।"[63]

पन्त जी ने हिन्दी, संस्कृत, बंगला, अंग्रेज़ी तथा रीतिकालीन हिन्दी के छन्दों को भाषा के उच्चारण के अनुसार परखा है। अन्य भाषाओं के छन्दों की तो बात ही क्या, उन्होंने हिन्दी भाषा के प्राचीन रूपों में प्रयुक्त छन्द को भी आधुनिक हिन्दी-भाषा के निमित्त उसकी प्रकृति की दृष्टि से अनुपयुक्त माना है। रीतिकालीन काव्य में बहुधा प्रयुक्त कवित्त और सवैया छन्द को उन्होंने खड़ी बोली की नवीन कविता के लिए असंगत माना है—"कवित्त छन्द मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरस-जात नहीं, पोष्य पुत्र है।.....कवित्त छन्द हिन्दी के स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकतीस गुरु अक्षर रख दें चाहे लघु, एक ही बात है, छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है जिससे हिन्दी

का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है।.....कवित्त छन्द में जब तक अलंकारों की भरमार न हो, तब तक वह सजता भी नहीं।.......कवित्त का राग व्यंजन-प्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नहीं मिलता।. . .. सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जडता, एकस्वरता (मोनोटनी) आ जाती है।"[64]

हिन्दी के प्राचीन छन्दों में रोला छन्द को उपयोगी मानते हुए उन्होंने लिखा है—"हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रास हीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं।"[65]

पन्त जी ने छन्दों के अन्तर्गत मुक्त-छन्द को भी मान्यता प्रदान की है और उसे हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुरूप पाया है। मुक्त-छन्द की विशेषता स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है।......मुक्त काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूँढ़ता है। इसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं।.....इसमें चरण इसलिए घटाये-बढ़ाये जाते हे कि काव्य सम्बद्ध तथा संयमित रहे।.......अन्य छन्दों की तरह मुक्त-काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर सफल हो सकता है।"[66] पन्त जी की घोषणा है—

> "खुल गये छन्द के बंध, प्रास के रजत-पाश,
> अब गीत मुक्त औ' युग वाणी बहती अयास।"[67]

यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने मुक्त-छन्द में भावना और भाषा में से किसी की भी उपेक्षा न कर सन्तुलित विवेक का परिचय दिया है। काव्य के अन्य छन्दों में से उन्होंने रूपमाला, राधिका, अरिल्ल, सखी, चौपाई, पीयूष-वर्षण और हरिगीतिका छन्द के स्वरूप, और रस-विशेष की सृष्टि में उनकी उपयोगिता पर भी विचार किया है। इस दिशा में उनकी धारणाएँ इस तथ्य की पोषक हे कि वे छन्द के मर्म से भली-भाँति परिचित थे।

पन्त जी ने छन्द-रचना के लिए अपेक्षित उपादानों में से तुक और लय की विवेकपूर्ण मीमांसा की है। हिन्दी छन्द में तुक की स्थिति को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हुए पन्त जी ने लिखा है कि—"छन्द में तुक का वही स्थान है जो ताल में सम का है। यह तुक, जिसे अन्त्यानुप्रास भी कहा गया है, छन्द को विशेष

सौन्दर्य प्रदान करती है।"[68] तुक के रहस्य और आकर्षण का विश्लेषण करते हुए पन्त जी ने लिखा है कि—"तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो।"[69] अपने इस वाक्य के द्वारा पन्त जी ने तुक की पद-भावना के साथ गुँथी हुई आन्तरिक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। तुक के सम्बन्ध में उनके इस स्वरूप-निर्देश के महत्त्व को स्वीकार करते हुए डा. नगेन्द्र ने लिखा है—"हिन्दी में पहली बार तुक के मर्म का विश्लेषण हुआ क्योंकि रीति-युग के आचार्य भिखारीदास ने केवल इसके बाह्य रूपों और स्थूल भेदों की ही चर्चा की थी।"[70]

तुक के अतिरिक्त लय की सिद्धि पर भी पन्त जी ने विशेष बल दिया है—"छन्द के राग का भाषा के उच्चारण-संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। छन्द ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।"[71] काव्य-शिल्प के अन्तर्गत छन्दों का विवेचन पन्त जी ने काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक मनोयोग से किया है। डा. नगेन्द्र के शब्दों में—"पन्त जी के छन्द-सम्बन्धी ये विचार निश्चय ही गम्भीर मर्म-ज्ञान के परिचायक हैं। युवा कवि ने छन्द की आत्मा में पैठकर उनके मूलवर्ती रहस्यों का उद्घाटन किया है।"[72]

काव्य-रचना की प्रक्रिया और पन्त जी

काव्य-रचना की प्रक्रिया का सम्बन्ध उस मनोवैज्ञानिक यात्रा से होता है जो कवि के हृदय में काव्योन्मेष से प्रारम्भ होकर रचना के लिपिबद्ध होने पर समाप्त होती है। पन्त जी ने रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध कवि की सृजन के क्षणों की मनःस्थिति तथा परिवेश से जोड़ा है। अपने "रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण" शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है—"इसका (रचना-प्रक्रिया का) सम्बन्ध एक ओर कलाकार की तत्कालीन चित्तवृत्ति एवं मानसिक स्वास्थ्य से है और दूसरी ओर यह वस्तुस्थिति, वातावरण तथा सामाजिक परिवेश से भी नियमित होती है। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म ऐसे कारण हैं जो इसके स्फुरण तथा संयमन में सहायता देते हैं।"[73]

पन्त जी के इस कथन के अनुसार मानसिक स्थिति-विशेष तथा बाह्य वातावरण के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व—विषय-वस्तु एवं तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया आदि हैं जो रचना-प्रक्रिया को गतिशील बनाते हैं।

मन में संचित वेदना किसी बाह्य या आन्तरिक कारण से उद्वेलित होकर काव्य के रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। कविता के जन्म की कथा प्रस्तुत करने

वाली पन्त जी की इन पंक्तियों को यहाँ एक बार फिर दोहराया जा सकता है—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर नयनों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।"

पन्त जी के विचार से "पूर्व-क्षणों का स्वानुभूत सुख-दुःखमय भावातिरेक अन्तः या बाह्य कारण से उद्वेलित होकर काव्योन्मेष का कारण बन जाता है। पन्त जी की इस मान्यता के पीछे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ की काव्योन्मेष सम्बन्धी मान्यता का स्वर हमें सुनाई देता है। वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि "काव्य सशक्त भावनाओं का अपने आप उमड़ पड़ने वाला प्रवाह है, जिसका उद्‌गम मनःशान्ति के क्षण में अनुभूत भावों के पुनः स्मरण से होता है।"[74] पर साथ ही पन्त जी यह भी मानते हैं कि कोई-कोई भावोन्मेष भावानुभव के क्षणों में ही शब्दों में अभिव्यक्त हो जाता है, मनःशान्ति के क्षणों में उसके पुनः स्मरण की आवश्यकता नहीं होती। अपनी "वीणा" कालीन रचनाओं के विषय में पन्त जी ने स्वयं लिखा है—"वीणा"-काल में कोई भी काव्योन्मेष का क्षण या विषय मेरे भीतर तुरंत रचना-प्रक्रिया को जाग्रत् कर देता था। उस काल की रचनाओं में भावों की सीधी उड़ान तथा अन्विति मिलती है, कविता के प्रयोजन में एकाग्रता पायी जाती है।"[75]

पन्त जी के इस कथन से कि "वीणा"-काल में कोई भी काव्योन्मेष का क्षण या विषय उनके भीतर रचना-प्रक्रिया को तुरन्त जाग्रत् कर देता था, वर्ड्सवर्थ के मनःशान्ति के क्षणों में भावों के पुनः स्मरण का सिद्धान्त खंडित नहीं होता। पन्त जी के स्वभाव में एक सहज सात्त्विकता का निवास था और इस कारण उनके भावावेग अपने जागरण-काल में ही एक उदात्त मनःस्थिति से सम्बन्धित हुआ करते थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि—"मेरे भीतर रचना-प्रक्रिया की एक ही पद्धति काम नहीं करती रही। मनोवेगों की अवस्थानुसार तथा अनुभूतियों की परिपक्वता के साथ ही और भी अनेक ऐसे कारण तथा घटनाओं का हाथ रहा जिससे समय-समय पर उसका स्वरूप बदलता रहा। उदाहरणार्थ—किशोर वयस में मेरा मन विस्मय की भावना से अधिक अभिभूत रहता था और मन की आश्चर्य से प्रेरित स्थिति प्रायः अपने को अज्ञात रूप से काव्य-रचना में संलग्न पाती थी।"[76]

अपने को अज्ञात रूप से काव्य-रचना में संलग्न पाने की बात कहकर पन्त जी ने वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रतिपादित 'कविता के अपने आप फूट पड़ने वाले' सिद्धान्त की पुष्टि की है। पन्त जी ने काव्य की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में

सौन्दर्य प्रदान करती है।"[68] तुक के रहस्य और आकर्षण का विश्लेषण करते हुए पन्त जी ने लिखा है कि—"तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो।"[69] अपने इस वाक्य के द्वारा पन्त जी ने तुक की पद-भावना के साथ गुँथी हुई आन्तरिक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। तुक के सम्बन्ध में उनके इस स्वरूप-निर्देश के महत्त्व को स्वीकार करते हुए डा. नगेन्द्र ने लिखा है—"हिन्दी में पहली बार तुक के मर्म का विश्लेषण हुआ क्योंकि रीति-युग के आचार्य भिखारीदास ने केवल इसके बाह्य रूपों और स्थूल भेदों की ही चर्चा की थी।"[70]

तुक के अतिरिक्त लय की सिद्धि पर भी पन्त जी ने विशेष बल दिया है—"छन्द के राग का भाषा के उच्चारण-संगीत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। छन्द ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।"[71] काव्य-शिल्प के अन्तर्गत छन्दों का विवेचन पन्त जी ने काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक मनोयोग से किया है। डा. नगेन्द्र के शब्दों में—"पन्त जी के छन्द-सम्बन्धी ये विचार निश्चय ही गम्भीर मर्म-ज्ञान के परिचायक हैं। युवा कवि ने छन्द की आत्मा में पैठकर उनके मूलवर्ती रहस्यों का उद्घाटन किया है।"[72]

काव्य-रचना की प्रक्रिया और पन्त जी

काव्य-रचना की प्रक्रिया का सम्बन्ध उस मनोवैज्ञानिक यात्रा से होता है जो कवि के हृदय में काव्योन्मेष से प्रारम्भ होकर रचना के लिपिबद्ध होने पर समाप्त होती है। पन्त जी ने रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध कवि की सृजन के क्षणो की मनःस्थिति तथा परिवेश से जोड़ा है। अपने "रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण" शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है—"इसका (रचना-प्रक्रिया का) सम्बन्ध एक ओर कलाकार की तत्कालीन चित्तवृत्ति एवं मानसिक स्वास्थ्य से है और दूसरी ओर यह वस्तुस्थिति, वातावरण तथा सामाजिक परिवेश से भी नियमित होती है। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म ऐसे कारण हैं जो इसके स्फुरण तथा संयमन में सहायता देते हैं।"[73]

पन्त जी के इस कथन के अनुसार मानसिक स्थिति-विशेष तथा बाह्य वातावरण के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व—विषय-वस्तु एवं तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया आदि हैं जो रचना-प्रक्रिया को गतिशील बनाते हैं।

मन में संचित वेदना किसी बाह्य या आन्तरिक कारण से उद्वेलित होकर काव्य के रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। कविता के जन्म की कथा प्रस्तुत करने

वाली पन्त जी की इन पंक्तियों को यहाँ एक बार फिर दोहराया जा सकता है-

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर नयनों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।"

पन्त जी के विचार से "पूर्व-क्षणों का स्वानुभूत सुख-दुःखमय भावातिरेक अन्तः या बाह्य कारण से उद्वेलित होकर काव्योन्मेष का कारण बन जाता है। पन्त जी की इस मान्यता के पीछे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ की काव्योन्मेष सम्बन्धी मान्यता का स्वर हमें सुनाई देता है। वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि "काव्य सशक्त भावनाओं का अपने आप उमड़ पड़ने वाला प्रवाह है, जिसका उद्‌गम मनःशान्ति के क्षण में अनुभूत भावों के पुनः स्मरण से होता है।"[74] पर साथ ही पन्त जी यह भी मानते हैं कि कोई-कोई भावोन्मेष भावानुभव के क्षणों में ही शब्दों में अभिव्यक्त हो जाता है, मनःशान्ति के क्षणों में उसके पुनः स्मरण की आवश्यकता नहीं होती। अपनी "वीणा" कालीन रचनाओं के विषय में पन्त जी ने स्वयं लिखा है—"वीणा"-काल में कोई भी काव्योन्मेष का क्षण या विषय मेर भीतर तुरंत रचना-प्रक्रिया को जाग्रत् कर देता था। उस काल की रचनाओ मे भावों की सीधी उड़ान तथा अन्विति मिलती है, कविता के प्रयोजन में एकाग्रता पायी जाती है।"[75]

पन्त जी के इस कथन से कि "वीणा"-काल में कोई भी काव्योन्मेष का क्षण या विषय उनके भीतर रचना-प्रक्रिया को तुरन्त जाग्रत् कर देता था, वर्ड्सवर्थ के मनःशान्ति के क्षणों में भावों के पुनः स्मरण का सिद्धान्त खंडित नहीं होता। पन्त जी के स्वभाव में एक सहज सात्त्विकता का निवास था और इस कारण उनके भावावेग अपने जागरण-काल में ही एक उदात्त मनःस्थिति से सम्बन्धित हुआ करते थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि—"मेरे भीतर रचना-प्रक्रिया की एक ही पद्धति काम नहीं करती रही। मनोवेगों की अवस्थानुसार तथा अनुभूतियों की परिपक्वता के साथ ही और भी अनेक ऐसे कारण तथा घटनाओं का हाथ रहा जिससे समय-समय पर उसका स्वरूप बदलता रहा। उदाहरणार्थ—किशोर वयस में मेरा मन विस्मय की भावना से अधिक अभिभूत रहता था और मन की आश्चर्य से प्रेरित स्थिति प्रायः अपने को अज्ञात रूप से काव्य-रचना में संलग्न पाती थी।"[76]

अपने को अज्ञात रूप से काव्य-रचना में संलग्न पाने की बात कहकर पन्त जी ने वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रतिपादित 'कविता के अपने आप फूट पड़ने वाले' सिद्धान्त की पुष्टि की है। पन्त जी ने काव्य की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे

यह भी कहा है कि–"इसमें सन्देह नहीं है कि रचना-प्रक्रिया एक अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल प्रणाली है, जिसकी गति-विधि के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ कहना बड़ा ही कठिन है।"[77]

रचना-प्रक्रिया की सूक्ष्मता, जटिलता और उसकी गतिविधि की अकथनीयता के संकेतों से भी काव्य का स्वतः-स्फूर्त होना ही प्रतिपादित होता है। स्वतःस्फूर्त होते हुए भी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ तथा अनुभव काव्य-रचना को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इसका परिचय हमें पन्त जी की इन पंक्तियों में मिलता है–"मानव-जीवन के सुख-दुःखों के आघात पाकर धीरे-धीरे उसने (मेरे मन ने) प्रकृति से मानव-जगत् की ओर मुड़ना आरम्भ कर दिया।........"ग्राम्या" की "ये आँखें", "वह बुड्ढा", "कठपुतली" आदि अनेक रचनाएँ मैंने व्यक्ति-विशेष के सम्पर्क में आकर विशेष परिस्थितियों का आघात पाकर लिखी हैं।"[78]

जैसा पहले कहा जा चुका है, पन्त जी में एक स्वाभाविक सात्त्विकता पायी जाती थी। इसलिए उनके अनुभव की परिधि में आने वाली प्रकृति और जीवन के रूप बिना किसी काल-व्यवधान के भी काव्य-रचना के प्रेरक बन जाते थे; पर उनकी अनेक प्रकृति-प्रेरित रचनाएँ कुछ कालान्तर के बाद पुनः स्मरण के आधार पर भी लिखी गयी हैं, यह बात उन्होंने स्वयं कही है–"वीणा" की "प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना" एक ऐसी ही रचना है। प्रभात होते ही चिड़ियों का चहक उठना किशोर मन में आनन्दमिश्रित आश्चर्य पैदा करता था। यद्यपि यह रचना बनारस में लिखी गयी जहाँ मैं अपने कमरे की खिड़की से प्रभात का स्वागत करता था और आनन्दातिरेक से कलरव करती हुई चिड़ियों के कण्ठो की ध्वनियाँ प्रभात-किरणों के साथ मेरे मन को उनके स्वर में स्वर मिलाने को प्रोत्साहित करती रही हैं, पर रचना के वातावरण में अज्ञात रूप से पर्वत प्रदेश के प्रभात की उज्ज्वलता, माधुर्य तथा उल्लास मिलकर समा गये हैं।"[79]

अपने परवर्ती सांस्कृतिक काव्य के उन्मेष के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है–"गाँवों के दारिद्र्य के परिपार्श्व में मनुष्य की दयनीय दुर्दशा देखकर मेरे विचारों में तीव्र उथल-पुथल का होना स्वाभाविक था। किशोर-कल्पना की आँखो से देखा हुआ सौन्दर्य का स्वप्न तो कभी का टूट चुका था, किन्तु मानव-जीवन की दुखद समस्याओं के बाहरी समाधान के सम्बन्ध में भी मन धीरे-धीरे सशंकित हो उठा। बहिर्मुखी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अभ्युत्थान के साथ ही अपनी क्षुद्र अहंता तथा अल्प एवं सीमित जीवन-बोध के अन्धकार में आकंठ

डूबे हुए बौने मानव के अन्तर में सुप्त चेतनाओं को जाग्रत् कर जब तक उसका व्यापक मानवता, सभ्यता तथा संस्कृति के स्पर्शों से परिष्कार नहीं किया जायेगा तब तक वह भिन्न-भिन्न मतों, धर्मों, जाति-पाँतियों तथा रूढ़ियों में विभक्त स्वार्थान्ध मानव भला बाहरी दृष्टि से भी अपना तथा दूसरों का सामाजिक अथवा ऐहिक कल्याण कैसे कर सकेगा? इन्हीं गम्भीर प्रश्नों एवं समस्याओं स मन्थित होकर मेरी संवेदना ने अपने उत्तर-काव्य में मानव-भविष्य के स्वप्न को अंकित करने का प्रयत्न किया है और भूत तथा वर्तमान के अनेक अन्तर्विरोधों के बीच जिस नवीन प्रकार की अनुभूति को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है वह केवल मेरे प्राणों के आवेश एवं कल्पना-प्रेम का ही प्रतीक नहीं है, प्रत्युत मेरी गम्भीर अन्तःस्पर्शी जीवन-अनुभूतियों के कारण भी सम्भव हो सका है।"[80]

काव्य की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में पन्त जी का उपर्युक्त कथन अन्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि ये बातें पन्त जी ने अपनी निजी काव्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में कही हैं, किन्तु इनमें सांस्कृतिक-साहित्य-रचना-प्रक्रिया क सामान्य स्वरूप के दर्शन भी हमें होते हैं। जिस व्यक्ति को वर्तमान का ज्ञान नही होगा और जिसकी दृष्टि में जीवन के श्रेष्ठतर भावी रूप का कोई स्वप्न नही होगा, वह अपने निजी सुख-दुःख की अनुभूतियों का अभिव्यंजक काव्य तो लिख सकता है, किन्तु वह काव्य विश्व-चेतना का प्रेरक काव्य नहीं बन सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चिन्तन-मनन की असाधारण अवस्था मे विगत क्षणों में स्वानुभूत भावातिरेक या विचार-बिन्दु के, अन्तः या बाह्य प्रकृति से उद्वेलित होकर काव्योन्मेष के क्षणों में अभिव्यक्त हो जाने को ही पन्त जी ने रचना की प्रक्रिया माना है। उन्होंने सृजन के पहले की आकुलता, सृजन के क्षणों की तन्मयता तथा सृजन के बाद की सन्तोषपूर्ण शान्ति के स्वान्तः-सुख को अन्य सुखों से बड़ा मानकर सृजन के असाधारण आनन्द की महत्ता भी स्वीकार की है।

साहित्य की विधाएँ और पन्त जी

साहित्य-समीक्षकों ने साहित्य की विभिन्न विधाओं अथवा काव्यभेदों के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है। काव्य-भेदों का कोई इस तरह का शास्त्रीय निरूपण पन्त जी ने कहीं नहीं किया है और न इस सम्बन्ध में हुए प्राचीन विवेचन के प्रति कोई विशेष असन्तोष या असहमति प्रकट की है। यह अवश्य है कि प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित काव्य के

कुछ रूपों के सम्बन्ध में उन्होंने अपने अभिमत अवश्य व्यक्त किये हैं। उनके विचार से विभिन्न काव्य-रूपों के प्रयोग के पीछे भी युग-जीवन की परिस्थितियो का हाथ होता है। उन्होंने लिखा है--"विश्व के इतिहास में देखा गया है कि सभी युग समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होते। बहुत से युग विशिष्ट क्रिया-कलाप स शून्य सामान्य रूप से व्यतीत हो जाते हैं, वे या तो निष्क्रिय होते हैं या उनमे दश-विशेष अपनी पूर्व-अर्जित उपलब्धि का उपभोग करते हैं। इसी प्रकार कुछ युग-ह्रास तथा विघटन के होते हैं तथा कुछ छोटे-बड़े संयोजनों के, और ऐसे युग महाकाव्य को जन्म देने में असमर्थ होते हैं। इंग्लैण्ड में "विक्टोरियन एज" अथवा भारतवर्ष में उत्तर-मध्यकालीन युग--इसी तरह के युग रहे हैं जिनकी उपयोगिता किसी बृहत् काव्य या कला-चैतन्य को वाणी देने में असमर्थ रही हे। इतिहास में महत् सृजन-प्रेरणा के युग या तो जागरण के युग रहे हैं--हमारे देश म कालिदास और रवीन्द्र जागरण-युग के ही कवि हैं--या फिर ऐसे युग जैसा कि हमारा आज का युग है जिसमें विश्व-व्यापी, क्रान्तिकारी, मानसिक तथा भौतिक परिवर्तन हो रहे हैं।......राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष-सम्बन्धी उलटफेरों ने भू-देशो क जीवन का भावचित्र ही बदल दिया है। ऐसे घोर विपर्ययों के संक्रान्तिकाल मे मानव-मन में अनेक प्रकार की अवस्थाएँ, संशय, भय तथा विकृतियाँ उत्पन्न होकर उसकी चेतना में उथल-पुथल मचा रही हैं। एक ओर आज की ह्रासयुगीन कला उन अवचेतन की प्रवृत्तियों को कला-विधाओं में सँजोकर उन्हें निरखने-परखने की चेष्टा कर रही है और दूसरी ओर अधिक गम्भीर चिन्तक-द्रष्टा तथा सर्जक वर्तमान के अंधकार के भीतर से नवीन प्रकाश की किरणें खोज रहे हैं और इस विघटन और भूकम्प के उद्देश्य को समझने का प्रयत्न कर, मानव-मूल्यों को विश्वव्यापक युग-पट में सँजोकर, मनुष्य-जीवन को नवीन वैश्व-जीवन में बाँधने तथा नवीन आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रहे हैं।..
इसलिए आज की सर्जन-वृत्ति एवं कला-प्रतिभा इस नवीन करवट बदल रहे महान् युग की हल्की-फुल्की छुटपुट झाँकियों, सम्वेदनाओं, उन्मेषों तथा प्रेरणाओ को छोटे-छोटे प्रगीतों, अमूर्त प्रतीकों तथा उथली-गहरी वायवी अनुभूतियों के बिम्बों में बाँधकर युग-मानस के सूक्ष्म, सक्रिय अन्तः क्रिया-कलाप को अभिव्यक्ति देने में सतत संलग्न दीखती है और अनेकानेक दृष्टियों से युग जीवन की महाप्राण प्रतिभा के सौन्दर्य का आकलन कर, उसकी मन्द गतियों, विकृतियो, कुरूपताओं को अवचेतन धरातल के ऊपर लाकर उनकी ओर युग-चेतना का ध्यान-आकृष्ट कर रही है। युग-जीवन के इस बहुमुखी चलपट-स्वरूप का चित्रण

करने में प्रगीत को अधिक सफलता मिलना स्वाभाविक है। इस विश्वव्यापी सक्रान्ति के युग में प्रगीत का आविर्भाव तथा आधिक्य सहज ही समझ में आ जाता है। वह अपने अदम्य आवेग में जिस तरह छन्दों के पुलिनों को डुबाकर अपनी क्षण-उपलब्धि तथा स्वतः सजग भाव-चेतना को लय-मुखर करना चाहता ह, वह प्रत्यक्ष ही है।"[81]

काव्य-विधाओं के स्वरूप और युग-जीवन के सम्बन्ध को निर्देशित करने के साथ-ही-साथ पन्त जी ने अपने उपर्युक्त कथन में वर्तमान युग में काव्य मे प्रगीतों के आविर्भाव और आधिक्य के कारण का भी परिचय दिया है। किन्तु ऐसा मानने के साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि वर्तमान युग जहाँ प्रगीतों तथा छन्द-मुक्त लघु-रचनाओं की प्रेरक पृष्ठभूमि बना हुआ है, वहीं उसमें ऐसी जीवन-स्थितियाँ भी निहित हैं जो महाकाव्य-रचना की अभिप्रेरणा प्रदान करती है। उन्होंने लिखा है—

"किन्तु यह सब होते हुए भी इस महान् परिवर्तनों के अनेक युगों-के-युग को एक विश्व-व्यापक चित्रपटी में सँवारकर उसके आवेगों, उद्वेगों, उत्थान-पतनो, सृजन-संहारों, उसकी विकृतियों, प्रवृत्तियों, उसकी सीमाओं, क्षमताओं, उसकी भौतिक, राजनीतिक, आर्थिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक-आध्यात्मिक उपलब्धियों एवं सम्भावनाओं की एक जीवित, जाग्रत्, कलाप्राण, सौन्दर्य-दीप्त, भावमुखर, कल्पना-पंखी, आकाशचुम्बी, वैश्व-व्यक्तित्वपूर्ण मांसल प्रतिमा युग-जीवन के चेतना-पट में उतारी जा सकती है, जो क्षणजीवी वर्तमान के कर्दम-संकुल दलदल में डूबी हुई पीढ़ियों के लिए विश्व-जीवन की भावी विकास-दिशा का पथ-संकेत दे सके।......इसमें संदेह नहीं कि आज का युग अनिवार्य रूप से महाकाव्य का युग है—जो आधुनिक सृजन-प्रक्रिया के विन्ध्य-शिखरों को लाँघकर मानव-चेतना के दिगन्त में आर-पार-व्यापी शाश्वत सीमाहीन हिमालय की तरह अपनी ही अवाक्, अलंघ्य शोभा-गरिमा में उदय होकर आज की शतमुख विकीर्ण मानव मनोवृत्तियों को अपने अजेय भागवत-महत्ता के सम्मोहन में बाँधकर उन्हे नवीन विश्वमानवता में संयोजित कर सके।"[82]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी वर्तमान युग की स्थितियों को जहाँ एक ओर प्रगीतों तथा अन्य प्रकार की लघु-स्फुट रचनाओं का प्रेरक मानते है, वही उसमें महाकाव्य-रचना के निमित्त प्रेरक तत्त्वों को भी अवस्थित देखते है। उन्होंने स्वयं जहाँ बहुत बड़ी संख्या में प्रगीत तथा मुक्तक रचनाएँ लिखी हैं, वही उन्होंने "लोकायतन" जैसा विशद कथा-काव्य भी लिखा है जो उपर्युक्त उद्धरण

में संकेतित महाकाव्य की सभी विशेषताओं से युक्त है। "सत्यकाम" भी उनका एक प्रबन्ध-काव्य है जो "लोकायतन" के समान विशदकाय न होते हुए भी महाकाव्य के अपेक्षित महिमाशिखर को स्पर्श करता हुआ दिखाई देता है। पन्त जी के उपर्युक्त उद्धरण में प्रगीतों और स्फुट रचनाओं को महत्त्वहीन तो नहीं बताया गया है, किन्तु उनकी तुलना में महाकाव्य को अधिक सार्थक और स्थायी महत्त्व वाला निरूपित किया गया है। उन्होंने स्पष्टतः कहा भी है कि—"महाकाव्य युग-जीवन, युगमानस एवं युग-चेतना का प्रतिनिधि एवं प्रतीक होता है। वह मानव-जीवन के विराट् क्रिया-कलापों, संघर्षों, उत्थान-पतनों, ह्रास-विघटनों तथा विकास और प्रगति के संचरणों का सागर-संगम होता है। आप किसी भी उच्च कोटि के महाकाव्य को लोक-जीवन एवं विश्व-चेतना का मेरुदण्ड कह सकते हैं, जिस पर कि मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का जीवन-मांसल मानस-पंजर अवलम्बित होता है।"[83]

पन्त जी ने प्रगीतों से भिन्न मुक्तक रचनाओं के एक नये प्रकार की भी उद्‌भावना की है जिसे उन्होंने "गीत-गद्य" की संज्ञा प्रदान की है। अलंकार-मोह से मुक्त, स्पष्टता तथा बुद्धि-तत्त्व से पोषित भावना को उन्होंने "गीत-गद्य" का मूल तत्त्व बतलाया है। अपने "युगवाणी" नामक काव्य-संकलन को उन्होने गीत-गद्यों का संकलन कहकर प्रस्तुत किया है। "गीत-गद्य" के काव्य-रूप का परिचय देते हुए उन्होंने युगवाणी के तीसरे संस्करण के "दृष्टिपात" शीर्षक पूर्वकथन में लिखा है—

"युगवाणी" को मैंने गीत-गद्य इसलिए नहीं कहा है कि उसमें काव्यात्मकता का अभाव है, प्रत्युत उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार-भावना-प्रधान है। युग के खंडहर पर "युगवाणी" का काव्य-सौन्दर्य प्रभात के ईषत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है, जिसे कला-प्रेमी ध्वंस के ढेर से दृष्टि हटाकर सहज ही देख सकते हैं।........पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीड़े चाट जाते हैं, उसकी सूक्ष्म स्नायुओं से चुनी हुई हथेली का कलाविन्यास जिस प्रकार देखने वालों को आश्चर्यचकित कर देता है, इसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य-संक्रान्ति की झाँकी आप "युगवाणी" में भी पायेंगे।" अपने इस संकलन के "विज्ञापन" में उन्होंने लिखा है—"युगवाणी" में मेरी "युगान्त" के बाद की रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयास किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किंचित् मात्र आभास इनमे मिल सका तो मैं अपने प्रयास को विफल नहीं समझूँगा।"

"युगवाणी" की भूमिका में उन्होंने यह भी लिखा है कि–"अब अधिक हृदय-विदारक सामाजिक घटनाओं का युग आ रहा है और उसकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति गद्य ही में हो सकती है क्योंकि गद्य में सर्वाधिक ध्यान विचारों पर दिया जाता है, पूर्णतम काव्य के रूप में अन्वेषण पर नहीं।"

इस तरह हम देखते हैं कि पन्त जी ने जिस प्रकार काव्य-भाषा ओर छन्द-प्रयोग की बदलती हुई भंगिमाओं के पीछे युग की अपेक्षाओं के दर्शन किये हे, उसी प्रकार काव्य-विधाओं के आविर्भूत होने और प्रमुखता पाने के पीछे भी व युगीन परिस्थितियों के प्रभाव को ही सक्रिय देखते हैं और युग की अपेक्षाओ को पूरा करना ही काव्य-सृजन का मुख्य कार्य मानते हैं।

प्रगीतों और गीत-गद्य जैसी स्फुट रचनाओं एवं प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त पन्त जी ने जिस साहित्य-विधा का मात्रा तथा आग्रह दोनों ही दृष्टि से अधिक प्रयोग किया है, उसे उन्होंने काव्य-रूपक के साथ-साथ गीति-नाट्य एवं छन्द-नाट्य की संज्ञा प्रदान की है। साहित्य की रूपक-विधा की ओर पन्त जी का स्वाभाविक आकर्षण रहा है, जिसका संकेत हमें उनके "ज्योत्स्ना" नामक रूपक की रचना से मिलता है। जिस समय उनका प्रगीत-लेखन चरम उत्कर्ष पर था उस समय भी उन्होंने रूपक-रचना की ओर ध्यान दिया था। "ज्योत्स्ना" में उन्होंने गद्य का प्रयोग प्रमुखता से किया है, किन्तु उसका स्वर पूर्णतः काव्यात्मक प्रतीत होता ह। जैसा उनके जीवन-विवरण और दूसरे प्रसंगों में भी संकेतित किया गया है, वे पर्याप्त समय तक नटराज उदयशंकर के कला-केन्द्र से जुड़े रहे थे। उनकी नृत्य-प्रधान फिल्म "कल्पना" के गीत भी पन्त जी ने लिखे थे और उसकी निर्माण-प्रक्रिया में वे निरन्तर उदयशंकर जी के साथ रहे थे। फिर बाद मे वे "आकाशवाणी" से जुड़े। स्वाभाविक वृत्ति, उदयशंकर के साथ संपर्क और आकाशवाणी के साथ उनके सम्बन्ध ने उन्हें रूपकों की रचना की प्रेरणा दी। स्वभाव और अभ्यास, दोनों से कवि होने के कारण पन्त जी ने रूपक-विधा को एक गद्य-विधा के रूप में न लेकर छन्दात्मक विधा के रूप में अपनाया। योरोप मे "ओपेरा" के रूप में गीत-नाट्यों की एक बहुत समृद्ध परम्परा पायी जाती है, जिसमें गायन और नृत्य दोनों का समन्वय होता है। "ओपेरा" दृश्य-रूप मे रगमंच पर प्रस्तुत किये जाते हैं। पन्त जी ने अपने काव्यरूपक अधिकतर "आकाशवाणी" के लिए श्रव्य-रचनाओं के रूप में लिखे। इस दृष्टि से इनके काव्य-रूपकों को श्रव्य-काव्य-रूपक कहना अधिक उपयुक्त है। पन्त जी ने अपने काव्य-रूपकों को रेडियो-नाटक की व्यापक विधा के अन्तर्गत ही स्थान

दिया है और अपने विभिन्न निबन्धों में उसके स्वरूप की विशेषताओं का उल्लेख करने के साथ-साथ उन्होंने इस सम्बन्ध में "छन्द-नाट्य" शीर्षक एक स्वतंत्र लेख भी लिखा है। अपने उस स्वतंत्र लेख को उन्होंने इस तरह प्रारम्भ किया है—"इन दिनों हम रेडियो-नाटकों एवं रूपकों के संबंध में परामर्श करते रहे हैं। रेडियो-नाटक के विकास, उसके प्रकार तथा उसकी आवश्यकताओं आदि अनेक उपयोगी विषयों पर हम चर्चा कर चुके हैं। मैं आपसे संक्षेप में छन्द-नाट्य या पद्य-नाट्य के बारे में कुछ कहना चाहूँगा।.........इसमें संदेह नहीं कि रेडियो द्वारा छन्द-नाट्य को विशेष प्रेरणा मिली है। अंग्रेज़ी में भी वह दिन-ब-दिन लोकप्रिय होता जा रहा है। साधारणतः सामान्य रेडियो-नाटकों तथा रूपकों में जो विशेषता होती है और उनके लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता है, वही सब विशेषताएँ तथा उपकरण छन्द-नाट्य की रचना तथा उसके प्रस्तुतीकरण के लिए भी चाहिये। किन्तु छन्द तथा गीति-नाट्य में, मेरी दृष्टि में रेडियो-नाटक और भी परिपूर्ण होकर निखर उठता है या उसे निखर उठना चाहिये, जिसका कि कारण है। रेडियो-नाटक दृश्य नहीं श्रव्य है, और शब्द के श्रव्य रूप को छन्द-नाट्य में लय अथवा गीति-गति के पंख मिल जाते हैं। उसमें शब्द-ध्वनि अधिक मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक बन जाती है और यदि श्रोतावर्ग शिक्षित हो तो छन्द-नाट्य को वासन्ती समीर की तरह उसे भावोच्छ्वसित करने में समर्थ होना चाहिये और यदि नाटक का विषय लोकप्रिय और भाषा सरल हो तो साधारण श्रोतावर्ग पर भी उसका जादू उतनी ही खूबी से चलना चाहिये। वर्तमान स्थिति में उसकी अनेक सीमाएँ होते हुए भी भविष्य में उसके लिए अनेक नवीन सम्भावनाओं के द्वार खुले हुए हैं।"[84]

पन्त जी ने संक्षेप में अपने उपर्युक्त कथ्य में ध्वनि-रूपक के अन्तर्गत काव्य-रूपक की स्थिति और उसकी विशिष्ट शक्ति एवं अपेक्षाओं का उल्लेख किया है। उनके विचार से "काव्य-रूपकों" का विषय ऐसा होना चाहिये जिसमें अधिक मार्मिकता, गहराई, ऊँचाई या व्यापकता हो, जिसमें भावना की शक्ति और उड़ान के लिए स्थान हो, जो काव्य की भूमि पर अवतरित किये जाने योग्य हो। वैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, बौद्धिक, काल्पनिक, घटनात्मक आदि सभी विषयों पर पद्य-नाटक सफलतापूर्वक लिखे जा सकते हैं और लिखे गये हे, पर उन सभी नाटकों में ऊपर कहे हुए गुणों का रहना उनकी शक्ति, प्रेषणीयता तथा सफलता की वृद्धि करता है और लयात्मक ध्वनि के साथ ही गीत्यात्मक विषय का होना तो सोने में सुगन्ध का काम करता है। छन्द-नाट्य में मार्मिक

सघर्ष, चाहे वह भावमूलक हो या समस्यामूलक, होना नितान्त आवश्यक हे, जिससे मानव-भावनाओं और विचारों का मंथन, उनका आरोह-अवरोह श्रोता के हृदय को स्पर्श कर सके।"[85]

रागात्मकता साहित्यमात्र की विशेषता होती है जिसका विशेष उत्कर्ष काव्य में पाया जाता है। नाटक साहित्य की वह विधा है जिसमें रागात्मकता अपने तीव्रतम रूप में प्रकट होती है। रूपक का ही एक रूप होने के कारण काव्य-रूपक में भी रागात्मकता की वही तीव्रता-अपेक्षित होती है। लोकमंगल को काव्य-मूल्य के रूप में सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण पन्त जी ने समस्या-मूलक काव्य-रूपकों के लेखकों को इन शब्दों में विशेष रूप से सावधान किया है—"बौद्धिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्याएँ भी छन्द-नाट्यों के लिए उपयुक्त विषय बन सकती हैं और श्रोताओं के मन में स्वस्थ मानव-मान्यताओं क बीज बो सकती हैं, किन्तु समस्यामूलक अथवा मान्यताप्रधान नाटकों का लिखने में अनेक प्रकार से सावधान रहने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम यह कि नाटक में उठाई हुई समस्या कोई वास्तविक अथवा यथार्थ समस्या हो जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व या समाज के जीवन से हो। अति-काल्पनिक, अति-बौद्धिक या अतिवैयक्तिक न हो। दूसरा, जिन विरोधी चरित्रों तथा विचारधाराओं द्वारा उस समस्या को प्रस्तुत किया या सुलझाया गया हो, वे व्यक्तित्व सजीव तथा मानवीय हों और वे विचारधाराएँ स्पष्ट और सन्तुलित हों, गूढ तथा तर्कग्रथित न हों।"[86]

छन्द-नाट्य के अपने विवेचन में पन्त जी ने संलापों के छोटे और चुभते हुए होने, भाषा के सरल होने, छन्दों के प्रवाह तथा वेगयुक्त होने, कथानक के छोटे और प्रभावोत्पादक होने, चरित्रों के स्पष्ट और विविध होने आदि पर बल दिया है।

छन्द-नाट्यों में संगीत की महत्ता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"संगीत में छन्द-नाट्य के प्राण हैं। संगीत का प्रयोग छन्द मात्र के प्रभाववर्द्धन, उसकी रोचकता तथा अर्थ-प्रस्फुटन के लिए आवश्यक है। प्रारम्भ में नाटक के समग्र भाव तथा उसके आन्तरिक तत्त्व को तदनुरूप संगीत द्वारा व्यक्त करना आवश्यक होता है जिससे श्रोताओं का मन उनके बिना जाने ही नाटक के भाव या "मूड" को ग्रहण करने के लिए तैयार हो सके। अन्त का संगीत सदैव नाटक के प्रभाव को परिपूर्णता प्रदान करने में सहायक होता है।.......छन्द-नाट्य में कभी पृष्ठभूमि का संगीत भी भाव-बोधवर्द्धन के लिए बड़ा आवश्यक होता है।"[87]

पन्त जी के विचार से काव्य-रूपक के लिए "संगीत के बाद अलंकृत उपकरणों में ध्वनि-प्रभाव का स्थान है, जिसके बिना रेडियो-नाट्य और छन्द-नाट्य कभी-कभी निष्प्राण एवं प्रभावशून्य हो जाते हैं। ध्वनि-प्रभाव अपने अदृश्य सकेतों द्वारा वास्तव में रंगमंच की कमी की पूर्ति करता है और कभी रंगमंच के दृश्य श्रोता की आँखों के सामने ज्यों-के-त्यों उपस्थित कर देता है।.......आँधी, तूफान, मेघ-गर्जन आदि से लेकर पाँवों की चाप तथा किवाड़ों पर खटखटाहट आदि और इससे भी सूक्ष्म सिसकने, साँस लेने, साड़ी के खिसकने का ध्वनि-प्रभाव देकर ध्वनि-नाटकों में अनेक घटनाएँ, क्रियायें तथा भावों का उतार-चढ़ाव, मंच की दृश्य-सज्जा तथा अभिनय का अभाव मिटाने के लिए सजीव एवं मूर्तिमान कर दिये जाते हैं।"[88]

ध्वनि-नाटक के लिए संगीत और ध्वनि-प्रभाव को आवश्यक मानते हुए भी पन्त जी ने इस बात का संकेत किया है कि इनका प्रयोग जहाँ तक हो सके कम-से-कम और केवल इतना ही होना चाहिये कि जिससे रेडियो-नाट्य की अतःशक्ति, शुद्धि और सिद्धि सम्भव होती हो। उन्होंने लिखा है कि—"संगीत और ध्वनि-प्रभावों का आधिक्य अनाकर्षण, अरोचक तथा प्रभावहीन हो जाता है। एक सफल ध्वनि और छन्द-नाट्य के भीतरी उपादान स्वयं इतने सशक्त तथा प्रभावोत्पादक होने चाहिये कि उसके प्रस्तुतीकरण में दृश्यान्तर, काल-सूचक आदि कुछ आवश्यक स्थलों के अतिरिक्त संगीत और ध्वनि-प्रभावों की कम-से-कम आवश्यकता अनुभव होनी चाहिये। ध्वनि-प्रभाव की ही तरह वाचक या "नरेटर" का उपयोग भी रेडियो नाटक में नितान्त आवश्यक स्थलों के अतिरिक्त नही के बराबर होना चाहिये।"[89]

छन्द-नाट्य का आस्वाद पूर्णतया ग्रहण करने के लिए श्रोताओं में भी कुछ विशेषताएँ अपेक्षित होती हैं, इसकी चर्चा करते हुए पन्त जी ने लिखा है—"छन्द-नाट्य के श्रोता वैसे साधारणतः कम ही होते हैं क्योंकि छन्द की अभिजात प्रकृति में गाम्भीर्य, संस्कार, सौन्दर्य, भाव तथा विचार सम्बन्धी सूक्ष्मता स्वभावतः ही अधिक होती है, जिसे ग्रहण करने के लिए मन की किसी प्रकार की साहित्यिक या बौद्धिक पृष्ठभूमि और एक प्रकार की कला-दीक्षा किसी-न-किसी मात्रा में आवश्यक हो जाती है। फिर उसे सुनने के लिए मनोयोग, रुचि, अभ्यास आदि भी आवश्यक होते हैं।"[90]

पन्त जी ने रेडियो-नाटकों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है—"संस्कृति के प्रसार के लिए हम रेडियो में साहित्य और विज्ञान दोनों साधनो

का उपयोग करते हैं। रेडियो द्वारा लिखित शब्द फिर से श्रव्य-शब्द बनकर लोगों के कानों में पहुँचने लगा हैं। यह नाटक की सफलता के लिए रंगमंच प्रस्तुत करने से कम उपयोगी नहीं है। श्रव्य शब्द द्वारा एक प्रकार से शब्द-शक्ति रंगमंच की अनेक सीमाओं को पार कर श्रोताओं के मानस में अमूर्त रंगमंच को रचती हुई हमारे हृदयों को अत्यधिक सशक्त तथा अद्भुत रूप से प्रभावित करने लगती है और यही रेडियो नाटक की सफलता है।''[81]

हिन्दी के आधुनिक काव्य में एक नयी काव्य-विधा का भी प्रयोग हुआ है जिसकी संज्ञा के रूप में आलोचकों ने ''लम्बी कविता'' शब्द-युग्म का प्रयोग किया है। यह नामकरण मेरी विनम्र सम्मति में बहुत उपयुक्त नहीं है। कविता और काव्य—ये दोनों शब्द प्रायः समानार्थी रूप में प्रयुक्त होते हैं। जब इनका प्रयोग कुछ भिन्नता के साथ होता है तो काव्य शब्द का प्रयोग व्यवहार में हम प्रबन्धात्मक काव्य-रचना के लिए, और कविता शब्द का प्रयोग कथा-संगति की अपेक्षा न रखने वाली स्फुट रचना के लिए होता हुआ पाते हैं। प्रकृति की दृष्टि से काव्य और कविता इन दोनों शब्दों में कोई भेद नहीं है। हिन्दी में किन्तु उपर्युक्त व्यावहारिक भेद प्रायः स्वीकृत हो गया है।

मेरे विचार से हिन्दी में जिस काव्य-रूप को लम्बी-कविता कहकर संकेतित किया जाता है, उसकी विशेषता केवल उसकी लम्बाई नहीं होती। इस प्रकार के रचना-रूप की अपनी कुछ प्रकृत विशेषताएँ होनी चाहियें और वे हैं भी। जहाँ तक मैं समझ पायी हूँ, हिन्दी में लम्बी कविताओं के दो रूप हमें दिखाई देते हैं। एक रूप को हम लघु-प्रबन्ध-काव्य अथवा लघु-खण्ड-काव्य कह सकते हैं और दूसरे को प्रगीत-प्रबन्ध। पहले रूप में किसी विशिष्ट घटना या चरित्र पर आधारित कथानक होता है और दूसरे में कवि की आत्मानुभूति का विविध प्रसंगों से जुड़ा हुआ विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जाता है। पन्त जी ने जो लम्बी रचनाएँ लिखी हैं उनमें से प्रमुख रचनाओं के रूप में आँसू'', ''परिवर्तन'', ''इन्द्रधनुष'', ''उषा'', ''स्वर्णोदय'', ''अशोकवन'', ''कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति'', ''आत्मिका'', ''पुरुषोत्तम राम'' का उल्लेख किया जा सकता है। उनके अनुशीलन से वे ''प्रगीत-प्रबन्ध'' की कोटि में स्थान पाने के योग्य प्रतीत होती हैं। पन्त जी ने अपनी ओर से विशिष्ट काव्य-विधा के रूप में लम्बी कविताओं के स्वरूप का विवेचन संभवतः कहीं नहीं किया है। अपने काव्य-संकलन ''किरणवीणा'' के संक्षिप्त ''विज्ञापन'' में उन्होंने लिखा है कि—''वाणी'' की ''आत्मिका'' की तरह ही इस संग्रह के अन्त में ''पुरुषोत्तम राम'' शीर्षक कविता में मेरी आत्मकथा

की भी रूपरेखा आ गयी है। "आत्मिका" की कथावस्तु मुख्यतः मन तथा जीवन के धरातल की है, प्रस्तुत रचना इनके अतिरिक्त मेरी चेतनात्मक अनुभूतियों से भी सम्बन्ध रखती है।"[92]

पन्त जी की प्रायः सभी लम्बी कविताएँ उनकी चेतनात्मक अनुभूतियों से ही सम्बन्ध रखती हैं जो उनकी आत्मानुभूतियाँ ही मानी जा सकती हैं। प्रगीत में आत्मानुभूति संक्षिप्त होती है और संक्षेप के साथ ही प्रस्तुत की जाती है। जैसा पहले संकेतित किया गया है, प्रगीत-प्रबन्ध में कवि अपनी आत्मानुभूति का विवरण प्रगीत की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तार से प्रस्तुत करता है। प्रबन्ध-प्रगीत की अनुभूति का काल-क्षेत्र भी पर्याप्त विस्तृति के साथ प्रस्तुत होता है। पन्त जी ने अपने कई प्रगीत-प्रबन्धों को अनेक खण्डों में बाँटकर भी प्रस्तुत किया है और अपनी रचना में अनुभूति-संचार के स्वरूप के अनुसार अनेक बार छन्दों की विविधता का भी सहारा लिया है।

समकालीन साहित्य और पन्त जी

"वर्तमान युग में साहित्य में आस्था मुख्यतया दो अर्थों में प्रयुक्त हो रही है।.....एक अर्थ में वह वैयक्तिक आस्था के रूप में व्यवहृत हो रही है और दूसरे अर्थ में सामाजिक आस्था के रूप में।......यह आज के युग की परिस्थितियों की विवशता है कि विचारक-वर्ग अपनी-अपनी स्थिति एवं सुविधा के अनुसार आज मानव-सत्य के वैयक्तिक अथवा सामाजिक स्वरूप को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। एक ओर आज समाजवादी आस्था से अनुप्राणित साहित्य है जिसने अपने मूल्यों को मार्क्सवाद से ग्रहण किया है, जिस पर साम्यवादी देशों में केवल मन के ही नहीं, जीवन के स्तर पर भी प्रयोग हो रहे हैं और जो धीरे-धीरे अपनी कट्टरपंथी सीमाओं से बाहर छटपटाकर अब अधिक व्यापक और उदार रूप ग्रहण कर रहा है। भविष्य में उसे और भी अधिक मानवीय तथा मंगलमय बनना है।..... .. दूसरी ओर आज वैयक्तिक आस्था का साहित्य मिलता है। यह वैयक्तिक आस्था प्राचीन आदर्श व्यक्तिवादी आस्था नहीं, जिसे विकसित व्यक्तिवाद की आस्था कहते हैं। यह वैयक्तिक आस्था आज हमारे साहित्य में जनतांत्रिक (साम्यवादी) देशों से विभीत यूरोप के उन परम्परावादी तथाकथित बुद्धिजीवियों से ज्यों-की-त्यों उधार ली हुई आस्था है जो आज अपनी नाक के सिवा और कुछ नहीं देख पाते और जिस अनास्थारूपी आस्था का ये मानवतावाद के नये अधिनायक आज अस्तित्ववाद से लेकर साम्प्रदायिक, धार्मिक पुनर्जागरण-सम्बन्धी अनेकानेक, भीतर

से खोखले, पर बाहर से आकर्षक, सिद्धान्तों, दर्शनों एवं साहित्यिक मान्यताओं के रूप में प्रचार कर रहे हैं, वह सत्यतः प्रतिगामी प्रयोग है।"[93]

वर्तमान युग के साहित्य के संदर्भ में अपने निबन्ध "साहित्यकार की आस्था" में पन्त जी ने उपर्युक्त विचार व्यक्त किये हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्त जी उपर्युक्त परस्पर-भिन्न साहित्यिक आस्थाओं में से किसी को पर्याप्त नहीं मानते। तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी उनकी मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह बात अनेक बार दोहराई गयी है कि पन्त जी जीवन की व्यापक अखण्डता में विश्वास करते थे और इसी कारण वे ऐहिक और पारलौकिक अथवा भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के रूप में जीवन तथा चेतना के विभागों को स्वीकार नहीं करते थे। इस कारण साहित्यिक आस्था की पूर्व-संकेतित द्विविधा भी उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती थी। वे इन दोनों का समन्वय ही नहीं बल्कि समेकन भी चाहते थे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है—"सत्य की ऐसी बहुमुखी और बहिर्मुखी मान्यताओं एवं आस्थाओं के युग में, मुझे, मानवता के निर्माण एवं कल्याण के लिए मानवजीवन के भीतरी-बाहरी (अन्तर्व्यक्ति और बहिःसमाजरूपी) दोनों संचरणों की प्रेरणा-शक्तियों तथा मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित कर आगे बढ़ना ही विवेक-सम्मत प्रतीत होता है। सामंजस्य का तत्त्व अपने में प्रेरणाप्रद तथा सक्रिय न होते हुए भी मानव-विकास की एक अनिवार्य स्थिति है जिसे संक्रान्तिकाल में आगे बढ़ने के लिए सेतु या सोपान बनाना आवश्यक हो जाता है। साहित्यकार की आस्था, निस्संदेह, मनुष्यत्व के वैयक्तिक और सामाजिक आयामों से कहीं महत् एवं अभेद्य है, जो अपनी अन्तर्दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व, मानव-समाज तथा मानव-जगत् को अतिक्रम कर उन्हें सुन्दर से सुन्दरतर, मंगल से मंगलतर तथा पूर्ण से पूर्णतर की ओर ले जाकर उनका पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्निर्माण कर सकती है।[94]

पन्त जी ने उपर्युक्त उद्धरण में साहित्य के जिस महान् दायित्व की ओर संकेत किया है उसकी चेतना उन्हें अपने विकास की पूर्णावस्था में प्राप्त हुई थी और अपने परवर्ती लेखन को उन्होंने साहित्य के इसी दायित्व की पूर्ति में नियोजित किया था। विकास के इस बिन्दु पर पहुँचकर उनके मानस में साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो मानदण्ड उदित हुआ था उसकी कसौटी पर खरा उतरने वाला साहित्य अब तक कम ही रचा गया है। हिन्दी में प्रकट होने वाले नये-नये आन्दोलनों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में एक भेंट-वार्ता में उन्होंने कहा था—"नये-नये आन्दोलनों अथवा आधुनिकतम प्रवृत्तियों से यदि

आपका अभिप्राय हिन्दी के "बीटनिक्स" से है जिन्हें भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अन्यथावादी आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है तो मैं इस समस्त संचरण को दिग्भ्रान्त मानता हूँ; जिसमें युग के विघटन, ह्रास तथा नैतिक पतन को ही अतिरंजित अभिव्यक्ति दी जाती है। इस मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों से विहीन साहित्यिक आन्दोलन से, जो व्यक्ति-वैशिष्ट्य तथा अचेतन-उपचेतन की दुहाई देकर आत्म-विज्ञापन के बल पर बढ़ रहा है, न व्यक्ति का संस्कार संभव है, न सामाजिक कल्याण ही। इस आन्दोलन में न गहराई मिलती है, न ऊँचाई और न व्यापकता ही। यह अत्यंत ही छिछला, सतही तथा कीचड़ में सना सृजन-आवेग अथवा उद्वेग है। यथार्थ की दुहाई देकर जो लोग इस आन्दोलन का समर्थन करते हैं वे यह नहीं जानते कि यह यथार्थ का कितना नगण्य तथा कुत्सित रूप है। जो नया व्यापक जीवन-यथार्थ, मानवीय यथार्थ अथवा लोक-यथार्थ इस युग में जन्म ले रहा है उसके हृदय-स्पन्दन तथा संवेदन से यह निम्न प्रवृत्तियों के अंधे कुएँ में भटका यथार्थ बिल्कुल ही वंचित तथा विरहित है। इसलिए मैं इसे युग के यथार्थ का प्रतिनिधि यथार्थ न कहकर केवल कुछ आत्मकुण्ठित तथा खण्डित अधोमुखी प्रवृत्तियों के व्यक्तियों का संकीर्ण तथा साहित्य की दृष्टि से अवांछित यथार्थ कहना ही उचित समझूँगा।"[95]

नव-लेखन के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने उसी भेंटवार्ता में यह भी कहा था कि—"नव-लेखन को मैं एक व्यापक अर्थ में लेता हूँ। उसके अन्दर अनेक स्वस्थ तथा कलात्मक प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं किन्तु अधिकतर दिग्भ्रष्ट, अहंता-कुंठित, अप्रबुद्ध नवयुवकों का ही उसमें बोलबाला मिलता है, जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, कैशोर सीमाओं तथा संकीर्णताओं से ऊपर न उठ सकने के कारण आज विद्रोह के आवरण में अपने संकीर्ण मन के द्वेष तथा द्रोह को ही विद्रोह के नाम पर साहित्य में अभिव्यक्ति दे रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे लेखकों का न साहित्यिक निर्माण में कोई स्थायी प्रभाव रह सकता है और न आज के युग की गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में ही।"[96]

अपनी इन उक्तियों में पन्त जी ने साहित्य में सिर उठाने वाली अतिशय व्यक्तिवादी एवं आत्मसीमित काव्य-प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में अपना तीव्र असन्तोष प्रकट किया है किन्तु नये युग के साहित्य को वे पूर्णतया निरर्थक और मूल्यहीन मानते हों, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने "साहित्यः समसामयिक संदर्भ में" शीर्षक

अपने निबन्ध में लिखा है—"जीवन की बिगत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के खिसक जाने के कारण जिस प्रकार ह्रास, विघटन, अनास्था, भय आदि के धुंध से आक्रान्त होकर मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आज मानवसभ्यता एक अत्यंत निर्मम तथा संकटग्रस्त स्थिति से गुज़र रही है। ऐसे संक्रान्तिकाल में साहित्य में भी युग-जीवन के यथार्थ पक्ष का ही चित्रण अधिक मिलना स्वाभाविक है।.......अतः आज के यथार्थ की दिशा को समझना और उसकी चौंका देने वाली प्रतिक्रिया का मूल्य आँकना कठिन नहीं है। उसका व्यापक असन्तोष, मुखर वेदना, मानव जीवन-सत्य के निरीक्षण-परीक्षण की चेष्टा और युग-परिस्थितियों के संदर्भ में किसी निश्चित मूल्य या निर्णय पर पहुँचने की अस्वीकृति निःसन्देह अपना अर्थ रखती है और समय पर वह नये व्यापक मूल्य, नये सन्तुलन तथा नये यथार्थोन्मुखी आदर्श अथवा आदर्शोन्मुखी यथार्थ की गम्भीर अनुभूति को भी उन्मुक्त वाणी दे सकेगी।......निश्चय ही आज चाहे कैसी ही निराशाजनक स्थिति क्यों न हो, वर्तमान ह्रास और विघटन की शक्तियों पर प्रगति की शक्तियाँ विजयी होंगी, युग के बिखराव तथा व्यक्तिगत मत-मतान्तरों पर मानव-एकता तथा लोक-समता का सत्य परस्पर सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक संगठन के सत्य एक-दूसर के पूरक तथा सहायक बन सकेंगे, सांस्कृतिक मूल्य, सौन्दर्य, आनन्द, प्रेम के मूल्य व्यापक ऊर्ध्व आदर्शों पर आधारित होने पर भी भौतिक तथा लौकिक जीवन-परिवेश से असम्पृक्त न हो सकेंगे। भौतिक-कायिक सुख-भोग की प्रधानता विश्व-जीवन के कलात्मक सौन्दर्य तथा मानसिक संपद् के प्रभाव से संयमित हो सकेगी। आज के व्यापक विस्तृत सामयिक परिवेश की भूमि में जो अन्तर्द्वन्द्व-सम्बन्धी आशा-निराशा, निर्माण-विध्वंस, जय-पराजय, वेदना-सृजनप्रेरणा, सन्देह-नयी आस्था, बौद्धिक खोज तथा लक्ष्य-सम्बन्धी अस्वीकृति आदि के गोरे-काले, सुनहले-विषैले अंकुर उग रहे हैं, उनके भीतर से जीवन की प्रगति तथा सार्थकता को समझने की चेष्टा कर इस युग का साहित्य अवश्य ही एक समग्रतापूर्ण नवीन-जीवन-बोध को जन्म दे सकेगा, मुझे इसमें पूर्ण विश्वास है। आज की समस्त सृजनात्मक, भावात्मक, बौद्धिक तथा राजनीतिक शक्तियों का सार-सत्य विश्वशान्ति की शुभ्र माँग के रूप में प्रकट हो रहा है, यह विश्व के सुनहले भविष्य के लिए अत्यन्त आशाप्रद है।"[97]

सन्दर्भ-संकेत



1. Poetry, at best, is criticism of life,–Mathew Arnold.
2. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, साहित्य की चेतना, पृ. 388
3. वही
4. साहित्य और अध्ययन—बाबू गुलाबराय, पृ. 60
5. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, वर्तमान संकट स्थिति और साहित्यकार, पृ. 392
6. वही, कवि के स्वप्नों का महत्त्व, पृ. 237
7. पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 33
8. वही, पृ. 62
9. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1, ग्रंथि—पृ. 136
10. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मैंने कविता लिखना कैसे प्रारम्भ किया, पृ. 190
11. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6, मेरे साहित्यिक जीवन का समारम्भ, पृ. 188
12. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2, ग्राम्या—कवि-किसान, पृ. 174
13. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—गुंजन—गीत संख्या 44, पृ. 276
14. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आज की कविता और मैं, पृ. 335
15. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—मेरा रचनाकाल, पृ. 224-225
16. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—मेरी पहली कविता, पृ. 194
17. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा, पृ. 219-220
18. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक कवि : भाग दो, पर्यालोचन, पृ. 270
19. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण, पृ. 209
20. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रश्मिबंध-परिदर्शन (भूमिका), पृ. 286
21. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक कवि : भाग दो, पर्यालोचन (भूमिका), पृ. 263
22. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक कवि : भाग दो, पर्यालोचन (भूमिका), पृ. 263

23 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रश्मिबंध-परिदर्शन (भूमिका), पृ. 286
24 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्य की चेतना, पृ. 389-390
25 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—कला और संस्कृति, पृ. 420
26 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आज की कविता और मैं, पृ. 336
27. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक काव्य के प्रेरणास्रोत, पृ. 336-337
28. ज्योत्स्ना—सु. पन्त, पृ. 73-74
29. युगवाणी—युग उपकरण कविता, पृ. 19
30 युगान्त—गीत संख्या दो, पृ. 11
31 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2—युगपथ, गीत संख्या 13, पृ. 13
32 वही, गीत संख्या 14, पृ. 14
33. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्यकार के स्वर, पृ. 208
34 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—कला और संस्कृति, पृ. 418
35 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—मेरी लेखन प्रक्रिया, पृ. 242
36 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छायावाद पुनर्मूल्यांकन पृ. 65-66
37 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक कविः भाग दो, पर्यालोचन, पृ 283
38 वही—छायावाद पुनर्मूल्यांकन पृ. 65-66 के आधार पर।
39. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1, पल्लव-प्रवेश, पृ. 161-162
40 वही, पृ. 161
41. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 161-162
42. वही, भादों कविता, पृ. 181
43. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2—युगान्त-संध्या कविता, पृ. 23
44 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव, आँसू कविता, पृ. 185
45 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-परिवर्तन, पृ. 226
46. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 159-160
47 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रश्मिबंध-परिदर्शन (भूमिका), पृ. 293
48 कवि-कर्म और काव्य-भाषा—श्री परमानन्द श्रीवास्तव, पृ. 68
49. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—मान्यताएँ बदल रही हैं, पृ. 362
50 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—मान्यताएँ बदल रही हैं, पृ. 362
51 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 150

52. वही, पृ. 157
53. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 158-159
54. चिन्तामणि भाग 1—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 198, प्रथम संस्करण
55. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 160
56. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 160-161
57. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 162
58. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2—ग्राम्या-निवेदन, पृ. 130
59. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 176
60. वही, पृ. 163-164
61. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 168
62. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 163
63. विचार और विश्लेषण—डा. नगेन्द्र, पृ. 94-95
64. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 166
65. वही, पृ. 170
66. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 171-172
67. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2—युगवाणी, नवदृष्टि कविता, पृ. 82
68. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 169
69. वही
70. विचार और विश्लेषण—डा. नगेन्द्र, पृ. 95
71. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 172-173
72. विचार और विश्लेषण—डा. नगेन्द्र, पृ. 94
73. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 211-212
74. Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotions recollected in tranquility.–William Wordsworth.
75. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 212
76. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 212
77. वही, पृ. 211
78. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ.

214
79. वही—पृष्ठ 212
80. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 214-215
81 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता, पृ. 345-346
82 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता, पृ. 346-347
83 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता, पृ. 344
84 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 409
85 वही, पृ. 409-410
86 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 410
87. वही, पृ. 411
88 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 411
89. वही, पृ. 412
90. वही, पृ. 412
91. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 413
92 किरणवीणा—सु. पन्त, विज्ञापन (प्राक्कथन) प्र. सं. 1967
93 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्यकार की आस्था, पृ. 386-387
94 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्यकार की आस्था, पृ. 387
95. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—भेंटवार्ता, पृ. 94
96 वही, पृ. 97-98
97. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्य : समसामयिक संदर्भ में, पृ. 394

52. वही, पृ. 1 7
53. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 158-159
54. चिन्तामणि भाग 1—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 198, प्रथम संस्करण
55. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 160
56. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 160-161
57. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 162
58. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2—ग्राम्या-निवेदन, पृ. 130
59. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 176
60. वही, पृ. 163-164
61. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश (भूमिका), पृ. 168
62. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 163
63. विचार और विश्लेषण—डा. नगेन्द्र, पृ. 94-95
64. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 166
65. वही, पृ. 170
66. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 171-172
67. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 2—युगवाणी, नवदृष्टि कविता, पृ. 82
68. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 169
69. वही
70. विचार और विश्लेषण—डा. नगेन्द्र, पृ. 95
71. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 1—पल्लव-प्रवेश, पृ. 172-173
72. विचार और विश्लेषण—डा. नगेन्द्र, पृ. 94
73. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 211-212
74. Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotions recollected in tranquility.–William Wordsworth.
75. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 212
76. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 212
77. वही, पृ. 211
78. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ.

214
79. वही—पृष्ठ 212
80. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—रचना प्रक्रिया के आत्मीय क्षण, पृ. 214-215
81 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता, पृ. 345-346
82 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता, पृ. 346-347
83 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—आधुनिक युग में महाकाव्य की उपयोगिता, पृ. 344
84 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 409
85 वही, पृ. 409-410
86 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 410
87. वही, पृ. 411
88 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 411
89. वही, पृ. 412
90 वही, पृ. 412
91. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—छन्द-नाट्य, पृ. 413
92. किरणवीणा—सु. पन्त, विज्ञापन (प्राक्कथन) प्र. सं. 1967
93. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्यकार की आस्था, पृ. 386-387
94 सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्यकार की आस्था, पृ. 387
95. साठ वर्ष और अन्य निबन्ध—भेंटवार्ता, पृ. 94
96 वही, पृ. 97-98
97. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—साहित्य : समसामयिक संदर्भ में, पृ. 394

निष्कर्ष-खण्ड

प्रथम अध्याय

पन्त जी का वैचारिक व्यक्तित्व : सामान्य निष्कर्ष

भारतीय चिन्तन किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के पीछे उसके पूर्वजन्मों के संस्कारों के प्रभाव को महत्त्व देता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन मनुष्य के व्यक्तित्व के मूलाधार के रूप में उसके अवचेतन को महत्त्व देकर अपने ढंग से मानव-व्यक्तित्व के जन्मजात स्वरूप को मान्यता प्रदान करता है। माता-पिता के गुणन-सूत्रों के मेल से मानव-व्यक्तित्व निर्मित होता है, ऐसा जीव-शास्त्री मानते हैं। ये मत अपनी विचार-दृष्टि में थोड़ी विभिन्नता रखते हुए भी इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि किसी मनुष्य का व्यक्तित्व जन्म लेने के बाद जीवन की बाह्य परिस्थितियों और प्रयासों के फलस्वरूप ही घटित नहीं होता। ऐसा होता तो एक ही माता-पिता की समस्त संतानें, जो प्रायः एक समान परिस्थितियों में पोषित और विकसित होती हैं, यदि पूर्णतः नहीं तो लगभग एक-दूसरे के समान हुआ करतीं। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का बहुत बड़ा प्रभाव होता है, यह ठीक है, किन्तु वातावरण के प्रभाव को ही इस दृष्टि से सब कुछ नहीं माना जा सकता। चाहे उसे आनुवंशिकता का प्रभाव मानें अथवा पूर्वजन्मों के संस्कार, कुछ प्रवृत्तियाँ और निहित क्षमताएँ ऐसी अवश्य होती हैं जिन्हें किसी व्यक्ति के जन्मजात गुणों के रूप में ही मान्यता प्रदान की जा सकती है।

पन्त जी के व्यक्तित्व में कुछ अतिशय विशिष्ट, उदात्त एवं दिव्य प्रवृत्तियाँ हमें दिखाई देती हैं, जिनके सम्बन्ध में यही कहना पड़ता है कि वे जन्मजात गुणों के रूप में ही उन्हें प्राप्त हुई थीं। उनके इस कथन का उल्लेख पूर्व-प्रसंगों में किया जा चुका है कि उन्हें अपनी बाल्यावस्था में ही इस बात की प्रतीति हो गयी थी कि कुछ विशेष कार्य करने के लिए ही उनका जन्म इस धरती पर हुआ है। अपनी जन्म-स्थली कौसानी की प्रफुल्ल और निर्मल प्राकृतिक शोभा में उनके बाल-मन का बहुत देर-देर तक निमग्न रहना उनके विशिष्ट संस्कारों का ही

परिचय देता है। हिमालय के हिममण्डित पर्वतशिखरों में शिव की विराट् छवि क दर्शन करना उनकी जन्मजात प्रकृति का ही एक अंग था। ध्यान-मग्न रहकर सम्मुख उपस्थित प्राकृतिक छटा में नये-नये सौन्दर्य-रूपों की कल्पना करना भी उनकी जन्मजात सृजनशीलता का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है। अपने इस बाल-स्वभाव के सम्बन्ध में पन्त जी ने स्वयं कहा है कि—"मैं छुटपन से ही जैसे अपने में पूर्ण था और निरन्तर अपने साथ अकेला रह सकता था, बल्कि उसी मे मुझे अच्छा लगता था और उसी अकेलेपन के भीतर मैं अपने को विकसित होता भी पाता था।"[1]

विशिष्ट संस्कारों के साथ जन्म लेने वाले पन्त जी को अनुकूल पारिवारिक वातावरण भी मिला। यह ठीक है कि उनके जन्म के तत्काल बाद ही उनकी माता का देहावसान हो गया किन्तु उसी के कारण उन्हें अपने पिता का अतिरिक्त स्नेह और परिवार के दूसरे सदस्यों की कोमल वत्सलता का पोषण प्राप्त हुआ। परिवार में व्याप्त आस्तिकता ने भी बाल्यावस्था में ही उन्हें दिव्यता की ओर उन्मुख किया और पिता तथा बड़े भाइयों की अध्ययनप्रियता एवं साहित्य-प्रेम ने उनके बाल-मन पर अपनी अमिट छाप अंकित की। पाठशालाओं की शिक्षा मे उनका मन उतना नहीं रमा जितना स्वतंत्र और व्यापक अध्ययन में। जिस अवस्था में पन्त जी ने गीता, रामायण, उपनिषद् आदि भारतीय वाङ्मय के विशिष्ट ग्रंथों का अध्ययन किया, उस अवस्था में बालक और किशोर प्राय सामान्य क्रीड़ाओं तथा मनोरंजक कथा-कहानियों में ही उलझे रहते हैं। परिवार मे सन्त-महात्माओं का आगमन भी समय-समय पर होता रहता था, जिनकी ओर वे गहरे आकर्षण का अनुभव करते थे और उनके सत्संग में उन्हें एक विशेष सुख प्राप्त होता था।

आगे चलकर उन्हें जहाँ अंग्रेज़ी के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य को पढने का अवसर मिला, वहीं बाइबिल जैसे धर्मग्रन्थ के अध्ययन में भी उन्होंने गहरी रुचि ली। हिन्दी, संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी साहित्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने के साथ ही पन्त जी ने दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति एवं अर्थशास्त्र का भी पर्याप्त अनुशीलन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों को आत्मसात् करने में भी गहरी रुचि दिखाई। डार्विन के जैविक विकासवाद के सिद्धान्त और मार्क्स के सामाजिक विकासवाद का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे उनकी चिन्तन-प्रक्रिया के स्थायी अग बन गये। पन्त जी की वैचारिकता को अद्भुत व्यापकता देने में उनकी

निष्कर्ष-खण्ड

प्रथम अध्याय

पन्त जी का वैचारिक व्यक्तित्व : सामान्य निष्कर्ष

भारतीय चिन्तन किसी मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के पीछे उसके पूर्वजन्मों के संस्कारों के प्रभाव को महत्त्व देता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन मनुष्य के व्यक्तित्व के मूलाधार के रूप में उसके अवचेतन को महत्त्व देकर अपने ढंग से मानव-व्यक्तित्व के जन्मजात स्वरूप को मान्यता प्रदान करता है। माता-पिता के गुणन-सूत्रों के मेल से मानव-व्यक्तित्व निर्मित होता है, ऐसा जीव-शास्त्री मानते हैं। ये मत अपनी विचार-दृष्टि में थोड़ी विभिन्नता रखते हुए भी इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि किसी मनुष्य का व्यक्तित्व जन्म लेने के बाद जीवन की बाह्य परिस्थितियों और प्रयासों के फलस्वरूप ही घटित नहीं होता। ऐसा होता तो एक ही माता-पिता की समस्त संतानें, जो प्रायः एक समान परिस्थितियों में पोषित और विकसित होती हैं, यदि पूर्णतः नहीं तो लगभग एक-दूसरे के समान हुआ करतीं। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का बहुत बड़ा प्रभाव होता है, यह ठीक है, किन्तु वातावरण के प्रभाव को ही इस दृष्टि से सब कुछ नहीं माना जा सकता। चाहे उसे आनुवंशिकता का प्रभाव मानें अथवा पूर्वजन्मों के संस्कार, कुछ प्रवृत्तियाँ और निहित क्षमताएँ ऐसी अवश्य होती हैं जिन्हें किसी व्यक्ति के जन्मजात गुणों के रूप में ही मान्यता प्रदान की जा सकती है।

पन्त जी के व्यक्तित्व में कुछ अतिशय विशिष्ट, उदात्त एवं दिव्य प्रवृत्तियाँ हमें दिखाई देती हैं, जिनके सम्बन्ध में यही कहना पड़ता है कि वे जन्मजात गुणों के रूप में ही उन्हें प्राप्त हुई थीं। उनके इस कथन का उल्लेख पूर्व-प्रसंगों में किया जा चुका है कि उन्हें अपनी बाल्यावस्था में ही इस बात की प्रतीति हो गयी थी कि कुछ विशेष कार्य करने के लिए ही उनका जन्म इस धरती पर हुआ है। अपनी जन्म-स्थली कौसानी की प्रफुल्ल और निर्मल प्राकृतिक शोभा में उनके बाल-मन का बहुत देर-देर तक निमग्न रहना उनके विशिष्ट संस्कारों का ही

परिचय देता है। हिमालय के हिममण्डित पर्वतशिखरों में शिव की विराट् छवि के दर्शन करना उनकी जन्मजात प्रकृति का ही एक अंग था। ध्यान-मग्न रहकर सम्मुख उपस्थित प्राकृतिक छटा में नये-नये सौन्दर्य-रूपों की कल्पना करना भी उनकी जन्मजात सृजनशीलता का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है। अपने इस बाल-स्वभाव के सम्बन्ध में पन्त जी ने स्वयं कहा है कि—"मैं छुटपन से ही जेसे अपने में पूर्ण था और निरन्तर अपने साथ अकेला रह सकता था, बल्कि उसी मे मुझे अच्छा लगता था और उसी अकेलेपन के भीतर मैं अपने को विकसित होता भी पाता था।"[1]

विशिष्ट संस्कारों के साथ जन्म लेने वाले पन्त जी को अनुकूल पारिवारिक वातावरण भी मिला। यह ठीक है कि उनके जन्म के तत्काल बाद ही उनकी माता का देहावसान हो गया किन्तु उसी के कारण उन्हें अपने पिता का अतिरिक्त स्नेह और परिवार के दूसरे सदस्यों की कोमल वत्सलता का पोषण प्राप्त हुआ। परिवार में व्याप्त आस्तिकता ने भी बाल्यावस्था में ही उन्हें दिव्यता की ओर उन्मुख किया और पिता तथा बड़े भाइयों की अध्ययनप्रियता एवं साहित्य-प्रेम ने उनके बाल-मन पर अपनी अमिट छाप अंकित की। पाठशालाओं की शिक्षा मे उनका मन उतना नहीं रमा जितना स्वतंत्र और व्यापक अध्ययन में। जिस अवस्था में पन्त जी ने गीता, रामायण, उपनिषद् आदि भारतीय वाङ्मय के विशिष्ट ग्रंथों का अध्ययन किया, उस अवस्था में बालक और किशोर प्राय सामान्य क्रीड़ाओं तथा मनोरंजक कथा-कहानियों में ही उलझे रहते हैं। परिवार मे सन्त-महात्माओं का आगमन भी समय-समय पर होता रहता था, जिनकी ओर वे गहरे आकर्षण का अनुभव करते थे और उनके सत्संग में उन्हें एक विशेष सुख प्राप्त होता था।

आगे चलकर उन्हें जहाँ अंग्रेज़ी के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य को पढने का अवसर मिला, वहीं बाइबिल जैसे धर्मग्रन्थ के अध्ययन में भी उन्होंने गहरी रुचि ली। हिन्दी, संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी साहित्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने के साथ ही पन्त जी ने दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति एवं अर्थशास्त्र का भी पर्याप्त अनुशीलन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों को आत्मसात् करने में भी गहरी रुचि दिखाई। डार्विन के जैविक विकासवाद के सिद्धान्त और मार्क्स के सामाजिक विकासवाद का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे उनकी चिन्तन-प्रक्रिया के स्थायी अग बन गये। पन्त जी की वैचारिकता को अद्भुत व्यापकता देने में उनकी

असामान्य अध्ययनशीलता का बहुत बड़ा हाथ है। उनकी अध्ययन-वृत्ति के सम्बन्ध में उनकी जीवनी-लेखिका सुश्री शान्ति जोशी ने यह साक्ष्य दिया है – "पन्त का जन्मजात कवि सतत जिज्ञासु है। अपने विद्यार्थी जीवन में सम्भवतः कोई भी उपलब्ध श्रेष्ठ ग्रन्थ न होगा जिसका उन्होंने अध्ययन न किया हो। वे जो भी पुस्तक पढ़ते हैं, ध्यान और तल्लीनता से पढ़ते हैं। लिखते यदि वह सौ मील की रफ़्तार से हैं तो पढ़ते एक मील की रफ़्तार से हैं। पर जो पढ़ लिया वह सदैव के लिए उनके मन में अंकित हो जाता है।..........जीवन के सभी विषय उन्हें रुचिकर लगते हैं। ज्ञान के समस्त पक्षों को आत्मसात् करने के वे सदैव आकांक्षी रहे हैं। मनीषियों, ज्ञानियों और साधु-सन्तों के साथ वे रात-दिन एक कर सकते हैं।"[2]

भू-जीवन के प्रति लगाव आधुनिक युग-चेतना की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति ने भी पन्त जी की चेतना को प्रभावित किया। आर्य-समाज की सामाजिक चेतना तथा विवेकानन्द की व्यावहारिक वेदान्ती दृष्टि की ओर पन्त जी का मन अपनी चेतना के आरम्भिक काल से ही उन्मुख रहा और नव-जागृति के चरण के रूप में भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के उदय और विकास को भी पन्त जी ने अपने चारों ओर के वातावरण में परिव्याप्त पाया और उससे प्रभावित भी हुए। उसी के प्रभाव से उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा से भी शीघ्र ही अपना मुह मोड़ लिया। भारतीय राष्ट्रीयता के प्रमुख उन्नायक महात्मा गांधी के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा जाग्रत् हुई, जिसके फलस्वरूप उन्होंने गांधी जी के सम्बन्ध में अनेक कविताओं का प्रणयन किया।

पन्त जी की चेतना को पूर्णतः तो नहीं, किन्तु सबसे अधिक समाधान श्री अरविन्द के चिन्तन में प्राप्त हुआ और वे पर्याप्त समय तक अरविन्द-आश्रम मे भी रहे। अध्यात्म और विज्ञान दोनों के आधार पर योगी अरविन्द ने वैयक्तिक ओर सामाजिक विज्ञान की जो समन्वित कल्पना "भागवत-जीवन" के रूप मे प्रस्तुत की, उसे पन्त जी ने अपने मन में रूप ग्रहण करती हुई जीवन-दृष्टि के बहुत अनुरूप पाया और उससे उनके चिन्तन को नया प्रकाश प्राप्त हुआ।

पन्त जी के व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान देने वाली उपर्युक्त परिस्थितियो ओर प्रभावों के संकेत इस ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठों में कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ उनका उल्लेख एक सांकेतिक पृष्ठभूमि के रूप मे ही किया गया है।

पन्त जी की पारिवारिक परिस्थितियों, उनके जीवन-युग की विविध

विचारधाराओं तथा उनकी व्यापक अध्ययनशीलता की इस चर्चा के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि उनका व्यक्तित्व विभिन्न प्रभावों का एक कृत्रिम समवाय है, ठीक नहीं है। पन्त जी से सम्बान्धित अनेक समीक्षाओं से हमें यह ध्वनि निकलती दिखाई देती है कि उनके व्यक्तित्व में कोई मौलिक एकता नही थी। वे अपने जीवन के विभिन्न कालों में अलग-अलग विचारधाराओं से प्रभावित होकर उन्हीं के अनुरूप साहित्य-सर्जना में प्रवृत्त हो जाया करते थे। पर उनके जीवन और साहित्य को उनके क्रम-विकास में एक साथ, और समग्र दृष्टि से देखने पर, यह तथ्य पूरी स्पष्टता के साथ प्रकट होता है कि उनका व्यक्तित्व अलग-अलग समयों में, अलग-अलग धाराओं के प्रभाव से, अलग-अलग दिशाओ मे प्रवाहित होने वाला व्यक्तित्व नहीं था। उनके व्यक्तित्व में हमें एक मौलिक एकतानता दिखाई देती है जो उनके व्यक्तित्व की जीवन्तता का परिचय देती है। विचारों से प्रभावित होना और प्रकाश की नयी दिशायें प्राप्त करना एक बात है और दूसरों के विचारों के सर्वथा वशीभूत होकर अपनी उक्तियों में उन्हीं का भिन्न-भिन्न व्यंजनाओं में उद्धृत करना दूसरी बात है।

पन्त जी ने जो कुछ भी ग्रंथों में पढ़ा, जो कुछ अपने युग की विचारधाराओ और आन्दोलनों में देखा तथा चिन्तन और साहित्य-क्षेत्र के जिन मनीषियों के सम्पर्क में वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आये, उनमें से किसी को भी उनकी चेतना ने सम्पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। अपनी जीवन-चेतना को उन्होंने इन समस्त प्रभावों से केवल अभिसिंचित किया। इन प्रभावों के अभिसिंचन से जो जीवन-दृष्टि विकसित और विवर्धित हुई, वह उनकी अपनी मौलिक जीवनदृष्टि थी, जो किसी प्रभाव से कभी मूलतः उच्छिन्न नहीं हुई, विभिन्न प्रभावों से उसने पोषण तथा शक्ति अवश्य प्राप्त की। जिस विचारधारा अथवा सामाजिक आन्दोलन में उन्हे जो कुछ अपनी मौलिक चेतना के अनुरूप लगा, उसको ही उन्होंने ग्रहण किया और उसे भी अपनी निजी चेतना के साँचे में ढाल लिया।

पन्त जी के जीवन तथा साहित्य की व्यापक निरख-परख के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि पन्त जी का सांस्कृतिक चैतन्य ही उनके व्यक्तित्व का मूल प्रेरक तत्त्व था। वैयक्तिक सुख और समृद्धि के अर्जन में उनकी रुचि कभी नही रमी। बाहरी सुविधाओं के अभाव का अनुभव वे तभी करते थे जब उनके कारण अपने सांस्कृतिक लक्ष्य की ओर बढ़ने में उन्हें अवरोध उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता था। उनकी आत्मनिष्ठता और अन्तर्मुखता अपने व्यक्तिगत विकास की आकांक्षा से उद्भूत नहीं थी। व्यक्तिगत विकास और सामूहिक विकास की

अलग-अलग सिद्ध को उनकी चेतना स्वीकार ही नहीं करती थी। उनके लिए सम्पूर्ण सत्ता एक अखण्ड वस्तु थी। देह और आत्मा, व्यक्ति और समूह, भूत और अध्यात्म तथा स्वार्थ और परमार्थ को एक दूसरे के विरोधी तत्त्वों के रूप में उन्होंने कभी मान्यता नहीं दी। केवल देह अथवा केवल आत्मा के, केवल व्यक्ति अथवा केवल समूह के एवं केवल आध्यात्मिकता और नैतिकता अथवा केवल भौतिक समृद्धि के विकास के प्रयास को वे अधूरा और निष्फल मानते थे। उन्होंने यह अनुभव किया था कि विगत कालों में मानवीय संस्कृति के विकास के प्रयास जीवन को खण्डों में बाँटकर किये गये थे और वर्तमान में भी उस खण्डित जीवन-दृष्टि का प्रचलन अभी बहुत सीमा तक बना हुआ है। उसी के फलस्वरूप वर्ग-विद्वेष एवं वर्ग-संघर्ष और राष्ट्रीय विद्वेष तथा युद्ध की प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण विश्वजीवन को विक्षुब्ध बनाये हुए हैं। वे यह चाहते थे कि सत्ता को खण्डों में बाँटकर देखने और खण्डित रूप में ही उसके विकास के प्रयासों का अन्त हो और मानवीय चेतना समग्र एकत्व की भावना से अन्वित और अभिप्रेरित होकर जीवन के समग्र विकास की साधना में लगे।

उनके आरम्भिक और छायावादी काव्य में हम जिन सौन्दर्य-स्वप्नों की झलक पाते हैं, वह उन सांस्कृतिक स्वप्नों के पूर्व-रूप थे, जो धीरे-धीरे सम्पूर्ण जीवन के सांस्कृतिक विकास के स्वप्नों के रूप में उनकी परिपक्व चेतना मे अपने परिस्फुट रूप में प्रकट हुए। पन्त जी के लिए साहित्य-सर्जना अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं थी। जीवन के समग्र और समन्वित विकास का सांस्कृतिक लक्ष्य ही उनकी चेतना को हर क्षण सक्रिय रखता था। उनकी ध्यान-साधना भी इस लक्ष्य की ही ध्यान-साधना थी और उनका जीवन-व्यापी विशाल साहित्यिक कृतित्व भी उनके इसी सांस्कृतिक लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में निरन्तर उन्मुख रहा था। पन्त जी संस्कृति को साहित्य की तुलना में अधिक महत्त्व देते थे, ऐसा पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है। संस्कृति का समर्थ साधन होने के आधार पर ही वे साहित्य को महत्त्व देते थे।

पन्त जी की सत्ता के एकत्व की चेतना परमात्मा और सृष्टि में किसी प्रकार के पार्थक्य को स्वीकार नहीं करती थी। सृष्टि के साथ अपनी सत्ता के एकत्व को मनुष्य अनुभव करने लगे, पन्त जी की दृष्टि में यही परमात्मा की प्राप्ति थी। उनका सारा-का-सारा जीवन-चिन्तन सृष्टि के एकत्व की प्रतीति से ही अनुप्राणित था और जीवन के समेकित विकास की छवि को उजागर करने मे ही उन्होंने अपने साहित्यिक कृतित्व को सार्थक माना है। उनकी यह समेकित

-जीवन दृष्टि उनकी आरम्भिक साहित्यिक कृतियों में कुछ अस्फुट रूप में प्रकट हुई थी पर शीघ्र ही उसने प्रखर चेतना का रूप धारण कर लिया। जीवन की विविधरूपता को समग्रता के परिप्रेक्ष्य में देखने की जिस प्रवृत्ति के दर्शन हमें "पल्लव" में संग्रहीत उनकी "परिवर्तन" शीर्षक रचना में होते हैं उसी का कुछ अधिक परिस्फुट रूप हम उनकी "ज्योत्स्ना" शीर्षक नाटिका में अभिव्यक्त पाते हैं और उसी का परिपूर्ण विकास तथा परिस्फुट रूप हमें उन परवर्ती स्फुट तथा प्रबन्धात्मक रचनाओं में देखने को मिलता है जिन्हें उन्होंने अपना "नवचेतनाकाव्य" कहा है। अनेक स्थलों पर पन्त जी ने अपने "नवचेतनाकाव्य" को "नव संस्कृति-काव्य" भी कहा है क्योंकि उनकी नवचेतना विश्व के सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास की चेतना ही थी।

मानव-जीवन के जिस सांस्कृतिक विकास का स्वप्न पन्त जी देखा करते थे वह उनके विचार से अपने आप में सर्वथा नवीन था और विश्व के ऐतिहासिक विकास के आगामी चरण के रूप में प्रकट होने वाला था। परम्परा से प्राप्त किसी पुराने जीवन-आदर्श के पुनर्जीवित करने को न वे सम्भव मानते थे और न वांछनीय ही। वर्तमान युग को वे महान् युग केवल इसी आधार पर कहा करते थे कि वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक विकास से प्राप्त अपूर्व क्षमताओं से सम्पन्न यह युग मानवता के एक सर्वथा नवीन विकास की सम्भावनाओं से युक्त है। मानव-जीवन का भागवत-जीवन में परिणत हो जाना ही उनके सांस्कृतिक विकास का लक्ष्य था। भागवत-जीवन की जो रूप-कल्पना उनकी चेतना में भावी जीवन के दिव्य बिम्बों में प्रकट हुआ करती थी, उसी को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति देने का वे प्रयास किया करते थे। उनकी तथाकथित यथार्थवादी (प्रगतिवादी) रचनाएँ भी उसी सांस्कृतिक रूप-कल्पना के प्रभाव से अनुप्रेरित थीं। "जो हो रहा है" उसकी कुरूपता को वही आँक सकता है जो "जो होना चाहिये" की चेतना से युक्त हो। पन्त जी की वैचारिकता "जो है" उसमें दिखाई पड़ने वाली क्षमताओं और कुरूपताओं के निरूपण तथा "जो होना चाहिये" की सुनिर्धारित चेतना से प्रेरित भावी भागवत-जीवन के बिम्बों के निर्माण में निरन्तर सक्रिय रही है। इसी कारण कुछ समीक्षकों ने उनकी रचनाओं में वैचारिकता के अतिरेक को कलात्मकता में व्याघात पैदा करने वाले तत्त्व के रूप में देखा है। किन्तु, ऐसे समीक्षकों के मतों से पूर्णतया परिचित होते हुए भी पन्त जी ने अपने काव्य की वैचारिक प्रखरता को कम करने का प्रयास कभी नहीं किया।

पन्त जी की इस मूल सांस्कृतिक दृष्टि से जो विचार उद्भूत हुए, उनका

विवरण विगत पृष्ठों में प्रायः संक्षेप के साथ ही प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्ष के रूप में उनका पुनः उल्लेख करने से केवल ग्रन्थ के कलेवर का विस्तार ही होगा, तथ्यनिरूपण के प्रकृत लक्ष्य की पूर्ति में उससे कोई सहायता नहीं मिलेगी। ग्रन्थ के इस प्रकरण का लक्ष्य भी पन्त जी के विचारों को सार रूप में और अधिक संक्षेप के साथ प्रस्तुत करना नहीं है। उनकी वैचारिकता के मूल उत्स के संकेत से ही उनके वैचारिक व्यक्तित्व की पहचान बनती है और इसलिए यहाँ उसी के निरूपण की ओर ध्यान दिया गया है।

सन्दर्भ-संकेत



1. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग एक, भेंटवार्ता—शांति जोशी, पृ. 51, प्र. सं. 1970
2. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 2, शांति जोशी, पृ. 670, प्र. सं. 1977

द्वितीय अध्याय
पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व का प्रभाव

पन्त जी के वैचारिक व्यक्तित्व ने उनके समकालीन तथा अनुकालीन जीवन और साहित्य को किस सीमा तक प्रभावित किया है, इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो निष्कर्ष रूप में यह तथ्य हमारे सामने आता है कि पन्त जी के समग्र साहित्यिक कृतित्व को तो उनके समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों एवं साहित्य-समीक्षकों ने अपने लेखन में पर्याप्त महत्त्व दिया है किन्तु उनके व्यक्तित्व के परिपक्व वैचारिक रूप को आँकने और निरूपित करने की ओर पाठकों का ध्यान अपेक्षाकृत कम ही गया है। द्विवेदीयुगीन काव्य-प्रवृत्तियों से पृथक् जिस छायावादी काव्य का उदय हिन्दी-साहित्य मे प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा जैसे कवियों के रचना-प्रयासों के फलस्वरूप हुआ, उसके सम्बन्ध में उस समय के प्रतिष्ठा-प्राप्त समीक्षकों की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं थी। इस प्रकार के समीक्षकों का प्रतिनिधित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया, जिन्होंने छायावादी काव्य के स्वभाव और प्रकृति का बहुत पैना विश्लेषण तो किया, किन्तु उसमें निहित काव्य-मूल्यों को उनका समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। पर उन वयोवृद्ध समीक्षकों के दृष्टिकोण से उस काव्यधारा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा और साहित्य के सामान्य पाठकों में तथा विशेष रूप से तरुण पाठकों में, उसकी लोकप्रियता बढ़ती ही गयी। शीघ्र ही छायावादी काव्य-प्रवृत्ति अपने समय की प्रमुख काव्य-प्रवृत्ति बन गयी। पन्त जी छायावादी काव्य-प्रवृत्ति के प्रमुख उन्नायक तथा संस्थापक थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से उस काव्य-प्रवृत्ति के श्रेष्ठतम उदाहरण तो प्रस्तुत किये ही, उस प्रवृत्ति के वैशिष्ट्य एवं वांछनीयता को उजागर करने में भी अपने काव्य-संकलनो की भूमिकाओं तथा स्फुट निबन्धों एवं भाषणों के माध्यम से अतिशय महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

यह मान लेना ठीक नहीं है कि कवि रूप में पन्त जी की लोकप्रियता और प्रमुखता का आधार केवल उनका विशिष्ट काव्य-शिल्प था। पन्त जी ने अपने

जिस अभिनव काव्य-सौन्दर्य से आधुनिक हिन्दी-साहित्य में एक नयी काव्यधारा के प्रवर्तन को प्रेरणा दी, उसमें केवल उनकी नयी कलात्मक दृष्टि और भाव-प्रवणता का ही हाथ नहीं था। उस काव्य-सौन्दर्य को आकर्षक और प्रभावशाली बनाने मे उनकी नवीन जीवन-चेतना और वैचारिकता का भी हाथ था।

किसी कवि की सफलता के आँकने का एक महत्त्वपूर्ण आधार यह भी माना जा सकता है कि उसके विचारों तथा उसकी आस्थाओं का उसके अपने तथा उसके समकालीन जीवन तथा साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा? पन्त जी ने अपने समकालीन जीवन के बाह्य आन्दोलनों में कोई सक्रिय भाग नहीं लिया। उनका "लोकायतन" संस्था को स्थापित करने का प्रयास इस दिशा में एक पग अवश्य था, किन्तु वह सफल नहीं हुआ। दीन-हीनों के प्रति उनकी सहृदयता केवल लेखन में ही नहीं, किसी सीमा तक उनकी दैनिक जीवन-चर्या में भी दृष्टिगत होती थी। पर हमें यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनका संघर्षशील व्यक्तित्व जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र की अपेक्षा उनके लेखन में वैचारिक स्तर पर ही अधिक प्रतिफलित हुआ। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव बाहरी कर्मक्षेत्र का अथवा किसी संगठनात्मक सामाजिक आन्दोलन का प्रभाव न होकर सर्जनात्मक साहित्य के माध्यम से प्रकट होने वाला प्रभाव था जो, जहाँ आन्तरिक और सूक्ष्म था, वहीं अधिक गम्भीर और स्थायी भी था। जब भी जनजीवन काल की क्षणिकता से क्रान्त हो जाता है तब उसे दिशा-निर्देश की आवश्यकता होती है, ओर वही आवश्यकता आस्थावादी काव्य की जनक होती है। पन्त जी का आत्म-प्रबुद्ध कवि समकालीन कवियों में सर्वाधिक जागरूक था और उन्होंने बडी सतर्कता से अपनी उस चेतना को व्यक्त करने का प्रयास किया है जो उनके भाव-बोध का निर्धारण किया करती थी।

पन्त जी ने स्वयं यह बात स्वीकार की है कि कवि की विशिष्टता जन-सामान्य द्वारा ग्राह्य होनी चाहिये तथा उसे अपनी असाधारणता को जन-जीवन की व्यापकता में साधारण बनाना चाहिये, तभी उसकी प्रतिभा तथा स्वप्न-कल्पना का कोई अर्थ समष्टि के लिए हो सकता है। उन्होंने अपनी ओर से अपनी विशिष्टता को समष्टिगत जीवन की सामान्यता में उतारने का निरन्तर प्रयास किया था। अपने वैयक्तिक जीवन में अनुभूत मार्मिक अनुभव का जो अपूर्व साधारणीकरण उन्होंने "पल्लव" काव्य-संग्रह की "परिवर्तन" शीर्षक कविता में किया था और अपनी निजी पीड़ा का तादात्म्य विश्व-मानव की पीड़ा के साथ करके उन्होंने जिस उदात्त भावना का परिचय दिया था, वह तत्कालीन

हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ थी। "पल्लव" ने तत्कालीन हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया था और अपने समकालीनों का ध्यान अपनी ओर बडी तीव्रता के साथ आकृष्ट किया था।

उनकी उस काव्य-कृति का सौन्दर्य केवल अभिव्यंजना और तीव्र भावानुभूति का सौन्दर्य न होकर एक स्वस्थ एवं प्रेरक जीवन-दृष्टि का सौन्दर्य भी था, इसकी पुष्टि में पन्त जी के एक सैनिक मित्र श्री रत्नाकर दत्त चम्बोला की उक्ति उद्‌धृत की जा सकती है। अपने ऊपर पड़े हुए उस रचना के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है–

" "पल्लव" की एक प्रति जो मेरे मित्र (सुमित्रानन्दन पन्त) ने विदा करते समय मुझे दी थी, मैं दिन-रात अपने तकिये के नीचे रखा करता था। दुःख ओर पीड़ा से विह्वल होकर उसे जब कभी उठाकर पढ़ लेता था तब मेरे घावों मे मरहम लग जाया करता था। उसकी कविताओं ने मुझे आश्वासन दिया कि सुख में दुःख छिपा हुआ है और दुःख में सुख छिपा है। सो, मैंने उस परम दुःख को परम सुख में बदल दिया। एक घायल सैनिक (स्वयं चम्बोला जी) की जान मे जान आ गयी। उसके नीरस जीवन में पुनः आशा का संचार हो गया। कवि की वाणी का यह अद्‌भुत चमत्कार मैंने वस्तुतः अपने ऊपर ही होते देखा। विकलांग होने पर भी मुझे ऐसा लगा कि कवि की प्रेरणा के सहारे फिर से जी सकूँगा, जीवन के सुनहले सपने देख सकूँगा, अतीत का अवलम्बन लेकर आगामी भविष्य का नव-निर्माण कर सकूँगा, शारीरिक सुख से प्रायः वंचित रहने पर भी मे मानसिक तथा आध्यात्मिक सुख का उपभोग कर सकूँगा। मैं फिर से जी उठा, और अब जी रहा हूँ। क्या यह कवि की लेखनी का प्रसाद नहीं है?"[1]

नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने भी स्वीकार किया है कि–"ग्रन्थि की पंक्तियाँ उन दिनों तरुण साहित्यकारों की ज़ुबान पर खेलती रहती थीं।.......उस समय की एक कविता ने साहित्यकारों को सबसे अधिक आकृष्ट किया था। वह थी पन्त जी की "परिवर्तन" कविता जो अनेक छोटे-छोटे खण्डों में और भिन्न-भिन्न छन्दो मे लिखी जाकर भी एक गम्भीर प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुई थी। इस कविता को पढ़कर मुझे पन्त जी के विशिष्ट कवि-रूप पर विश्वास हो गया था।"[2]

रामधारी सिंह "दिनकर" के शब्दों में–"हिन्दी में जब छायावाद का आन्दोलन पूरे उभार पर था उस समय हिन्दी वालों के सबसे प्रिय कवि पन्त जी थे क्योंकि जो लक्षण द्विवेदी-युगीन काव्य से छायावादी काव्य को अलग करने वाले थे, उनका सबसे प्रिय विकास उन्हीं की कविताओं में दिखाई देता था।..

छायावाद की भाषा का आदर्श रूप 'पल्लव' की कविताओ मे प्रकट हुआ था ....जीनियस का लक्षण है कि साहित्य की जितनी सेवा वह अपनी लेखनी से करता है, उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सेवा वह उन सैकड़ों परिचित-अपरिचित लेखनियों से करवा लेता है जो उसके प्रभाव में काम करती हैं।.........छायावाद मे हिन्दी में जो नीले प्रकाश का प्लावन उठा, उसका अत्यन्त प्रमुख भाग पन्त जी की कविताओं से विकसित हुआ।"[3]

आगे चलकर एक सफल प्रशासक तथा प्रभावशाली साहित्यकार के रूप मे अपनी पहचान बनाने वाले श्री जगदीश चन्द्र माथुर पन्त जी के काव्य-व्यक्तित्व के उस प्रारम्भिक प्रस्फुटन-काल में प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्र थे। उन्होने पन्त जी के तत्कालीन प्रभाव को स्मरण करते हुए लिखा है—"सन् 1933-34 मे इलाहाबाद में नयी पीढ़ी के कवियों और पाठकों दोनों पर श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यापक प्रभाव था। न जाने कितने किशोर छात्रों की कल्पना को रंगीनी एव भावनाओं को माधुर्य मिला—पन्त जी के व्यक्तित्व तथा कवित्व के कारण। अनेक परवर्ती प्रतिभायें जगी थीं उसी प्रभात के आह्वान पर।......प्रयाग में रहने वाले नवोदित साहित्यकार के लिए वही सजग-कल्पना और मार्मिक-अभिव्यंजना की नींव-स्वरूप थे।.......हम लोग उन दिनों अपने लेखों में पन्त जी की पंक्तियो को उसी सहज भाव से उद्धृत करते थे जैसे कीट्स, शैली को अपने अंग्रेजी निबन्धों में। उस युग में प्रयाग के नवोदित भावुक साहित्यकार के लिए पन्त जी करीब-करीब क्लासिक बन चुके थे।"[4]

छायावाद का विरोध करने पर पन्त जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों के आरोपों का खण्डन कर पूर्ववर्ती एवं द्विवेदीयुगीन काव्य की परम्पराओं से अपने आपको अलग करते हुए, अपनी काव्य-मान्यताओं का जिस तार्किकता और दृढ़ता से औचित्य-स्थापन किया, वह हिन्दी-साहित्य में अभूतपूर्व ही था। उनके द्वारा प्रस्तुत काव्यशास्त्रीय विचार गहन चिन्तन-मनन एवं सृजनात्मक प्रतिभा से उद्भूत होने के कारण अधिक रचनात्मक प्रभाव वाले थे। छायावाद के अधिकांश समीक्षकों ने भी इन्हीं मान्यताओ को आधार बनाकर छायावाद का निरूपण, विश्लेषण एवं विवेचन किया है। उन्होंने काव्य के आंतरिक सौन्दर्य तथा समृद्धि को महत्त्वपूर्ण मानते हुए स्थूल उपयोगिता के स्थान पर सूक्ष्मतर मानदण्डों की स्थापना का जो प्रशंसनीय प्रयास किया, उनसे छायावादी काव्य ही नहीं, काव्य मात्र के रसास्वादन तथा आलोचन के लिए एक नयी दृष्टि का विकास हुआ।

उन्होंने काव्य की शक्ति के ही नहीं, भाषा की शक्ति के क्षेत्र में भी नयी दृष्टि दी, जिसका प्रभाव साहित्यिक रचना के उन पक्षों पर भी पड़ा और आगे भी पड़ता रहेगा, जिनके साथ हम पन्त जी का नाम लेने के अभी अभ्यासी नहीं है। सन् 1919 ई. से प्रकाश में आने वाला पन्त-काव्य एक प्रभावपूर्ण एवं प्रेरणाप्रद काव्य के रूप में साहित्य-प्रेमियों एवं युवक प्रतिभाओं को आनन्द-उल्लास मे निमज्जित करता रहा। "दिनकर" जी का कहना है—"खड़ी बोली के परुष रूप को गलाकर मोम बनाने में जितनी सफलता पन्त जी को मिली उतनी और किसी को नहीं। यह पन्त जी का ऐतिहासिक कार्य है जिसकी महत्ता आगे की शताब्दियाँ भी स्वीकार करेंगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुकर्ता सबसे अधिक पन्त जी ने ही उत्पन्न किये। छायावाद युग में और नहीं तो पच्चीस-तीस कवि तो ज़रूर ऐसे थे जो पन्त जी की भाषा-शैली के चारों ओर चक्कर काटते थे।"[5]

नवीन भावबोध, नयी कलात्मकता तथा भाषा-प्रयोग की नवीन भंगिमाओं के कारण पन्त जी ने कवि के रूप में अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनाई। किन्तु, पाठकों को प्रिय लगने वाली कलात्मकता ही पन्त जी की साहित्य-साधना का लक्ष्य नहीं थी। अपने युग-जीवन की सामर्थ्य और सीमा को अच्छी तरह पहचान कर उसे नवीन सांस्कृतिक विकास की ओर उन्मुख करना ही उनकी चेतना का मुख्य आग्रह था। उसी आग्रह से प्रेरित पन्त जी ने आगे चलकर युग की नयी आकांक्षाओं के अनुरूप प्रगतिवादी काव्य का भी नेतृत्व किया। प्रगतिवाद के प्रारम्भिक वर्षों में जब भावावेश तथा उन्मादों के बवंडर के बीच प्रगतिवादी कविता किसी समतल धरातल को खोज पाने में असमर्थ-सी प्रतीत हो रही थी, उन्होंने उसे एक संयमित, स्वस्थ तथा संतुलित रूप देने मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अपने सांस्कृतिक उद्देश्य के अनुसरण में पन्त जी ने जब-जब अपनी काव्यधारा को नयी दिशा दी तब-तब उनके पुराने प्रशंसकों में से कुछ हताश हुए, कुछ क्षुब्ध; किन्तु अन्यों के समर्थन या विरोध का विचार कर उन्होंने अपनी आत्मा के स्वर को कभी रुद्ध नहीं किया, यह उनकी दृढ़ संकल्प-शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है। काव्यात्मक सौन्दर्य की रक्षा करते हुए उन्होंने जिस वैचारिक औदात्य का समन्वय "ज्योत्स्ना" में किया, उनकी आगामी रचनाओं में उसका आग्रह बढ़ता ही गया। पन्त जी की काव्य-रचनाओं में वैचारिकता के इस वर्द्धमान आग्रह की ओर लोगों का ध्यान गया तो ज़रूर, लेकिन उसकी श्रेयस्करता के सम्बन्ध में अधिकतर लोग शंकालु ही रहे।

"ग्राम्या" तथा "युगवाणी" की कविताओं पर बच्चन जी, रामकुमार जी तथा अन्य साहित्यकारों की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई थी। कुछ लोगों ने कहा कि पन्त जी की कविता बौद्धिक हो गयी है, उसमें भावों का मूर्त-विधान कम होता जा रहा है। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि "गुंजन" के बाद से वह अपने दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तन को ज्यों-का-त्यों छन्दबद्ध करने लगे हैं। शिवदान सिंह चौहान से इस विषय पर चर्चा चलने पर उनसे अपनी भेंटवार्ता में पन्त जी ने कहा—"अरे बाबा, उनको कुछ पता नहीं है। दुनिया का कौन-सा ऐसा महाकवि है जिसने कुछ कविताओं में केवल विचारों को ही छन्दबद्ध नहीं किया? यह भी ज़रूरी होता है।"[6]

युग के विचार-संघर्षों के प्रति पन्त जी जितने जागरूक थे उतने बहुत ही कम साहित्यकार होते हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान जी के शब्दों में—"पन्त जी का घर उन दिनों हिन्दी-लेखकों का तीर्थ बन गया था। प्रगतिशील लेखक-संघ की मीटिंगें वहाँ होती थीं। वहीं पन्त जी के गहन बौद्धिक चिन्तन और उनके बालसुलभ स्वभाव का हम सबको अन्तरंग परिचय मिला।........दरअसल हम लोग तो जिज्ञासु विद्यार्थियों की तरह उनसे प्रश्न पूछते थे और पन्त जी सहज भाव से हमारे प्रश्नों के उत्तर में भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के सुविशाल ज्ञान-भंडार में हम लोगों को घुमाते थे। मार्क्स ने अमुक स्थापना क्यों की, हीगेल, कांट और शोपेन हावर के आदर्शवादी दर्शन में क्या कमियाँ थीं, जिनको मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापनाओं से दूर किया, मार्क्स के दर्शन में भी कौन-कौन से प्रश्नों का समाधान मिलता है, वह किस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन को सम्पूर्ण बनाने में योग दे सकता है, इन जटिल प्रश्नों का विवेचन पन्त जी इतने प्रामाणिक और स्पष्ट ढंग से करते कि हम सब आश्चर्यचकित रह जाते थे कि यह कोई महापंडित दार्शनिक बोल रहा है या कल्पनाशील सौन्दर्य प्रेमी कवि?.........वे सहज भाव से गम्भीर-से-गम्भीर विषयों का विवेचन कर जाते थे। यदुपति सहाय फ्रायड के अनुयायी थे। इसलिए दार्शनिक बहसों का रुख कभी-कभी मनोविज्ञान की ओर मुड़ जाता था और पन्त जी फ्रायड, युंग तथा एड्लर की स्थापनाओं की ऐसी धज्जियाँ उड़ाते कि यदुपतिसहाय को पसीना आ जाता। दरअसल हम लोग मार्क्स और फ्रायड की कृतियों के गम्भीर अध्येता थे ओर हम सभी उनकी युगान्तरकारी स्थापनाओं का पूरा अभिप्राय ग्रहण करना चाहते थे और पन्त जी के रूप में हमें एक ऐसा पथप्रदर्शक मिल गया था जिसकी दृष्टि और जिसका ज्ञान एकांगी या सीमित नहीं था।"[7]

जो आदर्श और विचार पन्त जी ने उस समय मार्क्स तथा गांधी जी स अपनाये और जिनका विशिष्ट संस्कार उन्होंने अपने काव्य में किया, वे उनकी चेतनागत आत्मीय जीवन-दृष्टि और वैचारिकता के अनुकूल होने के कारण ही उनके लिए स्वीकरणीय बने थे। उन्हीं दिनों पन्त जी ने "रूपाभ" नाम से एक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसमें तत्कालीन साहित्य की नई मान्यताओं पर अधिक-से-अधिक प्रकाश डालने का प्रयास रहता था। "रूपाभ" के आभिजात्य और गरिमा ने उन दिनों मासिक-पत्रकारिता को एक नया अनुभव दिया और पिछले दिनों मननशील और शुद्ध साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं के जो अल्पजीवी प्रयोग हुए, उनकी नींव "रूपाभ" ने ही डाली थी।

जीवन को उन्नत और समृद्ध बनाने के जितने प्रेरणाप्रद मूलमंत्र पन्त जी ने दिये हैं, यथार्थ जीवन की कठोरता तथा विषमता को व्यक्त करने वाले उतने ही चित्र भी उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये हैं। सहज मानवीय संवेदना और सूक्ष्म चेतना के फलस्वरूप दीन-हीनों के तथा तात्कालिक सामाजिक दुरवस्था की विडम्बना और शोषण के जो मर्मस्पर्शी चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये उनका उनके पाठकों पर गहरा प्रभाव पड़ा और उससे एक नयी जीवन-चेतना के जागरण मे सहायता मिली। अपने व्यापक एवम् उदात्त मानवतावादी आदर्शों को पन्त जी अपनी रचनाओं में निरन्तर अभिव्यक्त करते रहे हैं। उनका प्रारम्भिक सौन्दर्य-आदर्श जो उनकी प्रकृति-परक रचनाओं में प्रकट हुआ था, वही अधिक प्रबुद्ध और प्रस्फुट होकर, मानवीय जीवन के सौन्दर्य-आदर्श में ढलकर, अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा था। उस आदर्श ने जहाँ एक ओर मानवता को जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर, नीचे से ऊँचे की ओर अग्रसर किया, वहीं उसने उसे इस भू पर भी केन्द्रित रखा। उन्हें भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के समन्वय में ही मानवता का कल्याण-मार्ग दिखाई पड़ा।

अपने देश के पुरुषों और स्त्रियों को मध्यकालीन नैतिक संस्कारों तथा रूढ़ि-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त करने तथा नवीन युग की धरा-चेतना के अनुसार जन के आधुनिकीकरण और मानवीय-करण का सक्रिय तथा निरन्तर कार्य, जो पन्त जी अपने जीवन में अपनी रचनाओं के माध्यम से करते रहे, वह न केवल उनकी समकालीन पीढ़ी के लिए, अपितु भावी पीढ़ियों के वैचारिक तथा नैतिक विकास के लिए भी अमूल्य है और रहेगा। उन्होंने मानवता के नाते अपने-पराये सभी को एक ही रूप में देखने की चेष्टा की। इसीलिए उनके काव्य मे मानवमात्र की समानता की भावना एक मूल-सूत्र की भाँति विद्यमान है। देश

"ग्राम्या" तथा "युगवाणी" की कविताओं पर बच्चन जी, रामकुमार जी तथा अन्य साहित्यकारों की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई थी। कुछ लोगों ने कहा कि पन्त जी की कविता बौद्धिक हो गयी है, उसमें भावों का मूर्त-विधान कम होता जा रहा है। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि "गुंजन" के बाद से वह अपने दार्शनिक तथा सामाजिक चिन्तन को ज्यों-का-त्यों छन्दबद्ध करने लगे हैं। शिवदान सिंह चौहान से इस विषय पर चर्चा चलने पर उनसे अपनी भेंटवार्ता में पन्त जी ने कहा—"अरे बाबा, उनको कुछ पता नहीं है। दुनिया का कौन-सा ऐसा महाकवि है जिसने कुछ कविताओं में केवल विचारों को ही छन्दबद्ध नहीं किया? यह भी ज़रूरी होता है।"[6]

युग के विचार-संघर्षों के प्रति पन्त जी जितने जागरूक थे उतने बहुत ही कम साहित्यकार होते हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान जी के शब्दों में—"पन्त जी का घर उन दिनों हिन्दी-लेखकों का तीर्थ बन गया था। प्रगतिशील लेखक-संघ की मीटिंगें वहाँ होती थीं। वहीं पन्त जी के गहन बौद्धिक चिन्तन और उनके बालसुलभ स्वभाव का हम सबको अन्तरंग परिचय मिला।........दरअसल हम लोग तो जिज्ञासु विद्यार्थियों की तरह उनसे प्रश्न पूछते थे और पन्त जी सहज भाव से हमारे प्रश्नों के उत्तर में भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के सुविशाल ज्ञान-भंडार में हम लोगों को घुमाते थे। मार्क्स ने अमुक स्थापना क्यों की, हीगेल, कांट और शोपेन हावर के आदर्शवादी दर्शन में क्या कमियाँ थीं, जिनको मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापनाओं से दूर किया, मार्क्स के दर्शन मे भी कौन-कौन से प्रश्नों का समाधान मिलता है, वह किस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन को सम्पूर्ण बनाने में योग दे सकता है, इन जटिल प्रश्नों का विवेचन पन्त जी इतने प्रामाणिक और स्पष्ट ढंग से करते कि हम सब आश्चर्यचकित रह जाते थे कि यह कोई महापंडित दार्शनिक बोल रहा है या कल्पनाशील सौन्दर्य प्रेमी कवि?..........वे सहज भाव से गम्भीर-से-गम्भीर विषयों का विवेचन कर जाते थे। यदुपति सहाय फ्रायड के अनुयायी थे। इसलिए दार्शनिक बहसों का रुख कभी-कभी मनोविज्ञान की ओर मुड़ जाता था और पन्त जी फ्रायड, युंग तथा एड्लर की स्थापनाओं की ऐसी धज्जियाँ उड़ाते कि यदुपतिसहाय को पसीना आ जाता। दरअसल हम लोग मार्क्स और फ्रायड की कृतियों के गम्भीर अध्येता थे और हम सभी उनकी युगान्तरकारी स्थापनाओं का पूरा अभिप्राय ग्रहण करना चाहते थे और पन्त जी के रूप में हमें एक ऐसा पथप्रदर्शक मिल गया था जिसकी दृष्टि और जिसका ज्ञान एकांगी या सीमित नहीं था।"[7]

जो आदर्श और विचार पन्त जी ने उस समय मार्क्स तथा गांधी जी से अपनाये और जिनका विशिष्ट संस्कार उन्होंने अपने काव्य में किया, वे उनकी चेतनागत आत्मीय जीवन-दृष्टि और वैचारिकता के अनुकूल होने के कारण ही उनके लिए स्वीकरणीय बने थे। उन्हीं दिनों पन्त जी ने "रूपाभ" नाम से एक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसमें तत्कालीन साहित्य की नई मान्यताओं पर अधिक-से-अधिक प्रकाश डालने का प्रयास रहता था। "रूपाभ" के आभिजात्य और गरिमा ने उन दिनों मासिक-पत्रकारिता को एक नया अनुभव दिया और पिछले दिनों मननशील और शुद्ध साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं के जो अल्पजीवी प्रयोग हुए, उनकी नींव "रूपाभ" ने ही डाली थी।

जीवन को उन्नत और समृद्ध बनाने के जितने प्रेरणाप्रद मूलमंत्र पन्त जी ने दिये हैं, यथार्थ जीवन की कठोरता तथा विषमता को व्यक्त करने वाले उतने ही चित्र भी उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये हैं। सहज मानवीय संवेदना और सूक्ष्म चेतना के फलस्वरूप दीन-हीनों के तथा तात्कालिक सामाजिक दुरवस्था की विडम्बना और शोषण के जो मर्मस्पर्शी चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये उनका उनके पाठकों पर गहरा प्रभाव पड़ा और उससे एक नयी जीवन-चेतना के जागरण मे सहायता मिली। अपने व्यापक एवम् उदात्त मानवतावादी आदर्शों को पन्त जी अपनी रचनाओं में निरन्तर अभिव्यक्त करते रहे हैं। उनका प्रारम्भिक सौन्दर्य-आदर्श जो उनकी प्रकृति-परक रचनाओं में प्रकट हुआ था, वही अधिक प्रबुद्ध और प्रस्फुट होकर, मानवीय जीवन के सौन्दर्य-आदर्श में ढलकर, अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा था। उस आदर्श ने जहाँ एक ओर मानवता को जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर, नीचे से ऊँचे की ओर अग्रसर किया, वहीं उसने उसे इस भू पर भी केन्द्रित रखा। उन्हें भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के समन्वय में ही मानवता का कल्याण-मार्ग दिखाई पड़ा।

अपने देश के पुरुषों और स्त्रियों को मध्यकालीन नैतिक संस्कारों तथा रूढि-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त करने तथा नवीन युग की धरा-चेतना के अनुसार जन के आधुनिकीकरण और मानवीय-करण का सक्रिय तथा निरन्तर कार्य, जो पन्त जी अपने जीवन में अपनी रचनाओं के माध्यम से करते रहे, वह न केवल उनकी समकालीन पीढ़ी के लिए, अपितु भावी पीढ़ियों के वैचारिक तथा नैतिक विकास के लिए भी अमूल्य है और रहेगा। उन्होंने मानवता के नाते अपने-पराये सभी को एक ही रूप में देखने की चेष्टा की। इसीलिए उनके काव्य मे मानवमात्र की समानता की भावना एक मूल-सूत्र की भाँति विद्यमान है। देश

तथा मानव-जाति के कल्याण के लिए एक विस्तृत दृष्टिकोण को अपनाकर उन्होंने भारतीय जनता का ध्यान एक व्यापक विश्वजनीन धर्म की ओर आकृष्ट किया जिसे अपनाने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। प्रगतिवाद की, उसकी एकांगी दृष्टि के कारण, हिन्दी-काव्य में एक उपादेय एवं स्थिर सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हो सकी, किन्तु पन्त जी का उदात्त मानवतावाद हिन्दी-काव्य मे एक श्रेयस्करी-प्रवृत्ति के रूप में, यदि आज अंशतः, तो आगे चलकर, निश्चय ही सर्वतः प्रतिष्ठित हो जायेगा। उनकी रचना ऐसे स्रष्टा का सृजन है जो युग के अन्तर्जगत् में अभिव्यक्ति के लिए विकल भावनाओं तथा विचारों को वाणी देता है। जीवन के मांगल्य-लक्ष्य के प्रति उनकी आस्था द्विधामुक्त तथा साधना अडिग थी। अपनी धरती की परतन्त्र आत्मा की विकलता से लेकर मुक्ति की प्रथम पुलक तक जीवन की अनन्त स्थितियों से उनका तादात्म्य हुआ और इस तादात्म्य से उन्होंने जीवन के अनेक विस्मृत सत्यों का प्रत्यभिज्ञान प्राप्त ही नही किया, उन्हें युग-जीवन का संगी भी बना दिया है।

"दिनकर" जी के शब्दों में—"यह उनके विचारों का ही प्रभाव है कि आज (पन्त के समय में ही) वैराग्य, सन्यास, मुक्ति तथा धर्म सम्बन्धी हमारी भावनाओं में अनुकूल परिवर्तन भी घटित होने लगे हैं। धर्म के औपचारिक अनुष्ठानों में लोगों की निष्ठा नहीं रही। आस्तिक जगत् का अन्तर्मन धर्मों को छोड़कर धर्म को पकड़ने लगा है। संन्यास और गार्हस्थ्य के बीच की दूरी दिन-ब-दिन क्षीण होती जा रही है। संन्यासी का जो महत्त्व पहले के युगों मे था वह घट रहा है और गृहस्थ संन्यासियों को पहले जितना हीन समझा जाता था उतना हीन अब नहीं समझा जाता। धर्म पर से संन्यासियों, वैरागियों, पंडितो और पुरोहितों का एकाधिकार हटता जा रहा है और बड़ी तेज़ी से यह विचार घर करता जा रहा है कि धर्म रविवार, मंगलवार या शुक्रवार की चीज़ नही है, राजनीति-सहित जीवन के सभी क्षेत्र और अवसर धर्म-साधना के अत्यन्त अनुकूल अवसर और क्षेत्र हो सकते हैं।"[8]

श्री बालकृष्ण राव भी श्री जगदीश माथुर के समान भारत की ब्रिटिशकालीन उच्चतम प्रशासनिक सेवा (आई. सी. एस.) के सदस्य होने के साथ ही अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत-साहित्य के मेधावी अध्येता एवं स्वयं साहित्यकार भी थे। उनकी और एक साहित्य-प्रेमी श्री मार्कण्डेय सिंह की वार्ता का उल्लेख करते हुए सुश्री शान्ति जोशी ने लिखा है—"मार्कण्डेय सिंह के यह पूछने पर कि इस समय हिन्दी का श्रेष्ठ कवि कौन हैं? बालकृष्ण राव ने कहा—"व्यक्तिगत मतभेदो के

अतिरिक्त पन्त निस्संदेह श्रेष्ठ कवि है जिनमें छुटपन से ही एक क्रमगत विकास एव जीवन-मूल्य के लिए संघर्ष मिलता है।"[9]

पन्त जी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी गहन वैचारिकता को काव्यात्मक स्निग्धता से निरन्तर जोड़कर रखा। हिन्दी के प्राध्यापक एव विद्वान् प्रो. वासुदेव सिंह ने पन्त जी के काव्य के सम्बन्ध में लिखा है—"पन्त-काव्य का यह भारी गुण है कि जहाँ कहीं भी उन्होंने दार्शनिक तथ्यो का निरूपण या विश्लेषण किया है वहाँ उन्होंने अपनी सरल और तरल कविता के महत्त्व को छोड़ा नहीं है। दर्शन के रूखे-सूखे सिद्धान्तों को सरस कविता का आवरण देने की कला पन्त जी को अच्छी तरह मालूम है। इस क्षेत्र मे वे निस्संदेह अकेले हैं। निराला के काव्य में जहाँ दर्शन आया है वहाँ उनकी कविता की स्वाभाविकता तथा सरसता को कुछ ठेस लगी है, किन्तु पन्त जी की कविता मे उनका सुकोमल हृदय सदैव झाँकता रहता है। भाषा की सरलता तथा भाव की स्निग्धता उनकी कविता का प्रधान गुण है। यही कारण है कि हिन्दी के अनेक आधुनिकतम कवियों पर जितना पन्त की कविता का प्रत्यक्ष प्रभाव पडा हे उतना किसी भी हिन्दी के अन्य कवि का नहीं पड़ा।"[10]

हिन्दी पाठकों का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि अब तक पन्त-काव्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया। इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी कि हिन्दी आलोचकों को जिस काव्य में कला-ह्रास के दर्शन हुए[11] तथा जिसका कोई भविष्य दिखाई नहीं दिया,[12] पन्त जी का वही उत्तरवर्ती काव्य अखिल भारतीय साहित्य के स्तर पर सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप में पुरस्कृत किया गया और अन्य प्रकारों से भी उसे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर प्रतिष्ठा दी गयी। सन् 1961 में भारत सरकार ने पन्त जी को "पद्मभूषण" की उपाधि से सम्मानित किया। उसी वर्ष "कला और बूढ़ा चाँद" पर पन्त जी को साहित्य-अकादमी पुरस्कार मिला और सन् 1965 में उनके "लोकायतन" काव्य को "सोवियत लेण्ड नेहरू पुरस्कार" प्रदान किया गया। भारतीय ज्ञानपीठ की प्रवर परिषद् ने सर्वसम्मति से पन्त जी की "चिदम्बरा" को देश की पन्द्रह भाषाओं में सन् 1945 से 1961 के बीच प्रकाशित सर्जनात्मक साहित्य में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया तथा एक लाख रुपये का "ज्ञानपीठ पुरस्कार" पन्त जी को 19 दिसम्बर 1969 को नई दिल्ली के विज्ञान-भवन में विशेष समारोह के साथ भेंट किया।

पन्त जी की काव्य-रचनाओं के अनुवादों के कई संकलन रूसी भाषा मे प्रकाशित हो चुके हैं और रूसी विद्वान् ई. चेलिशेव ने "सुमित्रानन्दन पन्त तथा

आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता" शीर्षक एक शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया है। जर्मनी की डॉ. इरेने ज़ाहिरा ने पन्त जी की रचनाओं का एक अनूदित संग्रह जर्मन भाषा में प्रकाशित करवाया है। जापान के श्री टुंगयांग ने जापानी भाषा में विश्व की चुनी हुई कविताओं का एक संकलन सम्पादित किया है, जिसमें पन्त जी की "स्वर्ण-किरण" का अनुवाद सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार के और दूसरे प्रयास भी विश्व की अन्य भाषाओं के माध्यम से किये गये हैं, जो पन्त जी के काव्य-व्यक्तित्व की विश्वव्यापी स्वीकृति का संकेत देते हे।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, पन्त जी ने अपने युग-जीवन तथा मानवचेतना को नयी दिशा देने के लिये किसी प्रत्यक्ष आन्दोलन का मार्ग नही अपनाया था जिसका प्रभाव शीघ्र ही प्रकट रूप में दिखाई पड़ने लगता। उनका मार्ग कलात्मक संवेदना का सूक्ष्म मार्ग था और जिस नवीन-दृष्टि की स्थापना को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया था, वह भी बहुत नवीन एवं विशिष्ट थी। वह दृष्टि तत्काल जन-स्वीकृति की वस्तु बन जायेगी, ऐसा पन्त जी भी नहीं सोचते थे। उन्होंने स्वयं कहा है—"सम्भव है, जो नया मूल्य मानव की अन्तश्चेतना मे अवतीर्ण हो चुका है, उसकी परिणति मानव-जाति के जीवन में सौ-दो-सौ साल बाद हो और विगत अभ्यासों तथा रीति-मर्यादाओं में पथराई हुई मानव-चेतना को नया रूप ग्रहण करने के पूर्व अनेक संघर्ष, संग्राम आदि करने पड़ें।"[13]

पन्त जी की इस उक्ति की पुष्टि करते हुए जर्मनी की डॉ. इरेने ज़ाहिरा ने लिखा है—"इन वाक्यों के सत्य का जर्मन इतिहास समर्थन करता है क्योंकि जो श्रेष्ठ आदर्श और नूतन मानवतावादी मूल्य हेर्देर गेटे, शिल्लर और अन्य जर्मन क्लासिक लेखकों ने अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीस वर्षों में सर्वजन के लिए स्थापित किये हैं, वे आजकल, उनके देहान्त के एक सौ पचास-साठ वर्षों के बाद, जर्मनी के जनवादी प्रजातंत्र में एक नयी पीढ़ी द्वारा क्रमशः जीवन और व्यवहार में लाये जाते हैं।"[14]

प्रत्यक्ष जीवन की व्यावहारिक-क्रान्ति और साहित्य के माध्यम से प्रकट होने वाली वैचारिक-क्रान्ति के स्वरूप में यह अन्तर होता है कि व्यावहारिक क्रान्ति जहाँ शीघ्र सफल अथवा प्रभावी होती हुई दिखाई देती है, वहीं वह सर्वथा असफल भी हो जाया करती है, जबकि कला-माध्यमों की सौम्य पद्धति से प्रवर्तित होने वाली वैचारिक क्रान्ति जहाँ प्रत्यक्ष प्रभाव में देर से प्रकट होती है वहीं वह सर्वथा असफल कभी नहीं होती है। गहरी वैचारिकता चाहे जीवन-व्यवहार में प्रत्यक्षतया न भी अपनायी जाय तो भी वह वैचारिक इतिहास का स्थायी अग

बन जाती ह आर किसी न किसी रूप मे मानवीय चिन्तन को प्रेरित ओर प्रभावित करती रहती है। पन्त जी ने अपनी भास्वर कला-कृतियों के माध्यम से मानव के नवीन सांस्कृतिक विकास की अपेक्षा और स्वरूप की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह निश्चय ही मानवजाति के लिए शुभफलदायिनी होगी।

इधर पन्त जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की ओर विचारकों, साहित्य-समीक्षको ओर शोधार्थियों का ध्यान जिस तीव्रता से आकृष्ट होता दिखाई दे रहा है, उससे यही संकेत मिलता है कि पन्त जी के साहित्यिक महत्त्व की खोज करने वालो का ध्यान अब उनके वैचारिक व्यक्तित्व की महत्ता की ओर भी गहराई से आकृष्ट होगा और वे उसकी व्याख्या और विश्लेषण करने में प्रवृत्त होंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी प्रकार का एक विनम्र प्रयास है। पन्त जी की जीवनी-लेखिका सुश्री शान्ति जोशी ने भी पन्त जी की ओर साहित्य-प्रेमियों की बढ़ती हुई उन्मुखता की चर्चा करते हुए लिखा है कि—"पन्त जी के काव्य के जीवन्त होने का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि जो भी साहित्य के क्षेत्र में सिर उठाना चाहता है, उसे यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि पहले वह पन्त-काव्य पर अपनी कृपा-दृष्टि डाले।"[15]

पिछले वर्षों में पन्त जी के साहित्य के अध्ययन-मनन में अपनी सीमित सामर्थ्य के साथ निरन्तर लगी रहने के बाद मेरी विनम्र मान्यता यही बनी है कि पन्त जी का वैचारिक व्यक्तित्व ही उनका मौलिक व्यक्तित्व है और उनका साहित्य उसी वैचारिक व्यक्तित्व की कलात्मक अभिव्यक्ति है। अपनी 'पल्लव' की "अनंग" शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में पन्त जी ने मानो अपने ही व्यक्तित्व की झलक प्रस्तुत की है—

> 'विपुल कल्पना से, भावों से,
> खोल हृदय के सौ-सौ द्वार,
> जल, थल, अनिल, अनल, नभ से कर
> जीवन को फिर एकाकार;
> विश्व-मंच पर हास-अश्रु का,
> अभिनय दिखला बारम्बार,
> मोह यवनिका हटा, कर दिया
> विश्वरूप तुमने साकार।"



आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता" शीर्षक एक शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया है। जर्मनी की डॉ. इरेने ज़ाहिरा ने पन्त जी की रचनाओं का एक अनूदित संग्रह जर्मन भाषा में प्रकाशित करवाया है। जापान के श्री टुंगयांग ने जापानी भाषा में विश्व की चुनी हुई कविताओं का एक संकलन सम्पादित किया है, जिसमें पन्त जी की "स्वर्ण-किरण" का अनुवाद सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार के और दूसरे प्रयास भी विश्व की अन्य भाषाओं के माध्यम से किये गये हे, जो पन्त जी के काव्य-व्यक्तित्व की विश्वव्यापी स्वीकृति का संकेत देते हे।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, पन्त जी ने अपने युग-जीवन तथा मानवचेतना को नयी दिशा देने के लिये किसी प्रत्यक्ष आन्दोलन का मार्ग नही अपनाया था जिसका प्रभाव शीघ्र ही प्रकट रूप में दिखाई पड़ने लगता। उनका मार्ग कलात्मक संवेदना का सूक्ष्म मार्ग था और जिस नवीन-दृष्टि की स्थापना को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया था, वह भी बहुत नवीन एवं विशिष्ट थी। वह दृष्टि तत्काल जन-स्वीकृति की वस्तु बन जायेगी, ऐसा पन्त जी भी नहीं सोचते थे। उन्होंने स्वयं कहा है—"सम्भव है, जो नया मूल्य मानव की अन्तश्चेतना मे अवतीर्ण हो चुका है, उसकी परिणति मानव-जाति के जीवन में सौ-दो-सौ साल बाद हो और विगत अभ्यासों तथा रीति-मर्यादाओं में पथराई हुई मानव-चेतना को नया रूप ग्रहण करने के पूर्व अनेक संघर्ष, संग्राम आदि करने पड़ें।"[13]

पन्त जी की इस उक्ति की पुष्टि करते हुए जर्मनी की डॉ. इरेने ज़ाहिरा ने लिखा है—"इन वाक्यों के सत्य का जर्मन इतिहास समर्थन करता है क्योंकि जो श्रेष्ठ आदर्श और नूतन मानवतावादी मूल्य हेर्डेर गेटे, शिल्लर और अन्य जर्मन क्लासिक लेखकों ने अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीस वर्षों में सर्वजन के लिए स्थापित किये हैं, वे आजकल, उनके देहान्त के एक सौ पचास-साठ वर्षों के बाद, जर्मनी के जनवादी प्रजातंत्र में एक नयी पीढ़ी द्वारा क्रमशः जीवन और व्यवहार में लाये जाते हैं।"[14]

प्रत्यक्ष जीवन की व्यावहारिक-क्रान्ति और साहित्य के माध्यम से प्रकट होने वाली वैचारिक-क्रान्ति के स्वरूप में यह अन्तर होता है कि व्यावहारिक क्रान्ति जहाँ शीघ्र सफल अथवा प्रभावी होती हुई दिखाई देती है, वहीं वह सर्वथा असफल भी हो जाया करती है, जबकि कला-माध्यमों की सौम्य पद्धति से प्रवर्तित होने वाली वैचारिक क्रान्ति जहाँ प्रत्यक्ष प्रभाव में देर से प्रकट होती है वहीं वह सर्वथा असफल कभी नहीं होती है। गहरी वैचारिकता चाहे जीवन-व्यवहार मे प्रत्यक्षतया न भी अपनायी जाय तो भी वह वैचारिक इतिहास का स्थायी अग

बन जाती है और किसी न किसी रूप में मानवीय चिन्तन को प्रेरित और प्रभावित करती रहती है। पन्त जी ने अपनी भास्वर कला-कृतियों के माध्यम से मानव के नवीन सांस्कृतिक विकास की अपेक्षा और स्वरूप की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह निश्चय ही मानवजाति के लिए शुभफलदायिनी होगी।

इधर पन्त जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की ओर विचारकों, साहित्य-समीक्षकों और शोधार्थियों का ध्यान जिस तीव्रता से आकृष्ट होता दिखाई दे रहा है, उससे यही संकेत मिलता है कि पन्त जी के साहित्यिक महत्त्व की खोज करने वालों का ध्यान अब उनके वैचारिक व्यक्तित्व की महत्ता की ओर भी गहराई से आकृष्ट होगा और वे उसकी व्याख्या और विश्लेषण करने में प्रवृत्त होंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी प्रकार का एक विनम्र प्रयास है। पन्त जी की जीवनी-लेखिका सुश्री शान्ति जोशी ने भी पन्त जी की ओर साहित्य-प्रेमियों की बढ़ती हुई उन्मुखता की चर्चा करते हुए लिखा है कि—"पन्त जी के काव्य के जीवन्त होने का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि जो भी साहित्य के क्षेत्र में सिर उठाना चाहता है, उसे यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि पहले वह पन्त-काव्य पर अपनी कृपा-दृष्टि डाले।"[15]

पिछले वर्षों में पन्त जी के साहित्य के अध्ययन-मनन में अपनी सीमित सामर्थ्य के साथ निरन्तर लगी रहने के बाद मेरी विनम्र मान्यता यही बनी है कि पन्त जी का वैचारिक व्यक्तित्व ही उनका मौलिक व्यक्तित्व है और उनका साहित्य उसी वैचारिक व्यक्तित्व की कलात्मक अभिव्यक्ति है। अपनी 'पल्लव' की "अनंग" शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में पन्त जी ने मानो अपने ही व्यक्तित्व की झलक प्रस्तुत की है—

> "विपुल कल्पना से, भावों से,
> खोल हृदय के सौ-सौ द्वार,
> जल, थल, अनिल, अनल, नभ से कर
> जीवन को फिर एकाकार;
> विश्व-मंच पर हास-अश्रु का,
> अभिनय दिखला बारम्बार,
> मोह यवनिका हटा, कर दिया
> विश्वरूप तुमने साकार।"



सन्दर्भ-सकेत



1. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र—रत्नाकर दत्त चम्बोला, पृ. 84
2. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र—नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 115-116
3. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र—रामधारीसिंह "दिनकर", पृ. 125-126
4. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र—जगदीश चन्द्र माथुर, पृ. 175-176
5. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र—रामधारीसिंह "दिनकर", पृ. 126
6. सुमित्रानन्दन पन्त : स्मृतिचित्र, शिवदान सिंह चौहान, पृ. 152
7. वही
8. प्रसाद, पन्त और मैथिलीशरण गुप्त—दिनकर, पृ. 129, द्वितीय संस्करण
9. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य, भाग 2, शांति जोशी, पृ. 467
10. पन्त की काव्य-चेतना में गुंजन—प्रो. वासुदेव सिंह, पृ. 61, प्र. सं.
11. पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन—विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ. 708, 715, प्र. सं.
12. "अब तो वे एक काल्पनिक और आदर्श मनः सृष्टि (यूटोपिया) में निवास कर रहे हैं। श्री अरविन्द की छाया में पड़ा उनका अंतिम चरण कोई चिह्न छोड़ पायेगा, इसमें मुझे संदेह ही है।"—सुमित्रानन्दन पन्त—विश्वम्भर 'मानव', पृ. 373, तृ. सं.
13. सु. पन्त ग्रंथावली खण्ड 6—जीवन के अनुभव और उपलब्धियाँ, पृ. 462
14. सुमित्रानन्दन पन्त के विषय में कुछ विचार : जर्मन अध्येता के दृष्टिकोण से—डॉ. इरेने ज़ाहिरा, पृ. 11, प्र. सं. 1971
15. सुमित्रानन्दन पन्त : जीवन और साहित्य भाग दो, शांति जोशी, पृ. 467, प्र. सं. 1977



अखिल भारतीय साहित्य कला मंच

स्थापना

'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच' अपनी साहित्यिक गतिविधियों, अपने अनेक प्रकाशनों तथा हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार के अपने पारदर्शी उद्देश्यों के कारण भले ही दशकों पुराना लगे किन्तु अपनी उम्र से बहुत बड़ा-सा लगने वाले इस मंच की उम्र मात्र 12 वर्ष है। वर्ष 1988 में 4 मार्च को मंच के संस्थापक अध्यक्ष **डॉ. महेश 'दिवाकर'** डी. लिट्. (हिन्दी), रीडर हिन्दी विभाग, गुलाब सिंह हिन्दू (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, के तत्कालीन रीडर व अध्यक्ष स्व. **डॉ. सुभाष चन्द्र सक्सेना**, मंच के संस्थापक-संयोजक की अध्यक्षता में यह मंच वैचारिक स्तर पर अस्तित्व में आया।

मंच ने अपनी यात्रा **"नवजात साहित्यकार मंच"** के नाम से आरम्भ की। आरम्भ में इसका स्वरूप और क्षेत्र केवल चाँदपुर तक सीमित था। कुछ ही समय में जनपद की सीमाएँ पार कर इसने कई प्रान्तों के सुधी पाठकों/साहित्यकारों को अपनी निजता का परिचय दिया। विस्तारित स्वरूप व क्षेत्र के अनुरूप कुछ परिवर्तन के साथ मंच को 1992 में **'साहित्य कला मंच'** का नाम दिया गया। मंच के साहित्यिक कार्यों में निरन्तर फैलाव होता रहा। अपने आरम्भ (1988) से मंच ने अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम आयोजित किए। अनेक काव्य संकलनों व अन्य साहित्यिक ग्रंथों का प्रकाशन किया। अखिल भारतीय स्तर पर साहित्यिक प्रतियोगिताएँ आयोजित की गई। कुछ प्रमुख पत्रिकाओं में साहित्यकारों के विशेषांक प्रकाशित कराये गये। मंच की ओर से अब तक प्रकाशित काव्य-संकलनों और ग्रंथों में उल्लेखनीय हैं : **'यादों के आर-पार', 'तुलसी वांगमय विमर्श', 'प्रणय गंधा', 'प्रेरणा के दीप', 'अतीत की परछाइयाँ', 'नेह के सरसिज', 'नूतन दोहावली', 'काव्य-धारा', 'बाल सुमनों के नाम', 'समय की शिला पर', 'वंदेमातरम्', 'सम्राट', 'गज़लपुर', 'साहित्यकार बाबू सिंह चौहान : अभिनन्दन ग्रंथ', 'संस्कृत महाकाव्यों में राम का स्वरूप-विकास', 'गुरु गोविन्द सिंह के काव्य में हिन्दू संस्कृति के मूलतत्व', 'धीरज', 'निष्कलंक सुभाष', 'कथाकार नागार्जुन'** आदि। वस्तुतः इन्हीं कुछ उपलब्धियों के कारण 'साहित्य कला मंच' ने भारत के लगभग हर प्रदेश को सुवासित किया है। फलतः 'कार्यकारिणी' ने अपने साहित्यकारों के परामर्श पर वर्ष 1996 में इसका

स्वरूप **'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच'** कर दिया।

आश्चर्यजनक लग सकता है किन्तु यह सत्य है कि **'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच'** ही सम्भवतः एक मात्र ऐसा साहित्यिक मंच है जिसका अभी तक कोई भी मासिक, वार्षिक अथवा अन्य किसी प्रकार का सदस्यता शुल्क नहीं है। साहित्य के प्रति आपकी सहृदयता और राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति आपकी सच्ची निष्ठा ही इसकी प्रतीकात्मक सदस्यता रही है। 'मंच' के द्वारा आयोजित किए जाने वाले साहित्यिक-समारोहों/आयोजनों और प्रकाशनों का अधिकांश व्यय **श्रीमती शान्ति देवी माहेश्वरी**, मंच की 'संस्थापक-संरक्षिका' और **स्व. श्री सतीश चन्द अग्रवाल**, के सुपुत्र श्री मनोज कुमार अग्रवाल एडवोकेट और संरक्षक श्री राजकुमार अग्रवाल करते रहे हैं। यदा-कदा कुछ स्थानीय समाज-सेवी और सरस्वती के उपासक तथा हिन्दी-प्रेमी भी साहित्यिक-कार्यक्रमों में अपना आंशिक सहयोग करते रहे हैं; जिसके परिणाम स्वरूप मां सरस्वती की कृपा से 'मंच' के अब तक के सारे साहित्यिक अनुष्ठान सफलतापूर्वक सम्पन्न होते जा रहे हैं। साथ ही, प्रकाशन के लिए चन्द्रा प्रकाशन, मुरादाबाद मंच को रचनात्मक सहयोग प्रदान करता रहा है।

उद्देश्य

'अखिल भारतीय साहित्य कला मंच' अपनी स्थापना से ही अराजनीतिक एवं अव्यावसायिक संस्था के रूप में चिरपरिचित है। इसका उद्देश्य **'चेतना, चरित्र एवं एकता** का विकास' करना है; जिसे बिन्दुशः उद्देश्यों में विभाजित किया गया है–

1. हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना और सामयिक गोष्ठियाँ कराना।
2. साहित्यिकारों को संगठित एवं प्रोत्साहित करना।
3. बाल प्रतिभाओं/नवोदित प्रतिभाओं को प्रकाश में लाना।
4. सांस्कृतिक चेतना व राष्ट्रीय सौहार्द को बढ़ावा।
5. अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करके लोकार्पण-समारोह करना और साहित्यकारों को **'साहित्यश्री'**, **'शिक्षाश्री'**, **'कलाश्री'**, **'पत्रकारश्री'** से सम्मानित करना।

प्रतीक

माँ सरस्वती का प्रतीक चिह्न ही मंच का प्राण है।

मंच की उपलब्धियाँ

1. 'यादों के आर-पार' (कविता-संकलन)..... 1988
2. 'तुलसी वांगमय विमर्श' (निबन्ध-संकलन)..... 1989

प्रणय गंधा' (कविता-संकलन)..... 1990
प्रेरणा के दीप' (कविता-संकलन)..... 1992
'अतीत की परछाइयाँ (कहानी-संकलन)..... 1993
'नेह के सरसिज' (गीत-संकलन)..... 1994
नूतन दोहावली–स्व. सुबोध शर्मा 'नूतन' 1994
'काव्यधारा' (कविता-संकलन)..... 1995
बाल सुमनों के नाम' (बाल कविता-संकलन)..... 1996
'सम्राट'–लेखक डॉ. राजवीर सिंह 'क्रान्तिकारी' 1997
'गजलपुर; (गज़ल-संकलन)–सं. सागर मीरजापुरी..... 1997
'समय की शिला पर' (दोहा-संकलन)..... 1997
'वंदेमातरम्' (देशभक्ति गीत-संकलन)..... 1998
साहित्यकार बाबू चौहान : अभिनन्दन ग्रंथ.... 1998
संस्कृत महाकाव्यों में राम का स्वरूप-विकास–डॉ. अंजू चोध
1998
गुरु गोविन्द सिंह के काव्य में भारतीय संस्कृति के मूलतत्व–
विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'..... 1998
'धीरज' (उपन्यास)–लेखक-राजकुमार 'रसिक' 1998
निष्कलंक सुभाष–प्रो. क्रान्तिकारी..... 1999
कथाकार नागार्जुन–लेखक डॉ. जी. डी. हरित..... 1999
रुहेलखण्ड के प्रमुख साहित्यकार : 1999
डॉ. महेश 'दिवाकर' : सृजन के विविध आयाम......1999
सुमित्रानन्दन पन्त का वैचारिक व्यक्तित्व (सन्दर्भ कोश)–लेखिव
किरन गर्ग..... 2000
गंधर्व सिंह तोमर 'चाचा' : अभिनन्दन ग्रंथ.......2000
प्रो विश्वनाथ शुक्ल : अभिनन्दन ग्रंथ..... 2000
'आकाश भर आनन्द'–योगेन्द्र पाल सिंह बिश्नोई......2000
अखिल भारतीय साहित्यिक-संस्थाओं का सन्दर्भ कोश शीघ्र प्र

मंच का वर्तमान स्वरूप

संरक्षक	संस्थापक संयोजक
चन्द अग्रवाल	स्व. डॉ. सुभाष चन्द्र सक्सैना,
न'	अध्यक्ष, अंग्रेजी-विभाग

स्टेशन रोड, चांदपुर,
(बिजनौर) उ. प्र.
दूरभाष : 01345—403050, 41234

गुलाब सिंह हिन्दू (स्नातकोत्तर)
महाविद्यालय, चाँदपुर,
(बिजनौर) उ. प्र.

संस्थापक संरक्षिका
श्रीमती शान्ति देवी माहेश्वरी
'शान्ति भवन', मो. साहूवान
चाँदपुर (बिजनौर) उ. प्र.
दूरभाष : 01345—40800, 40200

संरक्षक
राजकुमार अग्रवाल
मंडी कोटला,
चाँदपुर (बिजनौर) उ. प्र.
दूरभाष : 01345—40763

संस्थापक अध्यक्ष
डॉ. महेश 'दिवाकर' डी. लिट्.
रीडर, हिन्दी - विभाग
गुलाब सिंह हिन्दू (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय,
चाँदपुर, (बिजनौर) उ. प्र.
दूरभाष : 01345—40098 (चाँदपुर)
0591—417376, 440976 (मुरादाबाद)

महासचिव
डा. रनवीर सिंह परमार,
पी-एच. डी. (हिन्दी)
उप प्रबंधक, (राजभाषा)
8/409, सेक्टर-3
राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, (उ. प्र.)
गाजियाबाद 201005
दूरभाष : 0575—631951

कोषाध्यक्ष
गजराज सिंह, सहलेखाकार
गुलाब सिंह हिन्दू (स्नातकोत्तर)
महाविद्यालय, चाँदपुर
(बिजनौर) उ. प्र.
दूरभाष : 01345—41045

'मंच' का प्रधान कार्यालय

ए-57, चौरसिया भवन, कृष्णा कालोनी
चन्द्र नगर (मुरादाबाद) (उ. प्र.) पिन : 244001
दूरभाष : 03145—40098
0591—417376 पी. पी.

सच्ची ज्ञाननिष्ठा, भावना, लगन, साधना और गह[illegible] अध्यवसाय का द्योतक है, वहीं शोध-निर्देशक की अनू[illegible] बहुमुखी शोध-प्रतिभा एवं कार्यगत समर्पण की [illegible] भावना की ओर भी इंगित करता है, जिसका प्रायः [illegible] अभाव दिखायी देता है।

20 मई 1999 से पंत जी का जन्मशती-व[illegible] प्रारम्भ हो गया है और अगले 28 दिसम्बर को उन[illegible] पुण्यतिथि भी है। इस महत्त्वपूर्ण काल-खण्ड में डॉ. किरण गर्ग ने अपने शोध-प्रबंध को प्रकाशित कराने [illegible] निर्णय लेकर, निश्चित ही, पंतजी के प्रति अपनी सच्[illegible] निष्ठा एवं आदर-भावना का परिचय दिया है। उनके [illegible] पंतजी के प्रति इससे अधिक उपयुक्त व भावपूर्ण [illegible] श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है!

'अ. भा. साहित्य कला मंच' ने चन्द्रा प्रकाशन [illegible] के द्वारा जहाँ इस महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध को अपने बैनर पर प्रकाशित करके अपने साहित्यिक दायित्व का निर्वहन किया है, वहीं पंतजी की जन्मशती पर उनको अपनी भावांजलि भी अर्पित की है। 'मंच' परिवार इस ग्रंथ का प्रकाशन कर हिन्दी-जगत् को सौंपते हुए गौरवान्वित है।

मुझे यह लिखने में गर्व एवं हर्ष का अनुभव हो रहा है कि प्रस्तुत शोध-ग्रंथ के निर्देशक पूज्यपाद प्रो. महेंद्र प्रताप जी मेरे भी 'गुरु' हैं। यह महत्त्वपूर्ण शोधकार्य ग्रंथ रूप में प्रकाशित होकर हिन्दी-जगत् के सामने आये, यह 'दादाश्री' की ही इच्छा थी। फलतः उनकी कृपा एवं आशीर्वाद का प्रतिफल पाठकों के सामने मूर्त रूप में प्रस्तुत है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि इस ग्रंथ का हिन्दी-जगत् में यथेष्ट सम्मान होगा। डॉ. किरण गर्ग को इस निमित्त कोटिशः बधाई एवं शुभकामनाएँ।

सद्भावनाओं सहित

डॉ. महेश 'दिवाकर'
डी. लिट्. (हिन्दी)
संस्थापक-अध्यक्ष
अ. भा. साहित्य कला मंच,
मुरादाबाद (उ. प्र.)

28 दिसम्बर, 1999

लेखिका



नाम : डॉ. (श्रीमती) किरण गर्ग

जन्म स्थान : लखीमपुर खीरी, (उ. प्र.)

जन्म तिथि : 2 मई, 1949

माता का नाम : श्रीमती क्षमा गुप्ता

पिता का नाम : प्रो. बृज किशोर गुप्ता

पति का नाम : श्री अशोक कुमार गर्ग

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी), बी. एड., पी-एच. डी. (हिन्दी

कार्यक्षेत्र : प्राचार्या, महाराजा अग्रसेन पब्लिक स्कूल
मण्डी बाँस, मुरादाबाद

लेखन विधाएँ : कहानी, निबन्ध, शोध, समीक्षा, सम्पादन, साक्ष

प्रकाशित कृतियाँ : पन्त काव्य में मानवतावाद

सम्मान/पुरस्कार : साहू शिवशक्ति शरण कोठीवाल स्मारक समिि
शिक्षा के क्षेत्र में उत्तम योगदान हेतु सम्मान
1996, 1997, 1999।
रोटरी क्लब मुरादाबाद द्वारा शिक्षा के क्षेत्र म
योगदान हेतु सम्मान 1998
इनर व्हील क्लब मुरादाबाद द्वारा सम्मान 199
अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, चाँदपुर (ि
द्वारा कला श्री सम्मान 1999

सम्पर्क : निकट के. जी. के. कालेज
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (के. जी. के. कालेज
के सामने लाइनपार, मुरादाबाद (उ. प्र.)

दूरभाष 0591 480035 घर 319899